॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला
१२४

॥ श्रीः ॥

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्

'ब्रह्मतत्त्वविमर्शिनी' हिन्दीव्याख्योपेतम्

(द्वितीयो भागः)

व्याख्याकारः
स्वामी श्री हनुमानदास जी षट्शास्त्री

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1

१९६७

THE

VIDYABHAWAN SANSKRIT GRAÑTHAMALA

124

*****

THE

BRAHMASŪTRA S'ĀṄKARABHĀṢYA

OF

S'RĪ S'AṄKARĀCHĀRYA

Edited With

THE BRAHMATATTVAVIMARS'INĪ HINDĪ COMMENTARY

BY

SWĀMĪ HANUMĀNADĀS ṢAT S'ĀSTRĪ

PART II

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1967

अथ तृतीयोऽध्यायः

[तृतीये साधनाख्याध्याये प्रथमपादे गत्यागतिचिन्ता-वैराग्यनिरूपणविचारश्च]

तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरण ॥ १ ॥

अवेष्टितो वेष्टितो वा भूतसूक्ष्मैः पुमान् व्रजेत्। भूतानां सुलभत्वेन यात्यवेष्टित एव सः ॥
बीजानां सुलभत्वेन निराधारेन्द्रियागतेः । पञ्चमाहुतियुक्तेश्च जीवस्तैर्याति वेष्टितः ॥

अव्यवहित पूर्वपाद के अन्त में शरीर की चर्चा हुई है, इससे इस सूत्र में तत्शब्द से शरीर का बोध होता है। रहि धातु गति अर्थ में है, और प्रतिपत्ति शब्द का प्राप्ति अर्थ है, सप्तमी विभक्ति निमित्त अर्थ में है। इससे सूत्र का अर्थ है कि एक शरीर को त्याग कर दूसरे शरीर की प्राप्ति के लिये यह जीव भूतों के सूक्ष्मांशयुक्त भूतसूक्ष्मांशमय सूक्ष्म शरीर से वेष्टित ही गमन करता है, यह पञ्चाग्निसम्बन्धी प्रश्न और प्रतिवचन से सिद्ध और अवगत होता है। *यहाँ प्रश्न है कि भूतों के सूक्ष्मांश से अवेष्टित अथवा* वेष्टित पुमान् (पुरुष-जीवात्मा) गमन कर सकता है। पूर्वपक्ष है कि शरीर के कारण-रूप भूतों के सब लोकादि मे सुलभ होने से भूतों से अवेष्टित ही जीव जाता है। सिद्धान्त है कि साधारण भूतों के सर्वत्र होते भी तत्तत्संस्कारादियुक्त अतएव बीज-तुल्य भूतों के सर्वत्र दुर्लभ होने से, तथा निराधार इन्द्रियों की गति के दुर्लभ होने से, असम्भव होने से, तथा पञ्चमाहुतिविषयक श्रुतिगत युक्ति के सूक्ष्मभूत के बिना दुर्लभत्व से भूतसूक्ष्मों से वेष्टित हो जाता है ॥ १-२ ॥

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननि-रूपणाभ्याम् ॥ १ ॥

द्वितीयेऽध्याये स्मृतिन्यायविरोधो वेदान्तविहिते ब्रह्मदर्शने परिहृतः। परपक्षाणां चानपेक्षत्वं प्रपञ्चितम्। श्रुतिविप्रतिषेधश्च परिहृतः। तत्र च जीवव्यतिरिक्तानि तत्त्वानि जीवोपकरणानि ब्रह्मणो जायन्त इत्युक्तम्। अथेदानीमुपकरणोपहितस्य जीवस्य संसारगतिप्रकारस्तदवस्थान्तराणि ब्रह्म-सतत्त्वं विद्याभेदाभेदौ गुणोपसंहारानुपसंहारौ सम्यग्दर्शनात्पुरुषार्थसिद्धिः सम्यग्दर्शनोपायविधिप्रभेदो मुक्तिफलानियमश्चेत्येतदर्थजातं तृतीयेऽध्याये निरूपयिष्यते प्रसङ्गागतं च किमप्यन्यत्। तत्र प्रथमे तावत्पादे पञ्चा-ग्निविद्यामाश्रित्य संसारगतिप्रभेदः प्रदर्श्यते वैराग्यहेतोः, 'तस्माज्जुगु-प्सेत' इति चान्ते श्रवणात्। जीवो मुख्यप्राणसचिवः सेन्द्रियः समनस्को-ऽविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञापरिग्रहः पूर्वदेहं विहाय देहान्तरं प्रतिपद्यत इत्येतदवगतम्,

'अथैनमेते प्राणा अभिसमायन्ति' -इत्येवमादि 'अन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते' (बृ० ४।४।१४) इत्येवमन्तात्संसारप्रकरणस्थाच्छब्दात्, धर्माधर्मफलोपभोगसंभवाच्च । स किं देहबीजैर्भूतसूक्ष्मैरसंपरिष्वक्तो गच्छत्याहोस्वित्संपरिष्वक्त इति चिन्त्यते । किं तावत्प्राप्तम्? असंपरिष्वक्त इति । कुतः? करणोपादानवद्भूतोपादानस्याश्रुतत्वात् । 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानः' (बृ० ४।४।१) इति ह्यत्र तेजोमात्राशब्देन करणानामुपादानं संकीर्तयति, वाक्यशेषे चक्षुरादिसंकीर्तनात् । नैवं भूतमात्रोपादानसंकीर्तनमस्ति, सुलभाश्च सर्वत्र भूतमात्राः, यत्रैव देह आरब्धव्यस्तत्रैव सन्ति ततश्च तासां नयनं निष्प्रयोजनम्, तस्मादसंपरिष्वक्तो यातीति ।

वेदान्तों मे विहित ब्रह्मदर्शनविषयक स्मृति और न्याय का विरोध द्वितीय अध्याय मे परिहृत (निवारित) किया गया है । और परपक्षों के अनपेक्षत्व (अग्राह्यत्व) का विस्तार से वर्णन किया गया है । तथा श्रुतियो के विरोधो का परिहार किया गया है । और इस द्वितीय अध्याय में कहा गया है कि जीव से भिन्न जीव के उपकरण(भोगादि-साधन) रूप तत्त्व ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं । उसके अनन्तर अब इस समय उक्त उपकरण उपहित (उपकरणो से युक्त) जीव की संसार गति का प्रकार उस जीव की अन्य अवस्थाएँ, ब्रह्म का तात्त्विक स्वरूप, विद्या का भेद और अभेद, गुणो का उपसंहार और अनुपसंहार, सम्यग्दर्शन से पुरुषार्थ की सिद्धि, सम्यग्दर्शन के उपायो की विधियों का प्रभेद और मुक्तिरूप फल का अनियम इत्यादि अर्थसमूह का निरूपण तृतीय अध्याय में किया जायगा और प्रसंग से प्राप्त अन्य देहात्म-दूषणादि भी कुछ कहा जायगा । यहाँ सबके आदि मे प्रथम पाद मे वैराग्य का हेतु होने से पञ्चाग्निविद्या का आश्रयण करके संसारगति का प्रभेद प्रदर्शित कराया जाता है । पञ्चाग्निविद्या-प्रदर्शन में संसारगति-प्रदर्शन मे (तस्माज्जुगुप्सेत) इस प्रकार अन्त मे श्रवण से वैराग्य की स्वर्गहेतुता की प्रतीति होती है (जिससे कर्म का फलरूप स्वर्ग गमनागमन रूप अनर्थात्मक है) इससे कर्मफल में विद्वान् पुरुष जुगुप्सा (घृणा) करे यह अर्थ है । मुख्यप्राण इन्द्रिय और मन सहित तथा अविद्या, कर्म (धर्माधर्म) पूर्वप्रज्ञा (जन्मान्तर के संस्कार) रूप परिग्रह (परिवार) वाला जीव पूर्व देह को त्याग कर अन्य देह मे प्राप्त होता है, यह अर्थतत्त्व अवगत होता है । जिससे (इसमें मरणकाल में ये वाक् आदि प्राण इस जीवात्मा से हृदय में सम्मिलित होते हैं) यहाँ से आरम्भ करके (अन्य अति नवीन कल्याणतर सुन्दररूप शरीर करता है) यहाँ तक संसार के प्रकरण मे स्थित शब्दों से उक्त अर्थ अवगत होता है तथा अविद्यादिसहित को ही कर्म फल के उपभोग का सम्भव भी है, इससे भी उक्त अर्थ अवगत होता है । यहाँ क्या देहान्तर के बीजरूप भूतों के सूक्ष्मांशों से असम्मिलित, असंवेष्टित जीव मरण-काल मे गमन करता है, अथवा सूक्ष्म भूतों मे सम्मिलित होकर गमन करता है, यह चिन्ता-

विचार किया जाता है। यहाँ प्रथम क्या होता है, ऐसा विमर्श होने पर पूर्वपक्ष प्राप्त होता है कि असम्मिलित जीव जाता है। क्योंकि गमनकाल में करणों के उपादान (ग्रहण) के समान भूतों के उपादान के अश्रुतत्त्व से असंमिलित का गमन सिद्ध होता है। (वह जीवात्मा मरणकाल में इन तेजोमात्राओं ज्ञानशक्तियों का सम्यग् ग्रहण करके गमन करता है) यहाँ तेजोमात्रा शब्द से करणों का ग्रहण संकीर्तित होता है, वह वाक्यशेष में चक्षुआदि के संकीर्तन से समझा जाता है। इस प्रकार भूतमात्राओं के उपादान का संकीर्तन नहीं है। भूतमात्रा सर्वत्र सुलभ भी हैं, जहाँ ही देह का आरम्भ होना है वहाँ ही भूतमात्रा वर्तमान हैं। इससे उन भूतमात्राओं को वहाँ ले जाना निष्प्रयोजन है, इसलिये भूतमात्राओं से असम्बद्ध जीव अन्य शरीर के लिये गमन करता है।

एवं प्राप्ते पठत्याचार्यः—तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्त इति। तदन्तरप्रतिपत्तौ देहात् देहान्तरप्रतिपत्तौ देहबीजैर्भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो रंहति गच्छतीत्यवगन्तव्यम्। कुतः? प्रश्ननिरूपणाभ्याम्। तथाहि प्रश्नः—'वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इति। निरूपणं च प्रतिवचनं द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषित्सु पञ्चस्वग्निषु श्रद्धासोमवृष्ट्यन्नरेतोरूपाः पञ्चाहुतीर्दर्शयित्वा 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।९।१) इति। तस्मादद्भिः परिवेष्टितो जीवो रंहति व्रजतीति गम्यते। नन्वन्या श्रुतिर्जलूकावत्पूर्वदेहं न मुञ्चति यावन्न देहान्तरमाक्रमतीति दर्शयति—तद्यथा तृणजलायुका' (बृ० ४।४।३) इति। तत्राप्यपरिवेष्टितस्यैव जीवस्य कर्मोपस्थापितप्रतिपत्तव्यदेहविषयभावनादीर्घीभावमात्रं ... जलूकयोपमीयत इत्यविरोधः। एवं श्रुत्युक्ते देहान्तरप्रतिपत्तिप्रकारे सति याः पुरुषमतिप्रभवाः कल्पनाः—व्यापिनां करणानामात्मनश्च देहान्तरप्रतिपत्तौ कर्मवशाद् वृत्तिलाभस्तत्र भवति, केवलस्यैवात्मनो वृत्तिलाभस्तत्र भवति, इन्द्रियाणि तु देहवदभिनवान्येव तत्र तत्र भोगस्थान उत्पद्यन्ते, मन एव वा केवलं भोगस्थानमभिप्रतिष्ठेत, जीव एव वोत्प्लुत्य देहाद् देहान्तरं प्रतिपद्यते शुक इव वृक्षाद् वृक्षान्तरम्—इत्येवमाद्याः सर्वा एवानादर्तव्याः श्रुतिविरोधात् ॥ १ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर आचार्य पढ़ते (कहते) हैं कि (तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः) इति। तदन्तर की प्रतिपत्ति में अर्थात् गृहीत देह से देहान्तर की प्राप्ति में देह के बीजभूतों के सूक्ष्मांशों से संमिलित जीव गमन करता है, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि प्रश्न और प्रतिवचन से ऐसा ही सिद्ध होता है। जिससे प्रश्न इस प्रकार है कि (क्या जानते हो कि जिस प्रकार पञ्चमी आहुति के पूर्ण होने पर हवन के साधनरूप जल ही पुरुष शब्द के वाच्य पुरुषरूप हो जाते हैं) और निरूपण (प्रतिवचन) है कि, स्वर्ग, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष, स्त्रीरूप कल्पित पांच अग्नियों में श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न, वीर्यरूप पांच आहुति (हवनसाधन) को दिखा कर (इस प्रकार पंचमी आहुति में

आप —जल पुरुष शब्द के वाच्य होते हैं) जिससे जल से परिवेष्टित जीव गमन करता है यह समझा जाता है। भाव है कि श्वेतकेतु पांचालों की सभा में गया, तो प्रवाहण ने उससे उक्त प्रश्न किया। श्वेतकेतु उत्तर नहीं दे सका तो पिता के पास गया। वे भी इस तत्त्व को नहीं जानते थे इससे श्वेतकेतु के पिता ही प्रवाहण के पास में जाकर इस प्रश्न का उत्तर उसीसे पूछा तो उसने श्रद्धापूर्वक दधि, घृत, दूध आदि जलमय पदार्थ स्वर्ग के लिये अग्नि में हवन किये जाते हैं उन जल आदि को श्रद्धा शब्द से कह कर उनका स्वर्गरूप अग्नि में हवन बताया। क्योंकि वे संस्कृत जल यजमान के साथ स्वर्ग में जाते हैं। वे ही क्रम से सोम, वृष्टि, अन्न वीर्यरूप होकर फिर शरीररूप होते हैं, यह विषय विस्तारपूर्वक छान्दोग्य में द्रष्टव्य है। यहां शंका होती है कि (जैसे तृण जलायुका दूसरे तृण को पकड़ कर गृहीत देह को त्यागता है, इसी प्रकार जीव भी दूसरी देह को पकड़कर गृहीत देह को त्यागता है) इसी प्रकार की दूसरी श्रुति तृण जलायुका के समान जब तक देहान्तर में नहीं प्राप्त होता है तब तक पूर्व देह को नहीं त्यागता है इस अर्थ को दिखाती है। इससे श्रुति में विरोध प्रतीत होता है। उत्तर है कि वहां भी जलादि से परिवेष्टित ही जीव के कर्म से उपस्थापित (सिद्ध) प्राप्त करने योग्य देहविषयक वासना का दीर्घीभाव (विस्तार सम्बन्ध) मात्र ही जलायुका द्वारा उपमित (उपमा से बोधित) होता है इसमें विरोध नहीं है। इस प्रकार श्रुति से उक्त देहान्तर की प्राप्ति के प्रकार के होने पर, जो पुरुषों की मति से अन्य कल्पनाएँ हैं वह सब ही श्रुतिविरोध से अनादर्तव्य हैं। सांख्यों की कल्पना है कि व्यापक करण और आत्मा का देहान्तर की प्राप्ति में कर्मवश उस देहान्तर में वृत्तिलाभ होता है। आत्मा या इन्द्रिय की गति नहीं होती है। सुगतमत की कल्पना है कि केवल आत्मा ही का इस देहान्तर में वृत्तिलाभ होता है, इन्द्रियां तो देह के समान तत्तत् भोग स्थानों में सर्वथा नूतन ही उत्पन्न होती हैं काणादमत की कल्पना है कि केवल मन ही भोग स्थान में जायगा, इन्द्रियां नवीन ही उत्पन्न होंगी। दिगम्बर कहते हैं कि एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर शुक के समान जीव ही एक देह से उछल (कूद) कर दूसरे देह को प्राप्त करता है इत्यादि ॥ १ ॥

ननूदाहृताभ्यां प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां केवलाभिरद्भिः संपरिष्वक्तो रंहतीति प्राप्नोति, अपशब्दश्रवणसामर्थ्यात्। तत्र कथं सामान्येन प्रतिज्ञायते सर्वैरेव भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो रंहतीति। अत उत्तरं पठति—

उत्तरार्थ में शंका होती है कि उदाहृत प्रश्न और प्रतिवचन से केवल जल से परिवेष्टित जीव गमन करता है यह प्राप्त होता है। क्योंकि प्रश्न और प्रतिवचन दोनों में अपशब्द के श्रवण के सामर्थ्य से अप्मात्र से ही परिवेष्टित का गमन सिद्ध होता है। फिर भी उस अर्थ विषयक सामान्य रूप से कैसे प्रतिज्ञा की जाती है कि सब ही भूतों के सूक्ष्म भागों से संवेष्टित जीव गमन करता है। अतः उत्तर पढ़ते हैं कि—

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥ २ ॥

तुशब्देन चोदितामाशङ्कामुच्छिनत्ति । त्र्यात्मिका ह्यापस्त्रिवृत्करणश्रुतेः । तास्वारम्भिकास्वभ्युपगतास्वितरदपि भूतद्वयमवश्यमभ्युपगन्तव्यं भवति । त्र्यात्मकश्च देहस्त्रयाणामपि तेजोबन्नानां तस्मिन्कार्योपलब्धेः, पुनश्च त्र्यात्मकस्त्रिधातुत्वात् त्रिभिर्वातपित्तश्लेष्मभिः । न भूतान्तराणि स प्रत्याख्याय केवलाभिरद्भिरारब्धुं शक्यते । तस्माद् भूयस्त्वापेक्षोऽयमापः पुरुषवचस इति । प्रश्नप्रतिवचनयोरप्शब्दो न कैवल्यापेक्षः, सर्वदेहेषु हि रसलोहितादिद्रवद्रव्यभूयस्त्वं दृश्यते । ननु पार्थिवो धातुर्भूयिष्ठो देहेषूपलक्ष्यते । नैष दोषः । इतरापेक्षयाप्यपां बाहुल्यं भविष्यति । दृश्यते च शुक्रशोणितलक्षणेऽपि देहबीजे द्रवबाहुल्यम् । कर्म च निमित्तकारणं देहान्तरारम्भे । कर्माणि चाग्निहोत्रादीनि सोमाज्यपयःप्रभृतिद्रवद्रव्यव्यपाश्रयाणि । कर्मसमवायिन्यश्चापः श्रद्धाशब्दोदिताः सह कर्मभिर्द्युलोकाख्येऽग्नौ हूयन्त इति वक्ष्यति, तस्मादप्यपां बाहुल्यप्रसिद्धिः । बाहुल्याच्चाप्शब्देन सर्वेषामेव देहबीजानां भूतसूक्ष्माणामुपादानमिति निरवद्यम् ॥ २ ॥

तु शब्द से प्रश्नात्मक शंका का उच्छेद करते हैं—कि त्रिवृत्करण श्रुति से जल तीनभूत स्वरूप है इससे यहाँ शंका का विषय नहीं है। आरम्भक (कारण) रूप से स्वीकृत उस जल में इतर भूमि-तेजरूप भी दो भूत अवश्य अभ्युपगन्तव्य (स्वीकारार्ह) होते हैं। तेज, जल, और अन्न इन तीनों के कार्य की इस देह में उपलब्धि से देह तीन भूतात्मक है। पाक, स्वेद, गन्धरूप तीनों भूतों के कार्य देह में उपलब्ध होते हैं। यदि कहो कि प्राण और अवकाश की सभी देह में उपलब्धि से पञ्चात्मदेह को कहना उचित है, तो फिर भी वात, पित्त और श्लेष्मारूप तीन धातुओं से तीन धातुस्वरूप देह है। वह देह भूतान्तर को त्याग कर केवल जल से रचा नहीं जा सकता है। इससे अधिकता की अपेक्षा से (जल-पुरुष वचन वाला होता है) यह कहा गया है। प्रश्न और प्रतिवचन में अप्शब्द केवलता की अपेक्षा से नहीं है। जिससे सब देहों में रस-लोहितादि द्रव (स्यन्दन युक्त) द्रव्य की अधिकता देखी जाती है, इससे अधिकता-दृष्टि से ही प्रश्न-प्रतिवचन में अप्शब्द है। शंका होती है कि पार्थिव धातु (पदार्थ) मांसादि शरीरों में अधिक उपलक्षित (दृष्ट) होते हैं, उत्तर है कि यह दोष नहीं है, पृथिवी से अन्य तेज-वायु की अपेक्षा से जल की बहुलता होगी। देह के आरम्भ में कर्म निमित्त कारण होता है। अग्निहोत्रादिरूप सब कर्म सोमरस, घृत, पय आदि द्रव द्रव्य के आश्रित सिद्ध होते हैं। श्रद्धा शब्द से कथित कर्म-सम्बन्धी जल कर्मों के साथ द्युलोक नामक अग्नि में हुत-प्रक्षिप्त होते हैं। यह आगे कहेंगे। इससे भी जलों की बहुलता की सिद्धि होती है। बहुलता से अप् शब्द द्वारा सभी देह के बीजरूप भूतों के सूक्ष्मांश का ग्रहण है इससे निर्दोष है॥ २ ॥

प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥

प्राणाना च देहान्तरप्रतिपत्तौ गति श्राव्यते—'तमुत्क्रामन्त प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्त सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२) इत्यादिश्रुतिभि । सा च प्राणाना गतिर्नाश्रयमन्तरेण सभवतीत्यत प्राणगतिप्रयुक्ता तदाश्रयभूतानामपामपि भूतान्तरोपसृष्टाना गतिरवगम्यते। नहि निराश्रया प्राणा क्वचिद् गच्छन्ति तिष्ठन्ति वा—जीवतो दर्शनात् ॥ ३ ॥

'उस जीव के उत्क्रमण करते ही प्राण अनुउत्क्रमण करता है, प्राण के अनुउत्क्रमण करते ही सब प्राण अनुउत्क्रमण करते हैं' इत्यादि श्रुतियों में देहान्तर की प्राप्ति में प्राणों की भी गति सुनाई जाती है। वह प्राणों की गति आश्रय के बिना हो नहीं सकती है। अतः प्राणगतिनिमित्तक उन प्राणों के आश्रयरूप अन्यभूतों से सम्मिलित जलों की गति अवगत होती है (समझी जाती है)। जीवित पुरुष के प्राणों की निराश्रय गति के अदर्शन से समझा जाता है कि निराश्रय प्राण कहीं नहीं जाते हैं या कहीं स्थिर नहीं होते हैं। इससे मरणकाल में भूत सूक्ष्मादि आश्रयसहित ही गमन करते हैं ॥ ३ ॥

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥

स्यादेतत्, नैव प्राणा देहान्तरप्रतिपत्तौ सह जीवेन गच्छन्ति अग्न्यादिगतिश्रुते । तथाहि श्रुतिर्मरणकाले वागादय प्राणा अग्न्यादीन्देवान्गच्छन्तीति दर्शयति—'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वात प्राण' (बृ० ३।२।१३) इत्यादिनेति चेत्। न। भाक्तत्वात्। वागादीनामग्न्यादिगतिश्रुतिर्गौणी लोमसु केशेषु चादर्शनात्। 'ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशा (बृ० ३।२।१३) इति हि तत्राम्नायते। नहि लोमानि केशाश्चोत्प्लुत्यौषधीर्वनस्पतींश्च गच्छन्तीति सभवति। नच जीवस्य प्राणोपाधिप्रत्याख्याने गमनमवकल्पते। नापि प्राणैर्विना देहान्तर उपभोग उपपद्यते, विस्पष्ट च प्राणाना सह जीवेन गमनमन्यत्र श्रावितम्, अतो वागाद्यधिष्ठात्रीणामग्न्यादिदेवताना वागाद्युपकारिणीना मरणकाल उपकारनिवृत्तिमात्रमपेक्ष्य वागादयोऽग्न्यादीन्गच्छन्तीत्युपचर्यते ॥४॥

शंका होती है कि प्राणों की निराश्रय गति नहीं होती है। यह ऐसा हो परन्तु मरणकाल में वाक् आदि रूप प्राणों की अग्नि आदि में गति के सुनने से सिद्ध होता है कि देहान्तर की प्राप्तिकाल में जीव के साथ प्राण नहीं गमन करते हैं। जिससे मरणकाल में वाक् आदि रूप प्राण, अग्नि आदि देवको प्राप्त होते हैं, उसको श्रुति इस प्रकार दिखाती है कि (जहाँ इस मृत पुरुष की वाक् अग्नि में लीन होती है प्राण वायु में लीन होते हैं। इत्यादि, उस समय पुरुष कहाँ रहता है।) यह प्रश्न है इससे मरण के बाद वागादिरहित पुरुष सिद्ध होता है, यदि इस प्रकार कोई कहे, तो यह कहना ठीक

नहीं है, जिससे अग्नि आदि में वाक् आदि की गमन-श्रुति भाक्त है (ओषधियों में मृत पुरुष के लोम प्राप्त होते हैं, वनस्पतियों में केश प्राप्त होते हैं) इस प्रकार भी श्रुति कहती है, परन्तु लोम और केश में ओषधि-वनस्पतिविषयक गमन के नहीं देखने से श्रुति गौणी है। लोम और केश उछल-कूद कर ओषधि और वनस्पति में जाते हैं, यह सम्भव नहीं है और प्राणरूप उपाधि के प्रत्याख्यान-परित्याग करने पर जीव का गमन नहीं सिद्ध हो सकता है, उपाधिरहित जीव का स्वरूप निष्क्रिय है, इसीसे प्राणों के विना देहान्तर में उपभोग भी नहीं सिद्ध हो सकता है। अन्य स्थानों में प्राणों का जीव के साथ गमन विस्पष्ट सुनाया गया है। इससे सिद्ध होता है कि मरणकाल में वाक् आदि की अधिष्ठात्री वाक् आदि के उपकारक अग्नि आदि देवताओं के उपकार की निवृत्तिमात्र की अपेक्षा करके वाक् आदि अग्नि में गमन करते हैं, यह उपचार (गौण व्यवहार) किया जाता है ॥ ४ ॥

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥ ५ ॥

स्यादेतत्। कथं पुनः 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इत्येतन्निर्धारयितुं पार्यते, यावता नैव प्रथमेऽग्नावपां श्रवणमस्ति। इह हि द्युलोकप्रभृतयः पञ्चाग्नयः पञ्चानामाहुतीनामाधारत्वेनाधीताः, तेषां च प्रमुखे 'असौ वाव लोको गौतमाग्निः' (छा० ५।४।१) इत्युपन्यस्य 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति (छा० ५।४।२) इति श्रद्धा हौम्यद्रव्यत्वेनावेदिता। न तत्रापो हौम्यद्रव्यतया श्रुताः। यदि नाम पर्जन्यादिषूत्तरेषु चतुर्ष्वग्निष्वपां हौम्यद्रव्यता परिकल्प्येत परिकल्प्यतां नाम। तेषु होतव्यतयोपात्तानां सोमादीनामब्बहुलत्वोपपत्तेः। प्रथमे त्वग्नौ श्रुतां श्रद्धां परित्यज्याश्रुता आपः परिकल्प्यन्त इति साहसमेतत्। श्रद्धा च नाम प्रत्ययविशेषः प्रसिद्धिसामर्थ्यात्। तस्मादयुक्तः पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषभाव इति चेत्। नैष दोषः। हि यतस्तत्रापि प्रथमेऽग्नौ ता एवापः श्रद्धाशब्देनाभिप्रेयन्ते। कुतः? उपपत्तेः। एवं ह्यादिमध्यावसानसंगानादनाकुलमेतदेकवाक्यमुपपद्यते, इतरथा पुनः पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वप्रकारे पृष्टे प्रतिवचनावसरे प्रथमाहुतिस्थाने यद्यनपो हौम्यद्रव्यं श्रद्धां नामावतारयेत्ततोऽन्यथा प्रश्नोऽन्यथा प्रतिवचनमित्येकवाक्यता न स्यात्।

प्रथमे-अश्रवणात्-इति-चेत्-न-ता-एव-हि एव-उपपत्तेः। ये नव पद सूत्र में हैं। संक्षिप्तार्थ है कि (द्वितीयाद्यग्निषुसोमवृष्ट्यादीनां जलरूपाणां श्रवणेऽपि प्रथमे द्युलोकात्मकेऽग्नौ श्रद्धाया होतव्यत्वेन श्रवणादपामश्रवणादपां पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचस्त्वमयुक्तमिति चेन्न यत उपपत्तेस्ता आप एव श्रद्धाशब्देन गृह्यन्ते) द्वितीय आदि अग्नियों में हवनयोग्य सोम वृष्टि जलरूप द्रव्य का श्रवण हो तो भी प्रथम स्वर्गलोकरूप अग्नि में हवन के द्रव्यरूप से श्रद्धा के सुनने से जल का अश्रवण है, इससे पञ्चमी आहुति में जल का पुरुष

वाच्यत्व युक्त नहीं है। इस शंका का उत्तर है कि पञ्चमी आहुति में जल की पुरुष वाच्यता अयुक्त नहीं है जिससे श्रद्धा का हवन अनुपपन्न है, जल का ही हवन उपपन्न हो सकता है इससे वह जल ही श्रद्धा शब्द से गृहीत होता है। शंका होती है कि यह गमन श्रुति गौणी हो। फिर भी (पञ्चमी आहुति में अप् पुरुष शब्द का वाच्य हो जाते हैं) यह निर्धारण कैसे पूर्ण किया जा सकता है, जब कि प्रथम अग्नि में जल का श्रवण सर्वथा नहीं है। जिससे यहाँ द्युलोकादि पाँच अग्नियाँ पाँच आहुति के आधार रूप में पढ़ी गयी हैं। उनमें से प्रमुख (प्रथम) में (हे गौतम! वह स्वर्गलोक ही अग्नि है) इस प्रकार उपन्यास करके (इस स्वर्गरूप इस अग्नि से देव सब श्रद्धा का हवन करते हैं) इस वचन में श्रद्धा होम के लिये द्रव्य रूप में आवेदित (उक्त) हुई है वहाँ होम के लिए द्रव्यरूप में जल नहीं सुना गया है। यद्यपि उत्तरवर्ती पर्जन्यादिरूप चार अग्नियों में भी होतव्य द्रव्य जल नहीं हैं तथापि उनमें होतव्य सोम आदि के जल आधिक्य की उपपत्ति से यदि उन अग्नियों में होतव्यरूप से जल की कल्पना की जाय तो यथेष्ट कल्पना की जा सकती है। परन्तु प्रथम अग्नि में तो श्रुतश्रद्धा का परित्याग करके अश्रुत अप् परिकल्पित होते हैं, यह साहस है। श्रद्धानामक वस्तु प्रसिद्धि के सामर्थ्य से ज्ञानविशेष (विश्वास) रूप है, इससे पञ्चमी आहुति में अप् का पुरुषभाव (पुरुषत्व) अयुक्त है। उत्तर है कि यह दोष नहीं है जिससे इस प्रथमाग्नि में भी वे जल ही श्रद्धा शब्द द्वारा अभिप्रेत होते हैं। क्योंकि उपपत्ति (युक्ति) से ऐसा ही सिद्ध होता है। जिससे इसी प्रकार आदि, मध्य और अन्त का सगाल (संवाद-तुल्यार्थ) ही से आकुलतारहित एकवाक्य यह सिद्ध होता है अन्यथा श्रद्धा शब्द से जल के नहीं अभिप्रेत होने पर, पञ्चमी आहुति में जल के पुरुष-शब्द वाच्यत्व के प्रकार के पूछने पर फिर प्रतिवचन के अवसर में प्रथम आहुति के स्थान में यदि जल से भिन्न श्रद्धानामक होतव्य द्रव्य को उत्तरदाता अवतरण (सिद्ध प्राप्त) करे, तो प्रश्न अन्यथा, सिद्ध होगा, और प्रतिवचन उससे अन्यथा सिद्ध होगा, इससे एकवाक्यता नहीं होगी।

'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इति चोपसंहरन्नेतदेव दर्शयति। श्रद्धाकार्यं च सोमवृष्ट्यादिस्थूलीभवद्रंहल लक्ष्यते। सा च श्रद्धाया अप्त्वे युक्तिः। कारणानुरूपं हि कार्यं भवति। न च श्रद्धाख्य प्रत्ययो मनसो जीवस्य वा धर्मः सन्धर्मिणो निष्कृष्य होमायोपादातुं शक्यते पश्वादिभ्य इव हृदयादीनीत्याप एव श्रद्धाशब्दा भवेयुः। श्रद्धाशब्दश्चाप्सूपपद्यते, वैदिकप्रयोगदर्शनात् 'श्रद्धाशब्दश्चाप्सूपपद्यते, वैदिकप्रयोगदर्शनात् 'श्रद्धा वा आपः' इति। तनुत्वं च श्रद्धासारूप्यं गच्छन्त्य आपो देहबीजभूता इत्यतः श्रद्धाशब्दाः स्युः, यथा सिंहपराक्रमो नरः सिंहशब्दो भवति। श्रद्धापूर्वकर्मसमवायाच्चाप्सु श्रद्धाशब्द उपपद्यते, मञ्चशब्द इव पुरुषेषु। श्रद्धाहेतुत्वाच्च श्रद्धाशब्दोपपत्तिः 'आपो हास्मै श्रद्धां संनमन्ते पुण्याय कर्मणे' इति श्रुतेः॥ ५॥

इस प्रकार पञ्चमी आहुति में आपः पुरुष शब्द के वाच्य होते हैं। इस प्रकार उपसंहार करता हुआ उत्तरदाता इस एकवाक्यत्व को ही दिखाता है तथा इस एकवाक्यता के लिये श्रद्धा शब्द के जलार्थकत्व को दिखाता है। इस श्रद्धा-रूप आहुति से सोम होता है, इत्यादि वचन के अनुसार श्रद्धा के कार्यरूप सोमवृष्टि आदि स्थूल होते हुए जल की अधिकतायुक्त देखे जाते हैं। सोम आदि मे उत्तरोत्तर *जल की अधिकता दीखती है। वही श्रद्धा की जलरूपता में युक्ति है, जिससे कारण के* अनुरूप (सदृश) कार्य होता है। जैसे पशु आदि में से हृदयादि का ग्रहण करके उनका हवन करते हैं, वैसे मन का वा जीव का धर्मरूप से वर्तमान श्रद्धा-विश्वास नामक ज्ञान को धर्मी मन वा जीव में से निकाल कर होम के लिये ग्रहण नहीं कर सकते हैं, इस हेतु से जल ही श्रद्धा शब्दार्थ होंगे। श्रद्धा शब्द जल अर्थ में उपपन्न (सिद्ध) होता है। (श्रद्धा निश्चित जल है) ऐसा वैदिक प्रयोग देखने से, श्रद्धा शब्द को जलार्थत्व सिद्ध होता है। देह के बीजरूप जल तनुता (सूक्ष्मता) रूप श्रद्धासारूप्य (तुल्यता) को प्राप्त करते हैं। इससे श्रद्धा शब्दार्थ होंगे। जैसे कि सिंहतुल्य पराक्रम वाला मनुष्य सिंह-शब्दार्थ होता है और श्रद्धापूर्वक कर्म में जल का सम्बन्ध होने से भी जल अर्थ में श्रद्धा शब्द उपपन्न होता है। अर्थात् श्रद्धा को जल द्वारा कर्मसम्बन्धित्व वा कर्महेतुत्व होता है। इससे जल अर्थ में श्रद्धा शब्द प्रयुक्त हुआ है, जैसे कि मञ्च शब्द का मञ्चस्थ पुरुष में सम्बन्धनिमित्तक लाक्षणिक प्रयोग होता है। जल को श्रद्धा का हेतु होने से भी जलार्थ में श्रद्धाशब्द की उपपत्ति होती है। (स्नानादि कर्म के लिये जो जल होते हैं, वे दर्शनमात्र से प्रथम इस पुरुष का हित के लिए श्रद्धा को उत्पन्न करते हैं वह श्रद्धा फिर पुण्य कर्म के लिए होती है) इस श्रुति से जल में श्रद्धा के हेतुत्व की सिद्धि होती है ॥ ५ ॥

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥ ६ ॥

अथापि स्यात्प्रतिवचनाभ्यां नामापः श्रद्धादिक्रमेण पञ्चम्यामाहुतौ पुरुषाकारं प्रतिपद्येरन्, नतु तत्संपरिष्वक्ता जीवा रंहेयुः, अश्रुतत्वात्। न ह्यत्रापामिव जीवानां श्रावयिता कश्चिच्छब्दोऽस्ति। तस्माद्रंहति संपरिष्वक्त इत्युक्तमिति चेत्। नैष दोषः। कुतः? इष्टादिकारिणां प्रतीतेः 'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति' (छा० ५।१०।३) इत्युपक्रम्येष्टादिकारिणां धूमादिना पितृयानेन पथा चन्द्रप्राप्तिं कथयति—'आकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा' (छा० ५।१०।४) इति, त एवेहापि प्रतीयन्ते तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति' (छा० ५।४।२) श्रुतिसामान्यात्। तेषां चाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मसाधनभूता दधिपयःप्रभृतयो द्रवद्रव्यभूयस्त्वात्प्रत्यक्षमेवापः सन्ति। ता आहवनीये हुताः सूक्ष्मा आहुत्योऽपूर्वरूपाः सत्यस्तानिष्टादिकारिण आश्रयन्ति। तेषां च

शरीरं नैधनेन विधानेनान्त्येऽग्नावृत्विजो जुह्वति 'असौ स्वर्गाय लोकाय स्वाहा' इति। ततस्ताः श्रद्धापूर्वककर्मसमवायिन्य आहुतिमय्य आपोऽपूर्वरूपाः सत्यस्तानिष्टादिकारिणो जीवान्परिवेष्टयामुं लोकं फलदानाय नयन्तीति यत्तदत्र जुहोतिनाऽभिधीयते—'श्रद्धां जुह्वति' (छा० ५।४।२) इति। तथा चाग्निहोत्रे षट्प्रश्नीनिर्वचनरूपेण वाक्यशेषेण 'ते वा एते आहुती हुते उत्क्रामतः' इत्येवमादिनाग्निहोत्राहुत्योः फलारम्भाय लोकान्तरप्राप्तिः प्रदर्शिता। तस्मादाहुतीमयीभिरद्भिः संपरिष्वक्ता जीवा रंहन्ति स्वकर्मफलोपभोगायेति श्लिष्यते ॥ ६ ॥

फिर भी शंका होती है कि प्रश्न और प्रतिवचन से प्रसिद्ध जल ही श्रद्धादिक्रम द्वारा पञ्चमी आहुति में पुरुषाकार को प्राप्त करें यह बात हो सकती है। परन्तु यहाँ अश्रुतत्व से उनसे परिवेष्टित जीव गमन करें यह बात नहीं सिद्ध हो सकती है। जिससे यहाँ जलों के समान जीवों को सुनाने वाला कोई शब्द नहीं है। इससे भूतसूक्ष्मों से वेष्टित होकर जीव जाता है यह प्रथम सूत्रगत प्रतिज्ञा अयुक्त है। यदि ऐसी शंका हो तो कहा जाता है कि यह अयुक्तनामक दोष नहीं है। क्योंकि इष्ट आदि कर्म करने वाले गमनकर्ता जीवों की प्रतीति वाक्यशेष में होती है कि (फिर जो ये गृहस्थ ग्राम में 'इष्ट' वैदिक 'पूर्त' स्मार्त और 'दत्त' उचितदानरूप कर्म की उपासना सेवन करते हैं। इसी प्रकार अन्य भी परिचर्या, सेवा आदि करते हैं। वे ज्ञान रहित होने से धूमाभिमानी देव को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार उपक्रम करके इष्टादि कर्म करने वालों की धूमादिरूप पितृयान मार्ग से चन्द्रलोक की प्राप्ति को श्रुति कहती है कि (आकाश से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। जो यह सोम-चन्द्रमा है वह राजा है (वे ही इष्टादि करने वाले यहाँ भी प्रतीत होते हैं, जिससे (उस द्युलोकरूप इस अग्नि में श्रद्धारूप सूक्ष्म जल का हवन देव करते हैं, इस आहुति से सोम राजा होता है) इस प्रकार श्रुति की समानता है इससे यहाँ भी इष्टादिकारी प्रतीत होते हैं। उन इष्टादि कर्ताओं के अग्निहोत्रदर्श और पूर्णमासादि कर्मों के साधनस्वरूप, दधि, पय, आदि द्रव द्रव्य की अधिकता से प्रत्यक्ष ही जलस्वरूप हैं। आहवनीय नामक अग्नि में हुत (प्रक्षिप्त) वे सूक्ष्म आहुतियाँ अदृष्टरूप होकर उन इष्टादिकारियों को आश्रयण करती हैं। उनके शरीर को निधन (मरण) सम्बन्धी, मरणनिमित्तक अन्त्येष्टिविधान से ऋत्विक् लोग अन्त्य अग्नि में हवन करते हैं, मन्त्र पढ़ते हैं कि (यह यजमान स्वर्गलोक के लिए गमन करे)। फिर वे श्रद्धापूर्वक किये गये कर्मसम्बन्धी आहुतिमय जल अपूर्वरूप होकर, उन इष्टादिकारियों को परिवेष्टित करके उस स्वर्ग लोक में फलदान के लिये प्राप्त कराते हैं। इस प्रकार जो अर्थ कहा गया है वही यहाँ जुहोति (हवन) से कहा जाता है कि (देव श्रद्धा का हवन करते हैं)। इसी प्रकार अग्निहोत्रविषयक, उत्क्रान्ति आदि छः प्रश्नों का

समूह के निर्वचनरूप (वे दोनों सायं-प्रातःकालिक ये आहुति हुत होने पर उत्क्रमण करते हैं) इत्यादि वाक्यशेष द्वारा अग्निहोत्र आहुतियों की फलारम्भ के लिये लोकान्तर में प्राप्ति प्रदर्शित कराई गई है। इससे आहुतिमय जलों से परिवेष्टित जीव अपने कर्मफल भोग के लिए गमन कहते हैं। यह प्रतिज्ञायुक्त होती है ॥ ६ ॥

कथं पुनरिदमिष्टादिकारिणां स्वकर्मफलोपभोगाय रंहणं प्रतिज्ञायते, यावता तेषां धूमप्रतीकेन वर्त्मना चन्द्रमसमधिरूढानामन्नभावं दर्शयति— 'एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति' (छा० ५।१०।४) इति। 'ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेतांस्तत्र भक्षयन्ति' (बृ० ६।२।१६) इति च समानविषयं श्रुत्यन्तरम्। नच व्याघ्रादिभिरिव देवैर्भक्ष्यमाणानामुपभोगः संभवतीति। अत उत्तरं पठति।

फिर शंका होती है कि इष्टादिकारी का स्वकर्मफलोपभोग के लिये यह गमन होता है, यह प्रतिज्ञा कैसे की जाती है, जब कि धूमरूप अङ्गवाले मार्ग द्वारा चन्द्रलोक में अधिरूढ (प्राप्त) उन कर्मकर्ताओं के अन्नभाव (अन्नरूपता) को श्रुति दिखाती है कि (यह सोम राजा होता है वह देवों का अन्नरूप होता है, उसको देव भक्षण करते है) यहाँ यदि कहा जाय कि सोम अन्न होता है, इष्टादिकारी नहीं होता है, तो दूसरी श्रुति स्पष्ट ही कहती है कि (इस चन्द्र को प्राप्त होकर अन्न होते हैं, और वहाँ इन इष्टादिकारियों को देव इस प्रकार भक्षण करते हैं कि जैसे यज्ञ में सोमलतानामक राजा को पुनः-पुनः बढाकर और क्षय करके ऋत्विक् पीते-भक्षण करते हैं) यह श्रुति प्रथम श्रुति के तुल्य विषयवाली है। व्याघ्रादि से भक्ष्यमाण (भक्षित) के समान देवों से भक्ष्यमाणों को उपभोग का सम्भव नही है। ऐसी शंका हो सकती है, इससे उत्तर पढ़ते हैं कि—

भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति ॥ ७ ॥

वाशब्दश्चोदितदोषव्यावर्तनार्थः। भाक्तमेषामन्नत्वं न मुख्यम्, मुख्ये ह्यन्नत्वे 'स्वर्गकामो यजेत' इत्येवंजातीयकाधिकारश्रुतिरुपरुध्येत। चन्द्रमण्डले चेदिष्टादिकारिणामुपभोगो न स्यात्किमर्थमधिकारिण इष्टाद्यायासबहुलं कर्म कुर्युः। अन्नशब्दश्चोपभोगहेतुत्वसामान्यादनन्नेऽप्युपचर्यमाणो दृश्यते, यथा विशोऽन्नं राज्ञां पशवोऽन्नं विशामिति। तस्मादिष्टस्त्रीपुत्रमित्रभृत्यादिभिरिव गुणभावोपगतैरिष्टादिकारिभिर्यत्सुखविहरणं देवानां तदेवैषां भक्षणमभिप्रेतं न मोदकादिवच्चर्वणं निगरणं वा। 'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति' (छा० ३।६।१) इति च देवानां चर्वणादिव्यापारं वारयति। तेषां चेष्टादिकारिणां देवान्प्रति गुणभावोपगतानामप्युपभोग उपपद्यते राजो-

पजीविनामिव परिजनानाम्, अनात्मवित्त्वाचेष्टादिकारिणा देवोपभोग्यभाव उपपद्यते। तथाहि श्रुतिरनात्मविदां देवोपभोग्यतां दर्शयति—'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्' (बृ० १।४।१०) इति। स चास्मिन्नपि लोके इष्टादिभिः कर्मभिः प्रीणयन्पशुवद्देवानामुपकरोत्यमुष्मिन्नपि लोके तदुपजीवी तदादिष्टं फलमुपभुञ्जानः पशुवद् देवानामुपकरोतीति गम्यते।

वा शब्द आशङ्कित उक्त दोष की व्यावृत्ति के लिये है कि भाक्त ही अन्नत्व का कथन है, मुख्य नहीं है। जिससे मुख्य अन्नत्व होने पर (स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करे) इस प्रकार के अधिकार श्रुति (फलसम्बन्धबोधक श्रुति) उपरुद्ध (निरुद्ध-बाधित) हो जायगी। चन्द्रमण्डल (बिम्ब देश) में यदि इष्टादि करने वालों को उपभोग न हो, तो कर्म के अधिकारी लोग अति परिश्रम से साध्य इष्टादि कर्म किस प्रयोजन के लिए करें। अन्न शब्द तो अन्न से भिन्न अर्थ में भी उपभोग के हेतुत्वरूप समता से उपचार (गौण व्यवहार) का विषय देखा जाता है। जैसे कि विश् (वैश्य) राजाओं के अन्न हैं। वैश्यों के पशु अन्न हैं इस प्रकार गौण व्यवहार होता है। इससे इष्ट (प्रिय) स्त्री, पुत्र, मित्र, भृत्यादि के समान गुणभाव (अङ्ग विशेषण-भाव) को प्राप्त इष्टादिकारियों के साथ जो देवों का सुखपूर्वक विहरण है, उनके द्वारा जो विहरण (विहार) है, वही इनका भक्षण अभिप्रेत है, मोदक (लड्डू) आदि के समान चर्वण या निगरण (चबाना या निगलना) नहीं अभिप्रेत है। (प्रसिद्ध देव न खाते हैं, न पीते हैं किन्तु "इस सूर्यमण्डल में रोहितरूपात्मक अमृत को ही देखकर तृप्त होते हैं) इत्यादि श्रुति देवों के चर्वणादि रूप व्यापार का वारण करती है। देवों के प्रति गुणभाव को प्राप्त उन इष्टादि कर्मकारियों को भी उपभोग उत्पन्न (सिद्ध) होता है। जैसे राजा के उपजीवी (आश्रित) राजा के परिजनों को उपभोग होता है। आत्मज्ञान से रहित होने के कारण इष्टादिकारियों को देवों के प्रति उपभोग्य भाव उपपन्न (युक्त) होता है। इससे इसी प्रकार अनात्मज्ञों की देवों के प्रति उपभोग्यता को श्रुति दर्शाती है कि (जो अज्ञ आत्मा से अन्य देवता का सेवन करता है और समझता है कि वह देव अन्य है और मैं उससे अन्य हूँ, वह सत्य को नहीं समझता है, वह तो लोक में जैसे पशु मनुष्यों के उपभोग्य, दोहन, वाहनादि द्वारा होता है, वैसे ही देवों का पशु उपभोग्य है)। वह इस लोक में भी इष्टादि कर्मों के द्वारा देवों को प्रसन्न तृप्त, करता हुआ पशु के समान देवों का उपकार करता है। परलोक में भी उनका उपजीवी होकर उनसे आदिष्ट (उपदर्शित-आज्ञात) फल का उपभोग करता हुआ पशुतुल्य हो उनका उपकार करता है, यह श्रुति से समझा जाता है।

अनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयतीत्यस्यापरा व्याख्या—अनात्मविदो ह्येते मि इष्टादिकारिणो न ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठायिनः। पञ्चाग्निविद्या-

मीन्नात्मविद्येत्युपचरन्ति प्रकरणात्, पञ्चाग्निविज्ञान विहीनत्वाच्चेदनिष्टादिकारिणां गुणवादेनान्नत्वमुद्भाव्यते पञ्चाग्निविज्ञानप्रशंसार्थं। पञ्चाग्निविद्या हीह विधित्सिता, वाक्यतात्पर्यावगमात्। तथाहि श्रुत्यन्तरं चन्द्रमण्डले भोगसद्भावं दर्शयति—'स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते' (प्र० ५।४) इति। तथान्यदपि श्रुत्यन्तरम्। 'अथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्ते' (बृ० ४।३।३३) इतीष्टादिकारिणां देवैः सह संवसतां भोगप्राप्तिं दर्शयति। एवं भाक्तत्वादन्नभाववचनस्येष्टादिकारिणोऽत्र जीवा रंहन्तीति प्रतीयते। तस्माद्रंहति संपरिष्वक्त इति युक्तमेवोक्तम्॥ ७॥

अनात्मवित्त्वात्तथाहि दर्शयति। इस सूत्रांश का दूसरा व्याख्यान है कि इष्टादि करने वाले केवल कर्मी जो हैं, वे ही यहाँ अनात्मवित् हैं। ज्ञानकर्मसमुच्चय (साथ) अनुष्ठान करने वाले; अर्थात् उपासनासहित कर्म करने वाले अनात्मवित् नहीं हैं। प्रकरण से पञ्चाग्निविद्या का आत्मविद्या से उपचार (गौण-व्यवहार) करते हैं। प्रकरण से पञ्चाग्निविद्या का आत्मविद्या से उपचार (गौण व्यवहार) करते हैं। पञ्चाग्निविद्या की प्रशंसा के लिये पञ्चाग्निविज्ञान से विहीनता के कारण गुणवाद के द्वारा इष्टादिकारियों का यह अन्नत्व (उपभोग्यत्व) उद्भावित (प्रकट-व्यक्त) किया जाता है। जिससे यहाँ पञ्चाग्निविद्या-विधित्सित (विधान की इच्छा का विषय) है। वह वाक्य के तात्पर्य के अवगम से समझी जाती है। इसी प्रकार दूसरी श्रुति चन्द्रमंडल में भोग की सत्ता को दिखाती है कि (वह चन्द्रलोक में विभूति का अनुभव करके फिर यहाँ लौटता है। इसी प्रकार अन्य भी श्रुत्यन्तर (श्रुतिभेद) है कि (कर्म से जिनका लोकजित है उनके जो सौगुना आनन्द है, गन्धर्वलोक में एक आनन्द है, गन्धर्वलोक के सौगुण आनन्द कर्मदेवों का एक आनन्द है। जो कर्म से देवत्व को प्राप्त होते हैं वह कर्मदेव कहाते हैं) यह श्रुति देवों के साथ वसने वाले इष्टादिकारियों के भोग की प्राप्ति को दिखाती है। इस प्रकार अन्नभावबोधक वचन के भाक्त होने से यहाँ इष्टादि करने वाले जीव भोग के लिये गमन करते हैं यह प्रतीत होता है। इससे सूक्ष्मभूतों से संपरिष्वक्त होकर गमन करता है, यह युक्त ही कहा है॥ ७॥

कृतात्ययाधिकरण ॥ २ ॥

स्वर्गावरोही क्षीणानुशयः सानुशयोऽथवा। यावत्संपातवचनात् क्षीणानुशय इष्यते॥१॥
जातमात्रस्य भोगित्वादैकभव्ये विरोधतः। चरणश्रुतितः सानुशयः कर्मान्तरैरयम्॥२॥

स्वर्गार्थ कृत कर्मजन्य अदृष्ट के स्वर्गसुखभोग से अत्यय (विनष्ट) होने पर भी कर्मान्तरजन्य संचित अदृष्टरूप अनुशय (कर्माशय-वासना) सहित ही जीव स्वर्ग से स्वर्गान्त में लौटता है, यह श्रुति-स्मृति से सिद्ध होता है। लौटते समय कहीं तो

जिस मार्ग से जाता है, उसी से आता है, कहीं उससे विपरीत भिन्न मार्ग द्वारा भी लौटता है। यहाँ संशय होता है कि स्वर्ग से अवरोहण (नीचे आगमन) वाला कर्माशयरूप अनुशय से सर्वथा क्षीण होने पर स्वर्गावरोही होता है अथवा अनुशय-सहित अवरोही होता है। पूर्वपक्ष है कि (सम्यतत्यनेनेति सपात) स्वर्गादि मे जिससे गमन करता है, उस कर्म को सपात कहते हैं। श्रुति कहती है कि जबतक सपात कर्म रहता है तब स्वर्ग मे रहकर लौटता है। इससे क्षीण अनुशय वाला स्वर्गावरोही माना जाता है। सिद्धान्त है कि जातमात्र प्राणी को वर्तमान कर्मादि के बिना सुख-दुःख के भोगित्व होने से, एक ही भव (जन्म) सब कर्म का फलरूप एकभवता (एक भविकता) मे विरोध होने से, विरुद्ध कर्मों का एक किसी जन्म मे भोग नही हो सकने से और चरण श्रुति मे भी यह अनुशय सहित ही लौटता है ॥१-२॥

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥ ८ ॥

इष्टादिकारिणां धूमादिना वर्त्मना चन्द्रमण्डलमधिरूढानां भुक्तभोगानां तत प्रत्यवरोह आम्नायते—'तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्' (छा० ५।१०।५) इत्यारभ्य यावत् 'रमणीयचरणा ब्राह्मणादियोनिमापद्यन्ते कपूयचरणाः श्वादियोनिम्' इति। तत्रेदं विचार्यते—किं निरनुशया भुक्तकृत्स्नकर्माणोऽवरोहन्त्याहोस्वित्सानुशया इति। किं तावत्प्राप्तम्? निरनुशया इति। कुत ? यावत्सम्पातमिति विशेषणात्। सम्पातशब्देनात्र कर्माशय उच्यते—सम्पतन्त्यनेनास्माल्लोकादमुं लोकं फलोपभोगायेति, यावत्सम्पातमुषित्वेति च कृत्स्नस्य तस्य कृतस्य तत्रैव भुक्ततां दर्शयति। 'तेषां यदा तत्पर्यवैति' (बृ० ६।२।१६) इति श्रुत्यन्तरेणैष एवार्थ प्रदर्श्यते। स्यादेतत्, यावदमुष्मिँल्लोक उपभोक्तव्यं कर्म तावदुपभुङ्क्त इति कल्पयिष्यामीति। नैवं कल्पयितुं शक्यते यत्किंचेत्यन्यत्र परामर्शात्। 'प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे' (बृ० ४।४।६) इति ह्यपरा श्रुतिर्यत्किंचेत्यविशेषपरामर्शेन कृत्स्नस्येह कृतस्य कर्मणस्तत्र क्षयितां दर्शयति। अपिच प्रायणमारब्धफलस्य कर्मणोऽभिव्यञ्जकम्, प्राक्प्रायणादारब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्याभिव्यक्त्यनुपपत्ते। तच्चाविशेषाद्यावत्किंचिदनारब्धफलं तस्य सर्वस्याभिव्यञ्जकम्, नहि साधारणे निमित्ते नैमित्तिकमसाधारणं भवितुमर्हति। न ह्यविशेषे प्रदीपसंनिधौ घटोऽभिव्यज्यते न पट इत्युपपद्यते। तस्मान्निरनुशया अवरोहन्तीति।

धूमादि मार्ग से चन्द्रलोक मे आरूढ (प्राप्त) इष्टादिकारियो को वहाँ के भोगो को भोग लेने पर फिर उन भुक्तभोगवालो का इस चन्द्रलोक मे प्रत्यवरोह (नीचे अवतरण) श्रुति मे कहा जाता है कि (उस चन्द्रलोक मे कर्म के भोगकाल तक बस कर फिर जिस मार्ग से गया रहता है, उसी मार्ग से निवृत्त होता (लौटता) है)

यहाँ से आरम्भ करके (सुन्दर आचरणशील वाले ब्राह्मणादि योनि को प्राप्त करते हैं, निन्दित पापरूप आचरण वाले कुत्ता आदि योनि को प्राप्त करते हैं) जब तक यह वचन श्रुति में आया है, तब तक अवतरण की कथा है। यहाँ यह विचार किया जाता है कि क्या अनुशयरूप कर्माशयरहित सब कर्मों को भोग लेने वाले स्वर्ग से उतरते हैं अथवा अवशिष्ट कर्माशयादिसहित उतरते हैं। विमर्श होता है कि प्रथम क्या प्राप्त होता है। पूर्वपक्ष है कि अनुशयरहित उतरता है। क्योंकि 'यावत्संपातम्' जब तक कर्म रहता है, इस विशेषण से निरनुशय की आवृत्ति सिद्ध होती है। संपात शब्द से यहाँ कर्माशय कहा जाता है कि, इस लोक से फल का उपभोग के लिये स्वर्गलोक में जिस कर्म द्वारा प्राप्त होता है, उसको संपात कहते हैं। (जब तक संपात रहता है तब तक स्वर्ग में बस कर लौटता है) यह श्रुति सम्पूर्ण किये हुये उस कर्म की भोग द्वारा उस स्वर्ग में ही समाप्ति दिखाती है। (उन इष्टादिकारियों के वह कर्म जब पर्यवैति; क्षीण होता है तब फिर वे लौटते हैं) इस श्रुत्यन्तर से भी यही अर्थ प्रदर्शित कराया जाता है। वहाँ शंका होती है कि, जब तक स्वर्ग में उपभोग के योग्य कर्म रहता है, तब तक स्वर्गसुख का उपभोग करता है। इस प्रकार उक्त श्रुति के अर्थ की कल्पना करूंगा। यहाँ कहा जाता है कि इस प्रकार की कल्पना नहीं की जा सकती है, जिससे यत्किञ्च, इस प्रकार अन्य श्रुति में परामर्श (स्मरण) है, कि (यह मनुष्य जो कुछ इस लोक में कर्म करता है, उस कर्म का अन्त फल को उपभोग से प्राप्त करके फिर उस लोक से इस लोक की प्राप्ति और कर्म के लिए आता है) यह अन्य श्रुति यत्किञ्च, जो कुछ इस अविशेष सामान्य, परामर्श के द्वारा यहाँ किये गये सम्पूर्ण कर्म की उस स्वर्ग में विनाशिता दिखाती है। दूसरी बात है कि अनारब्धफल (फलारम्भरहित) संचितादि कर्मों का फलारम्भ के प्रायण (मरण) अभिव्यञ्जक हैं, मरण से प्रथम आरब्ध फलवाला कर्म से प्रतिबद्ध अन्य कर्म की अभिव्यक्ति की अनुपपत्ति से मरणकाल में आरब्ध फलवाले कर्मों के अभाव से प्रतिबन्धकाभावसहित मरण सब कर्म को अभिव्यक्त कर देता है। क्योंकि वह मरण अविशेषता के कारण जो कुछ अनारब्ध फलवाला (फलारम्भरहित) कर्म हैं, उन सबका अभिव्यञ्जक है। जिससे निमित्त कारण के साधारण (सामान्य) रहते नैमित्तिक कार्य असाधारण (विशेष) नहीं होने योग्य है। जिससे प्रदीप की तुल्य समीपता रहते घट अभिव्यक्त—प्रकाशित हो, पर नहीं अभिव्यक्त हो यह नहीं उपपन्न होता है। इस कारण से मरण से अभिव्यक्त सम्पूर्ण कर्मों को स्वर्ग में भोग कर अनुशयरहित जीव स्वर्ग से उतरते हैं।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—कृतात्ययेऽनुशयवानिति। येन कर्मवृन्देन चन्द्रमसमारूढाः फलोपभोगाय तस्मिन्नुपभोगेन क्षयिते तेषां तदम्मयं शरीरं चन्द्रमस्युपभोगायारब्धं तदुपभोगक्षयदर्शनशोकाग्निसंपर्कात्प्रविलीयते सवितृकिरणसंपर्कादिव हिमकरकाः। हुतभुगर्चिःसंपर्कादिव च घृतकाठिन्यम्। ततः

कृतात्यये कृतस्येष्टादेः कर्मणः फलोपभोगेनोपक्षये सति सानुशया एवेममवरोहन्ति। केन हेतुना ? दृष्टस्मृतिभ्यामित्याह। तथाहि प्रत्यक्षा श्रुतिः सानुशयानामवरोहं दर्शयति—'तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा' (छा० ५।१०।७) इति। चरणशब्देनानुशयः सूच्यत इति वर्णयिष्यति। दृष्टश्चायं जन्मनैव प्रतिप्राण्युच्चावचरूप उपभोगः प्रविभज्यमान आकस्मिकत्वासम्भवादनुशयसद्भावं सूचयति, अभ्युदयप्रत्यवाययोः सुकृतदुष्कृतहेतुत्वस्य सामान्यतः शास्त्रेणावगमितत्वात्। स्मृतिरपि 'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुः श्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते' इति सानुशयानामेवावरोहं दर्शयति। कः पुनरनुशयो नामेति।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि (कृतात्ययेऽनुशयवान्) इति। जिस कर्मसमूह से फल के भोग के लिए जीव चन्द्रलोक में प्राप्त होते हैं, उस कर्म के उपभोग से क्षीण-नष्ट होने पर, जो उन जीवों के जलमय शरीर उपभोग के लिये चन्द्रलोक में आरब्ध (उत्पादित) रहते हैं, वह उपभोग के क्षय (विनाश) के दर्शनजन्य शोकरूप अग्नि के सम्पर्क (सम्बन्ध) से विलीन हो जाते हैं। वह इस प्रकार विलीन होते हैं कि जैसे सूर्य की किरणों के सम्बन्ध से हिम और करका (ओला-बनौरी) विलीन होते हैं, और अग्नि की ज्वाला के सम्बन्ध से जैसे घृत की कठिनता विलीन होती है। उस शरीर का विलय के कारण, कृत कर्म के अत्यय (विनाश) होने पर, अर्थात् किए हुए इष्टादि कर्मों के फलों के उपभोग से उपक्षय-विनष्ट होने पर अन्य संचित कर्मरूप अनुशय (कर्माशय) सहित ही जीव इस लोक में उतरते-आते हैं। किस हेतु से ऐसा समझा और माना जाता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर भाष्यकार कहते हैं कि दृष्ट और स्मृतिरूप हेतु से ऐसा माना जाता है, यह सूत्रकार कहते हैं। सूत्रगत दृष्ट शब्द का प्रत्यक्ष उपलब्ध श्रुति अर्थ है, अनुमित नहीं। प्रत्यक्ष श्रुति इस उक्त रीति से ही अनुशय सहित का अवरोह (आगमन) दिखाती है कि (तत्-तिन आनेवाले जीवों में जो इस लोक में रमणीय, सुन्दर आचार याने अवशिष्ट पुण्य कर्मवाले रहते हैं, वह, 'अभ्याशो ह' अवश्य ही रमणीय योनिरूप ब्राह्मणयोनि वा क्षत्रिययोनि वा वैश्ययोनि को प्राप्त करेंगे और करते हैं। जो यहाँ पापकर्म वाले रहते हैं वह अवश्य ही पापयोनिरूप श्वान-योनि, सूकरयोनि वा चाण्डालयोनि को प्राप्त करते हैं) इस श्रुतिगत चरण शब्द से अनुशय सूचित किया जाता है। यह आगे सूत्रकार वर्णन करेंगे। सूत्रगत दृष्ट शब्द का प्रत्यक्ष श्रुति अर्थ किया गया है, दूसरा उसका अर्थ है कि प्रत्येक प्राणी में जन्म से ही न्यून अधिक भेद से नाना प्रकार का प्रविभक्त यह दृष्ट उपभोग, आकस्मिकत्व

(निर्हेतुकत्व) के असम्भव से अनुशय की सत्ता का सूचन करता है, जिससे अभ्युदय (स्वर्गसुखादि) का और प्रत्यवाय (नरकदुःखादि) का सुकृत (पुण्य) और दुष्कृत (पाप) क्रम से हेतु है। पर हेतुत्व शास्त्र द्वारा सामान्यरूप से अवगमित (बोधित) होता है, जिससे अनुशय सिद्ध होता है। (अपने कर्मों के आचरण में वर्तमान वर्ण और आश्रम वाले मर कर स्वर्गादि में जाकर कर्म फल का अनुभव उपभोग करके फिर अवशिष्ट कर्म द्वारा विशिष्ट (अनुशयानुसार विचित्र) देश, जाति, कुल, रूप, आयु, श्रुत, वृत्त, वित्त सुख, और मेधा (बुद्धि) वाले होते हुए जन्म प्राप्त करते हैं।) यह स्मृति भी अनुशय सहित के ही अवरोह को दर्शाती है। फिर प्रश्न है कि अनुशय नामक पदार्थ क्या है।

केचित्तावदाहुः—स्वर्गार्थस्य कर्मणो भुक्तफलस्यावशेषः कश्चिदनुशयो नाम भाण्डानुसारिस्नेहवत्। यथाहि स्नेहभाण्डं रिच्यमानं न सर्वात्मना रिच्यते भाण्डानुसार्येव कश्चित्स्नेहशेषोऽवतिष्ठते तथाऽनुशयोऽपीति। ननु कार्यविरोधित्वाददृष्टस्य न भुक्तफलस्यावशेषावस्थानं न्याय्यम्। नायं दोषः। नहि सर्वात्मना भुक्तफलत्वं कर्मणः प्रतिजानीमहे। ननु निरवशेषकर्मफलोपभोगाय चन्द्रमण्डलमारूढः। 'बाढम्। तथापि स्वल्पकर्मावशेषमात्रेण तत्रास्थातुं न लभ्यते। यथा किल कश्चित्सेवकः सकलैः सेवोपकरणै राजकुलमुपसृप्तश्चिरप्रवासात्परिक्षीणबहूपकरणश्छत्रपादुकादिमात्रावशेषो न राजकुलेऽवस्थातुं शक्नोति, एवमनुशयमात्रपरिग्रहो न चन्द्रमण्डलेऽवस्थातुं शक्नोतीति। नचैतद्युक्तमिव, नहि स्वर्गार्थस्य कर्मणो भुक्तफलस्यावशेषानुवृत्तिरुपपद्यते कार्यविरोधित्वादित्युक्तम्। नन्वेतदप्युक्तम्—न स्वर्गफलस्य कर्मणो निखिलस्य भुक्तफलत्वं भविष्यति—इति। तदेतदपेशलम्। स्वर्गार्थं किल कर्म स्वर्गस्थस्यैव स्वर्गफलं निखिलं न जनयति स्वर्गच्युतस्यापि कंचित्फललेशं जनयतीति, न शब्दप्रमाणकानामीदृशी कल्पनाऽवकल्पते। स्नेहभाण्डे तु स्नेहलेशानुवृत्तिर्दृष्टत्वादुपपद्यते। तथा सेवकस्योपकरणलेशानुवृत्तिश्च दृश्यते, नत्विह तथा स्वर्गफलस्य कर्मणो लेशानुवृत्तिर्दृश्यते। नापि कल्पयितुं शक्यते स्वर्गफलत्वशास्त्रविरोधात्।

कोई प्रथम कहते हैं कि जिसके फल का भोग हो गया हो, ऐसे स्वर्गार्थक कर्म का कोई अवशेष भाग अनुशय है, सो भाण्डानुसारी स्नेह (घृतादि) के अनुसार (सदृश) है। जैसे कि घृतादि के भाण्ड (पात्र) को रिच्यमान (स्नेहरहित—खाली) करने पर भी छोटे-बड़े पात्र के अनुसार कुछ स्नेह का अवशेष उसमें रहता ही है, इससे सर्वथा स्नेहरहित मृत्तिका रचित पात्र नहीं होता है। इसी प्रकार भोग के बाद अनुशय भी रहता है। यहाँ शंका होती है कि अदृष्ट (धर्माधर्म) को कार्यरूप फलभोग के साथ विरोधिता से जिस अदृष्ट का फल भोगा गया, उसके अवशेष का अवस्थान (स्थिति) रहना न्याययुक्त नहीं है। एकदेशी का उत्तर है कि यह दोष नहीं है, जिससे कर्म का

फल सर्वात्मना (निरवशेष) भुक्त होते (भोगे जाते) हैं। ऐसी प्रतिज्ञा हम नहीं करते हैं। अर्थात् स्वर्ग में निरवशेष कर्म का फल नहीं उपभुक्त होता है जिससे अदृष्ट का सर्वथा नाश हो, सावशेष फल के भोग से अदृष्टांश रह जाता है। फिर शंका होती है कि निरवशेष कर्मफल के भोग के लिये जीव चन्द्रमण्डल में आरूढ होता है। वहां निरवशेष फल का भोग नहीं होना अयुक्त है। उत्तर है कि निरवशेषफल भोग के लिए स्वर्गारूढ होता है, यह बात सत्य है, तो भी स्वल्प कर्म के अवशेष मात्र से जीव उस स्वर्ग में ठहरने नहीं पाता है। जैसे कोई सेवक राजा की सेवा के योग्य सब उपकरण (साधन) सहित राजकुल में जाकर प्राप्त हो और राजा की सेवा करे, परन्तु चिर-काल के प्रवास (गृहत्यागपूर्वक वास) से सेवा योग्य बहुत साधन उसके परिक्षीण (नष्ट) हो जायें, और केवल छत्ता, पादुका आदि मात्र अवशेष रह जायें तो वह राजकुल में ठहर नहीं सकता है, इसी प्रकार अनुशयमात्र परिग्रह (मूल साधन) वाला चन्द्रमण्डल में ठहर नहीं सकता है। सिद्धान्ती कहते हैं कि यह उत्तर युक्त सा नहीं है, अर्थात् यह एकदेशी का उत्तर अयुक्त ही है जिससे कहा जा चुका है कि कार्य के साथ विरोधिता से जिस कर्म का फल भोगा गया हो, उस स्वर्गार्थक कर्म के अवशेष की अनुवृत्ति (पश्चात् स्थिति) उपपन्न नहीं हो सकती है। एकदेशी का कथन है कि यह भी तो कहा जा चुका है कि *स्वर्गफल वाला निखिल (निरवशेष) कर्म को स्वर्ग में भुक्तफल-*वत्त्व नहीं हो सकता है। सिद्धान्ती का कथन है कि यह कथन अपेशल है। चारु-सुन्दर नहीं है) कि (स्वर्ग ही के लिये किया गया कर्म स्वर्गस्थ ही के सम्पूर्ण स्वर्गफल को नहीं उत्पन्न करता है स्वर्ग से च्युत के भी कुछ फललेश को उत्पन्न करता है) परन्तु ऐसी कल्पना शब्द (श्रुति) प्रमाण वाला की नहीं सिद्ध हो सकती है। स्नेह भाण्ड में तो स्नेह लेश की अनुवृत्ति दृष्ट होने से उपपन्न होती है। इसी प्रकार सेवक के उपकरण लेश की अनुवृत्ति भी देखी जाती है। परन्तु यहाँ स्वर्गफल वाले कर्म के लेश की अनुवृत्ति उस प्रकार से नहीं देखी जाती है। स्वर्गफल हेतुत्वबोधक-शास्त्र के साथ विरोध से अवशेष की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

अवश्य चैतदेवं विज्ञेयम्—न स्वर्गफलस्येष्टादेः कर्मणो भाण्डानुसारि-स्नेहवदेकदेशोऽनुवर्तमानोऽनुशय—इति। यदि हि येन सुकृतेन कर्मणेष्टादिना स्वर्गमन्वभूवंस्तस्यैव कश्चिदेकदेशोऽनुशयः कल्प्येत ततो रमणीय एवैकोऽनुशयः स्यान्न विपरीतः। तत्रेयमनुशयविभागश्रुतिरुपरुध्येत—'तद्य इह रमणीयचरणा, अथ य इह कपूयचरणाः' (छा० ५।१०।७) इति। तस्मादामुष्मिकफले कर्म-जाते उपभुक्तेऽवशिष्टमैहिकफलं कर्मान्तरजातमनुशयस्तद्वन्तोऽवरोहन्तीति। यदुक्तं—यत्किंचेत्यविशेषपरामर्शात्सर्वस्येह कृतस्य कर्मणः फलोपभोगेनान्तं प्राप्य निरनुशया अवरोहन्ति—इति। नैतदेवम्। अनुशयसद्भावस्यावगमित-त्वात्, यत्किंचिदिह कृतमामुष्मिकफलं कर्मारब्धभोगं तत्सर्वं फलोपभोगेन क्षपयित्वेति गम्यते।

इस तत्त्व को इस वक्ष्यमाण रीति से अवश्य समझना चाहिये कि, स्वर्ग जिसका फल है, ऐसा जो इष्टादि कर्म है, उसका भाण्डानुसारी स्नेह के समान अनुवर्तमान एक-देशरूप अनुशय नहीं है। क्योंकि जिस सुकृत (पुण्य) रूप इष्टादि कर्म द्वारा जीवों ने स्वर्ग का अनुभव (उपभोग) किया है। यदि उसी कर्म का कोई एकदेश (भाग विशेष) अनुशय कल्पित हो (सिद्ध स्वीकृत हो) तब तो एक रमणीय (सुन्दर पुण्य) ही अनुशय होगा, उससे विपरीत नहीं होगा। ऐसा सिद्ध होने पर (उनमें जो यहाँ रमणीय आचरण वाले हैं, जो यहाँ पापाचरण वाले हैं) यह अनुशय का विभागविषयक श्रुति है वह उपरुद्ध निरुद्ध बाधित हो जायगी। जिससे पारलौकि फल वाले कर्म समूह के उपभुक्त (भोग द्वारा समाप्त, होने पर, अवशिष्ट इस लोक में फल देने वाला कर्मान्तरों का समूह अनुशय कहा जाता है उस अनुशय वाले चन्द्रलोक से नीचे आते हैं। जो यह कहा था कि यत्किञ्च, इस सामान्य परामर्श से इस लोक में किये गये सब कर्मों के फलों के उपभोग द्वारा उन कर्मों के अन्त को प्राप्त करके अनुशयरहित जीव नीचे आते हैं। वहाँ कहा जाता है कि दूसरी श्रुति से अनुशय के सद्भाव (सत्ता) के अवगमित (बोधित) होने से, एतत् (यत्किञ्च) यह पद इस प्रकार का नहीं है, अर्थात् सब कर्म का बोधक नहीं है। किन्तु पारलौकिक फल वाला जो कुछ कर्म यहाँ किया रहता है, परलोक में आरब्ध (उत्पादित) फल वाले उस सब कर्म को भोग द्वारा क्षय करके इस लोक में फिर कर्म के लिये आता है ऐसा प्रतीत होता है।

यदप्युक्तं—प्रायणमविशेषादनारब्धफलं कृत्स्नमेव कर्माभिव्यनक्ति, तत्र केनचित्कर्मणाऽमुष्मिल्लोँके फलमारभ्यते केनचिदस्मिन्नित्ययं विभागो न सम्भवति—इति। तदप्यनुशयसद्भावप्रतिपादनेनैव प्रत्युक्तम्। अपि च केन हेतुना प्रायणमनारब्धफलस्य कर्मणोऽभिव्यञ्जकं प्रतिज्ञायते इति वक्तव्यम्। आरब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्येतरस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तेस्तदुपशमात्प्रायण-काले वृत्त्युद्भवो भवतीति यद्युच्यते। तत्र वक्तव्यम्। यथैव तर्हि प्राक्प्रायणा-दारब्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्येतरस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तिरित्येवं प्रायणकालेपि विरुद्धफलस्यानेकस्य कर्मणो युगपत्फलारम्भासम्भवाद्बलवता प्रतिबद्धस्य वृत्त्युद्भवानुपपत्तिरिति। न ह्यनारब्धफलत्वसामान्येन जात्यन्तरोपभोग्यफलमप्य-नेकं कर्मैकस्मिन्प्रायणे युगपदभिव्यक्तं सदेकां जातिमारभत इति शक्यं वक्तुं, प्रतिनियतफलत्वविरोधात्। नापि कस्यचित्कर्मणः प्रायणेऽभिव्यक्तिः कस्य-चिदुच्छेद इति शक्यते वक्तुम्। ऐकान्तिकफलत्वविरोधात्। नहि प्रायश्चि-त्तादिभिर्हेतुभिर्विना कर्मणामुच्छेदः संभाव्यते।

जो यह भी कहा था कि अविशेषता से अनारब्ध फल वाले सभी कर्मों को मरण कार्य के लिए अभिव्यक्त करता है। यहाँ किसी कर्म से परलोक में फल का आरम्भ किया जाय, किसी से इस लोक में फल का आरम्भ हो। इस विभाग का सम्भव नहीं है।

इससे परलोक में ही सब कर्मफलों को भोग कर अनुशयरहित जीव लौटता है। वह कथन भी अनुशय की सत्ता के प्रतिपादन से ही प्रत्युक्त निराकृत हो गया। दूसरी बात है कि किस हेतु से प्रतिज्ञा करते हो कि मरण अनारब्ध कर्म का अभिव्यञ्जक है। यह कहना चाहिए। यदि कहो कि आरब्ध फल वाले कर्म से प्रतिबद्ध अन्य कर्म की मरण से पूर्वकाल में वृत्ति (व्यापार) की अनुपपत्ति से, उस प्रारब्धकर्मरूप प्रतिबन्धक की निवृत्ति से मरण काल में सब कर्मों की वृत्ति का उद्भव (जन्म) होता है। तो वहाँ यह वक्तव्य (कहना) है कि जिस प्रकार मरण से पूर्वकाल में आरब्ध फल वाले प्रारब्ध कर्म से प्रतिबद्ध इतर कर्म की वृत्ति के उद्भव की अनुपपत्ति होती है, उसी प्रकार मरण काल में भी विरुद्ध फल वाले अनेक कर्मों के एक काल में फलों के आरम्भ के असम्भव से बलवत् (प्रबल) कर्म से प्रतिबद्ध अन्य कर्म की वृत्ति के उद्भव की अनुपपत्ति है। कर्मों की प्रतिनियत फलता के विरोध से ऐसा नहीं कह सकते हैं कि अनारब्ध फलत्व रूप समता से जात्यन्तर (अनेक जन्म) में उपभोग्य फल वाले अनेक भी कर्म, एक ही मरण में, एक ही काल में अभिव्यक्त होकर एक जाति (जन्म) का आरम्भ करते हैं। (नाभुक्तं क्षीयते कर्म) अभुक्त कर्म नष्ट नहीं होता है, इत्यादि शास्त्र से कर्म के ऐकान्तिक (प्रायश्चित्त ज्ञानादि के बिना निश्चित) फलवत्त्व के विरोध से, यह भी नहीं कह सकते हैं कि किसी प्रबल कर्म की मरणकाल में फल के लिए अभिव्यक्ति होती है और किसी दुर्बल कर्म का मरणमात्र से उच्छेद (नाश) हो जाता है जिससे प्रायश्चित्तादिरूप हेतुओं के बिना कर्मों के उच्छेद की सम्भावना नहीं की जा सकती है।

स्मृतिरपि विरुद्धफलेन कर्मणा प्रतिबद्धस्य कर्मान्तरस्य चिरमवस्थानं दर्शयति—

> कदाचित्सुकृतं कर्म कूटस्थमिह तिष्ठति।
> मज्जमानस्य संसारे यावद् दुःखाद्विमुच्यते॥

इत्येवंजातीयका। यदि च कृत्स्नमनारब्धफलं कर्मैकस्मिन्प्रायणेऽभिव्यक्तं सदेकां जातिमारभेत ततः स्वर्गनरकतिर्यग्योनिष्वधिकारानवगमाद्धर्माधर्मानुत्पत्तौ निमित्ताभावान्नोत्तरा जातिरुपपद्येत। ब्रह्महत्यादीनां चैकैकस्य कर्मणोऽनेकजन्मनिमित्तत्वं स्मर्यमाणमुपरुध्येत। न च धर्माधर्मयोः स्वरूपफलसाधनादिसमधिगमे शास्त्रादतिरिक्तं कारणं शक्यं सम्भावयितुम्। न च दृष्टफलस्य कर्मणः कारीर्यादेः प्रायणमभिव्यञ्जकं सम्भवतीत्यव्यापिकाऽपीयं प्रायणस्याभिव्यञ्जकत्वकल्पना। प्रदीपोपन्यासोऽपि कर्मबलाबलप्रदर्शनेनैव प्रतिनीतः। स्थूलसूक्ष्मरूपाभिव्यक्त्यनभिव्यक्तिवच्चेदं द्रष्टव्यम्। यथाहि प्रदीपः समानेऽपि संनिधाने स्थूलं रूपमभिव्यनक्ति न सूक्ष्मम्, एवं प्रायणं समानेऽप्यनारब्धफलस्य कर्मजातस्य प्राप्तावसरत्वे बलवतः कर्मणो वृत्तिमुद्भावयति न दुर्बलस्येति। तस्माच्छ्रुतिस्मृतिन्यायविरोधादश्लिष्टोऽयमशेषकर्माभिव्यक्त्य-

भ्युपगमः। शेषकर्मसद्भावेऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्ययमप्यस्थाने संभ्रमः, सम्यग्दर्श-नादशेषकर्मक्षयश्रुतेः। तस्मास्थितमेतदेवानुशयवन्तोऽवरोहन्तीति। ते चावरोहन्तो यथेतमनेवं चावरो हन्ति। यथेतमिति तथागतमित्यर्थः। अनेवमिति तद्विपर्ययेणेत्यर्थः। धूमाकाशयोः पितृयाणेऽध्वन्युपात्तयोरवरोहे संकीर्तनाद्यथेतंशब्दाच्च यथागतमिति प्रतीयते। रात्र्याद्यसंकीर्तनादभ्राद्युपसंख्यानाच्च विपर्ययोऽपि प्रतीयते ॥ ८ ॥

स्मृति भी विरुद्ध फल वाले कर्म से प्रतिबद्ध कर्मान्तर के चिरकाल तक अवस्थान (स्थिति) को दर्शाती है कि (संसारसागर मे निमग्न जीव के सुकृत कर्म कभी यहाँ कूटस्थ (व्यापाररहित) रहता है कि जब तक वह दुःख से विमुक्त होता है।) इस प्रकार की अन्य भी स्मृति है। यदि सम्पूर्ण अनारब्ध फल वाला कर्म एकमरण में ही अभिव्यक्त होकर एक जाति का आरम्भ करे, तो स्वर्ग, नरक, तिर्यग् योनियों में कर्मादि के अधिकारों के अनवगम (अप्राप्ति) से उन योनियों में प्राप्त जीवों के धर्माधर्म की अनुत्पत्ति के कारण धर्मादिरूप निमित्त के अभाव से उन जीवों को आगे की जाति (जन्म) नहीं उपपन्न होगी, किन्तु पूर्व के सर्व कर्मों को देवादि योनियों में भोग लेने पर भी ज्ञान के विना न मुक्त ही होंगे, न जन्मान्तर को पाएँगे, फिर उनकी अजब अवस्था प्राप्त होगी। ब्रह्महत्या आदि रूप महापापों में से एक-एक पाप कर्म को अनेक जन्म के निमित्तत्व का जो स्मृति में कथन है, वह बाधित होगा। धर्माधर्म के स्व[रूप] फल, और साधन आदि के अधिगम (ज्ञान) में शास्त्र से अतिरिक्त का[रण] की सम्भावना नहीं कर सकते हैं। इससे शास्त्र के अनुसार कर्मफलरूप [...] आदि को समझना चाहिये। दृष्ट फल वाले वर्तमान जन्म में फल के हेतु[...] आदि कर्मों का अभिव्यञ्जक मरण नही हो सकता है, इससे मरणसम्बन्धी सर्व[...]भिव्यञ्जकत्व की यह कल्पना अव्यापक भी है। प्रदीप का दृष्टान्त भी कर्म के ब[...]ल के प्रदर्शन से ही प्रत्याख्यात हो चुका है। स्थूल तथा सूक्ष्मरूप वाले पदा[र्थों] की दीप से अभिव्यक्ति और अनभिव्यक्ति के समान इस मरण से कर्माभिव्यक्ति को समझना चाहिये। कि जैसे तुल्य सन्निधान रहते भी स्थूलरूप वाले को [दी]प अभिव्यक्त करता है, सूक्ष्म को नहीं अभिव्यक्त करता है। इसी प्रकार [आर]ब्ध फल वाले कर्मसमूह की अभिव्यक्ति के अवसर काल के तुल्य प्राप्त होने प[र] भी वली कर्म की वृत्ति को मरण उद्भव करता है, दुर्बल की वृत्ति को [उ]द्भव नहीं करता है जिससे श्रुति, स्मृति और न्याय (युक्ति) से विरुद्ध होने के कारण यह अशेष कर्मों की अभिव्यक्ति का अभ्युपगम (स्वीकार) अयुक्त है। एक भविक को नहीं मानने पर शेष कर्म की स्थिति रहने से अनिर्मोक्ष का प्रसङ्ग होगा, यह भी संभ्रम (संवेग वा भय) अस्थाने (अयुक्त) है। सम्यग् दर्शन से अशेष कर्मों की क्षय की श्रुति से भय वा अनिर्मोक्ष का प्रसंग ही नहीं है, जिससे यही स्थित निश्चित हुआ कि अनुशययुक्त जीव स्वर्ग से आते हैं, और वे चन्द्रलोकरूप स्वर्ग से आने वाले आते समय कहीं तो जिस मार्ग से गये रहते हैं,

उसी मार्ग से लौटते समय आते हैं, और कहीं अनेव (गमन से भिन्न) मार्ग द्वारा भी आते हैं। यथेतम् , इस पद के यथागतम् (जिस प्रकार, जिस मार्ग) द्वारा आते हैं यह अर्थ है। अनेव का अर्थ है कि गमन की अपेक्षा विपरीत मार्ग द्वारा भी आते हैं। यहाँ पितृयान (दक्षिणायन) मार्ग में गृहीत धूम और आकाश के आगमन में भी कीर्तन (कथन) से, यथेत शब्द से यथागतम् यह प्रतीत होता है। पितृयान मार्ग वर्णित रात्रि आदि के आगम में असङ्कीर्तन से तथा अधिक अभ्रादि के कथन से अनेव (विपर्यय) भी प्रतीत होता है॥ ८॥

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥ ९ ॥

अथापि स्यात्—या श्रुतिरनुशयसद्भावप्रतिपादनायोदाहृता—'तद्य इह रमणीयचरणा' (छा० ५।१०।७) इति—सा खलु चरणाद्योन्यापत्तिं दर्शयति नानुशयात्। अन्यच्चरणमन्योऽनुशयः, चरणं चारित्रमाचारः शीलमित्यनर्थान्तरम्। अनुशयस्तु भुक्तफलात्कर्मणोऽतिरिक्तं कर्माभिप्रेतम्। श्रुतिश्च कर्मचरणे भेदेन व्यपदिशति—'यथाकारी यथाचारी तथा भवति' (बृ० ४।४।५) इति, 'यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि, यान्यस्माकᳬ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि' (तै० १।११।२) इति च। तस्माच्चरणाद्योन्यापत्तिश्रुतेर्नानुशयसिद्धिरितिचेत्। नैष दोषः। यतोऽनुशयोपलक्षणार्थैषा चरणश्रुतिरिति कार्ष्णाजिनिराचार्यो मन्यते॥ ९॥

[illegible] रीति से अनुशय सहित का अवरोहण सिद्ध होने पर भी यदि शङ्का हो कि अनुशय के [illegible] के प्रतिपादन के लिए जो श्रुति उदाहृत हुई है, प्रमाणरूप कही गई है कि ([illegible] जो यहाँ रमणीय आचरण वाले होते हैं) इत्यादि। वह श्रुति चरण से योनि की [illegible] को दर्शाती है, अनुशय से नहीं। चरण और अनुशय दोनों शब्द एकार्थक नहीं हैं। [illegible] शब्दार्थरूप वस्तु अन्य है, अनुशय शब्दार्थ उससे अन्य है। चरण, चारित्र, आचार और शील ये शब्द अनर्थान्तर (एकार्थक) हैं। (अद्रोह सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च ज्ञानं च शीलमेतद्विदुर्बुधाः) इस स्मृति के अनुसार तन, मन, वचन द्वारा सर्व प्राणि [illegible] द्रोह का अभाव, अनुग्रह और शास्त्रार्थ का ज्ञान शील कहलाता है। अनुशय तो भुक्त फल वाले कर्म से अतिरिक्त कर्म अभिप्रेत है। श्रुति भी कर्म और चरण को भेदपूर्वक कथन करती है कि—(जैसा कर्म करता है, जैसा आचार करता है, वैसा होता है) जो अनिन्दित कर्म हैं वे तुम्हें सेवन के योग्य कर्तव्य हैं। अन्य नहीं। जो हमारे (आचार्यों के) सुचरित हैं वे ही तुम्हें सेवनीय हैं) इससे चरण से योनि की प्राप्ति की श्रुति से अनुशय की सिद्धि नहीं हो सकती है। यदि ऐसी शङ्का हो तो कार्ष्णाजिनि आचार्य मानते हैं कि यह अनुशय की असिद्धिरूप दोष नहीं है जिससे यह चरणश्रुति अनुशय के उपलक्षणार्थक है। अर्थात् सदाचाररूप शील सब सत् कर्मों का अंग है, वह लक्षण द्वारा अच्छी कर्म का ही

बोधक है, इससे कर्मरूप अनुशय की सिद्धि होती है, यह कार्ष्णाजिनि आचार्य का मत है ॥ ९ ॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥ १० ॥

स्यादेतत्, कस्मात्पुनश्चरणशब्देन श्रौतं शीलं विहाय लाक्षणिकोऽनुशयः प्रत्याय्यते। ननु शीलस्यैव तु श्रौतस्य विहितप्रतिपिद्धस्य साध्वसाधुरूपस्य शुभाशुभयोन्यापत्तिः फलं भविष्यति, अवश्यं च शीलस्यापि किंचित्फलमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा ह्यानर्थक्यमेव शीलस्य प्रसज्येतेति चेत्। नैप दोपः। कुतः? तदपेक्षत्वात्। इष्टादि हि कर्मजातं चरणापेक्षम्। नहि सदाचारहीनः कश्चिदधिकृतः स्यात्, 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' इत्यादिस्मृतिभ्यः। पुरुपार्थत्वेऽप्याचारस्य नानर्थक्यम्। इष्टादौ हि कर्मजाते फलमारभमाणे तदपेक्ष एवाचारस्तत्रैव कंचिदतिशयमारप्स्यते। कर्म च सर्वार्थकारीति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिः, तस्मात्कर्मैव शीलोपलक्षितमनुशयभूतं योन्यापत्तौ कारणमिति कार्ष्णाजिनेर्मतम्। नहि कर्मणि सम्भवति शीलाद्योन्यापत्तिर्युक्ता। नहि पद्भ्यां पलायितुं पारयमाणो जानुभ्यां रंहितुमर्हतीति ॥ १० ॥

यहाँ शंका होती है कि यहाँ यह प्रश्न वचन उपयुक्त हो सकता है कि, चरण शब्द से श्रुति द्वारा शक्ति वृत्ति से बोधित शील को त्यागकर लाक्षणिक (लक्षणा से बोध्य) अनुशय का प्रत्यय (ज्ञान) किस कारण से होता है और किया जाता है। ननु (भोः) श्रुति से ज्ञात विहित और प्रतिपिद्धरूप साधु (चारु) असाधु (अचारु) शील का ही शुभ और अशुभ योनि की प्राप्तिरूप फल होगा। शील का भी अवश्य कोई फल अभ्युपगन्तव्य (स्वीकारार्ह) है। अन्यथा शील को अनर्थकता की ही प्राप्ति होगी। उत्तर है कि यह अनर्थकता की प्राप्ति रूप दोप लक्षण से अनुशय का बोध होने पर नहीं है। क्योंकि इष्टादि कर्मफल की उत्पत्ति में सदाचारशील की अपेक्षापूर्वक फल को उत्पन्न करते हैं जिससे (वेदास्तदर्थकर्माण्याचारं विना न फलन्ति) वेद और उसके अर्थरूप कर्म सदाचार के बिना सफल नहीं होते हैं। इससे इष्टादि कर्मसमूह अवश्य चरण (आचार) की अपेक्षा वाले हैं। सदाचाररहित कोई इष्टादि कर्म का अधिकारी नहीं हो सकता है, सो (आचारहीन को वेद पवित्र नहीं करते हैं) इत्यादि स्मृतियों से सिद्ध होता है। यदि आचार यज्ञार्थक अदृष्टार्थक नहीं माना जाय स्नानादि के समान पुरुप के संस्कारार्थकरूप से पुरुपार्थक माना जाय, तो आचार के पुरुपार्थकत्व होने पर भी उसकी अनर्थकता नहीं है जिससे इष्टादि कर्मसमूह के फल के आरम्भकाल में, उन इष्टादिकों की अपेक्षापूर्वक ही आचार भी उसी फल में कोई अतिशय (दृढता-उत्कर्प) को आरम्भ करेगा। स्वतन्त्र आचार ही फलारम्भ नहीं कर सकता, जिससे कर्मसर्वार्थकारी है, इस प्रकार श्रुति और स्मृति में प्रसिद्धि है, इससे शील से उपलक्षित (युक्त) कर्म ही अनुशयस्वरूप होकर योनि में प्राप्ति का कारण है। यह कार्ष्णाजिनि

का मत है। कर्म के सम्भव रहते शील से योनि की प्राप्ति युक्त नही है जिससे पैरो से भागने मे पारयमाण (समर्थ) होते जानुओं, घुटनो से गमन के लिये योग्य नही होता है ॥ १० ॥

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥ ११ ॥

बादरिस्त्वाचार्यं सुकृतदुष्कृते एव चरणशब्देन प्रत्याय्येते इति मन्यते। चरणमनुष्ठानं कर्मेत्यनर्थान्तरम्। तथाहि—अविशेषेण कर्ममात्रे चरति प्रयुज्यमानो दृश्यते। यो हीष्टादिलक्षणं पुण्यं कर्म करोति तं लौकिका आचक्षते धर्मं चरत्येष महात्मेति। आचारोऽपि च धर्मविशेष एव। भेदव्यपदेशस्तु कर्मचरणयोर्ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेनाप्युपपद्यते। तस्माद्रमणीयचरणाः प्रशस्तकर्माण, कपूयचरणा निन्दितकर्माण इति निर्णयः ॥ ११ ॥

यद्यपि क्षमा, अक्रोध, अद्रोह, दया, दान और ज्ञानादि विहित साधु (सुन्दर) शील हैं, वह साधारण धर्मरूप है, और विशेषरूप वाले कर्मों से भिन्न भी हैं। इसी प्रकार क्रूरता, क्रोध, द्रोह और अनृतादि अविहित असाधुशील है। तथापि चरण और आचार शब्द कर्म के ही वाचक हैं, शील के नहीं, इस आशय से कहते हैं कि बादरि आचार्य तो सुकृत और दुष्कृत ही चरण शब्द से बोधित किये (समझाये) जाते हैं। इस प्रकार मानते हैं। चरण, अनुष्ठान, और कर्म ये शब्द अनर्थान्तर (भिन्नार्थक नही) हैं। पर्याय वाचक हैं जिससे इसी प्रकार अविशेषरूप से कर्ममात्र मे चरति (चर् धातु) प्रयुज्यमान (प्रयुक्तपठित) देखा जाता है, कि जो कोई इष्टादिरूप पुण्य कर्म को करता है, लौकिक पुरुष उसको कहते हैं कि यह महात्मा धर्म करता है (धर्माचार करता है)। आचार भी धर्मविशेष ही है। (यथाकारी यथाचारी) इत्यादि स्थान मे कर्म और आचरण मे भेद का व्यवहार तो ब्राह्मण परिव्राजक न्याय से भी उपपन्न हो सकता है। अर्थात् सामान्यविशेषरूप से भेद का व्यवहार होता है। इससे रमणीयचरण प्रशस्त कर्म वाले कहलाते हैं, और कपूय चरण निंदित कर्म वाले कहलाते हैं, यह निर्णय है ॥ ११ ॥

अनिष्टाधिकार्यधिकरण ॥ ३ ॥

चन्द्र यान्ति नवा पापी ते सर्वे इति वाक्यतः। पञ्चमाहुतिलाभार्थं भोगाभावेपि यात्यमी ॥
भोगार्थमेव गमनमाहुतिर्व्यभिचारिणी। सर्वश्रुति सुकृतिनां याम्ये पापिगतिः श्रुता ॥

इष्टादि कर्म नही करने वालो की भी चन्द्रलोक मे गति होती है। क्योकि कौषीतकी श्रुति मे मरण काल मे सामान्यरूप से चन्द्रलोक मे गमन सुना गया है। यह इस पूर्वपक्ष सूत्र का अर्थ है। संशय है कि पापी चन्द्र को प्राप्त करता है, वा नही। पूर्वपक्ष है कि (वे सब जाते हैं) इस वाक्य से और पञ्चमी आहुति मे पुरुषरूपता की प्राप्ति के लिये, पुण्य के अभाव से भोग नहीं मिलने पर भी पापी भी स्वर्ग मे जाते हैं। सिद्धान्त है कि चन्द्रलोक मे भोग के ही लिए गमन होता है। पञ्चमी आहुति मे ही

शरीर होने का नियम नहीं है, इससे शरीर लाभ में आहुति व्यभिचारिणी (अनियत) है, और श्रुति में सर्व पद सुकृतियों के तात्पर्य से है। पापियों की यमलोक में गति सुनी गई है, इससे उनकी चन्द्रलोक में नहीं गति होती है ॥ १–२ ॥

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥

इष्टादिकारिणश्चन्द्रमसं गच्छन्तीत्युक्तम्। ये त्वितरेऽनिष्टादिकारिणस्तेऽपि किं चन्द्रमसं गच्छन्त्युत न गच्छन्तीति चिन्त्यते। तत्र तावदाहुः—इष्टादिकारिण एव चन्द्रमसं गच्छन्तीत्येतन्न। कस्मात् ? यतोऽनिष्टादिकारिणामपि चन्द्रमण्डलं गन्तव्यत्वेन श्रुतम्। तथा ह्यविशेषेण कौषीतकिनः समामनन्ति—'ये वै के चास्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (कौषी० १।२) इति। देहारम्भोऽपि च पुनर्जायमानानां नान्तरेण चन्द्रप्राप्तिमवकल्पते, पञ्चम्यामाहुतावित्याहुतिसंख्यानियमात्। तस्मात्सर्व एव चन्द्रमसमासीदेयुः। इष्टादिकारिणामितरेषां च समानगतित्वं न युक्तमिति चेत्। न। इतरेषां चन्द्रमण्डले भोगाभावात् ॥ १२ ॥

इष्टादि कर्म करने वाले चन्द्रलोक में जाते हैं, यह कहा गया है। उनसे अन्य जो इष्टादि कर्म नहीं करने वाले हैं, वे भी क्या चन्द्रलोक में जाते हैं अथवा नहीं जाते हैं, यह विचार अब किया जाता है। यहाँ प्रथम कोई कहते हैं कि इष्टादि करने ही वाले चन्द्रलोक में जाते हैं, ऐसे नियम का हेतु कोई नहीं है, क्योंकि जिससे इष्टादि नहीं करने वालों के भी गन्तव्यरूप से चन्द्रमण्डल सुना गया है, जिससे कौषीतकी शाखा वाले इसी प्रकार समानरूप से कहते हैं कि (मरण काल में जो कोई इस लोक से यात्रा करते हैं वे सब चन्द्रलोक में ही जाते हैं) और फिर जन्मने वालों की देहोत्पत्ति भी चन्द्र प्राप्ति के विना नहीं सिद्ध हो सकती है, क्योकि देह की प्राप्ति में पञ्चमी आहुति में पुरुष नाम वाला शरीर होता है, यह नियम है, और चन्द्रादि स्थानों में प्राप्ति के विना पञ्चमी आहुति नहीं सिद्ध हो सकती है। इससे सभी प्रयाण करने वाले चन्द्रलोक में जायँगे, और जाते हैं। यदि कहा जाय कि इष्टादिकारी और अन्य का समान गतित्व युक्त नहीं है, अन्यथा कर्म की निष्फलता की प्राप्ति होगी, तो कहा जाता है कि अन्य को चन्द्रमण्डल में भोग के अभाव से, भोगप्रद कर्म की निष्फलता नहीं है ॥ १२ ॥

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥ १३ ॥

संयमने-तु-अनुभूय-इतरेषाम्-आरोहावरोहौ-तद्गतिदर्शनात् ये छः पद सूत्र में हैं। संक्षिप्तार्थ है कि (संयम्यन्ते जना यत्र तत्संयमनं तत्र इतरेषामारोहो भवति ततश्च यातना अनुभूयाऽवरोहो भवति मनुष्यलोके तेषामेतादृशौ गमागमने भवतो न चन्द्रलोके, यतस्तेषां यमलोक एव श्रुतौ गतिदर्शनादेवं निश्चीयते) जहाँ पापी जन संयत यातना दण्डयुक्त किए जाते हैं, वह संयमन यमालय है। इतर लोग वहाँ जाते हैं, वहाँ से आते

हैं। उनके इस प्रकार के गमनागमन होते हैं, और जिससे उनकी गति की चर्चा श्रुति में देखी जाती है इससे इस प्रकार निश्चय किया जाता है। अथर्ववेद का मन्त्र है कि (यो ममार प्रथमो मर्त्यानां य प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्। वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत) मनुष्यों में जो प्रथम मरा और वैवस्वतजनों के संग तथ्य इस लोक में पहुँचा उसने यम राजा की हवि से सपर्या पूजा की।

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैतदस्ति सर्वे चन्द्रमसं गच्छन्तीति। एतत् कस्मात्। यतो भोगायैव चन्द्रारोहणं न निष्प्रयोजनम्। नापि प्रत्यवरोहायैव, यथा कश्चिद्वृक्षमारोहति पुष्पफलोपादानायैव न निष्प्रयोजनं नापि पतनायैव। भोगश्चानिष्टादिकारिणां चन्द्रमसि नास्तीत्युक्तम्, तस्मादिष्टादिकारिण एव चन्द्रमसमारोहन्ति नेतरे। ते तु संयमनं यमालयमवगाह्य स्वदुष्कृतानुरूपा यामीर्यातना अनुभूय पुनरेवेमं लोकं प्रत्यवरोहन्ति। एवंभूतौ तेषामारोहावरोहौ भवतः। कुतः? तद्गतिदर्शनात्। तथाहि यमवचनस्वरूपा श्रुतिः प्रयतामनिष्टादिकारिणां यमवश्यतां दर्शयति—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

(कठ० २।६) इति 'वैवस्वतं संगमनं जनानाम्' इत्येवंजातीयकं च बहेव यमवश्यताप्राप्तिलिङ्गं भवति ॥ १३ ॥

सूत्रगत तु शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है कि सब चन्द्रलोक में जाते हैं यह कथन सत्य नहीं है। यह किस हेतु से समझा जाता है कि यह सत्य नहीं है जबकि श्रुति सब की गति कह रही है ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि जिससे भोग के लिए ही चन्द्रलोक में आरोहण होता है निष्प्रयोजन नहीं होता है केवल प्रत्यवरोह (उलटे लौटन) के लिए भी आरोहण नहीं होता है। जैसे कोई पुष्प फल के ग्रहण के ही लिए वृक्ष पर चढ़ता है निष्प्रयोजन नहीं चढ़ता है न केवल पतन के लिए चढ़ता है। इष्टादि नहीं करने वालों को चन्द्रलोक में भोग नहीं मिलता है यह कहा जा चुका है। इससे इष्टादि करने ही वाले चन्द्रलोक में जाते हैं अन्य नहीं जाते हैं इससे उनके चन्द्रलोक में गमन का कथन असत्य है। वे इतर लोग यमालय (यम का गृह रूप) संयमन में जाकर उसमें और अपने दुष्कृत पापों के अनुसार यमकृत यातना (तीव्र दुःख) का अनुभव (भोग) करके फिर इस लोक के प्रति अवरोह (अवतरण गमन) करते हैं। इस प्रकार के उनके आरोह अवरोह होते हैं। क्योंकि वैसी गति देखने से ऐसा निश्चय होता है। इसी प्रकार मर कर जाने वाले इष्टादि कर्मों को नहीं करने वालों की यमवश्यता (यमाधीनता) को यम के वचनरूप श्रुति दर्शाती है कि (धन के मोह से मूढ़ विवेकरहित प्रमाद करने वाले बाल अज्ञों के प्रति साम्पराय मरने पर सम्यक् प्राप्त करने योग्य संपरायरूप परलोक का साधन नहीं

भासता है, इससे यह स्त्री, पुत्र, वित्तादिरूप लोक ही है, परलोक नहीं है, इस प्रकार माननेवाले मूढ बार-बार मेरे (यम के) वश में प्राप्त होते हैं) और (जनों का वैवस्वत संगमन गन्तव्य स्थान है) और भी इस प्रकार के बहुत ही यमवश्यता प्राप्ति के लिए लिंग हैं ॥ १३ ॥

स्मरन्ति च ॥ १४ ॥

अपिच मनुव्यासप्रभृतयः शिष्टाः संयमने पुरे यमायत्तं कपूयकर्मविपाकं स्मरन्ति नाचिकेतोपाख्यानादिषु ॥ १४ ॥

और भी मनु, व्यासादि शिष्ट लोग नाचिकेतोपाख्यानादि में, संयमनपुर में पाप कर्म के फल को यमाधीन स्मरण करते हैं। अर्थात् वहाँ यम के अधीन यमयातनारूप पाप के फल को कहते हैं। इससे इष्टादि के बिना यमलोक गति ही सिद्ध होती है ॥ १४ ॥

अपिच सप्त ॥ १५ ॥

अपिच सप्त नरका रौरवप्रमुखा दुष्कृतफलोपभोगभूमित्वेन स्मर्यन्ते पौराणिकैः,ताननिष्टादिकारिणः प्राप्नुवन्ति। कुतस्ते चन्द्रं प्राप्नुयुरित्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

और भी रौरव, महारौरव आदि सात नरकों का पाप के फलों के उपयोग के लिए स्थानरूप से पौराणिक वर्णन करते हैं। इष्टादि नहीं करने वाले उन नरकों को पाते हैं। उनमें प्राप्त होते हैं। फिर वे चन्द्रलोक को कैसे प्राप्त कर सकते हैं। यह अभिप्राय है ॥ १५ ॥

ननु विरुद्धमिदं-यमायत्ता यातनाः पापकर्माणोऽनुभवन्ति-इति। यावता तेषु रौरवादिष्वन्ये चित्रगुप्तादयो नानाधिष्ठातारः स्मर्यन्त इति। नेत्याह—

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥ १६ ॥

तेष्वपि सप्तसु नरकेषु तस्यैव यमस्याधिष्ठातृत्वव्यापाराभ्युपगमादविरोधः। यमप्रयुक्ता एव हि ते चित्रगुप्तादयोऽधिष्ठातारः स्मर्यन्ते ॥ १६ ॥

शंका है कि पाप कर्म वाले यम के अधीन यातना का अनुभव करते हैं, यह कथन विरुद्ध है। जबकि उन रौरवादिकों में चित्रगुप्त आदि अन्य भी नाना अधिष्ठाता स्मृति में कहे जाते हैं, तो सब को यम की अधीनता का कथन नहीं बन सकता है। सूत्रकार कहते हैं कि विरोध नहीं है, क्योंकि—

उन सात नरकों को भी उस यम के ही अधिष्ठातृत्वरूप व्यापार के अभ्युपगम से विरोध नहीं है जिससे यम से प्रयुक्त (नियुक्त किये गये) चित्रगुप्त आदि अधिष्ठाता स्मृति में कहे गये हैं ॥ १६ ॥

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥ १७ ॥

पञ्चाग्निविद्यायाम् 'वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५।३।३) इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनावसरे श्रूयते—अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति, जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५।१०।८) इति। तत्रैतयोः पथोरिति विद्याकर्मणोरित्येतत्। कस्मात् ? प्रकृतत्वात्। विद्याकर्मणी हि देवयानपितृयाणयोः प्रतिपत्तौ पथौ, प्रकृते। 'तद्य इत्थं विदुः' इति विद्या तया प्रतिपत्तव्यो देवयानः पन्था प्रकीर्तितः। 'इष्टापूर्ते दत्तम्' (छा० ५।१०।१,३) इति कर्म तेन प्रतिपत्तव्यः पितृयाणः पन्था प्रकीर्तितः। तत्प्रक्रियायाम्—'अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न' इति श्रुतम्।

पञ्चाग्निविद्या प्रकरण में प्रश्न है कि (जिस कारण से वह स्वर्गलोक नहीं सम्पूर्ण होता है (नहीं भरता है) उस कारण को क्या तुम जानते हो ? इस प्रश्न के प्रतिवचन (उत्तर) के अवसर में सुना जाता है कि (उत्तरायण और दक्षिणायन दोनों मार्गों के साधनरूप इन विद्या और कर्मरूप दोनों मार्गों में से किसी एक मार्ग विद्या या कर्म से जो मनुष्य युक्त नहीं हैं, वे ही ये क्षुद्र, तुच्छ बार-बार जन्मने मरने वाले कीट पतंगादि प्राणी होते हैं, बार-बार जन्मते-मरते हैं, और यही तृतीय स्थान है, इसी से वह स्वर्गलोक नहीं पूर्ण होता है, अर्थात् पापी चन्द्रलोक में नहीं जाते हैं इसीसे चन्द्रलोक संपूर्ण नहीं होता है। यहाँ श्रुति में एतयोः, पथोः, (इन दोनों मार्गों में) इस कथन से विद्या (उपासना) और कर्म इस अर्थ का ग्रहण होता है। क्योंकि विद्या और कर्म को ही प्रकृतत्व है। जिससे देवयान (उत्तरायण) और पितृयाण (दक्षिणायन) दोनों मार्गों की प्राप्ति में साधनात्मक मार्गरूप विद्या और कर्म प्रकृत हैं। (इनमें जो इस प्रकार जानते हैं) इस वचन से विद्या प्रकृत है और उससे प्राप्त करने योग्य देवयान मार्ग कहा गया है। (इष्ट पूर्त दत्त) इस वचन से कर्म प्रकृत है और उसके द्वारा प्राप्त करने योग्य पितृयान मार्ग कहा गया है। उन दोनों की प्रक्रिया (प्रकरण) में (इन दोनों में से जो किसी से युक्त नहीं है) यह सुना गया है।

एतदुक्तं भवति—ये न विद्यासाधनेन देवयाने पथ्यधिकृता नापि कर्मणा पितृयाणे तेषामेष क्षुद्रजन्तुलक्षणोऽसकृदावर्ती तृतीयः पन्था भवतीति। तस्मादपि नानिष्टादिकारिभिश्चन्द्रमाः प्राप्यते। स्यादेतत्, तेऽपि चन्द्रबिम्बमारुह्य ततोऽवरुह्य क्षुद्रजन्तुत्वं प्रतिपत्स्यन्त इति। तदपि नास्ति। आरोहानर्थक्यात्। अपि च सर्वेषु प्रयत्सु चन्द्रलोकं प्राप्नुवत्स्वसौ लोकः प्रयद्भिः संपूर्येतेत्यतः प्रश्नविरुद्धं प्रतिवचनं प्रसज्येत। तथाहि प्रतिवचनं दातव्यं यथाऽसौ लोको न संपूर्यते। अवरोहाभ्युपगमादसंपूर्णोपपत्तिरिति चेत्। न अश्रुतत्वात्। सत्यमवरोहादप्यसंपूरणमुपपद्यते। श्रुतिस्तु तृतीयस्थानसंकीर्तनेनासंपूरणं

दर्शयति—'एतत्तृतीयं स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते' (छा० ५।१०।८) इति। तेनानारोहादेवासंपूरणमिति युक्तम्। अवरोहस्येष्टादिकारिष्वप्यविशिष्टत्वे सति तृतीयस्थानोक्त्यानर्थक्यप्रसङ्गात्। तुशब्दस्तु शाखान्तरीयवाक्यप्रभवामशेषगमनाशङ्कामुच्छिनत्ति, एवं सत्यधिकृतापेक्षः शाखान्तरीये वाक्ये सर्वशब्दोऽवतिष्ठते—ये वै केचिदधिकृता अस्माल्लोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति—इति ॥ १७ ॥

इससे यह रहस्य उक्त होता है कि जो मनुष्य विद्यारूप साधन द्वारा देवयान मार्ग के लिए अधिकारी नहीं हुए, न कर्म द्वारा पितृयान मार्ग के ही लिए अधिकारी हो सके, उनका यह क्षुद्रजन्तुरूप बार-बार आवृत्ति वाला तीसरा मार्ग होता है। इससे भी इष्टादि नहीं करने वालों से चन्द्रलोक नहीं प्राप्त किया जाता है। शंका होती है कि विद्या और कर्म के बिना यह क्षुद्र जन्तुत्व हो, परन्तु वे भी चन्द्रबिम्ब में आरूढ़ प्राप्त होकर और वहाँ से उतर कर क्षुद्रजन्तुत्व को प्राप्त करेंगे। उत्तर है कि विद्यारहित, कर्मरहित के केवल आरोहण-अवरोहण भी नहीं होते हैं जिससे आरोहण में अनर्थकता की प्राप्ति होती है। दूसरी बात यह है कि मरकर जानेवाले सभी यदि चन्द्रलोक में जायँगे, तो वह लोक जानेवालों से सम्पूर्ण (व्याप्त) होगा। इससे प्रश्न से विरुद्ध प्रतिवचन प्राप्त होगा। प्रश्न के अनुसार इस प्रकार का प्रतिवचन (उत्तर) देना चाहिए कि जिस प्रकार से वह लोक संपूर्ण नहीं सिद्ध हो। यदि कहो कि अवरोह के अभ्युपगम से असंपूर्ण की उपपत्ति होगी, तो अश्रुतत्व से वह कथन युक्त नहीं है। अवरोह से भी असम्पूर्ण उपपन्न होता है, यह कथन सत्य है। परन्तु श्रुति तो तृतीय स्थान के संकीर्तन द्वारा असम्पूर्ण दर्शाती है कि (यह तृतीय स्थान है इससे वह लोक नहीं सम्पूर्ण होता है) इससे इतर के अनारोह से ही असम्पूर्ण होता है। यह युक्त है। यदि अवरोह से ही अपूर्ति हो तो इष्टादिकारी के अवरोह की अविशेषता से तृतीय स्थान कथन की अनर्थकता प्राप्त होगी। अर्थात इसी यथागत मार्ग से फिर लौटते हैं, इस प्रकार की आवृत्ति का कथन इष्टकारी में है उसी से अनिष्टकारी की आवृत्ति सिद्ध होते तृतीय स्थान का कथन अनर्थक होगा, इससे तृतीय स्थान शब्द तृतीय मार्ग का बोधक है। इससे तृतीय मार्ग वाले चन्द्रलोक में नहीं जाते हैं। इससे सूत्रगत तु शब्द शाखान्तर के वाक्य से जन्य अशेष (सब) के गमन की आशंका का उच्छेद करता है। ऐसा सिद्ध होने पर शाखान्तरगत वाक्य में अधिकारी की अपेक्षा वाला सर्व शब्द अवस्थित निश्चित होता है कि जो कोई इष्टादि के अधिकार द्वारा स्वर्ग के अधिकारी होकर इस लोक से प्रयाण करते हैं, वे सब चन्द्रलोक में ही जाते हैं ॥ १७ ॥

यत्पुनरुक्तं—देहलाभोपपत्तये सर्वे चन्द्रमसं गन्तुमर्हन्ति, पञ्चम्यामाहुतावित्याहुतिसंख्यानियमात्—इति, तत्प्रत्युच्यते—

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥ १८ ॥

न तृतीये स्थाने देहलाभाय पञ्चसंख्यानियम आहुतीनामादर्तव्य । कुत ? तथोपलब्धे । तथा ह्यन्तरेणैवाहुतिसंख्यानियमं वर्णितेन प्रकारेण तृतीयस्थानप्राप्तिरुपलभ्यते 'जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्' (छा० ५।१०।८) । इति अपिच 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' (छा० ५।३।३) इति मनुष्यशरीरहेतुत्वेनाहुतिसंख्या संकीर्त्यते न कीटपतङ्गादिशरीरहेतुत्वेन, पुरुषशब्दस्य मनुष्यजातिवचनत्वात् । अपिच पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वमुपदिश्यते नापञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचस्त्वं प्रतिषिध्यते, वाक्यस्य द्व्यर्थतादोषात् । तत्र येषामारोहावरोहौ सम्भवतस्तेषां पञ्चम्यामाहुतौ देह उद्भविष्यति, अन्येषां तु विनैवाहुतिसंख्यया भूतान्तरोपसृष्टाभिरद्भिर्देह आरप्स्यते ॥ १८ ॥

जो यह कहा था कि पञ्चमी आहुति मे पुरुष वचन होता है । इस प्रकार आहुति संख्या के नियम से देहलाभ की उपपत्ति के लिए सब चन्द्रलोक मे जाने के योग्य हैं, उसके प्रति उत्तर कहा जाता है कि—

तृतीय स्थान म देह के लाभ के लिए आहुति की पाँच संख्या का नियम आदर (स्वीकार) के योग्य नहीं है, क्योंकि उस स्थान मे इसी प्रकार अनियम की उपलब्धि होती है, जिससे इसी प्रकार आहुति संख्या के नियम बिना ही वर्णित रीति से तृतीय स्थान की प्राप्ति उपलब्ध होती है, कि (बार बार जन्मो मरो यही तृतीय स्थान है) । दूसरी बात है कि पुरुष शब्द के मनुष्य जाति वाचकत्व होने से (पञ्चमी आहुति मे जल पुरुष शब्द का वाच्य होता है । यह मनुष्य शरीर के हेतुरूप से आहुति की संख्या कही जाती है, कीट पतङ्गादि के शरीर के हेतुरूप से नहीं कही जाती है । यह बात भी है कि पञ्चमी आहुति म जल के पुरुषशब्दवाच्यता का उपदेश दिया जाता है, परन्तु मनुष्य मे भी पञ्चमी आहुति के बिना अपञ्चमी आहुति मे पुरुषशब्दवाच्यता का प्रतिषेधन हो किया जाता है । क्योंकि ऐसा करने से वाक्य को दो अर्थबोधकता दोष होगा, अर्थात् विधि और निषेधरूप दो अर्थ वाक्य के होने पर वाक्यभेद की प्राप्ति होगी । इस प्रकार पञ्चमी आहुति का नियम देहधारण के लिए नहीं होने पर, जिनके आरोह अवरोह का सम्भव है । पञ्चमी आहुति मे उनकी देह का उद्भव (जन्म) होगा । अन्य की देह तो आहुतिसंख्या के नियम के बिना हो भूतान्तर से मिश्रित जल के द्वारा आरब्ध (उत्पन्न) होगा ॥ १८ ॥

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥ १९ ॥

अपिच स्मर्यते लोके द्रोणधृष्टद्युम्नप्रभृतीनां सीताद्रौपदीप्रभृतीनां चायोनिजत्वम् । तत्र द्रोणादीनां योषिद्विषयैकाहुतिर्नास्ति । धृष्टद्युम्नादीनां तु योषित्पुरुषविषये द्वे अप्याहुती न स्त । यथा च तत्राहुतिसंख्यानादरो

भवत्येवमन्यत्रापि भविष्यति। बलाकाप्यन्तरेणैव रेतः सेकं गर्भंधत्तइति लोकरूढिः॥ १९ ॥

और भी यह बात है कि लोक (महाभारतादि) में, भरद्वाज ऋषि के वीर्य से द्रोण में उत्पन्न होने वाले द्रोणाचार्य, अग्नि से उत्पन्न होने वाले धृष्टद्युम्नादि के, और इसी प्रकार भूमि और अग्नि से उत्पन्न होनेवाली सीता और द्रौपदी आदि के अयोनिजत्व का स्मरण किया जाता है। यहाँ द्रोणादिसम्बन्धी एक स्त्रीविषयक आहुति नहीं स्मृत है। धृष्टद्युम्न आदि सम्बन्धी तो पुरुष और स्त्री दोनों विषयक आहुति नहीं स्मृत है। धृष्टद्युम्न आदि सम्बन्धी तो पुरुष और स्त्री दोनों विषयक आहुति नहीं स्मृत (कथित) है। जैसे उन द्रोणाचार्यादि में आहुति की संख्या का आदर नहीं होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी संख्या का आदर नहीं होगा। बलाकाभी रेतःसेक (वीर्यसेचन) विना ही गर्भ का धारण करती है ऐसी लोक में रूढि (प्रसिद्धि) है ॥ १९ ॥

दर्शनाच्च ॥ २० ॥

अपि च चतुर्विधे भूतग्रामे जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जलक्षणे स्वेदजोद्भिज्जयोरन्तरेणैव ग्राम्यधर्ममुत्पत्तिदर्शनादाहुतिसंख्यानादरो भवति। एवमन्यत्रापि भविष्यति ॥ २० ॥

और भी यह बात है कि जरायु (गर्भवेष्टन चर्म) द्वारा जन्मने वाले जरायुज मनुष्य, पशु आदि, अण्डों द्वारा जन्मने वाले अण्डज, पक्षी आदि, स्वेद से जन्मने वाले स्वेदज, खटमल, यूका आदि और भूमि का उद्भेदन करके जन्मने वाले उद्भिज्जरूप, वृक्षादिरूप चार प्रकार के भूतग्राम (प्राणी के समूह) में स्वेदज और उद्भिज्ज की ग्राम्यधर्म (स्त्रीसंग) के विना ही उत्पत्ति के देखने से आहुति की संख्या का अनादर होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी आहुति की संख्या का अनादर होगा। अर्थात् इष्टादि नहीं करने वालों के लिये पञ्चमी आहुति में शरीर-धारण का नियम नहीं रहेगा ॥ २० ॥

ननु 'तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (छा० ६।३।१) इति अत्र त्रिविध एव भूतग्रामः श्रूयते कथं चतुर्विधत्वं भूतग्रामस्य प्रतिज्ञातमिति। अत्रोच्यते—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ २१ ॥

'आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' (छा० ६।३।१) इत्यत्र तृतीयेनोद्भिज्जशब्देनैव स्वेदजोपसंग्रहः कृतः प्रत्येतव्यः। उभयोरपि स्वेदजोद्भिज्जयोर्भूम्युदकोद्भेदप्रभवत्वस्य तुल्यत्वात्। स्थावरोद्भेदात्तु विलक्षणो जङ्गमोद्भेद इत्यन्यत्र स्वेदजोद्भिज्जयोर्भेदवाद इत्यविरोधः ॥ २१ ॥

उक्तार्थ में शंका होती है कि (उन जीवों से आविष्ट इन पक्षी आदि रूप भूतों के

तीन ही बीज कारण होते हैं। वे कौन हैं कि आण्डज अण्डज, जीवज-जरायुज और उद्भिज्ज हैं) अर्थात् पूर्व पूर्व के अण्डजादि से उत्तरोत्तर के अण्डजादि होते हैं, इसमे जीवयुक्त देहो के तीन कारण हैं, इस श्रुति मे तीन प्रकार से ही भूतग्राम सुने जाते हैं। फिर चार प्रकार के भूतग्राम की प्रतिज्ञा कैसे की गई है। भूतग्राम का चतुर्विधत्व प्रतिज्ञात कैसे हुआ है। यहाँ उत्तर कहा जाता है कि—

ऐतरेय श्रुति मे (अण्डजानि च जरायुजानि च स्वेदजानि च उद्भिज्जानि च) इस प्रकार से चतुर्विध भूतग्राम के स्वीकार से छान्दोग्य म भी चतुर्विधता का स्वीकार है, परन्तु (अण्डज, जीवजम्, उद्भिज्जम्) इस वाक्य मे तृतीय उद्भिज्ज शब्द से ही स्वेदज का उपसग्रह किया हुआ समझना चाहिये, क्योंकि स्वेदज, उद्भिज्ज दोनो को भूमि और उदक के उद्भेदनजन्यत्व की तुल्यता है। इसमे उद्भिज्ज स दोनो का अवरोध (सग्रह) किया गया है। स्थावर वृक्षादिकृत उद्भेदन की अपेक्षा मे जङ्गमकृत उद्भेदन विलक्षण है। इस तात्पर्य से अन्यत्र श्रुति आदि म स्वेदज और उद्भिज्जविषयक भेदवाद है। सूत्र म सशोक शब्द स्वेद अर्थ म है। शोक से भी स्वेद होता है। इससे कार्य म कारणवाचक शब्द का प्रयोग किया गया है॥ २१॥

साभाव्यापत्त्यधिकरण ॥ ४ ॥

वियदादिस्वरूपत्व तत्साम्य चावरोहिण । वायुर्भूत्वेत्यादि वाक्यात् तत्तद्भाव प्रपद्यते ॥ १ ॥
स्वरसूक्ष्मो वायुवशो युक्तो धूमादिभिर्भवेत्। अन्यस्यान्यस्वरूपत्व न मुख्यमुपपद्यते ॥ २ ॥

स्वर्ग से अवरोह काल म यद्यपि जीव की आकाश वायु आदि रूपता की प्राप्ति श्रुति अक्षर के अनुसार प्रतीत होती है, तथापि उपपत्ति से समानस्वभावता की प्राप्ति सिद्ध होती है। सशय है कि अवरोह करने वाले को मार्ग मे आकाशादि स्वरूपता की प्राप्ति होती है। अथवा आकाशादितुल्यता की प्राप्ति होती है पूर्वपक्ष है कि (वायु होकर धूम होता है) इत्यादि वाक्य से सिद्ध होता है कि तत्तत्स्वरूपता को प्राप्त होता है। सिद्धान्त है कि अन्य चेतन जीवात्मा को अन्य आकाशादि स्वरूपत्व मुख्य नहीं उपपन्न हो सकता है, इससे शोकाग्नि मे जलमय स्वर्गीय देह के विलीन हो जाने से आकाश के समान सूक्ष्म हो जाते हैं। फिर अत्यन्त सूक्ष्म लिङ्गशरीरयुक्त जीव वायु के वश मे होते हैं। फिर वायु के तुल्य होकर धूम आदि से युक्त और धूमादि के सदृश होते हैं, फिर मेघादि तुल्य होकर वृष्टि द्वारा भूमि म आते हैं इत्यादि ॥ १–२ ॥

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥ २२ ॥

इष्टादिकारिणश्चन्द्रमसमारुह्य तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वा तत सानुशया अवरोहन्तीत्युक्तम्। अथावरोहप्रकार परीक्ष्यते। तत्रेयमवरोहश्रुतिर्भवति—'अथैतमेवाध्वान पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायु वायुर्भूत्वा धूमो भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति' (छा० ५।१०।५)। इति तत्र सशय –

किमाकाशादिस्वरूपमेवावरोहन्तः प्रतिपद्यन्ते किंवाऽऽकाशादिसाम्यमिति। तत्र प्राप्तं तावदा[illegible]दिस्वरूपमेव प्रतिपद्यन्त इति। कुतः? एवं हि श्रुतिर्भवति। इतरथा [illegible]णा स्यात्। श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा। तथा च वायुर्भूत्वा धूमो भवतीत्येवमादीन्यक्षराणि तत्तत्स्वरूपोपपत्तावाञ्जस्येनावकल्पन्ते। तस्मादाकाशादिस्वरूपप्रतिपत्तिरिति। एवं प्राप्ते ब्रूमः—आकाशादिसाम्यं प्रतिपद्यन्त इति। चन्द्रमण्डले यदम्मयं शरीरमुपभोगार्थमारब्धं तदुपभोगक्षये सति प्रविलीयमानं सूक्ष्ममाकाशसमं भवति ततो वायोर्वशमेति ततो धूमादिभिः संपृच्यत इति। तदेतदुच्यते 'यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुम्' (छा० ५।१०।५) इत्येवमादिना। कुतः? एतदुपपत्तेः। एवं ह्येतदुपपद्यते। नह्यन्यस्यान्यभावो मुख्य उपपद्यते। आकाशस्वरूपप्रतिपत्तौ च वाय्वादिक्रमेणावरोहो नोपपद्यते। विभुत्वाच्चाकाशेन नित्यसम्बन्धवत्त्वान्न तत्सादृश्यापत्तेरन्यस्तत्सम्बन्धो घटते। श्रुत्यसम्भवे च लक्षणाश्रयणं न्याय्यमेव। अत आकाशादितुल्यतापत्तिरेवात्राकाशादिभाव इत्युपचर्यते॥ २२॥

इष्टादि कर्म करने वाले चन्द्रलोक में प्राप्त होकर कर्मफल के भोगकाल तक उस लोक में निवास करके फिर अनुशय सहित अवतरते-लौटते हैं। यह कहा जा चुका है। अब इसके आगे अवरोह के प्रकार (भेदरीति) की परीक्षा (युक्तायुक्त का विचार) की जाती है। यहां यह अवरोहविषयक श्रुति है कि (भोग की समाप्ति होने पर इसी मार्ग को पकडकर अनुशययुक्त जीव फिर लौटते है, जिस मार्ग से गये हुए रहते हैं।) इससे प्रथम आकाश मे आते है। अर्थात् आकाशतुल्यता को प्राप्त करते हैं, आकाश से वायु में प्राप्त होते हैं। वायुतुल्य होकर धूमतुल्य होते हैं। धूम होकर अभ्र-जल को ग्रहण करने वाला मेघतुल्य होते हैं। फिर वर्षने वाला मेघतुल्य होते हैं, मेघ होकर प्रसर्पते हैं। इत्यादि। वहाँ संशय होता है कि अवरोह करने वाले अर्थात् चन्द्रलोक से आनेवाले क्या आकाशादिस्वरूपता को ही प्राप्त होते हैं। अथवा आकाशादि की समता को प्राप्त करते हैं। वहाँ प्रथम पूर्वपक्ष प्राप्त होता है कि आकाशादि स्वरूपता को ही प्राप्त करते हैं, क्योंकि ऐसी ही श्रुति है, अर्थात् श्रुत्यक्षर से तद्रूपता की प्राप्ति ही शक्ति वृत्ति द्वारा भासती है, अन्यथा सादृश्य पक्ष में लक्षणा वृत्ति होगी। श्रुति तथा लक्षणा के संशय में श्रुति न्याययुक्त होती है, लक्षणा नहीं। इस प्रकार श्रुति के अनुसार ही वायु होकर धूम होता है, इत्यादि अक्षर (पद) तत्तत्स्वरूप की उपपत्ति में शीघ्रता से अनायास सम्बद्ध होते हैं। इससे सम्यक् उपपन्न होते है। इससे अवरोहियों को आकाशादिस्वरूपता की प्राप्ति होती है। इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि (समान भाव वाला सभाव कहता है, और सभावता को साभाव्य कहते हैं उसका तुल्यता—साम्य अर्थ होता है) इससे अवरोह करने वाले आकाशादि के समता को प्राप्त होते हैं, चन्द्रमण्डल में जलमय शरीर उपभोग के लिए

आरब्ध (उत्पादित) रहता है, वह उपभोग के क्षय होने पर प्रविलीन होता हुआ आकाशतुल्य सूक्ष्म हो जाता है। फिर वायु के वश में प्राप्त होता है, फिर वायु द्वारा धूमादि के साथ सम्पृक्त (सम्बद्ध) होता है, अत यह समता सम्बन्धादिक ही (गमन के समान आगमन मे भी आकाश को प्राप्त करता है, आकाश से वायु को प्राप्त करता है) इत्यादि से कहा जाता है। क्योंकि उपपत्ति से यही सादृश्यादिक ही भवन (होना) है। इस प्रकार ही यह वायु आदि होना उपपन्न (युक्त) होता है। जिससे अन्य को किसी अन्यभाव (अन्यस्वरूपता) मुख्य नही उपपन्न हो सकता है। यदि अवरोही को आकाश-स्वरूपता की प्राप्ति हो, तो वायु आदि क्रम से अवरोह नही सिद्ध होगा। आकाश के विभु होने से, आकाश के साथ नित्य सम्बन्ध वाला अनुशयी अवरोही जीव रहता है, इसमे आकाशसदृशता की प्राप्ति से अन्य आकाश के साथ सम्बन्ध संयोगादि नही संघटित हो सकता है कि जिसमे आकाशरूपतापत्ति की आकाश सम्बन्ध मे लक्षणा हो सके। इससे सादृश्यार्थ मे लक्षणा है। श्रुति के असम्भव होने पर लक्षणा का आश्रयण न्याययुक्त ही है। इसमे आकाशादि की तुल्यता की प्राप्ति ही यहाँ आकाशादि भाव उपचरित गौण व्यवहृत होता है, कहा जाता है ॥ २२ ॥

नातिचिराधिकरण ॥ ५ ॥

व्रीह्यादे प्राग्विलम्बेन त्वरया वाऽवरोहति। तत्रानियम एव स्यान्नियामकविवर्जनात् ॥१॥
दुःखं व्रीह्यादिनिर्माणमिति तत्र विशेषित। विलम्बस्तेन पूर्वत्र त्वरार्थादवसीयते ॥२॥

स्वर्ग से अवतरण में आकाशादि-सदृशता में अन्य-अन्य के सदृश होने के समय अतिचिरकाल के द्वारा जीव अन्य-अन्य के सदृश नही होते हैं किन्तु शीघ्र २ रूपान्तर को प्राप्त होते हैं, अत (अतो वै खलु दुर्निष्प्रतरम्) इस विशेष वचन से सिद्ध होता है कि व्रीहि मे प्राप्त होने पर उससे निकलना कठिन होता है, प्रथम नही। यहाँ संशय है कि व्रीहि आदि से पूर्व मे विलम्ब से अनुशयी जीव उतरता है अथवा शीघ्र उतरता है। पूर्वपक्ष है कि नियामक हेतु के अभाव से अवरोह मे विलम्ब त्वरा का अनियम ही है। सिद्धान्त है कि व्रीहि से निर्याण (निःसरण) दुःखरूप कष्टसाध्य है, इस प्रकार वहाँ विशेषित (विशेष भेदयुक्त) व्रीहि आदि भाव है, इस हेतु से उस व्रीहि आदि भाव मे विलम्ब होना है, अर्थात् उससे पूर्व मे त्वरा (शीघ्रता) का निश्चय किया जाता है ॥ १—२ ॥

नातिचिरेण विशेषात् ॥ २३ ॥

तत्राकाशादिप्रतिपत्तौ प्राग्व्रीह्यादिप्रतिपत्तेर्भवति विशय—किं दीर्घं दीर्घं काल पूर्वपूर्वसादृश्येनावस्थायोत्तरोत्तरसादृश्य गच्छन्त्युताल्पमल्पमिति। तत्रानियमो नियमकारिण शास्त्रस्याभावादिति। एव प्राप्त इदमाह—नातिचिरेणेति। अल्पमल्प कालमाकाशादिभावेनावस्थाय वर्षधाराभि सहेमा भुवमापतन्ति। कुत एतत् ? विशेषदर्शनात्। तथाहि व्रीह्यादिभावापत्तेरनन्तरं

विशिनष्टि—'अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरम्' (छा० ५।१०।६) इति। तकार एकश्छान्दस्यां प्रक्रियायां लुप्तो मन्तव्यः दुर्निष्क्रमतरं दुर्निष्प्रमतरं दुःखतरमस्माद्व्रीह्यादिभावान्निःसरणं भवतीत्यर्थः । तदत्र दुःखं निष्प्रपतनं प्रदर्शयन्पूर्वेषु सुखं निष्प्रपतनं दर्शयति। सुखदुःखताविशेषश्चायं निष्प्रपतनस्य कालाल्पत्वदीर्घत्वनिमित्तः । तस्मिन्नवधौ शरीरानिष्पत्तेरुपभोगासम्भवात्। तस्माद्व्रीह्यादिभावापत्तेः प्रागल्पेनैव कालेनावरोहः स्यादिति ॥ २३ ॥

व्रीहि आदि की प्राप्ति से प्रथम उस आकाशादि की प्राप्तिविषयक संशय होता है कि दीर्घ-दीर्घ कालपर्यन्त, पूर्व-पूर्वसदृशतापूर्वक स्थिर हो-होकर, उत्तर-उत्तर सदृशता को अनुशयी प्राप्त होते हैं अथवा अल्प-अल्प काल तक स्थिर होकर प्राप्त होते हैं। पूर्वपक्ष है कि उसमें नियमकारक शास्त्र के अभाव से अनियम है, चिर से कभी प्राप्त होता है, कभी शीघ्र प्राप्त होता है। इस प्रकार प्राप्त होने पर सूत्रकार यह कहते हैं कि नातिचिरेणेति, अल्प-अल्प काल तक आकाशादि सदृशरूप से स्थिर होकर वर्षा की धाराओं के साथ इस भूमि में प्राप्त होते, गिरते है। यह अल्प काल का ज्ञान कैसे होता है ? इस प्रश्न का उत्तर है कि विशेष का दर्शन से ज्ञान होता है। जिससे व्रीहि आदि भाव की प्राप्ति के अनन्तर श्रुति इस प्रकार विशेष का कथन करती है कि (इस व्रीहि आदि भाव से निर्गमन कठिन हो जाता है) दुर्निष्प्रपतरम्, इस पद का एक तकार वैदिक प्रक्रिया में लुप्त हुआ समझना चाहिए। इससे दुर्निष्प्रपततरं दुर्निष्क्रमतरं, इस व्रीहि आदि भाव से निःसरण दुःखतर (अत्यन्त दुःखरूप) होता है, यह अर्थ है। इससे यहाँ दुःखरूप निष्प्रपतन (निःसरण) को प्रदर्शन कराता हुआ, प्रवाहण राजा, पूर्वावस्थाओं में सुखरूप निष्प्रपतन को दिखाता है और निष्प्रपतन को जो यह सुखता और दुःखतारूप विशेषभेद है, वह काल के अल्पत्व और दीर्घत्वरूप निमित्तकृत है। जिससे उस अवधि (काल) में शरीर की असिद्धि से उपभोग के असम्भव से शरीर द्वारा उपभोगजन्य सुख-दुःख उस समय नहीं हो सकते हैं। इससे व्रीहि आदि भाव की प्राप्ति से प्रथम अल्प काल द्वारा ही अवरोह होता है ॥ २३ ॥

अन्याधिष्ठिताधिकरण ॥ ६ ॥

व्रीह्यादौ जन्म तेषां स्यात्संश्लेषो वा जनिर्भवेत्। जायन्त इति मुख्यत्वात्पशुहिंसादिपापतः॥१॥
वैधान्न पापसंश्लेषः कर्मव्याप्त्यनुक्तितः। स्वविप्रादौ मुख्यजनी चरणव्याप्तिः श्रुता ॥२॥

भोक्ता अन्य जीव से अधिष्ठित भोगाश्रयरूप से स्वीकृत व्रीहि आदि में अनुशयी जीव की साभाव्यापत्ति कही जाती है। उस रूप से जन्म नहीं कहा जाता है। जिससे पूर्वकथित आकाशादि के समान ही कर्म व्यापार के विना व्रीहि आदि भाव का कथन है। संशय है कि उन अवरोहियों का व्रीहि आदि में भोग के लिए जन्म होगा अथवा आगे प्राप्ति के लिए मार्गरूप व्रीहि आदि में संश्लेष (संबन्ध) मात्र होगा। पूर्वपक्ष है कि श्रुति मे 'जायन्ते' इस पद के मुख्यार्थक होने से और इष्टादि कर्म में पशुहिंसादि

रूप पाप के होने से (शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः) इत्यादि स्मृति के अनुसार अनुशयियों का व्रीहि आदि में जन्म होगा। सिद्धान्त है कि यद्यपि जप ध्यानादिजन्य पुण्य ही पापसम्बन्ध से रहित होता है अन्य रागीकृत सब कर्म यद्यपि पुण्य-पाप मिश्रित होते हैं वह (तत्र ध्यानजमकल्मषम्) इत्यादि शास्त्र से सिद्ध होता है। तथापि वैध (कर्मविधिसम्बन्धी) हिंसा कर्म से ऐसा पाप का सम्बन्ध नहीं होता है कि जिससे स्थावर भाव की प्राप्ति हो। किन्तु उस पाप का फल स्वर्ग में ही सुख भोग के साथ समय-समय पर दुःख भोगना होता है जैसे कि इन्द्रादि में भी शत्रुजन्य भयादि का वर्णन है। दूसरी बात है व्रीहिभाव की प्राप्तिकाल में भोगप्रद कर्म के व्यापार का श्रुति में अनुक्ति है। अर्थात् कर्मभोग के लिए वहाँ प्राप्ति का कथन नहीं है किन्तु आगे जाने के लिए प्राप्ति का कथन है। मार्ग के खतम होने पर श्वान विप्रादिरूप मुख्य जन्म में चरण की व्यापृति सुनी गई है इससे व्रीहि आदि में संश्लेषमात्र होता है॥ १-२॥

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्॥ २४॥

तस्मिन्नेवावरोहे प्रवर्षणानन्तरं पठ्यते—'त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते' (छा० ५।१०।६) इति। तत्र संशयः—किमस्मिन्नवधौ स्थावरजात्यापन्नाः स्थावरसुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्त्याहोस्वित्क्षेत्रज्ञान्तराधिष्ठितेषु स्थावरशरीरेषु संश्लेषमात्रं गच्छन्तीति। किं तावत्प्राप्तम्? स्थावरजात्यापन्नास्तत्सुखदुःखभाजोऽनुशयिनो भवन्तीति। कुत एतत्? जनेर्मुख्यार्थत्वोपपत्तेः, स्थावरभावस्य च श्रुतिस्मृत्योरुपभोगस्थानत्वप्रसिद्धेः। पशुहिंसादियोगाच्चेष्टादेः कर्मजातस्यानिष्टफलत्वोपपत्तेः। तस्मान्मुख्यमेवेदमनुशयिनां व्रीह्यादिजन्म, श्वादिजन्मवत्। यथा श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वेति मुख्यमेवानुशयिनां श्वादिजन्म तत्सुखदुःखान्वितं भवति, एवं व्रीह्यादिजन्मापीति।

उसी अवरोह में प्रवर्षण के अनन्तर पढ़ा जाता है कि (वे अनुशयी जीव इस भूमि में व्रीहि, यव, ओषधि, वनस्पति, तिल और माष-उड़द) रूप में उत्पन्न होते हैं। यहाँ संशय होता है कि क्या इस अवधि (वर्षानन्तर काल) में अनुशयी जीव स्थावर जाति को प्राप्त होकर स्थावरसम्बन्धी सुख-दुःख के भोक्ता होते हैं अथवा अन्य क्षेत्रज्ञ (जीव) से अधिष्ठित भोगाश्रयरूप में स्वीकृत स्थावर-शरीरों में संश्लेषमात्र को प्राप्त करते हैं। यहाँ प्रथम क्या प्राप्त होता है ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्षी कहते हैं कि स्थावर जाति को प्राप्त होकर स्थावरसम्बन्धी सुख-दुःख के भोक्ता अनुशयी होते हैं। जिज्ञासा होती है कि यह भोक्तृत्व किस हेतु से निश्चय किया जाता है। उत्तर है कि जन धातु के मुख्यार्थ की उपपत्ति से और स्थावर भाव की श्रुति और स्मृति में उपभोगस्थानत्व की प्रसिद्धि से भोक्तृत्व का निश्चय किया जाता है।

इष्टादि कर्मसमूह को पशुहिंसादि के साथ सम्बन्ध से अनिष्ट व्रीहि आदि जन्मरूप फल की उपपत्ति से उक्त निश्चय होता है। इससे अनुशयियों का यह व्रीहि आदि रूप जन्म मुख्य ही होता है, जैसे कि श्वान आदि। जैसे, श्वयोनि वा, सूकरयोनि वा, चाण्डाल योनि वा, इस वचन के अनुसार अनुशयियों का कुत्ते आदि सम्बन्धी सुख-दुःख से युक्त कुत्ते आदि जन्म मुख्य ही होते है। इसी प्रकार व्रीहि आदि जन्म भी मुख्य होते हैं।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—अन्यैर्जीवैरधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु संसर्गमात्रमनुशयिनः प्रतिपद्यन्ते न तत्सुखदुःखभाजो भवन्ति, पूर्ववत्। यथा वायुधूमादिभावोऽनुशयिनां तत्संश्लेषमात्रम्, एवं व्रीह्यादिभावोऽपि जातिस्थावरैः संश्लेषमात्रम्। कुत एतत्? तद्वदेवेहाप्यभिलापात्। कोऽभिलापस्य तद्भावः? कर्मव्यापारमन्तरेण संकीर्तनम्, यथाकाशादिषु प्रवर्षणान्तेषु न कंचित्कर्मव्यापारं परामृशत्येवं व्रीह्यादिजन्मन्यपि। तस्मान्नास्त्यत्र सुखदुःखभाक्त्वमनुशयिनाम्। यत्र तु सुखदुःखभाक्त्वमभिप्रैति परामृशति तत्र कर्मव्यापारं रमणीयचरणाः कपूयचरणा इति च। अपिच मुख्येऽनुशयिनां व्रीह्यादिजन्मनि व्रीह्यादिषु लूयमानेषु कण्ड्यमानेषु भज्यमानेषु पच्यमानेषु भक्ष्यमाणेषु च तदभिमानिनोऽनुशयिनः प्रवसेयुः। यो हि जीवो यच्छरीरमभिमन्यते स तस्मिन्पीड्यमाने प्रवसतीति प्रसिद्धम्। तत्र व्रीह्यादिभावाद्रेतःसिग्भावोऽनुशयिनां नाभिलप्येत। अतः संसर्गमात्रमनुशयिनामन्याधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु भवति। एतेन जनेर्मुख्यार्थत्वं प्रतिब्रूयादुपभोगस्थानत्वं च स्थावरभावस्य। न च वयमुपभोगस्थानत्वं स्थावरभावस्यावजानीमहे। भवत्वन्येषां जन्तूनामपुण्यसामर्थ्येन स्थावरभावमुपगतानामेतदुपभोगस्थानम्। चन्द्रमसस्त्ववरोहन्तोऽनुशयिनो न स्थावरभावमुपभुञ्जत इत्याचक्ष्महे॥ २४॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि अन्य जीवों से अधिष्ठित व्रीहि आदि में अनुशयी जीव संसर्गमात्र प्राप्त करते हैं और उसके सुख-दुःख के भागी नहीं होते हैं। पूर्व काल में आकाशादि के समान यहाँ भी सुखादि रहित रहते है। जैसे अनुशयी का वायु धूम आदि भाव उनके साथ सम्बन्धमात्र होता है, इसी प्रकार व्रीहि आदि भाव भी जातिस्थावरों के साथ सम्बन्धमात्र होता है। यह सम्बन्धमात्र किस हेतु से समझा जाता है। उत्तर है कि आकाशादि के समान ही यहाँ भी अभिलाप (कथन) से समझा जाता है। इस अभिलाप को पूर्वाभिलाप के साथ तुल्यता क्या है, उत्तर है कि कर्म-व्यापार के विना व्रीहि आदि भाव संकीर्तन तुल्यता है। जैसे आकाशादि प्रवर्षण पर्यन्त में किसी कर्म-व्यापार का परामर्श (कथन) श्रुति नहीं करती है, इसी प्रकार व्रीहि आदि जन्म में भी कर्म-व्यापार का कथन नहीं करती है। इससे इस व्रीहि आदि भाव में अनुशयियों को सुख-दुःख भोक्तृत्व नहीं है। श्रुति जहाँ सुख-दुःख भोक्तृत्व का अभिप्राय रखती है, वहाँ कर्म के व्यापार का परामर्श करती है, कि रमणीयचरण वाले और कपूयचरणवाले। इत्यादि। दूसरी बात है कि अनुशयियों के व्रीहि

आदि जन्म मुख्य होने पर, व्रीहि आदि काटने, कूटने, पीसने, पकाने और भक्षण करने पर, उनके अभिमानी अनुशयी प्रवास करेंगे (उसे त्याग देंगे) जिससे जो जीव जिस शरीर का अभिमानी होता है, वह उस शरीर के पीड़ित होने पर प्रवास करता है, यह प्रसिद्ध है। इस प्रकार प्रवास होने पर जो व्रीहि आदि भाव से रेत. सिग्भाव (गर्भाधानकारक पुरुषभाव) श्रुति में अनुशयियों का कहा गया है, वह नहीं कहा जाता। अत अन्य से अधिष्ठित व्रीहि आदि में अनुशयियों का संसर्गमात्र होता है। इस उक्त युक्ति से जन्म श्रुति के गौण होने से जन्म की मुख्यार्थता का और स्थावर भाव की उपयोगस्थानता का प्रतिषेध करना चाहिये। यदि कहा जाय कि (स्थाणु-मन्येऽनुसंयन्ति। शरीरजे कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः) इस श्रुति-स्मृति में स्थावर को भोगाश्रय माना गया है, उसका निषेध युक्त नहीं हो सकता। यहाँ कहते हैं कि हम स्थावरभाव का उपभोगस्थानत्व की अवज्ञा-अनादर नहीं करते हैं। अपुण्य के सामर्थ्य से स्थावरभाव को प्राप्त अन्य प्राणी के उपभोग का स्थान यह स्थावर हो। किन्तु चन्द्र-लोक से उतरने वाले अनुशयी स्थावरभाव का उपभोग नहीं करते हैं, यह हम कहते हैं।

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥

इस सूत्र का संक्षिप्तार्थ है कि पाप का फलरूपस्थावर भाव अशुद्ध है। इससे अन्य कर्म की अभिव्यक्ति के बिना पुण्यकर्मानुशायी की उसमें प्राप्ति उचित नहीं है, यदि ऐसी शंका हो। अथवा व्रीहि आदि में यदि अनुशयी जीव रहते हैं, तो उन्हें काटने आदि के समय कष्ट होना होगा, इससे हिंसाजन्य अन्न अशुद्ध है। यदि ऐसी शंका हो, तो युक्त नहीं है। क्योंकि शब्द से उसमें अभिमानरहित अनुशयी की प्राप्ति होती है। भोग के लिये उसमें पापी की प्राप्ति होती है, निरभिमानी अनुशयी उसमें आकाश के समान असंग रहता है, इससे सुख-दुःखादि का भागी नहीं होता है न उसकी हिंसा द्वारा अन्न अशुद्ध होता है इत्यादि अन्यार्थ भाष्यार्थ से ज्ञेय है॥

यत्पुनरुक्तम्—पशुहिंसादियोगादशुद्धमाध्वरिकं कर्म तस्यानिष्टमपि फलमवकल्पत इत्यतो मुख्यमेवानुशयिनां व्रीह्यादिजन्मास्तु तत्र गौणी कल्पनानर्थिका—इति, तत्परिह्रियते न, शास्त्रहेतुत्वाद्धर्माधर्मविज्ञानस्य। अयं धर्मोऽयमधर्म इति शास्त्रमेव विज्ञाने कारणम् अतीन्द्रियत्वात्तयोः। अनियतदेशकालनिमित्तत्वाच्च, यस्मिन्देशे काले निमित्ते च यो धर्मोऽनुष्ठीयते स एव देशकालनिमित्तान्तरेष्वधर्मो भवति, तेन शास्त्रादृते धर्माधर्मविषयं विज्ञानं न कस्यचिदस्ति। शास्त्राच्च हिंसानुग्रहाद्यात्मको ज्योतिष्टोमो धर्म इत्यवधारितः स कथमशुद्ध इति शक्यते वक्तुम्। ननु 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति शास्त्रमेव भूतविषयां हिंसामधर्म इत्यवगमयति। बाढम्। उत्सर्गस्तु सः। अपवादश्चायम् 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेत' इति। उत्सर्गापवादयोश्च व्यवस्थितविषयत्वम्। तस्माद्विशुद्धं वैदिकं कर्म, शिष्टैरनुष्ठीयमानत्वादनिन्द्यमानत्वाच्च। तेन न तस्य प्रतिरूपं फलं जातिस्थावरत्वम्। न च श्वादिजन्मवदपि व्रीह्या-

दिजन्म भवितुमर्हति। तद्धि कपूयचरणानधिकृत्योच्यते नैवमिह वैशेषिकः कश्चिदधिकारोऽस्ति। अतश्चन्द्रमण्डलस्खलितानामनुशयिनां व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं तद्भाव इत्युपचर्यते ॥ २५ ॥

जो यह भी कहा था कि पशुहिंसादि के सम्बन्ध से आध्वरिक (याज्ञिक) कर्म अशुद्ध है, उसका अनिष्ट फल भी सिद्ध होता है। इससे अनुशायियों के व्रीहि आदि जन्म मुख्य ही हो सकता है, यहाँ गौणी कल्पना अनर्थक है। उसका परिहार किया जाता है कि याज्ञिक कर्म व्रीहि आदि में प्राप्ति (जन्म का हेतु) योग्य अशुद्ध नहीं हैं, क्योंकि धर्माधर्म विज्ञान को शास्त्रहेतुकत्व है। यह धर्म है, यह अधर्म है, इस विज्ञान में शास्त्र ही कारण है। उस धर्माधर्म के अतीन्द्रिय होने से शास्त्र के विना उनका इन्द्रियों से विज्ञान नहीं हो सकता है और नियत (एक) देश, काल और निमित्त के नहीं होने से भी शास्त्र के विना सामान्यतो दृष्टानुमान से भी उनका विज्ञान नहीं हो सकता है। जिस शुचि देश प्रातःकाल, सायंकाल और जीवनादि निमित्त के रहते जो अग्निहोत्रादि धर्म किया जाता है, वही अशुचि देश, अर्द्धरात्रिकाल मरणादि निमित्तान्तर में अधर्म हो जाता है, इससे शास्त्र के विना धर्माधर्मविषयक विज्ञान किसी को नहीं होता है और शास्त्र से तो हिंसा, अनुग्रहादि स्वरूप ज्योतिष्टोम धर्म है, इस प्रकार निश्चित हुआ है, वह अशुद्ध है यह कैसे कहा जा सकता है। शंका होती है कि (सब भूत की हिंसा नहीं करे) इस प्रकार का शास्त्र ही भूतविषयक हिंसा को अधर्मरूप समझाता है। क्योंकि शास्त्र से निषिद्ध क्रिया को ही अधर्म कहा जाता है। उत्तर है कि निषेध का विषय होने से हिंसा अधर्म है, यह बात सत्य है, परन्तु वह निषेध शास्त्र उत्सर्ग (सामान्य) है और (अग्निसोमदेवताक पशु का आलम्भ करे) यह विशेष शास्त्र होने से अपवाद (बाधक) है। उत्सर्ग तथा अपवाद को व्यवस्थित (भिन्न) विषयत्व है। इससे वैदिक कर्म विशुद्ध है। जिससे शिष्टों से अनुष्ठीयमान अनिन्द्यमान है, अर्थात् शिष्ट इस कर्म का आचारण करते हैं और इसकी निन्दा नहीं करते हैं, इससे भी यह विशुद्ध है। इस हेतु से उसका जाति स्थावरत्व रूप प्रतिरूप (प्रतिकूल-अनिष्ट) फल नहीं होता है और श्वान आदि जन्म के समान भी व्रीहि आदि जन्म नहीं होने योग्य है। क्योंकि वह व्रीहि आदि जन्म पापाचरण वालों का अधिकार करके कहा जाता है। उस प्रकार से यहाँ कोई विशेषाधिकार नहीं है। इससे चन्द्रमण्डल से पतित अनुशायियों का व्रीहि आदि में संश्लेपमात्र ही तद्भाव इस प्रकार उपचार किया जाता है। वस्तुतः बलवदनिष्ट का असम्बन्धी इष्टमात्र कृषि आदि के समान कामि के लिये विधि का विषय होता है। इससे सुख के साथ दुःख भी इष्टादिकारी को भोगना पड़ता है, परन्तु वह इष्टादिसम्बन्धी हिंसादिरूप दोष व्रीहि आदि जन्म का हेतु नहीं होता है, यह सूत्र और भाष्य का तात्पर्य है इत्यादि अन्यत्र ज्ञेय है ॥ २५ ॥

रेतःसिग्योगोऽथ ॥ २६ ॥

इतश्च व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रं तद्भावो यत्कारणं व्रीह्यादिभावस्यानन्तरमनुशयिनां रेतःसिग्भाव आम्नायते—'यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति' (छा० ५।१०।६) इति। नचात्र मुख्यो रेतःसिग्भावः सम्भवति। चिरजातो हि प्राप्तयौवनो रेतःसिग्भवति। कथमिवानुपचरिततद्भावमद्यमानान्नानुगतोऽनुशयी प्रतिपद्यते। तत्र तावदवश्यं रेतःसिग्योग एव रेतःसिग्भावोऽभ्युपगन्तव्यः। तद्वद्व्रीह्यादिभावोऽपि व्रीह्यादियोग एवेत्यविरोधः ॥ २६ ॥

इस कारण से व्रीहि आदि के साथ सम्बन्धमात्र ही व्रीहि आदि भाव है कि—जिस कारण से व्रीहि भाव के अनन्तर अनुशायियों का रेतःसिग्भाव श्रुति में पढ़ा जाता है कि (जो-जो अन्न खाता है जो वीर्य को योनि में—गर्भाशय में सेचन करता है अनुशयी जीव तद्रूपता को प्राप्त करता है। यहाँ मुख्य रेतःसेक्ता रूपता नहीं हो सकती है, मुख्यरेतःसिग्भाव का असम्भव है। जिससे चिरकाल का उत्पन्न यौवन को प्राप्त पुरुष रेत का सेचनकर्ता होता है। यहाँ खाया गया अन्न में अनुगत अनुशयी अनुपचरित (मुख्य) तद्भाव (तद्रूपता) किस प्रकार से प्रतिपन्न होगा। इससे वहाँ रेतःसेक्ता के साथ सम्बन्ध ही रेतःसिग्भाव अवश्य मानना होगा, उसी के समान व्रीहि आदि भाव भी व्रीहि आदि के साथ सम्बन्ध ही है, इस प्रकार उपक्रम और उपसंहार की एकरूपता से उपक्रम उपसंहार में विरोध नहीं है।

योनेः शरीरम् ॥ २७ ॥

अथ रेतःसिग्भावस्यानन्तरं योनौ निषिक्ते रेतसि योनेरधिशरीरमनुशयिनामनुशयफलोपभोगाय जायत इत्याह शास्त्रम्—'तद्य इह रमणीयचरणाः' (छा० ५।१०।७) इत्यादि। तस्मादप्यवगम्यते नावरोहे व्रीह्यादिभावावसरे तच्छरीरमेव सुखदुःखान्वितं भवतीति। तस्माद् व्रीह्यादिसंश्लेषमात्रमनुशयिनां तज्जन्मेति सिद्धम् ॥ २७ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

फिर रेतःसेक्ता भाव के अनन्तर योनि में वीर्य के निषेक (प्राप्ति) होने पर अनुशय के फल का उपभोग के लिए योनि से आश्रय शरीर उत्पन्न होता है। यह शास्त्र कहता है कि (यहाँ जो रमणीय आचरण वाले होते हैं) इत्यादि। इससे भी यह समझा जाता है कि अवरोह में व्रीहि आदि भाव के समय में सुखदुःख संयुक्त वह व्रीहि आदि शरीर ही नहीं होता है, इससे व्रीहि आदि के साथ सम्बन्धमात्र ही अनुशयी का व्रीहि आदि जन्म होता है, यह सिद्ध हुआ ॥ २७ ॥

इति ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः

तृतीयाध्याये द्वितीय पादः

[अत्र पादे तत्त्वंपदार्थपरिशोधनविचारः ।]

संध्याधिकरण ॥ १ ॥

सत्या मिथ्याऽथवा स्वप्नश्रुतिः सत्या श्रुतीरणात् । जाग्रद्देशविशिष्टत्वादीश्वरेणैव निर्मिता ॥१॥
देशकालाद्यनौचित्याद्बाधितत्वाच्च सा मृषा । अभावोक्तेर्द्वैतमात्रसाम्याज्जीवानुवादतः ॥२॥

(सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्) इस श्रुति के अनुसार जाग्रत् सुषुप्ति की अपेक्षा संध्यनामक तृतीय स्वप्न स्थान है, इस स्थान में रथादि की सृष्टि होती है। जिस से श्रुति वहाँ की सृष्टि को कहती है। यहां संशय होता है कि सृष्टि सत्य आकाशादि की सृष्टि के समान व्यावहारिक है अथवा रज्जु-सर्पादि के समान मिथ्या प्रातिभासिक है। पूर्वपक्ष है कि श्रुतिकथित होने से सत्य है तथा जाग्रत् काल के देश से स्वप्न का देश अविशिष्ट (तुल्य) है। इससे ईश्वर से ही निर्मित है। सिद्धान्त है कि देश, काल के अनौचित्य (व्यावहारिक सृष्टियोग्यता का अभाव) से और बाधितत्व से वह सृष्टि मिथ्या है और (न तत्र रथाः) इत्यादि श्रुति द्वारा व्यावहारिक रथादि के अभाव के कथन से तथा तात्कालिक द्वैत की समता से भी स्वप्न की सृष्टि मिथ्या है। (य एष सुप्तेषु जागर्ति) इस श्रुति मे जीव का अनुवाद से ईश्वर स्वप्न का कर्ता नही है, किन्तु जीव ही वासना आदि द्वारा कर्ता है ॥ १-२ ॥

संध्ये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥

अतिक्रान्ते पादे पञ्चाग्निविद्यामुदाहृत्य जीवस्य संसारगतिप्रभेदः प्रपञ्चितः। इदानीं तु तस्यैवावस्थाभेदः प्रपञ्च्यते। इदमामनन्ति—'स यत्र प्रस्वपिति' (बृ० ४।३।९) इत्युपक्रम्य 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' (बृ० ४।३।१०) इत्यादि। तत्र संशयः— किं प्रबोध इव स्वप्नेऽपि पारमार्थिका सृष्टिराहोस्विन्मायामयीति। तत्र तावत्प्रतिपाद्यते संध्ये तथ्यरूपा सृष्टिरिति। संध्यमिति स्वप्नस्थानमाचष्टे, वेदे प्रयोगदर्शनात् 'संध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्' (बृ० ४।३।९) इति। द्वयोर्लोकस्थानयोः प्रबोधसंप्रसादस्थानयोर्वा संधौ भवतीति संध्यम्, तस्मिन्संध्ये स्थाने तथ्यरूपैव सृष्टिर्भवितुमर्हति। कुतः? यतः प्रमाणभूता श्रुतिरेवमाह 'अथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' (बृ० ४।३।१०) इत्यादि। स हि कर्तेति चोपसंहारादेवमेवावगम्यते ॥ १ ॥

अतिक्रान्त (व्यतीत) पाद में पञ्चाग्निविद्या का उदाहरण (दृष्टान्त) देकर वैराग्य के लिए जीव की संसारगति का प्रभेद प्रपञ्चित (सविस्तर कथन) किया

गया है। अब इस समय उस जीव का ही अवस्थाभेद विवेक के लिए प्रपञ्चित किया जाता है, विस्तारपूर्वक कहा जाता है। प्रथम जाग्रदवस्थासम्बन्धी गति आगति आदि का वर्णन हुआ है, स्वप्न के विषय मे श्रुति यह कहती है कि (वह आत्मा जिस काल म प्रस्वाप करता—सोता है) यहाँ से आरम्भ करके फिर कहा जाता है कि (उस स्वप्न मे रथ, रथ म जुटने वाले घोडे रथ के मार्ग नहीं रहते हैं। वह आत्मा रथ, घोडे और मार्ग की सृष्टि करता है) इत्यादि। यहाँ सशय होता है कि जाग्रत् के समान स्वप्न मे भी परमार्थ तत्त्वरूप परमात्मा स होने वाली अतएव पारमार्थिक सृष्टि आकाशादि सृष्टि के समान है, अथवा मायाकीकृत सृष्टि के समान माया (अविद्या) मयी है। यहाँ प्रथम पूर्वपक्षरूप से प्रतिपादन किया जाता है कि सन्ध्य म सत्यरूप सृष्टि होती है। सन्ध्य इस पद से स्वप्नस्थान को कहते हैं और वेद म प्रयोग देखने से स्वप्न को सन्ध्य कहा गया है (सन्ध्य तृतीय स्वप्नस्थान है) यह वैदिक प्रयोग है। अर्थात् मुमूर्षु के इस लोक और परलोकरूप स्थान की सन्धि म होता है अथवा जाग्रत् और सुषुप्तिरूप दो स्थान की सन्धि म होता है। इससे स्वप्न को सन्ध्य कहते हैं। इस सन्ध्य स्थान मे सत्य स्वरूप ही सृष्टि होने योग्य है। ऐसा क्या होने योग्य है कि जिससे प्रमाण-स्वरूप श्रुति इस प्रकार कहती है कि (आत्मा रथ, घोडे और मार्ग की सृष्टि करता है) और (वह आत्मा ही कर्ता है)। इस प्रकार के उपसहार से सकर्तृत्व के ज्ञान द्वारा भी ऐसी ही सृष्टि समझी जाती है ॥ १ ॥

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

अपि चैके शाखिनोऽस्मिन्नेव सन्ध्ये स्थाने कामाना निर्मातारमात्मानमामनन्ति—'य एष सुप्तेषु जागर्ति काम काम पुरुषो निर्मिमाण.' (क० ५।८) इति। पुत्रादयश्च तत्र कामा अभिप्रेयन्ते काम्यन्त इति। ननु कामशब्देनेच्छाविशेषा एवोच्येरन्। न। 'शतायुष पुत्रपौत्रान्वृणीष्व' (क० १।२३) इति प्रकृत्यान्ते 'कामाना त्वा कामभाज करोमि' (क० १।२४) इति प्रकृतेषु (१) तत्र पुत्रादिषु कामशब्दस्य प्रयुक्तत्वात्। प्राज्ञं चैन निर्मातार प्रकरणवाक्यशेषाभ्या प्रतीम.। प्राज्ञस्य हीद प्रकरणम् 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २।१४) इत्यादि, तद्विषय एव च वाक्यशेषोऽपि—

पूर्व सूत्र की अनुवृत्ति पूर्वक इस सूत्र का सक्षिप्तार्थ है कि (सन्ध्ये सृष्टिर्भवत्येव हि यत —(एके शाखिन स्वप्ने कामाना निर्मातारमाहु पुत्रादयश्च तत्र निर्मातव्या भवन्तीति) सन्ध्य मे सृष्टि होती ही है, जिससे एक शाखा वाले ईश्वर को निर्माता कहते हैं और पुत्रादि वहाँ निर्माण के योग्य होते हैं, इससे ईश्वररचित जाग्रत्पुत्रादि की सृष्टि के समान स्वप्न सृष्टि सत्य ही होती है, यह भाव है।

दूसरी बात है कि एक शाखा वाले इसी सन्ध्य स्थान मे कामो का निर्माता आत्मा को कहते हैं कि (जो यह पुरुष करणो के सोने पर निर्व्यापार होने पर तत्तत् काम्य

वस्तुओं का निर्माण करता हुआ जागता है) यहाँ (काम्यन्त इति कामाः) जो इच्छा के विषय हों, वे काम कहाते हैं—ऐसा काम पद का अर्थ होने से पुत्रादि कामरूप अभिप्रेत होते हैं। रूढि के अभिप्राय से शंका होती है कि काम शब्द से इच्छाविशेष ही कहे जा सकते हैं, पुत्रादि नहीं। उत्तर है कि प्रकरण से यहाँ कामशब्द काम्य पदार्थ ही हो सकता है, इच्छा नहीं, जिससे (सौ वर्ष की आयु वाले पुत्र और पौत्ररूप वर माँगो) इस प्रकार आरम्भ करके अन्त में (कामों का कामभागी कामयोग्य मैं तुम्हें करूँ) इस प्रकार प्रकृत पुत्रादि में ही वहाँ कामशब्द के प्रयुक्त होने से पुत्रादिक ही काम शब्द के अर्थ हैं। प्रकरण तथा वाक्यशेष से इस निर्माता को प्राज्ञ (ईश्वर) समझते हैं। जिससे (धर्म से अन्य है, अधर्म से अन्य है) इत्यादि रूप यह प्राज्ञ का प्रकरण है। उस प्राज्ञविषयक ही वाक्यशेष है कि—

तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ (क० ५।८) इति।

प्राज्ञकर्तृका च सृष्टिस्तथ्यरूपा समधिगता जागरिताश्रया तथा स्वप्नाश्रयापि सृष्टिर्भवितुमर्हति। तथा च श्रुतिः—'अथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्तः' (बृ० ४।३।१४) इति स्वप्नजागरितयोः समानन्यायतां श्रावयति। तस्मात्तथ्यरूपैव सन्ध्ये सृष्टिरिति ॥ २ ॥

वह निर्माता ही शुक्र स्वयंप्रकाश शुद्ध है, वही ब्रह्म है, वही अमृत कहा जाता है, उसके आश्रित सब लोक हैं। उसका उलंघन कोई नहीं करता है। प्राज्ञ जिसका कर्त्ता है ऐसी जागरित के आश्रय वाली सृष्टि सत्यरूप वाली समझी गई है, इसी प्रकार स्वप्नाश्रय वाली सृष्टि भी होने योग्य है। इसी प्रकार श्रुति है कि (अन्य लोग भी कहते है कि इसका यह जागरित देश है जो स्वप्न है, जिससे जिसको जाग्रत् में देखता है उसी को स्वप्न में देखता है) इस प्रकार स्वप्न और जागरित की समान न्यायता (रीति) को श्रुति दिखाती है, सुनाती है, इससे स्वप्न में सत्य ही सृष्टि होती है ॥ २ ॥

एवं प्राप्ते प्रत्याह—

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति। नैतदस्ति यदुक्तं सन्ध्ये सृष्टिः पारमार्थिकीति। मायैव संध्ये सृष्टिर्न परमार्थगन्धोऽप्यस्ति। कुतः? कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्। नहि कार्त्स्न्येन परमार्थवस्तुधर्मेणाभिव्यक्तस्वरूपः स्वप्नः। किं पुनरत्र कार्त्स्न्यमभिप्रेतं देशकालनिमित्तसंपत्तिरबाधश्च। नहि परमार्थवस्तुविषयाणि देशकालनिमित्तान्यबाधश्च स्वप्ने संभाव्यन्ते। न तावत्स्वप्ने रथादीनामुचितो देशः संभवति। नहि संवृते देहदेशे रथादयोऽवकाशं लभेरन्। स्यादेतत्। बहिर्देहात्स्वप्नं द्रक्ष्यति देशान्त-

रितद्रव्यग्रहणात्। दर्शयति च श्रुतिर्देहाद्बहिः स्वप्नम्—'बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा, स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्' (बृ० ४।३।१२) इति। स्थितिगतिप्रत्ययभेदश्च नानिष्क्रान्ते नाडीः सामञ्जस्यमश्नुवीतेति। नेत्युच्यते। नहि सुप्तस्य जन्तोः क्षणमात्रेण योजनशतान्तरितं देशं पर्येतुं विपर्येतुं च तत्र सामर्थ्यं सम्भाव्यते।

इस प्रकार प्राप्त होने पर प्रत्याख्यान करते हैं, प्रत्युत्तर देते हैं कि सूत्रगत तु शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है कि सन्ध्य में सृष्टि पारमार्थिकी होती है। यह जो कहा है, वह सत्य कथन नहीं है, सन्ध्य में जो सृष्टि होती है वह मायारूप अविद्यात्मक अर्थात् भ्रान्तिज्ञानरूप प्रातिभासिक सृष्टिमात्र होती है उसमें परमार्थ का गन्ध (लेश) भी नहीं रहता है। क्योंकि कृत्स्नस्वरूप से अनभिव्यक्त स्वरूप वाला होने से परमार्थशून्यता का निश्चय होता है। जिससे सम्पूर्णतायुक्त परमार्थ वस्तु के धर्म द्वारा अभिव्यक्त स्वरूप वाला स्वप्न नहीं होता है, प्रश्न है कि यहाँ कात्स्न्र्य-सम्पूर्णता क्या अभिप्रेत है। उत्तर है कि देश, काल और निमित्त की सम्पत्ति (सिद्धि-पूर्णता) और अबाध-कृत्स्नता अभिप्रेत है। परमार्थवस्तुविषयक देश, काल और निमित्त तथा अबाध स्वप्न में सम्भावित नहीं हैं। अर्थात् पारमार्थिक वस्तु सम्बन्धी देशादि की और अबाध की सम्भावना स्वप्न में नहीं की जा सकती है। प्रथम तो स्वप्न में रथादि के उचित (योग्य) देश का सम्भव नहीं है, जिससे संवृत (संकीर्ण) देहदेश में रथादि अवकाश नहीं पा सकते हैं। शंका होती है कि स्वप्न में रथादि का अवकाश मिल सकता है। जिससे देश से अन्तरित (व्यवहित) दूर वर्तमान द्रव्य का स्वप्न में ग्रहण (ज्ञान) होता है, इससे देह से बाहर जाकर रथादि के योग्य देश में स्वप्न देखेगा। श्रुति भी देह से बाहर स्वप्न को दिखाती है कि (शरीररूप कुलाय-नीड से बाहर स्वप्न काल में वह अमृतात्मा विचरता है, और विचर कर वह अमृतात्मा वहाँ जाता है, जहाँ जाने की इच्छा करता है) स्वप्न काल में जीव के देह से बाहर निष्क्रान्त (निर्गत प्राप्त) हुए बिना बाहर स्थिति और गति के प्रत्यय (ज्ञान) का भेद आञ्जस्य (युक्तता) को नहीं प्राप्त होगा। अर्थात् ज्ञान का भेदयुक्त नहीं होगा। उत्तर है कि स्वप्न काल में बाहर दूर नहीं जाता है यह कहा जाता है, जिससे सुप्त जन्तु (जीव) को क्षणमात्र में सौ योजन से व्यवहित देश में जाने के और वहाँ से लौट आने के सामर्थ्य की सम्भावना नहीं की जा सकती है।

क्वचिच्च प्रत्यागमनवर्जितं स्वप्नं श्रावयति "कुरुष्वहमद्य शयानो निद्रयाऽभिप्लुतः स्वप्ने पञ्चालानभिगतश्चास्मिन्प्रतिबुद्धश्च" इति देहाच्चेदपेयात्पञ्चालेष्वेव प्रतिबुध्येत न तानसावभिगत इति कुरुष्वेव तु प्रतिबुध्यते। येन चायं देहेन देशान्तरमश्नुवानो मन्यते तमन्ये पार्श्वस्थाः शयनदेश एव पश्यन्ति। यथाभूतानि चायं देशान्तराणि स्वप्ने पश्यति न तानि तथाभूतान्येव भवन्ति। परिधावंश्चेत्पश्यज्जाग्रद्वद्वस्तुभूतमर्थमाकलयेत्। दर्शयति च श्रुतिरन्तरेव देहे स्वप्नम्—'स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति' इत्युपक्रम्य 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते'

(बृ० २।१।१८) इति। अतश्च श्रुत्युपपत्तिविरोधाद्बहिष्कुलायश्रुतिर्गौणी व्याख्यातव्या बहिरिव कुलायादमृतश्चरित्वेति। यो हि वसन्नपि शरीरे न तेन प्रयोजनं करोति स बहिरिव शरीराद्भवतीति। स्थितिगतिप्रत्ययभेदोऽप्येवंसति विप्रलम्भ एवाभ्युपगन्तव्यः। कालविसंवादोऽपि च स्वप्ने भवति रजन्यां सुप्तो वासरं भारते वर्षे मन्यते। तथा मुहूर्तमात्रवर्तिनि स्वप्ने कदाचिद्बहुवर्षपूगानतिवाहयति। निमित्तान्यपि च स्वप्ने न बुद्धये कर्मणे वोचितानि विद्यन्ते। करणोपसंहाराद्धि नास्य रथादिग्रहणाय चक्षुरादीनि सन्ति। रथादिनिर्वर्तनेऽपि कुतोऽस्य निमेषमात्रेण सामर्थ्यं दारूणि वा। बाध्यन्ते चैते रथादयः स्वप्नदृष्टाः प्रबोधे। स्वप्न एव चैते सुलभबाधा भवन्ति, आद्यन्तयोर्व्यभिचारदर्शनात्। रथोऽयमिति हि कदाचित्स्वप्ने निर्धारितः क्षणेन मनुष्यः संपद्यते, मनुष्योऽयमिति निर्धारितः क्षणेन वृक्षः। स्पष्टं चाभावं रथादीनां स्वप्ने श्रावयति शास्त्रम्—'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति' (बृ० ४।३।१०) इत्यादि। तस्मान्मायामात्रं स्वप्नदर्शनम् ॥ ३ ॥

कहीं स्वप्न से जागने पर स्वप्नद्रष्टा प्रत्यागमन (लौटना) रहित स्वप्न को सुनाता है कि आज मैं इस कुरु देश में सोया हुआ निद्रा से व्याप्त होकर स्वप्न में पंचाल देश में गया था और इस देश में यहाँ जाग गया हूँ। वह यदि देह से निकल कर वहाँ गया होता तो आगमनरहित जागृति होने पर पंचाल देश में ही जागता, वह पंचाल में नहीं गया था। इससे कुरु देश में ही जागता है और यह स्वप्नद्रष्टा जिस देह द्वारा देह सहित अपने को स्वप्न में देशान्तर में प्राप्त समझता है। अन्य पार्श्ववर्ती लोग उस देह को शयन देश में ही देखते है। यह स्वप्नद्रष्टा जिस प्रकार के स्वरूप वाले देशान्तरों को स्वप्न में देखता है, वे देशान्तर उसी प्रकार के स्वरूप वाले नहीं रहते हैं। यदि परिधावन बाहर गमन करता हुआ स्वप्नद्रष्टा स्वप्न में पदार्थों को देखता, तो जाग्रत् के समान वस्तु के सत्य स्वरूप को ही देखता, समझता। श्रुति देह के अन्दर ही स्वप्न दिखाती, समझाती है कि (जिस काल में यह स्वप्न होता है, उस समय वह आत्मा स्वप्नवृत्ति से रहता है) इस प्रकार से आरम्भ करके (अपने शरीर में यथेष्ट विचरता है) इसी श्रुति और उपपत्ति से विरोध के कारण शरीर से बाहर स्वप्नदर्शन को कहने वाली श्रुति गौणी कहाने योग्य है, कि (अमृतात्मा बाहर के समान विचर कर यथेष्ट गमन करता है), जिससे जो शरीर में वसता हुआ भी उस शरीर से प्रयोजन नहीं करता है, वह शरीर से बाहर के समान होता है। इस प्रकार श्रुति और उपपत्ति (युक्ति) से स्वप्न के शरीर के भीतर में ही सिद्ध होने पर स्थिति और गति विषयक स्वप्नकालिक ज्ञान भेद को भी विप्रलम्भ (विभ्रम) रूप ही मानना चाहिए। स्वप्न में काल का भी विसंवाद (विप्रलंभ) विभ्रम होता है। रात्रि में सोया हुआ भारतवर्ष में दिन समझता है। इसी प्रकार मुहूर्तमात्र (दो घड़ी)

मस्ति, प्रतिपादितं हि 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य' (ब्र० सू० २।१।१४) इत्यत्र समस्तस्य प्रपञ्चस्य मायामात्रत्वम्। प्राक्तु ब्रह्मात्मत्वदर्शनाद्वियदादिप्रपञ्चो व्यवस्थितरूपो भवति। सन्ध्याश्रयस्तु प्रपञ्चः प्रतिदिनं बाध्यत इति, अतो वैशेषिकमिदं सन्ध्यस्य मायामात्रत्वमुदितम् ॥ ४ ॥

दूसरी बात है कि जागरित काल में, विषय इन्द्रियों के संयोग की वर्तमानता से और आदित्यादिरूप ज्योतियों के व्यतिकर (संमिश्रण) से आत्मा की स्वयं ज्योतिःस्वरूपता का निर्वचन दुष्कर है, इस आशय से उस आत्मा की स्वयंज्योतिःस्वरूपता का निर्वचन के लिए श्रुति में स्वप्न उपन्यस्त (वर्णित) हुआ है। वहाँ यदि सृष्टि आदि का बोधक वचन श्रुत्या (श्रुति के तात्पर्य का विषय रूप से) जागरित तुल्य समझा जायगा, स्वीकृत होगा, तो आत्मा की स्वयं ज्योतिःस्वरूपता नहीं निर्णीत होगी। क्योंकि जाग्रत् के समान ही स्वप्न भी हो जायगा, इससे रथादि का अभाव वचन श्रुति में तात्पर्यविषय मुख्य वृत्ति से है। रथादि की सृष्टि का बोधक वचन भक्ति गौणी वृत्ति से है इस प्रकार व्याख्यान करना चाहिए। इस भाक्त रूप से ही निर्माण श्रुति भी व्याख्यात हो गई। जो यह भी कहा था कि इस स्वप्ननिर्माता को श्रुतियाँ प्राज्ञ कहती हैं) वह भी कथन असत् है। जिससे दूसरी श्रुति में (स्वयं अपने जाग्रत् देह को निहत्य निश्चेष्ट करके स्वयं वासनामय देह का निर्माण करके अपने मनोवृत्तिरूप प्रकाश से और निजचैतन्य रूप से स्वप्न का अनुभव करता है) इस प्रकार जीव के व्यापार के श्रवण से प्राज्ञ स्वप्न का निर्माता नहीं है। इस कठ श्रुति में भी (जो यह इन्द्रियों के सोने पर जागता है) इस प्रसिद्ध के अनुवाद से कामों का निर्माता यह जीव ही कहा जाता है। (वही शुद्ध है वही ब्रह्म है) इस वाक्यशेष के द्वारा तो उसी के जीवभाव को निवृत्त करके ब्रह्मभाव का उपदेश दिया जाता है। वह उपदेश (तत्त्वमसि) इत्यादि के समान है, इसमें ब्रह्म प्रकरण-विरुद्ध नहीं होता है। स्वप्न में भी प्राज्ञ के व्यवहार (व्यापार) का प्रतिषेध हम नहीं करते हैं, क्योंकि सर्वेश्वरत्व से सभी अवस्थाओं में प्राज्ञ के अधिष्ठातृत्व की सिद्धि से उसका निषेध नहीं हो सकता है। परन्तु सन्ध्य रूप आश्रय वाला सर्ग (संसार सृष्टि) आकाश आदि के सर्ग के समान पारमार्थिक नहीं है। इतना ही प्रतिपादन किया जाता है। वियदादि सर्ग को भी आत्यन्तिक (मुख्य) सत्यत्व नहीं है। जिससे (तदनन्यत्वम्) इत्यादि सूत्र में समस्त प्रपञ्च (संसार) का मायामात्रत्व प्रतिपादित हो चुका है। परन्तु ब्रह्मात्मत्व-दर्शन से पूर्वकाल में आकाश आदि रूप प्रपञ्च व्यवस्थित स्वरूपवाला (बाध रहित) रहता है और सन्ध्यरूप आश्रयवाला प्रपञ्च प्रतिदिन बाधित होता है, इससे विशेष रूप से यह सन्ध्य की मायामात्रता कही गई है ॥ ४ ॥

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥ ५ ॥

अथापि स्यात्परस्यैव तावदात्मनोऽंशो जीवोऽग्नेरिव विस्फुलिङ्गः तत्रैवं सति यथाग्निविस्फुलिङ्गयोः समाने दहनप्रकाशनशक्ती भवत एवं जीवेश्वर-

योरपि ज्ञानैश्वर्यशक्ती, ततश्च जीवस्य ज्ञानैश्वर्यवशात्सांकल्पिकी स्वप्ने रथादिसृष्टिर्भविष्यतीति। अत्रोच्यते। सत्यपि जीवेश्वयोरंशांशिभावे प्रत्यक्षमेव जीवस्येश्वरविपरीतधर्मत्वम्। किं पुनर्जीवस्येश्वरसमानधर्मत्वं नास्त्येव। न नास्त्येव(१)। विद्यमानमपि तत्तिरोहितमविद्यादिव्यवधानात्। तत्पुनस्तिरोहितं सत्परमेश्वरमभिध्यायतो यतमानस्य जन्तोर्विधूतध्वान्तस्य तिमिरतिरस्कृतेव दृक्शक्तिरौषधवीर्यादीश्वरप्रसादात्संसिद्धस्य कस्यचिदेवाविर्भवति न स्वभावत एव सर्वेषां जन्तूनाम्। कुतः ? ततो हीश्वराद्धेतोरस्य जीवस्य बन्धमोक्षौ भवतः। ईश्वरस्वरूपापरिज्ञानाद्बन्धस्तत्स्वरूपपरिज्ञानात्तु मोक्षः। तथा च श्रुतिः—

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः॥

(श्वे० १।११) इत्येवमाद्या॥ ५॥

पूर्व कथित रीति से स्वप्न के मायामय सिद्ध होने पर भी यदि शंका हो कि परमात्मा ही का उपाधिपरिच्छिन्न अंश जीव अग्नि का अंश विस्फुलिङ्ग के समान है। यहाँ ऐसा होने पर जैसे अग्नि और विस्फुलिङ्ग में दहन और प्रकाशन शक्ति (जलाने और प्रकाशने का सामर्थ्य) तुल्य रहती है। उसी प्रकार जीव और ईश्वर में भी ज्ञान शक्ति और ऐश्वर्य शक्ति तुल्य होगी। जिससे जीव के ज्ञान ऐश्वर्य (ईश्वरता) के वश (वलशक्ति) से स्वप्न मे रथादि की सांकल्पिकी (संकल्प जन्य) सृष्टि सत्य ही होगी, जैसे कि ईश्वर के संकल्प से सत्य सृष्टि होती है। यहाँ उत्तर कहा जाता है कि जीव और ईश्वर को अंश और अंशी भाव (अंशांशी रूपता) के रहते भी जीव को ईश्वर से विपरीतधर्मवत्त्व (असत्य संकल्पत्वादि) प्रत्यक्ष ही है। इससे जीव के संकल्प से सृष्टि नहीं हो सकती है। शंका होती है कि विरुद्ध धर्म वाला होने से क्या जीव को ईश्वर के तुल्य धर्मवत्त्व सर्वथा नहीं है। उत्तर है कि सर्वथा ईश्वर के तुल्य धर्मवत्त्व नहीं है, यह वात तो नहीं है, ईश्वर के तुल्य धर्मवत्त्व है भी, परन्तु वह विद्यमान (वर्तमान) भी तुल्य धर्मवत्त्व, अविद्या आदि रूप व्यवधान (परदा) से तिरोहित (आच्छादित) है। (तिरोहित होता हुआ भी वह समान धर्मवत्त्व, परमेश्वर का ध्यान करने वाले संयमादि यत्न करने वाले विनाशित ध्वान्त (मोह-पाप) वाले संसिद्ध (शुद्ध अणिमादि युक्त) किसी प्राणी की ईश्वर की कृपा से वह तिरोहित ज्ञानैश्वर्यशक्ति आविर्भूत (प्रकट) होती है, जैसे कि तिमिर (नेत्र-रोग) से तिरस्कृत (आच्छादित) दृष्टिशक्ति ओषधि के वल से प्रकट होती है। स्वभाव से ही सव प्राणियों को ज्ञानैश्वर्य-शक्ति नहीं प्रकट हो सकती है। क्योंकि उस ईश्वररूप हेतु से ही इस जीव के वन्ध-मोक्ष होते हैं। ईश्वर के स्वरूप के अपरिज्ञान (अविद्या) से वन्ध होता है। ईश्वर स्वरूप के परिज्ञान (अनुभव) से मोक्ष होता है और इसी प्रकार श्रुति कहती है कि (दिव्यात्मा को जान कर स्थिर

ज्ञानी से सब बन्धना की निवृत्ति होती है, क्षीण हुए क्लेशों द्वारा जन्म-मरण की निवृत्ति होती है। उस देव के ध्यान से प्रारब्ध भोग के अन्त मे इस देह के भेदन (नाश) होने पर वह ध्याता मार्ग दो से भिन्न तृतीय विश्वैश्वर्य (सम्पूर्ण ऐश्वर्य) स्वरूप परमात्मा का अनुभव करके अविद्यामय प्रपञ्च से रहित केवल आप्तकाम पूर्णानन्दस्वरूप हो जाता है। इस सूत्र का यह भी स्थूलार्थ हो सकता है कि (तदेव शुक्र तद्ब्रह्म) इस श्रुति में कथित जीव का निज स्वरूप पर (अनात्म वस्तु) के ध्यान (चिन्तन) से जाग्रत् म तथा स्वप्न म तिरोहित रहता है, तथा ज्ञानैश्वर्यादि सामर्थ्य तिरोहित रहता है। इसी से इसको निजस्वरूप मे भी और स्वप्न मे भी मिथ्याहि बन्ध और मोक्ष भी भासता है, ऐसे अन्य भी मायामय प्रतिभास होता है इत्यादि ॥ ५ ॥

देहयोगाद्वा सोऽपि ॥ ६ ॥

कस्मात्पुनर्जीवः परमात्मांश एव संस्तिरस्कृतज्ञानैश्वर्यो भवति, युक्तं तु ज्ञानैश्वर्ययोरतिरस्कृतत्वं विस्फुलिङ्गस्येव दहनप्रकाशनयोरिति। उच्यते सत्यमेवैतत्, सोऽपि तु जीवस्य ज्ञानैश्वर्यतिरोभावो देहयोगाद्देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादियोगाद्भवति। अस्ति चात्रोपमा यथाग्नेर्दहनप्रकाशनसम्पन्नस्याप्यरणिगतस्य दहनप्रकाशने तिरोहिते भवतो यथा वा भस्मच्छन्नस्य, एवमविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपकृतदेहाद्युपाधियोगात्तदविवेकभ्रमकृतो जीवस्य ज्ञानैश्वर्यतिरोभावः। वाशब्दो जीवेश्वरयोरन्यत्वाशङ्काव्यावृत्त्यर्थः। नन्वन्य एव जीव ईश्वरादस्तु तिरस्कृतज्ञानैश्वर्यत्वात्किं देहयोगकल्पनया। नेत्युच्यते, नह्यन्यत्वं जीवस्येश्वरादुपपद्यते 'सेयं देवतैक्षत' (छा० ६।३।२) इत्युपक्रम्य 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य' (छा० ६।३।२) इत्यात्मशब्देन जीवस्य परामर्शात्। 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।७) इति च जीवायोपदिशतीश्वरात्मत्वम्, अतोऽनन्य एवेश्वरो जीवः सन् देहयोगात्तिरोहितज्ञानैश्वर्यो भवति, अतश्च न साङ्कल्पिकी जीवस्य स्वप्ने रथादिसृष्टिर्घटते। यदि च साङ्कल्पिकी स्वप्ने रथादिसृष्टिः स्यान्नैवानिष्टं कश्चित्स्वप्नं पश्येत्। नहि कश्चिदनिष्टं सङ्कल्पयते। यत्पुनरुक्तं—जागरितदेशश्रुतिः स्वप्नस्य सत्यत्वं स्थापयतीति—इति, न तत्साम्यवचनं सत्यत्वाभिप्रायं स्वयंज्योतिष्ट्वविरोधात्। श्रुत्यैव च स्वप्ने रथाद्यभावस्य दर्शितत्वात्, जागरितप्रभववासनानिर्मितत्वात्तु स्वप्नस्य तत्तुल्यनिर्भासत्वाभिप्रायं तत्। तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामात्रत्वम् ॥ ६ ॥

फिर शंका होती है कि परमात्मा का अंश ही होता हुआ जीव तिरस्कृत ज्ञान और ऐश्वर्य वाला किस हेतु से होता है, इसके ज्ञान और ऐश्वर्य को तो तिरस्कार रहित होना उचित है, जैसे विस्फुलिङ्ग के दहन और प्रकाशन अतिरस्कृत रहते हैं,

ऐसे जीव को ज्ञान और ऐश्वर्य होना चाहिये। उत्तर कहा जाता है कि अग्नि के दहन-प्रकाशन के समान सत्यतिरस्कार के अयोग्य यह ज्ञान और ऐश्वर्य है यह कथन सत्य है, तो भी जीव के ज्ञान और ऐश्वर्य का वह प्रसिद्ध तिरोभाव भी देह के योग से होता है। अर्थात् सूत्रगत देह शब्द के उपलक्षण होने से देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषय, वेदना, आदि के योग से ज्ञान और ऐश्वर्य तिरस्कृत होते हैं। इस विद्यमान के तिरस्कार में उपमा (दृष्टान्त) है कि जैसे दहन-प्रकाशन से सम्पन्न (युक्त) भी काष्ठगत अग्नि के दहन-प्रकाशन व्यापार तिरोहित होते हैं, अथवा जैसे भस्म से आच्छादित के प्रकाशनादि तिरोहित होते हैं। इसी प्रकार अविद्या से प्रत्युपस्थापित (साधित) नाम और रूप से कृत देहादि रूप उपाधि के योग से उसके अविवेक और भ्रमकृत जीव के ज्ञानैश्वर्य का तिरोभाव है। सूत्रगत वा शब्द जीव और ईश्वर के भेद की आशंका की निवृत्ति के लिऐ है। शंका होती है कि तिरस्कृत ज्ञानैश्वर्य वाला होने से ईश्वर से अन्य ही जीव हो सकता है। देहादियोग की कल्पना का क्या फल है। उत्तर है कि ईश्वर से अन्य जीव नहीं हो सकता है, जिससे जीव का ईश्वर से अन्यत्व उपपन्न नहीं होता है (सो यह देवता ने विचार किया) ऐसा आरम्भ करके (इस जीवात्मा रूप से प्रवेश करके) इस प्रकार आत्म शब्द से जीव के परामर्श से ईश्वरस्वरूप जीव है। और (वह ब्रह्म सत्य है वह आत्मा है हे श्वेतकेतो ! तुम वही हो) इस प्रकार जीव के प्रति ईश्वरात्मता का उपदेश श्रुति करती है, इससे ईश्वर से अनन्य होता हुआ भी जीव देह के योग से तिरोहित ज्ञानैश्वर्य वाला होता है, अतः स्वप्न में जीव के संकल्प से जन्य रथादि की सृष्टि नहीं संघटित होती है। यदि जीव के संकल्प से जन्य स्वप्न में रथादि की सृष्टि हो, तो स्वप्न में कोई अनिष्ट नहीं देखे, जिससे कोई अनिष्ट का संकल्प नहीं करता है। जो यह कहा था कि जागरित देशविषयक श्रुति स्वप्न के सत्यत्व का स्थापन करती है, वहाँ कहा जाता है कि स्वयं ज्योतिःस्वरूपत्व के साथ विरोध से वह जाग्रत् के साथ स्वप्न की तुल्यता का वचन स्वप्न की सत्यता के अभिप्राय से नहीं है। श्रुति से ही स्वप्न में रथादि के अभाव के दर्शितत्व से उक्त अभिप्राय का अभाव सिद्ध होता है। जागरित अवस्था में उत्पन्न वासना से निर्मित होने से स्वप्न को जागरिततुल्य निर्भासत्व के अभिप्राय से वह वचन है, जिससे स्वप्न को मायामयत्व उपपन्न हुआ। स्थूलार्थ हो सकता है कि अथवा जो वाह्यविरागादिमात्र से अनात्मा का ध्यान वाह्यवस्तु का चिन्तन नहीं करता है, सो भी अविवेक से देह के साथ तादात्म्य का अभिमान करता है, इससे भी वन्ध-मोक्ष भावते हैं इत्यादि ॥ ६ ॥

तद्भावाधिकरण ॥ २ ॥

नाडीपुरीतद्ब्रह्मणि विकल्प्यन्ते सुषुप्तये। समुच्चितानि वैकार्थ्याद्विकल्प्यन्ते यवादिवत् ॥१॥
समुच्चितानि नाडीभिरुपसृत्य पुरीतति। हृत्स्थे ब्रह्मणि यात्यैक्यं विकल्पे त्वदृष्टोपता ॥ २ ॥

सुषुप्ति का हेतु रूप से उस नाडी आदि के श्रवण से उन नाडियों में, और आत्मा में समुच्चितरूप वर्तमान में पूर्वोक्त स्वप्न का अभावरूप सुषुप्ति होती है॥ संशय है कि श्रुति में सुषुप्ति के लिए सुने गये स्थानरूप नाडी, पुरीतत् और ब्रह्म विकल्पित होते हैं, अर्थात् कभी नाडी, कभी पुरीतत्, कभी ब्रह्म सुषुप्ति का स्थान होता है, अथवा तीनों मिल कर सम काल में सुषुप्ति का स्थान होते हैं। पूर्वपक्ष है कि जैसे, व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्वा यजेत, व्रीहि से याग करे, अथवा यव से याग करे, इन दोनों वचनों से एक याग के लिये व्रीहि और यव का विधान होता है, वहाँ एकार्थता एकप्रयोजनता से विकल्प होता है, कभी व्रीहि के पुरोडाश द्वारा यज्ञ होता है, तो कभी यव के पुरोडाश द्वारा होता है। इसी प्रकार यहाँ भी एक सुषुप्ति के लिए श्रुति में नाडी' पुरीतत् और ब्रह्म स्थानरूप से कहे गये हैं, इससे जीव कभी नाडी में, कभी पुरीतत् में, कभी ब्रह्म में सोवेगा॥ सिद्धान्त है कि तीनों स्थान विकल्पित नहीं हैं, किन्तु समुच्चित (मिलित) हैं, तीनों सम काल में सुषुप्ति के हेतु हैं, जिससे नाडियों द्वारा गमन करके पुरीतत् के मध्य में हृदयस्थ ब्रह्म में जीव सुषुप्ति काल में एकता को प्राप्त करता है, इससे तीनों समुच्चित स्थान हो जाते हैं। विकल्प मानने पर अष्टदोषता की प्राप्ति होगी। भाव है कि विकल्प मानने पर तीनों प्रकार के वाक्यों को स्वतन्त्रतुल्य प्रमाणरूप मानना होगा। वहाँ एकवचन के अनुसार स्थान को मानने के काल में अन्य वचन के अनुसार प्राप्त स्थान का निषेध नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वह भी शास्त्र से प्राप्त है, किन्तु उस समय, दूसरे वचन में प्राप्त प्रमाणता को त्यागना होगा, और अप्राप्त अप्रमाणता का स्वीकार करके उसके अनुसार स्थान का स्वीकार नहीं करना होगा। इसी प्रकार उस दूसरे वचन के अनुसार शयन होने पर उस वाक्य की त्यक्तप्रमाणता का फिर स्वीकार करना होगा और गृहीत अप्रमाणता को त्यागना होगा, द्वितीय वाक्य के समान ये ही चारों दोष प्रथम वाक्य में भी प्राप्त होने से अष्ट दोषता होती है सो अन्यत्र प्रसिद्ध है, इससे समुच्चय युक्त है॥ १—२॥

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥ ७ ॥

स्वप्नावस्था परीक्षिता सुषुप्तावस्थेदानीं परीक्ष्यते। तत्रैताः सुषुप्तिविषयाः श्रुतयो भवन्ति। क्वचिच्छ्रूयते—'तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति' (छा० ८।६।३) इति। अन्यत्र तु नाडीरेवानुक्रम्य श्रूयते—'ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' (बृ० २।१।१९) इति। तथान्यत्र नाडीरेवानुक्रम्य 'तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' (कौषी० ४।१९) इति। तथान्यत्र 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति (छा० ६।८।१) इति। तथा 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' (बृ० ४।३।२१) इति च। तत्र संशयः—किमेतानि नाड्यादीनि परस्परनिरपेक्षाणि भिन्नानि सुषुप्ति-

स्थानान्याहोस्वित्परस्परापेक्ष्यैकं सुषुप्तिस्थानमिति। किं तावत्प्राप्तं भिन्नानीति। कुतः ? एकार्थत्वात्। नह्येकार्थानां क्वचित्परस्परापेक्षत्वं दृश्यते व्रीहियवादीनाम्। नाड्यादीनां चैकार्थता सुषुप्तौ दृश्यते—'नाडीषु सृप्तो भवति' (छां० ८।६।३) 'पुरीतति शेते' (बृ० २।१।१९) इति च तत्र तत्र सप्तमीनिर्देशस्य तुल्यत्वात्। ननु नैवं सति सप्तमीनिर्देशो दृश्यते–'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति' (छां० ६।८।१) इति। नैष दोषः, तत्रापि सप्तम्यर्थस्य गम्यमानत्वात्। वाक्यशेषे हि 'तत्रायतनैषी जीवः सदुपसर्पती'त्याह। 'अन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवाश्रयते' (छां० ६।८।२) इति प्राणशब्देन च तत्र प्रकृतस्य सत उपादानात्। आयतनं च सप्तम्यर्थः। सप्तमीनिर्देशोऽपि तत्र वाक्यशेषे दृश्यते—'सति संपद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे' (छां० ६।९।२) इति। सर्वत्र च विशेषविज्ञानोपरमलक्षणं सुषुप्तं न विशिष्यते। तस्मादेकार्थत्वान्नाड्यादीनां विकल्पेन कदाचित्किंचित्स्थानं स्वापायोपसर्पतीति।

स्वप्नावस्था परीक्षित हो चुकी, अब इस समय सुषुप्त अवस्था की परीक्षा की जाती है। यहाँ सुषुप्तिविषयक ये श्रुतियाँ हैं। कहीं सुना जाता है कि (उस काल में जहाँ यह स्वप्नमय जीव सुप्त होता है, समस्त (लीनवृत्ति वाला) होता है, अतएव वाह्य दोष से रहित संप्रसन्न होता है, स्वप्न नहीं देखता है, उस समय यह जीव सूर्य के तेज से पूर्ण इन नाड़ियों में प्रविष्ट-प्राप्त होता है। अन्यत्र नाड़ी का ही अनुक्रम (आरम्भ) करके सुना जाता है कि (उन नाड़ियों के द्वारा गमन करके पुरीतत् में सोता है) फिर नाड़ियों का ही अनुक्रम करके सुना जाता है कि (जिस समय सोया हुआ कोई स्वप्न नहीं देखता है उस समय उन नाड़ियों में रहता है, फिर इस प्राण में ही एक हो जाता है) इसी प्रकार अन्यत्र है कि (जो यह हृदय के अन्तर आकाश है उस में सोता है। इसी प्रकार अन्यत्र है कि (हे सोम्य ! उस समय सत् के साथ मिल जाता है—अपने में लीन हो जाता है) इस प्रकार है कि (प्राज्ञ आत्मा के साथ मिल कर न वाहर की किसी वस्तु को जानता है न अन्तर की वस्तु को जानता है) इत्यादि। यहाँ संशय होता है कि क्या ये नाड़ी आदि परस्पर निरपेक्ष स्वतन्त्र भिन्न रूप से सुषुप्ति के स्थान हैं। अथवा परस्पर की अपेक्षा द्वारा सब मिल कर एक स्थान है। जिज्ञासा होती है कि प्रथम प्राप्त क्या होता है। पूर्व पक्ष है कि भिन्न स्वतन्त्र स्थान है। क्योंकि इन्हें एकार्थत्व (एक प्रयोजनवत्त्व) है। एकार्थवाले व्रीहि-यव आदि को कहीं परस्पर सापेक्षत्व नहीं देखा जाता है। (नाड़ियों में प्रविष्ट होता है। पुरीतत् में सोता है) इस प्रकार तत्तत् स्थानों में सप्तमी निर्देश की तुल्यता से निरपेक्षता है। शंका होती है कि इस प्रकार सत् में तो सप्तमी निर्देश नहीं देखा जाता है। वहाँ (सता सोम्यः तदा सम्पन्नो भवति) ऐसा निर्देश है। उत्तर है कि वहाँ भी सप्तमी के अर्थ के गम्यमान (प्राप्त) होने से यह दोष नहीं है। जिससे वाक्य शेष में वहाँ यह कहते हैं कि आयतन को खोजनेवाला जीव सत् में जाता

है। (अन्यत्र आश्रय नहीं पाकर प्राण ही का आश्रयण करता है) प्राण शब्द से वहाँ प्रकृत सत् के ग्रहण से सप्तम्यर्थ का लाभ होता है। आयतन सप्तमी का अर्थ है। वहाँ वाक्यशेष में सप्तमी का निर्देश भी देखा जाता है कि (सत् में प्राप्त होकर नहीं जानते कि हम सत् में प्राप्त हैं) नाडी आदि सभी स्थानों में विशेष विज्ञान का उपरम (अभाव) स्वरूप सुषुप्त भिन्न नहीं होता है, जिससे नाडी आदि के एकार्थक होने से विकल्प द्वारा कभी किसी स्थान में जीव सुषुप्ति के लिए जाता है।

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—तदभावो नाडीष्वात्मनि चेति। तदभाव इति तस्य प्रकृतस्य स्वप्नदर्शनस्याभावः सुषुप्तमित्यर्थः। नाडीष्वात्मनि चेति समुच्चयेनैतानि नाड्यादीनि स्वापायोपैति न विकल्पेनेत्यर्थः। कुतः? तत्कृतेः। तथाहि—सर्वेषामेव नाड्यादीनां तत्र तत्र सुषुप्तिस्थानत्वं श्रूयते तच्च समुच्चये संगृहीतं भवति, विकल्पे ह्येषां पक्षे बाधः स्यात्। नन्वेकार्थत्वाद्विकल्पो नाड्यादीनां व्रीहियवादिवदित्युक्तम्। नेत्युच्यते। नह्येकविभक्तिनिर्देशमात्रेणैकार्थत्वं विकल्पश्चापतति। नानार्थत्वसमुच्चययोरप्येकविभक्तिनिर्देशदर्शनात्प्रासादे शेते पर्यङ्के शेते इत्येवमादिषु, तथेहापि नाडीषु पुरीतति ब्रह्मणि च स्वपितीत्येतदुपपद्यते समुच्चयः। तथा च श्रुतिः—'तासु तदा भवति यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' (कौषी० ४।१९) इति समुच्चयं नाडीनां प्राणस्य च सुषुप्तौ श्रावयत्येकवाक्योपादानात्। प्राणस्य च ब्रह्मत्वं समधिगतम्—'प्राणस्तथानुगमात्' (ब्र० सू० १।१।२८) इत्यत्र। यत्रापि निरपेक्षा इव नाडीः सुप्तिस्थानत्वेन श्रावयति—'आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति' (छा० ८।६।३) इति, तत्रापि प्रदेशान्तरप्रतिषेधान्नाडीद्वारेणैव ब्रह्मण्येवावतिष्ठत इति प्रतीयते। न चैवमपि नाडीषु सप्तमी विरुध्यते, नाडीद्वारापि ब्रह्मोपसर्पन्सृप्त एव नाडीषु भवति। यो हि गङ्गया सागरं गच्छति गत एव स गङ्गायां भवति। अपि चात्र रश्मिनाडीद्वारात्मकस्य ब्रह्मलोकमार्गस्य विवक्षितत्वान्नाडीस्तुत्यर्थं सृप्तिसंकीर्तनम्। 'नाडीषु सृप्तो भवति' (छा० ८।६।३ इत्युक्त्वा 'अतस्तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति' (छा० ८।६।३)। इति ब्रुवन्नाडीः प्रशंसति। ब्रवीति च पाप्मस्पर्शाभावे हेतुम्—'तेजसा हि तदा संपन्नो भवति' (छा० ८।६।३) इति। तेजसा नाडीगतेन पित्ताख्येनाभिव्याप्तकरणो न बाह्यान्विषयानीक्षत इत्यर्थः।

इस प्रकार प्राप्त होने पर प्रतिपादन किया जाता है कि उस स्वप्न का अभाव नाडी, आत्मा और पुरीतत् में होता है, सूत्रगत च से पुरीतत् का ग्रहण होता है। तदभाव इस पद से उस प्रकृत स्वप्नदर्शन का अभावरूप सुषुप्ति अर्थ समझा जाता है। नाडियों में और आत्मा में जाता है इससे इन नाडी आदि में समुच्चयद्वारा जीव सोने के लिए जाता है, विकल्प से नहीं जाता है यह सूत्र का अर्थ है। ऐसा किस

प्रमाण से समझा जाता है। इस प्रश्न का उत्तर है कि उस समुच्चय का बोधक श्रुति से ऐसा समझा जाता है। जिससे इसी प्रकार नाड़ी आदि सभी को तत्तत् स्थानों में सुपुप्ति का स्थानत्व सुना जाता है, समुच्चय होने पर वह संगृहीत होता है। विकल्प में इनका पक्ष में बाध होगा। यदि कहो कि एकार्थकता से व्रीहि-यव आदि के समान इन नाड़ी आदि का विकल्प कहा जा चुका है, वहाँ कहा जाता है कि यहाँ विकल्प नहीं है, जिससे एक विभक्ति के निर्देशमात्र से एकार्थत्व और विकल्प नहीं प्राप्त होता है। कोठे[1] पर सोता है। पलंग पर सोता है। इत्यादि वाक्यों में नानार्थत्व और समुच्चय के रहते भी एक विभक्ति का निर्देश देखने से इसी प्रकार यहाँ भी नाड़ियों में पुरीतत् और ब्रह्म में सोता है। ऐसा समुच्चय उपपन्न होता है। इसी प्रकार श्रुति कहती है कि (जिस समय सोया हुआ कोई स्वप्न नहीं देखता है; उस समय उन नाड़ियों में रहता है और इस प्राण में एकरूपता को प्राप्त करता है) इस एक वाक्य में नाड़ी और प्राण के ग्रहण से नाड़ी और प्राण का सुपुप्ति में श्रुति समुच्चय दर्शाती है। 'प्राणस्तथाऽनुगमात्' इस सूत्र मे प्राण का ब्रह्मत्वसमधिगत हुआ है (समझा गया है) (इन नाड़ियों में उस समय प्रविष्ट होता है) इत्यादिस्थानों में जहाँ भी नाड़ियों को निरपेक्ष के समान सुपुप्ति का स्थान रूप से श्रुति सुनाती है। वहाँ भी प्रदेशान्तर (अन्य स्थान) में प्रसिद्ध ब्रह्म का अप्रतिषेध से नाड़ी द्वारा ही ब्रह्म ही में जीव अवस्थित होता है ऐसी प्रतीति होती है। इस प्रकार भी नाड़ी में सप्तमी विभक्ति विरुद्ध नहीं होती है, जिससे नाड़ियों द्वारा ब्रह्म में भी जाता हुआ नाड़ियों में जाता ही है। जिससे जो गङ्गा द्वारा समुद्र में जाता है, वह गङ्गा में प्रथम जाता ही है। दूसरी बात है कि इस वाक्य में रश्मियुक्त नाड़ीरूप द्वारात्मक ब्रह्मलोक के मार्ग के विवक्षित होने से नाड़ी की स्तुति के लिए उसमें गति का संकीर्तन है। (नाड़ियों में प्रविष्ट होता है) ऐसा कह कर (उस सत्-सम्पन्न को कोई पाप स्पर्श नहीं करता है) ऐसा कहता हुआ नाड़ी की प्रशंसा करता है। पाप के स्पर्शाभाव में हेतु कहता है कि (उस समय तेज से सम्पन्न होता है) अर्थ है कि नाड़ीगत पित्तनामक तेज से अभिव्याप्त करण (इन्द्रिय) वाला होने से वाहर के विषयों को नहीं देखता है।

अथवा तेजसेति ब्रह्मण एवायं निर्देशः श्रुत्यन्तरे—ब्रह्मैव तेज एव (बृ० ४।४।७) इति तेजःशब्दस्य ब्रह्मणि प्रयुक्तत्वात्। ब्रह्मणि हि तदा संपन्नो भवति नाडीद्वारेणातस्तं न कश्चन पाप्मा स्पृशतीत्यर्थः। ब्रह्मसंपत्तिश्च पाप्म-स्पर्शाभावे हेतुः समधिगतः—'सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष

1. कोठा (प्रसाद) पलंग का आधार होता है, और पलंग शयनकर्ता का क्रिया का आधार होता है। इस प्रकार फल भेद रहते भी सप्तमी होती है। व्यवधान और अव्यवधान से शयन-साधनत्व का समुच्चय होता है। इसी प्रकार नाड़ी और पुरीतत् में जीव की गति द्वारा ब्रह्म में प्राप्ति होती है इस प्रकार समुच्चय है।

ब्रह्मलोक' (छा० ८।४।२) इत्यादिश्रुतिभ्य । एवञ्च सति प्रदेशान्तरप्रसिद्धेन ब्रह्मणा सुषुप्तिस्थानेनानुगतो नाडीना समुच्चय समधिगतो भवति । तथा पुरीततोऽपि ब्रह्मप्रक्रियाया सकीर्तनात्तदनुगुणमेव सुप्तिस्थानत्व विज्ञायते—'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते' (बृ० २।१।१७) इति हृदयाकाशे सुप्तिस्थाने प्रकृते इदमुच्यते 'पुरीतति शेते' (बृ० २।१।१९) इति । पुरीतदिति हृदयपरिवेष्टनमुच्यते । तदन्तर्वर्तिन्यपि हृदयाकाशे शयान शक्यते पुरीतति शेत इति वक्तुम् । प्राकारपरिक्षिप्तेऽपि हि पुरे वर्तमान प्राकारे वर्तते इत्युच्यते । हृदयाकाशस्य च ब्रह्मत्व समधिगतम्—'दहर उत्तरेभ्य' (ब्र० सू० १।३।१४) इत्यत्र । तथा नाडीपुरीतत्समुच्चयोऽपि—'ताभि प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते' (बृ० २।१।१९) इत्येकवाक्योपादानादवगम्यते । सत्प्राज्ञयोश्च प्रसिद्धमेव ब्रह्मत्वमेतासु श्रुतिषु 'त्रीण्येव सुषुप्तिस्थानानि सकीर्तितानि नाड्य पुरीतद्ब्रह्म चेति' तत्रापि च द्वारमात्र नाड्य पुरीतच्च ब्रह्मैव त्वेक सुषुप्तिस्थानम् ।

अथवा दूसरी श्रुति मे (ब्रह्म ही है, तेज ही है) इस प्रकार ब्रह्म अर्थ मे तेज शब्द के प्रयुक्त होने से तेजसा इस शब्द से यह ब्रह्म ही का निर्देश है । तब अर्थ होगा कि उस सुषुप्तिकाल मे नाडियो द्वारा ब्रह्म ही मे जीव सम्पन्न प्राप्त हो जाता है अत उसको कोई पाप स्पर्श नही करता है । ब्रह्म की प्राप्ति पाप के स्पर्शाभाव मे हेतु है, यह (सब पाप इससे निवृत्त हो जाते हैं, जिससे यह ब्रह्मस्वरूप लोक अपहतपाप्मा-सब पापरहित है) इत्यादि श्रुति-वचनो से समधिगत (अनुभूत) होता है । ऐसा होने पर प्रदेशान्तर मे प्रसिद्ध सुषुप्ति का स्थानरूप ब्रह्म के साथ अनुगत (प्राप्त) नाडियों का समुच्चय समधिगत (सम्यक् अनुभूत) होता है (आश्रित होता है) । इसी प्रकार पुरीतत् का भी ब्रह्म के प्रकरण मे सकीर्तन (कथन) से उस ब्रह्म के अनुकूल ही पुरीतत् का सुषुप्तिस्थानत्व समझा जाता है कि (जो यह हृदय मे आकाश है उसमे सोता है) इस प्रकार सुषुप्ति का स्थानरूप हृदयाकाश के प्रकृत रहते, यह कहा जाता है कि (पुरीतत् मे सोता है) यहाँ पुरीतत् इस शब्द से हृदय का परिवेष्टन कहा जाता है । उस वेष्टन के अन्तर्वर्ती भी हृदयाकाश मे सोया हुआ पुरीतत् मे इस प्रकार कहा जा सकता है, जिसमे प्राकार (कोट) से परिक्षिप्त (आवृत-वेष्टित) भी पुर शहर, मे वर्तमान पुरुष प्राकार मे रहता है ऐसा कहा जाता है । (दहर उत्तरेभ्य) इस सूत्र मे दहराकाश का ब्रह्मत्व समधिगत हुआ है । इसी प्रकार नाडी और पुरीतत् समुच्चय भी (उन नाडियो द्वारा जा कर पुरीतत् मे सोता है) यहाँ एक वाक्य मे ग्रहण से समझा जाता है । सत् और प्राज्ञ का ब्रह्मत्व प्रसिद्ध ही है । इस प्रकार इन उक्त श्रुतियों में तीन ही सुषुप्ति के स्थान सकीर्तित हैं, नाडी, पुरीतत् और ब्रह्म ये तीन स्थान हैं । उन मे भी नाडी और पुरीतत् द्वारमात्र हैं, एक ब्रह्म ही सुषुप्ति का स्थान है ।

अपिच नाड्यः पुरीतद्वा जीवस्योपाध्याधार एव भवति तत्रास्य कारणानि वर्तन्त इति। नह्युपाधिसम्बन्धमन्तरेण स्वत एव जीवस्याधारः कश्चित्सम्भवति, ब्रह्माव्यतिरेकेण स्वमहिमप्रतिष्ठितत्वात्। ब्रह्माधारत्वमप्यस्य सुषुप्ते नैवाधाराधेयभेदाभिप्रायेणोच्यते ? कथं तर्हि तादात्म्याभिप्रायेण। यत आह— 'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति। स्वशब्देनात्माभिलप्यते, स्वरूपमापन्नः सुषुप्तो भवतीत्यर्थः। अपि च न कदाचिज्जीवस्य ब्रह्मणा संपत्तिर्नास्ति स्वरूपस्यानपायित्वात्, स्वप्नजागरितयोस्तूपाधिसंपर्कवशात्पररूपापत्तिमिवापेक्ष्य तदुपशमात्सुषुप्ते स्वरूपापत्तिर्विवक्ष्यते। अतश्च सुषुप्तावस्थायां कदाचित्सता संपद्यते कदाचिन्न सम्पद्यत इत्ययुक्तम्। अपिच स्थानविकल्पाभ्युपगमेऽपि विशेषविज्ञानोपशमलक्षणं तावत्सुषुप्तं न क्वचिद्विशिष्यते, तत्र सति सम्पन्नस्तावत्तदेकत्वान्न विजानातीति युक्तम्। 'तत्केन कं विजानीयात्। (बृ० ४।४।१४) इति श्रुतेः। नाडीषु पुरीतति च शयानस्य न किंचिद्विज्ञाने कारणं शक्यं विज्ञातुं, भेदविषयत्वात्, 'यत्र वाऽन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्' (बृ० ४।३।३१) इति श्रुतेः।

यह बात है कि नाड़ी और पुरीतत् जीव के उपाधि सूक्ष्म शरीर के ही आधार होते हैं, उनमें इस जीव के करण रहते हैं। उपाधि सम्बन्ध के बिना जीव का स्वतः कोई आधार ही नहीं हो सकता है, क्योंकि जीव को ब्रह्म से अभेद होने के कारण इसको स्वमहिमा में प्रतिष्ठितत्व है। इस जीव को सुषुप्ति में ब्रह्माधारत्व (ब्रह्माश्रितत्व) भी आधाराधेय के भेद के अभिप्राय से नहीं कहा जाता है, तो कैसे कहा जाता है कि तादात्म्य के अभिप्राय से (अभेद की दृष्टि से) कहा जाता है। जिससे श्रुति कहती है कि (हे सोम्य ! उस समय सत् से एक हो जाता है अपने में लीन हो जाता है) स्वशब्द से आत्मा कहा जाता है, सुषुप्त (सोया हुआ जीव) अपने स्वरूप में प्राप्त होता है यह श्रुति का अर्थ है। दूसरी बात है कि जीव को ब्रह्म के साथ कभी सम्पत्ति (अभेद-तादात्म्य) नहीं है, यह बात नहीं है, क्योंकि ब्रह्म इसका स्वरूप है और उस स्वरूप को अनपायित्व (अविनाशित्व) है। किन्तु स्वप्न और जागरित अवस्था में उपाधि (स्थूल-सूक्ष्म शरीर) के सम्बन्ध के बल से पर (भिन्न) औपाधिक स्वरूपापत्ति के समान होता है, उसकी अपेक्षा करके सुषुप्ति में उसके उपशम (निवृत्ति) से स्वरूपापत्ति विवक्षित होता है। इस कारण से भी सुषुप्ति अवस्था में कभी सत् से सम्पन्न होता है, कभी नहीं होता है, यह कथन (विकल्पवाद) अयुक्त है। और भी यह बात है कि सुषुप्ति के स्थान का विकल्प मानने पर भी विशेष विज्ञान का उपरमरूप सुषुप्त तो कहीं भिन्न नहीं होता है, वहाँ सत् में सम्पन्न तो उस सत् के साथ एकत्व से कुछ नहीं जानता है, यह श्रुति का कथन युक्त है (वह किस कारण से किसको जाने) इस श्रुति के अनुसार भेदाभाव से विज्ञानाभाव सिद्ध

होता है। परन्तु (जहाँ अन्य के समान होता है। वहाँ अन्य अन्य को देखता है) इस श्रुति में नाडी पुरीतत् भेद का विषय (स्थान) है और इस भेदविषयत्व से नाडियों में और पुरीतत् में सोये हुए के अविज्ञान (विशेष विज्ञानाभाव) में कोई कारण नहीं समझा जा सकता है।

ननु भेदविषयस्याप्यतिदूरादि कारणमविज्ञाने स्यात्। बाढम् एवं स्याद्यदि जीवः स्वतः परिच्छिन्नोऽभ्युपगम्येत, यथा विष्णुमित्रः प्रवासी स्वगृहं न पश्यतीति,, न तु जीवस्योपाधिव्यतिरेकेण परिच्छेदो विद्यते। उपाधिगत-मेवातिदूरादि कारणमविज्ञान इति यद्युच्येत तथाप्युपाधेरुपशान्तत्वात्सत्येव सम्पन्नो न विजानातीति युक्तम्। नच वयमिह तुल्यवन्नाड्यादिसमुच्चयं प्रतिपादयामः। नहि नाड्यः सुप्तिस्थानं पुरीतच्चेत्यनेन विज्ञानेन किंचित्प्रयोजनमस्ति, नह्येतद्विज्ञानप्रतिबद्धं किंचित्फलं श्रूयते। नाप्येतद्विज्ञानं फलवतः कस्यचिदङ्ग-मुपदिश्यते। ब्रह्म त्वनपायि सुप्तिस्थानमित्येतत्प्रतिपादयामः। तेन तु विज्ञानेन प्रयोजनमस्ति जीवस्य ब्रह्मात्मत्वावधारणं स्वप्नजागरितव्यवहारविमुक्त्यवधारणं च। तस्मादात्मैव तु सुप्तिस्थानम् ॥ ७ ॥

यदि कोई कहे कि (अतिदूरात्सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्। सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च) इस वचन के अनुभव के अनुसार से अतिदूरता, अतिसमीपता आदिरूप कारण भेदयुक्तविषय के अविज्ञान में भी होगा, तो वह कहना सत्य है ऐसा होता यदि जीव स्वतः स्वरूप से परिच्छिन्न (एकदेशी) माना जाता। जैसे विष्णुमित्र प्रवासी होने पर परिच्छिन्नता से अपने घर को नहीं देखता है। परन्तु जीव को उपाधि के बिना उपाधि से भिन्न परिच्छेद भेद नहीं है। यदि उपाधिगत ही अतिदूरत्वादि अविज्ञान में कारण है ऐसा कहो तो भी उपाधि के उपशान्त (निवृत्त) होने ही से सत्सम्पन्न जीव नहीं जानता है ऐसा मानना युक्त है। अन्यथा अतिदूरादि को नहीं जानने पर भी किसी समीपस्थ के ज्ञान की प्राप्ति से सुषुप्ति का व्याघात होगा इत्यादि। हम यहाँ तुल्यतायुक्त नाडी आदि के समुच्चय का (समसमुच्चय का) प्रतिपादन नहीं करते हैं। जिसमें नाडियाँ और पुरीतत् सुषुप्ति के स्थान हैं इस ज्ञान से कोई प्रयोजन नहीं होता है जिससे इस विज्ञान से सम्बन्ध वाला इसमें सिद्ध होने वाला कोई फल नहीं सुना जाता है। यह विज्ञान किसी फलवाले कर्मादि का अङ्गरूप भी नहीं उपदिष्ट होता है, इससे समप्रधानभाव से समुच्चय नहीं है न विकल्प है। ब्रह्म तो अनपायी नित्य सुषुप्ति का स्थान है इससे इस ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। ब्रह्मरूप सुषुप्ति स्थान के इस विज्ञान से तो जीव के ब्रह्मात्मत्व का अवधारण और स्वप्न तथा जागरित के व्यवहारों से विमुक्तत्व का अवधारण प्रयोजन होता है। उससे तो आत्मा ही सुषुप्ति का स्थान है ॥ ७ ॥

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८ ॥

यस्माच्चात्मैव सुप्तिस्थानमत एव च कारणान्नित्यवदेवास्मादात्मनः प्रबोधः स्वापाधिकारे शिष्यते—'कुत एतदागात्' (बृ० २।१।१६) इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनावसरे 'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा' (बृ० २।१।२०) इत्यादिना । 'सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे' (छा० ६।१०।२) इति च । विकल्प्यमानेषु तु सुषुप्तिस्थानेषु कदाचिन्नाडीभ्यः प्रतिबुध्यते कदाचित्पुरीततः कदाचिदात्मन इत्यशासिष्यत् । तस्मादप्यात्मैव सुप्तिस्थानमिति ॥ ८ ॥

जिससे आत्मा ही सुषुप्ति का स्थान मुख्य है, इसी कारण से सदा ही इस आत्मा से ही स्वाप (शयन) प्रकरण में प्रबोध (जागरण) उपदिष्ट होता है कि (कहाँ से यह आया) इस प्रश्न के प्रतिवचन के अवसर मे (जैसे अग्नि से तुच्छ विस्फुलिङ्ग निकलते हैं । इसी प्रकार इस आत्मा से सब प्राण उत्थित होते हैं) इत्यादि वचनों द्वारा आत्मा से प्रबोध का उपदेश होता है । (सत् से आकर सत् को नहीं जानते हैं कि हम सत् से आते हैं) यह भी उपदेश है । यदि विकल्पयुक्त सुषुप्ति के स्थान नाड़ी आदि अनेक होते, तो जीव कभी तो नाड़ियों से प्रतिबुद्ध होता (जागता) है, कभी पुरीतत् से जागता है, कभी आत्मा से जागता है, इस प्रकार से श्रुति उपदेश देती, परन्तु ऐसा उपदेश है नहीं, नित्य तुल्य आत्मा ही से प्रबोध का उपदेश है, उससे भी आत्मा ही सुषुप्ति का स्थान है ॥ ८ ॥

कर्मानुस्मृतिशब्दविध्यधिकरण ॥ ३ ॥

यः कोप्यनियमेनात्र बुध्यते सुप्त एव वा । उदबिन्दुरिवाशक्तेर्नियन्तुं कोपि बुध्यते ॥ १ ॥
कर्माविद्यापरिच्छेदादुदबिन्दुविलक्षणः । स एव बुध्यते शास्त्रात्तदुपाधेः पुनर्भवात् ॥ २ ॥

यद्यपि सुषुप्ति काल में सब जीव ब्रह्म में सम्पन्न होता है, ब्रह्म के साथ एक होता है, ब्रह्म से भिन्न सत्ता वाला वस्तुतः नहीं रहता है, तथापि मोक्षपर्यन्त कार्य कारणरूप से भेदक उपाधि के वर्तमान रहने से जो सोता है वही जागता है, जलाशय में क्षिप्त जलबिन्दु के समान ब्रह्म में दुर्विवेक होकर अन्य के स्थान में अन्य भी नहीं जागता है, इसलिये शेष कर्मानुष्ठान, अनुस्मृति, शब्द (श्रुति) और विद्या कर्म की विधि से समझा जाता है । संशय है कि सुषुप्ति के बाद ब्रह्म मे लीन अनन्त जीव में से जो कोई अनियमपूर्वक इस एक शरीर मे जागता है, अथवा जो जिस शरीर में सोता है, वही उस शरीर में जागता है । पूर्वपक्ष है कि जलाशय में क्षिप्त बिन्दु के समान ब्रह्म में लीन के जागने मे नियम करने में अशक्ति से जो कोई जागता है । सिद्धान्त है कि कर्म अविद्यादि द्वारा परिच्छेद के सुषुप्तिकाल में भी रहने से, जलाशय में क्षिप्त जलबिन्दु से जीव का औपाधिक स्वरूप विलक्षण है । इससे जो सोता है वही जागता है । उसी की उपाधि से उसी को फिर संसार होने से ऐसा होता है ॥ १–२ ॥

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ९ ॥

तस्याः पुनः सत्संपत्तेः प्रतिबुध्यमानः किं य एव सत्संपन्नः स एव प्रतिबुध्यते उत स वाऽन्यो वेति चिन्त्यते। तत्र प्राप्तं तावदनियम इति। कुतः? यदा हि जलराशौ कश्चिज्जलबिन्दुः प्रक्षिप्यते जलराशिरेव स तदा भवति पुनरुद्धरणे च स एव (?) जलबिन्दुर्भवतीति दुःसंपादम्, तद्वत्सुप्तः परेणैकत्वमापन्नः सम्प्रसीदतीति न स एव पुनरुत्थातुमर्हति, तस्मात्स एवेश्वरो वाऽन्यो वा जीवः प्रतिबुध्यत इति।

सुषुप्तिकाल में होने वाली उस सत्सम्पत्ति सद्भाव की प्राप्ति से फिर जागने वाला क्या वही जागता है, कि जो सत् में सम्पन्न (लीन प्राप्त) हुआ रहता है, अथवा चाहे वह जागता है और अन्य भी जागता है। यह विचार किया जाता है। वहाँ प्रथम अनियम है यह प्राप्त होता है क्योंकि जब जलराशि नदी-समुद्रादि में कोई एक जलबिन्दु डाला जाता है तो वह जलबिन्दु उस जलराशिरूप ही हो जाता है, फिर कभी उस जलराशि में से जल निकालने पर वह प्रथम का डाला हुआ निश्चित जलबिन्दु ही निकलता है यह दुःसपाद (दुर्ज्ञेय असाध्य) है। इसी प्रकार सोया हुआ जीव परमात्मा के साथ एकता को प्राप्त करके सपन्न होता है। इससे फिर वही उत्थान प्रतिबोध के योग्य नहीं है। इससे नियमरहित कभी वही जागता है, कभी अन्य जीव जागता है। कभी सृष्टि के आदिकाल में जीवभाव से अनुप्रवेश के समान ईश्वर ही जागता है।

एवं प्राप्त इदमाह स एव तु जीवः सुप्तः स्वास्थ्यं गतः पुनरुत्तिष्ठति नान्यः। कस्मात्? कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः। विभज्य हेतुं दर्शयिष्यामि। कर्मशेषानुष्ठानदर्शनात्तावत्स एवोत्थातुमर्हति नान्यः। तथाहि—पूर्वेद्युरनुष्ठितस्य कर्मणोऽपरेद्युः शेषमनुतिष्ठन्दृश्यते, न चान्येन सामिकृतस्य कर्मणोऽन्यः शेषक्रियायां प्रवर्तितुमर्हति, अतिप्रसङ्गात्। तस्मादेक एव पूर्वेद्युरपरेद्युश्चैकस्य कर्मणः कर्तेति गम्यते। इतश्च स एवोत्तिष्ठति यत्कारणमतीतेऽहन्यहमदोऽद्राक्षमिति पूर्वानुभूतस्य पश्चात्स्मरणमन्यस्योत्थाने नोपपद्यते, नह्यन्यदृष्टमन्योऽनुस्मर्तुमर्हति। सोऽहमस्मीति चात्मानुस्मरणमात्मान्तरोत्थाने नावकल्पते। शब्देभ्यश्च तस्यैवोत्थानमवगम्यते। तथाहि—'पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव' (बृ० ४।३।१६) 'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' (छा० ८।३।२) 'त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तत्तदा भवन्ति' (छा० ६।६।३) इत्येवमादयः शब्दाः स्वापप्रबोधाधिकारे पठिता नात्मान्तरोत्थाने सामञ्जस्यमीयुः। कर्मविद्याविधिभ्यश्चैवमेवावगम्यते। अन्यथा हि कर्मविद्याविधयोऽनर्थकाः स्युः।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि जो सोता है वही सोया हुआ जीव स्वास्थ्य (विश्राम) को प्राप्त करके प्रसन्न होकर भी फिर जागता है। क्योंकि कर्म, अनुस्मृति, शब्द, और विधि से ऐसा ही निश्चय होता है। आगे हेतु को विभाग करके दर्शाता हूँ कि कर्मशेष (अवशिष्ट कर्म) के अनुष्ठान (आचरण) के देखने से वही उत्थान के योग्य है अन्य नहीं। जिससे पहले दिन में अनुष्ठित (कृत) कर्म के शेष (बाकी) अंश को दूसरे दिन करता हुआ देखा जाता है। और अन्य से सामिकृत (अर्धकृत) यागादि कर्म की शेष (बाकी) क्रिया में, उससे अन्य कोई प्रवृत्ति के योग्य नहीं है। अन्यथा अतिप्रसंग होगा, एक-एक शास्त्रविहित कर्मों के अनेकानेक कर्त्ता प्राप्त होंगे। इससे पूर्व के दिन में और उत्तर के अपर दिनों में एक कर्म का एक ही कर्ता प्रतीत होता है। और इस हेतु से भी वही सोने वाला उठता-जागता है कि जिस कारण से विगत दिन में मैंने इसको देखा था, इस प्रकार प्रथम के अनुभूत का पश्चात् स्मरण अन्य के उत्थान में नहीं उपपन्न हो सकता है, जिससे अन्य की दृष्ट वस्तु की अनुस्मृति अन्य नहीं कर सकता है। और मैं वही हूँ, इस प्रकार से अपनी आत्मा का अनुस्मरण भी आत्मान्तर के उत्थान में नहीं सिद्ध हो सकता है। श्रुतिरूप शब्दों से भी उस सोने वाला ही का उत्थान अवगत (अनुभूत) होता है। इसी प्रकार की श्रुति है कि (फिर स्वप्नसुषुप्ति के बाद मे जागने ही के लिए पूर्वकालिक गति और स्थान के अनुसार ही जीव आता है। यह सब प्रजा सुषुप्ति काल में प्रतिदिन ब्रह्मलोक में जाती हुई भी इस ब्रह्मलोक को नहीं पाती है। ये सुषुप्ति काल में ब्रह्मलोक में प्राप्त होकर भी सोने से प्रथम यहाँ जो व्याघ्र, सिंह, वृक, वराह, कीट, पतङ्गादि रहते हैं। जागने पर फिर वही होते हैं) शयन और जागरण के प्रकरण में पढ़े गये इस प्रकार के शब्द सब अन्यात्मा के उत्थान में सामञ्जस्य (युक्तता औचित्य) को नहीं प्राप्त होंगे। कर्म और विद्यासम्बन्धी विधि से भी ऐसा समझा जाता है कि जो सोता है वही जागता है। यदि ऐसा नहीं हो, तो कर्म और विद्या की विधि अनर्थक होगी। जिससे अन्य के उत्थानपक्ष में सोया पुरुष ब्रह्म में प्राप्त होने से सोनेमात्र से मुक्त हो जाता है, ऐसा प्राप्त होगा। और यदि ऐसा होगा तो कहो कि कालान्तर में फल वाले कर्म वा विद्या से क्या किया जायगा, कौन फल सिद्ध होगा।

अन्योत्थानपक्षे हि सुप्तमात्रो मुच्यत इत्यापद्येत। एवं चेत्स्यादृद् ।क कालान्तरफलेन कर्मणा विद्यया वा कृतं स्यात्। अपि चान्योत्थानपक्षे यदि तावच्छरीरान्तरे व्यवहरमाणो जीव उत्तिष्ठेत्तत्रत्यव्यवहारलोपप्रसङ्गः स्यात्। अथ तत्र सुप्त उत्तिष्ठेत्कल्पनानर्थक्यं स्यात्। यो हि यस्मिञ्छरीरे सुप्तः स तस्मिन्नोत्तिष्ठत्यन्यस्मिञ्शरीरे सुप्तोऽन्यस्मिन्नुत्तिष्ठतीति कोऽस्यां कल्पनायां लाभः स्यात्। अथ मुक्त उत्तिष्ठेदन्तवान्मोक्ष आपद्येत। निवृत्ताविद्यस्य च पुनरुत्थानमनुपपन्नम्। एतेनेश्वरस्योत्थानं प्रत्युक्तम्, नित्यनिवृत्ताविद्यत्वात्।

अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशौ च दुर्निवारावन्योत्थानपक्षे स्याताम्, तस्मात्स एवोत्तिष्ठति नान्य इति। यत्पुनरुक्तं—यथा जलराशौ प्रक्षिप्तो जलबिन्दुर्नोद्धर्तुं शक्यत एवं सति सम्पन्नो जीवो नोत्पतितुमर्हतीति, तत्परिह्रियते। युक्तं तत्र विवेककारणाभावाज्जलबिन्दोरनुद्धरणम्, इह तु विद्यते विवेककारणं कर्म चाविद्या चेति वैषम्यम्। दृश्यते च दुर्विवेचनयोरप्यस्मज्जातीयैः क्षीरोदकयोः संसृष्टयोर्हंसेन विवेचनम्। अपि च न जीवो नाम कश्चित्परस्मादन्यो विद्यते यो जलबिन्दुरिव जलराशेः सतो विविच्येत, सदेव तूपाधिसम्पर्काज्जीव इत्युपचर्यत इत्यसकृत्प्रपञ्चितम्। एवं सति यावदेकोपाधिगता बन्धानुवृत्तिस्तावदेकजीवव्यवहारः, उपाध्यन्तरगतायां तु बन्धानुवृत्तौ जीवान्तरव्यवहारः। स एवायमुपाधिः स्वापप्रबोधयोर्बीजाङ्कुरन्यायेनेत्यतः स एव जीवः प्रतिबुध्यत इति युक्तम्॥ ९॥

और भी बात है कि अन्य के उत्थानपक्ष में यदि शरीरान्तर में व्यवहार करता हुआ जीव सुप्त शरीर में उठेगा तो शरीरान्तर में होने वाले व्यवहार का अभाव प्राप्त होगा। यदि शरीरान्तर में सोया हुआ इस दूसरे शरीर में उठेगा, तो कल्पना की अनर्थकता होगी। जो जिस शरीर में सोया है, वह उसमें नहीं उठता है और अन्य शरीर में सोया हुआ किसी अन्य में उठता है इस कल्पना में क्या लाभ होगा। यदि मुक्त उठेगा, तो अन्तवाला अनित्य मोक्ष प्राप्त होगा और विनष्ट अविद्या वाले का फिर उत्थान अनुपपन्न है। इसीसे नित्य निवृत्त अविद्यावत्ता के कारण ईश्वर का उत्थान प्रत्युक्त निषिद्ध है। अन्य के उत्थान पक्ष में अकृत का अभ्यागम (प्राप्ति) और कृत का विनाश दुर्निवार होगा। जिससे जो सोता है वही उठता है, अन्य नहीं। जो यह कहा था कि जलराशि में निक्षिप्त जलबिन्दु फिर निकाला नहीं जा सकता है, इसी प्रकार सत् में सम्पन्न जीव फिर उत्पन्न नहीं हो सकता है। उस शंका का परिहार किया जाता है कि उक्त दृष्टान्त में प्रक्षिप्त जलबिन्दु के विवेक के कारण के अभाव से जलबिन्दु का अनुद्धरण (नहीं निकलना) युक्त है, यहाँ दार्ष्टान्तिक में तो कर्म और अविद्या विवेक का कारण है, इससे विषमता है। हम लोगों मनुष्यादि जाति वालों से दुर्विवेचनीय भी संसृष्ट (मिलित) दूध और जल का विवेचन (पृथक्ता) हंस से देखा जाता है, इसी प्रकार ईश्वर से जीव का विवेचन किया जाता है। और दूसरी बात है कि जीवनाम वाला परमात्मा से अन्य कोई वस्तु नहीं है कि जो जलराशि से बिन्दु के समान सत् से विविक्त पृथक् हो, किन्तु सत् ही उपाधि के सम्बन्ध से जीव इस शब्द से उपचरित (व्यवहृत) होता है यह अनेक बार विस्तार से कहा जा चुका है। ऐसा होने पर जब तक एक उपाधिगत संसारबन्ध की अनुवृत्ति (प्रवाह) बनी रहती है, तब तक एक जीव का व्यवहार (कथन) होता है। उसी बन्ध की अनुवृत्ति के अन्य उपाधिगत होने पर जीवान्तर का व्यवहार होता है। सुषुप्ति तथा जाग्रत् में मोक्षपर्यन्त वही उपाधि बीजाङ्कुर न्याय से कारण-कार्य रूप से रहता है, अतः जो

जीव सोता है वही जागता है, इससे ब्रह्म की अज्ञानावस्था में प्राप्ति भी मोक्ष का साधन नहीं है, अतः ज्ञान के लिए यत्न कर्तव्य है इत्यादि युक्त कथन है ॥ ९ ॥

मुग्धेऽर्धसंपत्त्यधिकरणम् ॥ ४ ॥

किं मूर्च्छैका जाग्रदादौ किं वाऽवस्थान्तरं भवेत् । अन्यावस्था न प्रसिद्धा तेनैका जाग्रदादिषु ॥
न जाग्रत्स्वप्नयोरेका द्वैताभावान्न सुप्तता । मुखादिविकृतेस्तेनाऽवस्थान्या लोकसम्मता ॥

अन्यावस्था के लक्षण नहीं मिलने से और सुषुप्ति के आधे लक्षण मिलने से मूर्च्छा अवस्था में परिशेष से अर्धसम्पत्ति (सुषुप्ति) होती है। वहां संशय होता है कि मूर्च्छा क्या जाग्रत् आदि में ही कोई एक अवस्थारूप है, अथवा अवस्थान्तर होगी। पूर्वपक्ष है कि शास्त्र में मूर्च्छा नामक अन्य अवस्था जाग्रदादि के समान नहीं प्रसिद्ध है, इससे जाग्रत् आदि में ही किसी एक रूप होगी। सिद्धान्त है कि जाग्रत् और स्वप्न में द्वैतभाव रहता है, द्वैत की प्रतीति रहती है और मूर्च्छा में सुषुप्ति के समान ही द्वैतभाव और द्वैत की प्रतीति नहीं रहती है इससे जाग्रत् और स्वप्न में किसी एक रूप मूर्च्छा नहीं हो सकती है। और सुषुप्ति में मुख की विकृति आदि नहीं रहते हैं, मूर्च्छा में रहते हैं, इससे सर्वथा सुषुप्ति रूप भी मूर्च्छा नहीं है इससे लोकसम्मत अन्य अवस्था है ॥ १–२ ॥

मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥

अस्ति मुग्धो नाम यं मूर्च्छित इति लौकिकाः कथयन्ति, स तु किमवस्थ इति परीक्षायामुच्यते—तिस्रस्तावदवस्थाः शरीरस्थस्य जीवस्य प्रसिद्धाः—जागरितं स्वप्नः सुषुप्तमिति। चतुर्थी शरीरादपसृप्तिः, नतु पञ्चमी काचिदवस्था जीवस्य श्रुतौ स्मृतौ वा प्रसिद्धास्ति। तस्माच्चतसृणामेवावस्थानामन्यतमावस्था मूर्च्छेति।

मुग्ध नाम से प्रसिद्ध वह है कि जिसको लौकिक जन मूर्च्छित इस शब्द से कहते हैं, वह मूर्च्छित किस अवस्था वाला होता है, ऐसी परीक्षा (विचारणा—जिज्ञासा) के होने पर कहा जाता है कि शरीरस्थ जीव की तीन ही जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति रूप अवस्थाएँ हैं। चतुर्थी अवस्था शरीर से अपसृति (निर्गमन-मरण) है, जीव की पञ्चमी कोई अवस्था श्रुति वा स्मृति में प्रसिद्ध नहीं है। इससे इन चार अवस्थाओं में ही कोई एक अवस्था रूप मूर्च्छा है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावन्मुग्धो जागरितावस्थो भवितुमर्हति। नह्ययमिन्द्रियैर्विषयानीक्षते। स्यादेतत्, इषुकारन्यायेन मुग्धो भविष्यति। यथेषुकारो जाग्रदपीष्वासक्तमनस्तया नान्यान्विषयानीक्षत एवं मुग्धो मुसलसंपातादिजनितदुःखानुभवव्यग्रमनस्तया जाग्रदपि नान्यान्विषयानीक्षत इति। न। अचेतयमानत्वात्। इषुकारो हि व्यापृतमना ब्रवीति—इषुमेवाहमेतावन्तं कालमुपलभमानोऽभूवमिति। मुग्धस्तु लब्धसंज्ञो ब्रवीतिरन्धे तमस्यहमेतावन्तं

काल प्रक्षिप्तोऽभूव, न किंचिन्मया चेतितमिति। जाग्रतश्चैकविषयनिषक्तचेतसोऽपि देहो विध्रियते मुग्धस्य तु देहो धरण्या पतति। तस्मान्न जागर्ति, नापि स्वप्नान्पश्यति नि सज्ञ (क)त्वात्। नापि मृत , प्राणोष्मणोर्भावात्। मुग्धे हि जन्तौ मृतोऽय स्यान्न वा मृत इति सशयाना ऊष्मास्ति नास्तीति हृदयदेशमालभन्ते, निश्चयार्थं प्राणोऽस्ति नास्तीति च नासिकादेशम्। यदि प्राणोष्मणोरस्तित्व नावगच्छन्ति ततो मृतोऽयमित्यध्यवसाय दहनायारण्य नयन्ति। अथ तु प्राणमूष्माण वा प्रतिपद्यन्ते ततो नाय मृत इत्यध्यवसाय सज्ञालाभाय भिषज्यन्ति। पुनरुत्थानाच्च न दिष्ट गत , नहि यम गतो यमराष्ट्रात्प्रत्यागच्छति। अस्तु तर्हि सुप्त , नि सज्ञत्वादमृतत्वाच्च। न। वैलक्षण्यात्। मुग्ध कदाचिच्चिरमपि नोच्छ्वसिति, सवेपथुरस्य देहो भवति, भयानक च वदन, विस्फारिते नेत्रे। सुपुप्तस्तु प्रसन्नवदनस्तुल्यकाल पुनः पुन' पुनरुच्छ्वसिति, निमीलिते अस्य नेत्रे भवत , न चास्य देहो वेपते। पाणिपेषणमात्रेण च सुपुप्तमुत्थापयन्ति, नतु मुग्धं मुद्गरघातेनापि।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि मुग्ध प्राणी जाग्रत् अवस्थावाला नहीं हो सकता है, जिससे यह इन्द्रिया द्वारा विषयो को नहीं जानता है। यदि कहो कि जाग्रत् होते भी इन्द्रियो द्वारा विषयो को नहीं जानना यह हो सकता है। इषुकार (बाण बनाने वाला) के न्याय (तुल्यता) युक्त मुग्ध हो सकता है कि जैसे जागता हुआ भी इषुकार इषुकी रचना म आसक्तमनवाला होने से अन्य विषयो को नहीं देखता है। इसी प्रकार मुसलादि के सपात (प्रहार) आदि से जन्य दु ख के अनुभव से व्यग्र (व्याकुल) मन वाला होने से जागता हुआ भी अन्य विषयो को नहीं देखता है। तो यह कहना शंका मुग्ध की अचेतयमानता (अचेतनता) से नहीं बन सकती है। जिससे व्यापारयुक्त मन वाला इषुकार पूछने पर कहता है कि इतने काल तक मैं बाण का ही ज्ञान वाला था। मुग्ध तो सज्ञा (चेतना) का लाभ (प्राप्ति) करने पर कहता है कि मैं इतन कालतक अन्ध तम म प्रक्षिप्त था, इतने कालतक मैंने कुछ नहीं समझा। और एक विषय म विशेष आसक्तियुक्त मन वाला भी जागता हुआ प्राणी की देह विधृत खडी वा बैठी रहती है। मुग्ध की देह तो पृथिवी पर गिर जाती है, जिससे मुग्ध जागता हुआ नहीं रहता है। और नि सज्ञक चेतनारहित बदहोश होने से स्वप्नों को नहीं देखता है। प्राण तथा उष्णता (गरमी) के शरीर म रहने से वह मृतक भी नहीं हो जाता है, जिससे मुग्ध प्राणी विषयक यह मर गया है, अथवा नहीं मरा है, इस प्रकार के सशय करने वाले गरमी है या नहीं है इस निश्चय के लिए हृदय देश का आलम्भ (स्पर्श) करते हैं। प्राण है या नहीं है इस निश्चय के लिए नासिका देश का स्पर्श करते हैं। और यदि प्राण और गरमी की सत्ता को नहीं अवगत (अनुभव) करते है, तो यह मर गया ऐसा निश्चय करके जलाने के लिए जगल (श्मशान) मे ले जाते हैं। यदि प्राण और गरमी को समझ पाते हैं, तो यह नहीं

मरा है ऐसा निश्चय करके चेतना की प्राप्ति के लिए भेषज चिकित्सा करते है। चिकित्सा आदि द्वारा फिर उत्थान से वह दिष्ट (मरण) को नहीं प्राप्त हुआ रहता है, क्योंकि मर कर यमराष्ट्र (यम के विषय) में प्राप्त फिर उस देह में नहीं आता है। यदि कहा जाय कि मुग्ध चेतनारहित बदहोस रहता है और मरा हुआ भी नहीं रहता है, तो वह सुपुप्त हो सकता है, उत्तर है कि विलक्षणता से वह सुपुप्त भी नहीं है। मुग्ध कभी चिर काल तक उच्छ्वास (श्वास-प्रश्वास) रहित रहता है, इसकी देह कम्पसहित रहती है और मुख भयानक रहता है, नेत्र विस्फारित (अधिक खुले) रहते हैं। सुपुप्त तो प्रसन्न मुखवाला रहता है परिमित समय में वार-वार श्वास-प्रश्वास लेता है, इसके नेत्र वन्द रहते हैं, इसकी देह नहीं कापती है। हाथ संघर्षण स्पर्शमात्र से सुपुप्त को लोग उठाते है। मुग्ध को तो मुद्गर के घात (चोट) से भी नहीं उठा सकते। मोह (मूर्च्छा) और सुपुप्ति के निमित्त कारण में भी भेद होता है। मोह को मुसलघातादिनिमित्तकत्व है, अर्थात् मुसलघातादि से मूर्छा होती है। सुपुप्ति को श्रमादिनिमित्तकत्व है, श्रमादि से सुपुप्ति होती है और लोक में प्रसिद्धि नहीं है कि मुग्ध सोया है। इसलिए परिशेष से अर्द्धसम्पत्ति मुग्धता है, ऐसा समझते हैं। निःसंज्ञता (वदहोसी) से सम्पन्न है (प्राप्त है) और अन्य विलक्षणता से असम्पन्न है। यहाँ शंका होती है कि मुग्धता अर्धसम्पत्ति है, यह कैसे कह सकते है। जब के सुप्त के प्रति श्रुति ने कहा है कि—(हे सोम्य ! उस सुपुप्ति में जीव सत के साथ सम्पन्न हो जाता (मिल जाता) है। उस अवस्था में चोर, चोर नहीं रहता है। इस सेतुविधारक आतमा को दिन और रात नहीं व्याप्त होते हैं। अर्थात् आतमा काल से परिच्छिन्न नहीं होता है। इसीसे इस आतमा को जरा, मरण, पुण्य और पाप नहीं प्राप्त होते हैं।) जिससे सुखित्व-दुःखित्व ज्ञान के उत्पादन (जनन) द्वारा जीव में पुण्य-पाप की प्राप्ति होती है। सुप्त प्राणी में सुखित्व का ज्ञान वा दुःखित्व का ज्ञान नहीं होता है। और मुग्ध में भी वे सुखित्व-दुःखित्व के ज्ञान नहीं होते हैं। इससे उपाधि के उपशम (निवृत्ति) से सुपुप्त के समान मुग्ध मे भी पूर्ण सम्पत्ति होने योग्य है, अर्धसम्पत्ति नहीं। ऐसी शंका होने पर यहाँ कहा जाता है कि मुग्धावस्था में जीव को ब्रह्म के साथ सम्पत्ति (अभेद) हो जाता है, ऐसा हम नहीं कहते हैं। तो क्या कहते है कि मुग्धावस्था में मुग्धत्व अर्द्धांश से सुपुप्त पक्ष का (सुपुप्ततुल्य) होता है, और अर्द्धांश से अवस्थान्तर पक्ष का होता है। यह हम कहते है। स्वाप के साथ मोह की कुछ अंश में समता और कुछ अंश में विपमता दर्शाई जा चुकी है। यह मुग्धत्व मरण का द्वाररूप है। जब इस जीव के प्रारब्ध कर्म सावशेप (पूर्णभुक्त नहीं) रहते है, तो वाक् और मन लौट आते हैं, व्यक्त होते हैं। जब निरवशेप (पूर्णभुक्त) कर्म रहते है, तो प्राण और गरमी भी चले जाते है। इससे ब्रह्मवेत्ता लोग मुग्धता को अर्द्धसम्पत्ति उचित समझते हैं। जो यह कहा था कि पन्चमी कोई अवस्था प्रसिद्ध नहीं है, सो यह अप्रसिद्धि दोप नहीं है। यह

अवस्था कभी दैवयोग से होती है, इससे प्रसिद्ध नहीं हो ऐसा हो सकता है। वस्तुत यह लोक और आयुर्वेद मे प्रसिद्ध है। अर्द्ध सम्पत्ति के स्वीकार से पञ्चमी नही गिनी जाती है, इससे अनवद्य (निर्दोष) है ॥ १० ॥

निमित्तभेदश्च भवति मोहस्वापयोः। मुसलसंपातादिनिमित्तत्वान्मोहस्य, श्रमादिनिमित्तत्वाच्च स्वापस्य। न च लोकेऽस्ति प्रसिद्धिः मुग्धः सुप्त इति। परिशेषादर्धसंपत्तिर्मुग्धतेत्यवगच्छाम। निःसंज्ञत्वात्संपन्न इतरस्माच्च वैलक्षण्यादसंपन्न इति। कथं पुनरर्धसंपत्तिर्मुग्धतेति शक्यते वक्तुम्, यावता सुप्तं प्रति तावदुक्तं श्रुत्या—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६।८।१) इति, 'अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति' (बृ० ४।३।२२) 'नैतं सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम्' (छा० ८।४।१) इत्यादि। जीवे हि सुकृतदुष्कृतयोः प्राप्तिः सुखित्वदुःखित्वप्रत्ययोत्पादनेन भवति। न च सुखित्वप्रत्ययो दुःखित्वप्रत्ययो वा सुषुप्ते विद्यते, मुग्धेऽपि तौ प्रत्ययौ नैव विद्येते। तस्मादुपाध्युपशमात्सुषुप्तवन्मुग्धेऽपि कृत्स्नसंपत्तिरेव भवितुमर्हति, नार्धसंपत्तिरिति। अत्रोच्यते। न ब्रूमो मुग्धेऽर्धसंपत्तिर्जीवस्य ब्रह्मणा भवतीति। किं तर्हि? अर्धेन सुषुप्तपक्षस्य भवति मुग्धत्वमर्धेनावस्थान्तरपक्षस्येति ब्रूमः। दर्शिते च मोहस्य स्वापेन साम्यवैषम्ये। द्वारं चैतन्मरणस्य। यदास्य सावशेषं कर्म भवति तदा वाङ्मनसे प्रत्यागच्छतः, यदा तु निरवशेषं कर्म भवति तदा प्राणोष्माणावपगच्छतः, तस्मादर्धसंपत्तिं ब्रह्मविद इच्छन्ति। यत्तूक्तं—न पञ्चमी काचिदवस्था प्रसिद्धास्ति—इति। नैष दोषः। कादाचित्कीयमवस्थेति न प्रसिद्धा स्यात्। प्रसिद्धा चैषा लोकायुर्वेदयोः। अर्धसंपत्त्यभ्युपगमाच्च न पञ्चमी गण्यत इत्यनवद्यम् ॥ १० ॥

उभयलिङ्गाधिकरणम् ॥ ५ ॥

ब्रह्म किं रूपि वाऽरूपि भवेन्नीरूपमेव वा। द्विविधश्रुतिसद्भावाद् ब्रह्म स्यादुभयात्मकम् ॥१॥
नीरूपमेव वेदान्तैः प्रतिपाद्यमपूर्वतः। रूपं त्वनूद्यते भ्रान्तमुभयत्वं विरुध्यते ॥२॥

परमात्मा को स्थान से (उपाधिसम्बन्ध से) अपि वा स्वतः स्वरूप से वस्तुतः उभय (द्वैत भेद) का कोई लिङ्ग हेतु नही है। जिससे सब अवस्था देश काल श्रुति मे भेदरहित ही परमात्मा सिद्ध है, जीव के समान अवस्थादिकृत परमात्मा मे वस्तुत व्यावहारिक भेद भी नही है। संशय है कि ब्रह्म रूपवाला और अरूपवाला अवस्था आदि के भेद से उभयस्वरूप होगा। अथवा सर्वथा नीरूप ही होगा। पूर्वपक्ष है कि दोनो प्रकार की श्रुति की सत्ता से ब्रह्म उभयात्मक होगा। सिद्धान्त है कि अपूर्वता (अन्य प्रमाण की अविषयता) से नीरूप ही ब्रह्म वेदान्तो से प्रतिपाद्य है। भ्रमसिद्ध रूप तो श्रुति से उपासनादि के लिए अनुवादित होता है। वह वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय नहीं है। विरोध से वास्तविक उभयरूपत्व तो हो ही नही सकता, इससे नीरूप ही ब्रह्म है ॥ १-२ ॥

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥

येन ब्रह्मणा सुषुप्त्यादिषु जीव उपाध्युपशमात्संपद्यते तस्येदानीं स्वरूपं श्रुतिवशेन निर्धार्यते। सन्त्युभयलिङ्गाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः 'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः' (छा० ३।१४।२) इत्येवमाद्याः सविशेषलिङ्गाः, 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३।८।८) इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिङ्गाः। किमासु श्रुतिषूभयलिङ्गं ब्रह्म प्रतिपत्तव्यमुतान्यतरलिङ्गम्। यदाप्यन्यतरलिङ्गं तदापि किं सविशेषमुत निर्विशेषमिति मीमांस्यते। तत्रोभयलिङ्गश्रुत्यनुग्रहादुभयलिङ्गमेव ब्रह्मेति।

सुषुप्ति समाधि आदि काल मे उपाधि के उपशम-निवृत्ति से जीव जिस ब्रह्म के साथ सम्पन्न-एक होता है, श्रुतिवश से उस ब्रह्म के स्वरूप का इस समय निर्धारण-निर्णय किया जाता है। सविशेषत्व और निर्विशेषत्व उभय (दोनों) के लिङ्ग (बोधक) श्रुतियाँ ब्रह्मविषयक हैं कि (सब विश्व जिसका कर्म-कार्य है। दोषरहित जिसके सब काम (इच्छा) है, जो सर्व सुखप्रद गन्धरूप है। पुण्य रसमय है वह परमात्मा है)। इत्यादि श्रुतियाँ सविशेष ब्रह्म के बोधक हैं। और (वह स्थूल, अणु, ह्रस्व और दीर्घ नहीं है) इत्यादि निर्विशेष के बोधक हैं। क्या इन श्रुतियों में दोनो सविशेषत्व-निर्विशेषत्वरूप लिङ्गवाला ब्रह्म को समझना चाहिये वा दोनों में से किसी एक लिङ्गवाला समझना चाहिये। जब एक रूपलिङ्गवाला समझा जाय तो भी ब्रह्म सविशेष है, अथवा निर्विशेष है, यह विचार किया जाता है। यहाँ सुषुप्ति, मरण उभयरूप मुग्धता के समान उभय (दोनों) के बोधक श्रुति के बल से दोनों लिङ्गवाला ही ब्रह्म है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावत्स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गत्वमुपपद्यते। नह्येकं वस्तु स्वत एव रूपादिविशेषोपेतं तद्विपरीतं चेत्यवधारयितुं शक्यं विरोधात्। अस्तु तर्हि स्थानतः पृथिव्याद्युपाधियोगादिति। तदपि नोपपद्यते। नह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः संभवति। नहि स्वच्छः सन्स्फटिकोऽलक्तकाद्युपाधियोगादस्वच्छो भवति, भ्रममात्रत्वादस्वच्छताभिनिवेशस्य, उपाधीनां चाविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्। अतश्चान्यतरलिङ्गपरिग्रहेऽपि समस्तविशेषरहितं निर्विकल्पकमेव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यं न तद्विपरीतम्। सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेषु वाक्येषु 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (क० ३।१५। मुक्तिको० २।७२) इत्येवमादिष्वपास्तसमस्तविशेषमेव ब्रह्मोपदिश्यते ॥ ११ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि परब्रह्म को स्वतः स्वरूप से ही उभयलिङ्गत्व (उभयस्वरूपत्व) उपपन्न नहीं हो सकता है। जिससे विरोध होने के कारण एक ही वस्तु स्वतःस्वरूप से रूपादिविशेषयुक्त है। और उसने विपरीत है, ऐसा

अवधारण नही किया जा सकता है। यदि कहो कि स्वत नही हो सकता हो तो स्थान (उपाधि) से पृथिवी आदि उपाधि के सम्बन्ध से उभयलिङ्गत्व हो सकता है तो वह भी नही उपपन्न हो सकता है। जिससे उपाधि के सम्बन्ध से भी अन्य प्रकार की वस्तु को अन्य प्रकार का स्वभाव नही हो सकता है। स्फटिक स्वच्छ होता हुआ अलक्तक (लाक्षा महावर) आदि उपाधि के सम्बन्ध से वस्तुत अस्वच्छ नही होता है। स्फटिक मे अस्वच्छता के अभिनिवेश को (सम्बन्ध को) भ्रममात्र होने से अस्वच्छता नही होती है। और स्फटिक म तो उसके समान सत्तावाला उपाधि-सम्बन्ध है भी ब्रह्म म उपाधियो के माया अविद्या स प्रत्युपस्थापितत्व (जन्यत्व) होने स उपाधिजन्य विशेष सत्य नही हो सकता है। अत अन्यतर (किसी एक) लिङ्ग का परिग्रहण कर्तव्य है उस एकलिङ्ग के परिग्रहण म भी समस्त विशेषो (भेदो) स रहित निर्विकल्पक (निर्गुण) ही ब्रह्म समझने योग्य है उससे विपरीत नही। जिससे ब्रह्म के स्वरूप के प्रतिपादनपरक (शब्द स्पर्श रूपरहित निर्विकार नित्य ब्रह्म है) इत्यादि सभी वाक्यो म निरस्त समस्त विशेषवाला सब विशेषो से रहित ही ब्रह्म का उपदेश दिया जाता है ॥ ११ ॥

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ १२ ॥

अथापि स्याद्यदुक्त निर्विकल्पमेव ब्रह्म नास्य स्वत स्थानतो वोभयलिङ्गत्वमिति। तन्नोपपद्यते। कस्मात्? भेदात्। भिन्ना हि प्रतिविद्य ब्रह्मण आकारा उपदिश्यन्ते। चतुष्पाद् ब्रह्म षोडशकल ब्रह्म वामनीत्वादिलक्षण ब्रह्म त्रैलोक्यशरीरवैश्वानरशब्दोदित ब्रह्मेत्येवजातीयका, तस्मात्सविशेषत्वमपि ब्रह्मणोऽभ्युपगन्तव्यम्। ननूक्त नोभयलिङ्गत्व ब्रह्मण सभवतीति। अयमप्यविरोध। उपाधिकृतत्वादाकारभेदस्य। अन्यथा हि निर्विषयमेव भेदशास्त्र प्रसज्येतेति चेत्। नेति ब्रूम। कस्मात्? प्रत्येकमतद्वचनात्। प्रत्युपाधिभेद ह्यभेदमेव ब्रह्मण श्रावयति शास्त्रम्—'यश्चायमस्या पृथिव्या तेजोमयोऽमृतमय पुरुषो यश्चायमध्यात्म शारीरस्तेजोमयोऽमृतमय पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा' (बृ० २।५।१) इत्यादि। अतश्च न भिन्नाकारयोगो ब्रह्मण शास्त्रीय इति शक्यते वक्तुम्। भेदस्योपासनार्थत्वादभेदे तात्पर्यात् ॥ १२ ॥

पूर्वोक्त रीति से श्रुतियों द्वारा निर्विशेष ब्रह्म का निर्णय होने पर भी यदि शङ्का होती हो कि, जो कहा गया है कि निर्विकल्प ही ब्रह्म है इस ब्रह्म को स्वत या स्थान स उभयलिङ्गत्व (उभयस्वरूपत्व) नहीं है, वह नही उपपन्न होता है। क्या नहीं उपपन्न होता है? तो भेद (विशेष) म निर्विशेष नही उपपन्न होता है। जिससे प्रत्येक विद्याओं म ब्रह्म के आकार भिन्न (विशेषयुक्त) उपदिष्ट होते (कहे जाते) हैं कि (चार पाद वाला ब्रह्म है षोडशकला वाला ब्रह्म है, वामनीत्वादि लक्षण वाला ब्रह्म है। तीनो लोकरूप शरीर वाला वैश्वानर शब्द से कहा गया ब्रह्म है)

इस प्रकार के भिन्न ब्रह्म के उपदेश हैं, इससे ब्रह्म का निर्विशेषत्व के समान सविशेषत्व भेद भी स्वीकार के योग्य है। यदि कहा जाय कि ब्रह्म का उभयलिङ्गत्व सम्भव नहीं है, यह कहा जा चुका है तो कहा जाता है कि यह भी विरोध नहीं है, आकार के उपाधिकृत होने से अविरोध है। अन्यथा (यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो) भेद का बोध करानेवाले शास्त्र निर्विषय (अनर्थक) ही प्राप्त होंगे। यदि ऐसी शंका कोई करे तो कहते हैं ऐसा नहीं हो सकता, उपाधि से भी सत्य भेद ब्रह्म में नहीं होता है, क्यों सत्य भेद नहीं होता है ? तो कहते हैं कि प्रत्येक सविशेष उपदेश में भी (अतद्वचन) भेद के अभाव के कथन से भेद नहीं सिद्ध होता है, तद् शब्द सूत्र में भेद का बोधक है। अतद्अभेद (भेदाभाव) का बोधक है। प्रत्येक उपाधि के भेदों में भेद के उपदेशो में भी शास्त्र ब्रह्म के अभेद को ही सुनाता है कि (जो इस पृथिवी में तेजोमय अमृतमय पुरुष है, जो यह अध्यात्म शरीर में रहने वाला तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वह यही है जो यह आत्मा है) इत्यादि। इससे ब्रह्म का भिन्न आकार के साथ सम्बन्ध को शास्त्र से सिद्ध नहीं कह सकते हैं। भेद के उपासनार्थक होने मे और अभेद में शास्त्र का तात्पर्य होने से, शास्त्र से भेद नहीं सिद्ध होता है ॥ १२ ॥

अपि चैवमेके ॥ १३ ॥

अपि चैवं भेददर्शननिन्दापूर्वकमभेददर्शनमेवैके शाखिनः समामनन्ति—
मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ (क० ४।११) इति।
तथान्येपि 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म मेतत्'—
(श्वे० १।१२) इति समस्तस्य भोग्यभोक्तृनियन्तृलक्षणस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मैकस्वभावतामधीयते ॥ १३ ॥

इसी प्रकार भेददर्शन (ज्ञान) की निन्दापूर्वक अभेददर्शन का ही एक शाखावाले कथन भी करते है कि (यह ब्रह्म शुद्ध मन से समझने-प्राप्त करने योग्य है इसमें भेद कुछ नहीं है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है कि जो इस ब्रह्म में नाना सा देखता है।) इसी प्रकार अन्य भी कहते हैं कि (भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता जीव जगत् और अंतर्यामी ईश्वर को विचार कर जो कुछ मुझसे कहा गया है, उन सबको त्रिविध ब्रह्म ही समझो) इस प्रकार भोग्य, भोक्ता और नियन्ता रूप समस्त प्रपञ्च की ब्रह्म के साथ एकस्वभावता का अध्ययन एक शाखावाले करते हैं ॥ १३ ॥

कथं पुनराकारवदुपदेशिनीष्वनाकारोपदेशिनीषु च ब्रह्मविषयासु श्रुतिषु सतीष्वनाकारमेव ब्रह्मावधार्यते न पुनर्विपरीतमिति। अत उत्तरं पठति—

फिर भी शङ्का होती है कि साकार ब्रह्म का उपदेश देने वाली और निराकार का उपदेश देने वाली ब्रह्मविषयक दोनों प्रकार की श्रुतियों के रहते भी निराकार

ही ब्रह्म कैसे अवधारित निश्चित होता है। विपरीत भी क्यों नहीं अवधारित होता है। ऐसी शंका होने पर उत्तर पढ़ते हैं कि—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥

रूपाद्याकाररहितमेव ब्रह्मावधारयितव्यं न रूपादिमत्। कस्मात्? तत्प्रधानत्वात्। 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३।८।८) 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (कठ० ३।१५। मुक्ति० २।७२) 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद् ब्रह्म' (छा० ८।१४।१) 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' (मुण्ड० २।१।२), 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः' (बृ० २।५।१९) इत्येवमादीनि वाक्यानि निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्वप्रधानानि नार्थान्तरप्रधानानीत्येतत्प्रतिष्ठापितं 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इत्यत्र। तस्मादेवंजातीयकेषु वाक्येषु यथाश्रुतं निराकारमेव ब्रह्मावधारयितव्यम्। इतराणि त्वाकारवद् ब्रह्मविषयाणि वाक्यानि न तत्प्रधानानि। उपासनाविधिप्रधानानि हि तानि, तेष्वसति विरोधे यथाश्रुतमाश्रयितव्यम्। सति तु विरोधे तत्प्रधानान्यतत्प्रधानेभ्यो बलीयांसि भवन्तीति। एष विनिगमनायां हेतुः, येनोभयीष्वपि श्रुतिषु सतीष्वनाकारमेव ब्रह्मावधार्यते न पुनर्विपरीतमिति ॥ १४ ॥

रूपादि आकार से रहित ही ब्रह्म अवधारण के योग्य है। रूपादिवाला नहीं, क्योंकि श्रुतियों में उस निराकार को ही प्रधानत्व है। (ब्रह्म स्थूल अणु, ह्रस्व, दीर्घ नहीं है। शब्द, स्पर्श, रूप रहित अव्यय है। आकाश ब्रह्म-नाम और रूप का निर्वाहक है, नाम और रूप जिसके अन्तर्गत हैं, वह ब्रह्म है। दिव्य, स्वयप्रकाश-मूर्ति-आकार रहित बाहर भीतर भेदरहित ही अज पुरुष है। यह ब्रह्म कारण तथा कार्य नहीं है। अन्तर बाह्य भेदरहित है यह आत्मा ब्रह्म है, सर्वज्ञ है) इत्यादि वाक्यों में निष्प्रपञ्च (शुद्ध) ब्रह्मात्म तत्त्व प्रधानरूप से वर्तमान है। इन में अर्थान्तर प्रधान नहीं है। यह अर्थ, 'तत्तुसमन्वयात्' इस सूत्र में प्रतिष्ठापित (निश्चित रूप से स्थापित) किया गया है। इससे इस प्रकार के वाक्यों में यथाश्रुत (श्रुति के अनुसार), निराकार ही ब्रह्म अवधारण के योग्य है। अन्य जो साकार ब्रह्म विषयक वाक्य हैं वह साकारप्रधानवाले नहीं हैं, किन्तु उपासना विधिप्रधानवाले वे वाक्य हैं। उनमें विरोध के नहीं रहने पर व यथाश्रुत आश्रयण के योग्य हैं। विरोध होने पर, स्वार्थप्रधानवाले वाक्य अन्यार्थप्रधानवाले वाक्यों से बलीयान्—अतिबली होते हैं और यही विनिगमना में (दोनों में से एक के ग्रहण में) हेतु है। जिस से दोनों प्रकार की श्रुतियों के रहते भी निराकार ही ब्रह्म अवधारित होता है, विपरीत नहीं ॥ १४ ॥

का तर्ह्याकारवद्विषयाणां श्रुतीनां गतिरित्यत आह—

शंका होती है कि तब साकारविषयक श्रुतियों की क्या गति (आश्रय) है। इससे कहते हैं कि—

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥ १५ ॥

यथा प्रकाशः सौरश्चान्द्रमसो वा वियद्व्याप्यावतिष्ठमानोऽङ्गुल्याद्युपाधिसंबन्धात्तेष्वृजुवक्रादिभावं प्रतिपद्यमानेषु तद्भावमिव प्रतिपद्यते, एवं ब्रह्मापि पृथिव्याद्युपाधिसम्बन्धात्तदाकारतामिव प्रतिपद्यते, तदालम्बनो ब्रह्मण आकारविशेषोपदेश उपासनार्थो न विरुध्यते। एवमवैयर्थ्यमाकारवद्ब्रह्मविषयाणामपि वाक्यानां भविष्यति, नहि वेदवाक्यानां कस्यचिदर्थवत्त्वं कस्यचिदनर्थवत्त्वमिति युक्तं प्रतिपत्तुं प्रमाणत्वाविशेषात्। नन्वेवमपि यत्पुरस्तात्प्रतिज्ञातं—नोपाधियोगादप्युभयलिङ्गत्वं ब्रह्मणोऽस्तीति—तद्विरुध्यते, नेति ब्रूमः। उपाधिनिमित्तस्य वस्तुधर्मत्वानुपपत्तेः। उपाधीनां चाविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात्। सत्यामेव च नैसर्गिक्यामविद्यायां लोकवेदव्यवहारावतार इति तत्र तत्रावोचाम ॥ १५ ॥

जैसे सूर्य वा चन्द्रमा का प्रकाश आकाश में व्याप्त होकर वर्तमान होता हुआ भी अङ्गुली आदि उपाधियों के सम्बन्ध से उन उपाधियों के सीधे-टेढ़े आदि रूपता के प्राप्त होने पर वह प्रकाश भी उनके ही समान सीधा-टेढ़ा आदि भासता है। इसी प्रकार ब्रह्म भी पृथिवी आदि उपाधियों के सम्बन्ध से तदाकारता को प्राप्त के समान भासता है, मानो उन आकारों को प्राप्त कर लेता है और उन कल्पित आकारों का आश्रयण करके उसी के आश्रित उपासना के लिए ब्रह्म के आकार विशेष का उपदेश विरुद्ध नहीं होता है। इस प्रकार साकार ब्रह्मविषयक वाक्यों की अव्यर्थता (सार्थकता) होगी। वेदवाक्यों में किसी वाक्य को सार्थकता है, किसी वाक्य को निरर्थकता है, ऐसा समझना युक्त नहीं है। क्योंकि सब वेदवाक्यों में प्रमाणत्व अविशेष (तुल्य) है। इससे साकारविषयक वेदवाक्यों की भी उक्त रीति से सार्थकता है ही। शंका होती है कि इस प्रकार से वेदवचनों की व्यवस्था होने पर भी प्रथम जो प्रतिज्ञा की गई है कि उपाधि के सम्बन्ध से भी ब्रह्म को उभयलिङ्गवत्त्व (साकारत्व-निराकारत्व) नहीं है, किन्तु केवल निराकारत्व ही है। उपासनार्थक भी आकार मानने पर उस प्रतिज्ञा से विरोध होगा। उत्तर है कि विरोध नहीं है, ऐसा हम कहते हैं, जिससे उपाधिनिमित्तक साकारत्व धर्म को उपासनार्थक कल्पित होते भी वस्तुस्वरूप निराकार ब्रह्म के धर्मत्व की साकारत्व में अनुपपत्ति है और उपाधियों के अविद्या से प्रत्युपस्थापित (प्रापित) होने से विरोध नहीं है। अर्थात् प्रथम भी औपाधिक रूप के कल्पित होने से उभयरूपत्व सत्य नहीं है यह कहा गया था। अब भी निर्विशेषत्व सत्य है और सविशेषत्व मिथ्या (मायिक) है यह कहा जाता है, इससे पूर्वापर-विरोध नहीं है,

और स्वाभाविक अविद्या के रहते ही लोक के और वेद के व्यवहारों का अवतार (जन्म) होता है, यह तत्तत् स्थानों में कहा जा चुका है ॥ १५ ॥

आह च तन्मात्रम् ॥ १६ ॥

आह च श्रुतिश्चैतन्यमात्रं विलक्षणरूपान्तररहितं निर्विशेषं ब्रह्म—'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४।५।१३) इति। एतदुक्तं भवति। नास्यात्मनोऽन्तर्बहिर्वा चैतन्यादन्यद्रूपमस्ति चैतन्यमेव तु निरन्तरमस्य स्वरूपम्, यथा सैन्धवघनस्यान्तर्बहिश्च लवणरस एव निरन्तरो भवति न रसान्तरं तथैवेति ॥ १६ ॥

चैतन्यमात्र विलक्षण रूपान्तर से रहित निर्विशेष ब्रह्म को श्रुति कहती भी है कि (अरे मैत्रेयि ! जैसे सैन्धव घन लवणपिण्ड बाहर-भीतर पदार्थान्तर-रसान्तर से रहित सम्पूर्ण रसघन एकरस लवणमात्र रहता है, इसी प्रकार यह आत्मा भी अन्दर और बाहर रूपभेद अन्तराय रहित सम्पूर्ण प्रज्ञानघन ही है) इससे यह उक्त (कथित) होता है कि इस आत्मा के अन्दर या बाहर में चैतन्य से अन्य रूप नहीं है, निरन्तर चैतन्य ही इस आत्मा का स्वरूप है। जैसे लवण के घन (पिण्ड मूर्ति) के अन्तर और बाहर में लवण रस ही निरन्तर रहता है, रसान्तर नहीं रहता है। इसी प्रकार यह आत्मा है ॥ १६ ॥

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥ १७ ॥

दर्शयति च श्रुतिः पररूपप्रतिषेधेनैव ब्रह्म निर्विशेषत्वात्—'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति, 'अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि' (के० १।३) इति, 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० २।४।१) इत्येवमाद्या। बाष्कलिना च बाध्वः पृष्टः सन्नवचनेनैव ब्रह्म प्रोवाचेति श्रूयते—'स होवाचाधीहि भगवो ब्रह्म इति स तूष्णीं बभूव तं ह द्वितीये वा तृतीये वा वचन उवाच ब्रूमः खलु त्वं तु न विजानासि, उपशान्तोऽयमात्मा' इति। तथा स्मृतिष्वपि परप्रतिषेधेनैवोपदिश्यते—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते। (१३।१२) इत्येवमाद्यासु। तथा विश्वरूपधरो नारायणो नारदमुवाचेति स्मर्यते—

माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद !।
सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां ज्ञातुमर्हसि ॥ इति ॥ १७ ॥

निर्विशेषता के कारण पर (अनात्म) रूप के प्रतिषेध द्वारा ही श्रुति ब्रह्म को दर्शाती है कि (अथात आदेशो नेति नेति) सत्य स्वरूप के निर्देश के बाद जिसमें आत्मा सत्यों का सत्य है, इससे उसका निर्देश है कि वह मूर्त अमूर्त (कार्य-कारण)

स्वरूप नहीं है और (वह विदित अविदित-व्यक्त अव्यय से अन्य है। मन सहित वाक् जिस में नहीं पहुँच कर निवृत्त होवे हैं) इत्यादि श्रुतियाँ अनात्मा के प्रतिषेध द्वारा ब्रह्म को दर्शाती हैं। बाष्कलि नामक शिष्य ने बाध्व नामक गुरु से ब्रह्म पूछा (ब्रह्म-विषयक प्रश्न किया) तो पूछे गये बाध्व ने मौन द्वारा ब्रह्म का कथन किया—उपदेश दिया यह सुना जाता है। फिर (उस बाष्कलि ने कहा कि हे भगवन् बाध्व ! मेरे लिए ब्रह्म का उपदेश करो, परन्तु वह गुरु मौन ही रहा, फिर दूसरे वा तीसरे बार पूछने पर मौन को त्याग कर कहा कि हम तो ब्रह्म का उपदेश करते हैं, तुम तो नहीं समझते हो, यह आत्मा उपशान्त (द्वैतरहित) है, इससे इसका मौन ही उत्तर है) सूत्रगत अथ शब्द तथा अर्थ में है, वैसे ही स्मृतियों में भी अनात्मा के प्रतिषेध द्वारा ही ब्रह्म का उपदेश दिया जाता है कि (जिसको जान कर जीव अमृत को प्राप्त करता है, ऐसा जो ज्ञेय ब्रह्म है, उस क्षेत्रज्ञाभिन्न ब्रह्म को मैं अच्छी तरह कहूँगा कि वह आदि वाला नहीं है। सत् इन्द्रियों का विषय, वा असत् परोक्ष पर ब्रह्म नहीं कहा जाता है, अर्थात् स्वयंप्रकाश परब्रह्म है) इत्यादि स्मृतियों में पर का निषेध द्वारा उपदेश है। इसी प्रकार विश्वरूपधारी नारायण ने नारद के प्रति कहा है ऐसा स्मृति में कहा गया है कि—(हे नारद ! सर्व दिव्य गुणों से युक्त जो मुझे देख रहे हो, यह मुझसे माया रची गई है, आप मुझे इसी प्रकार जानने योग्य नहीं हो) इति ॥ १७ ॥

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥ १८ ॥

यत एव चायमात्मा चैतन्यरूपो निर्विशेषो वाङ्मनसातीतः परप्रतिषेधोपदेश्योऽत एव चास्योपाधिनिमित्तामपारमार्थिकीं विशेषवत्तामभिप्रेत्य जलसूर्यकादिवदित्युपमोपादीयते मोक्षशास्त्रेषु—

यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ॥ इति।
एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ (ब्र० बिं १२) इत्येवमादिषु ॥ १८ ॥

अत्र प्रत्यवस्थीयते—

जिससे चैतन्यरूप यह आत्मा निर्विशेष वाक् और मन का अविषय और अनात्मा के प्रतिषेध ही द्वारा उपदेश के योग्य है, इसीसे इस आत्मा के उपाधि-निमित्तक अपारमार्थिक (मायिक) विशेषवत्ता को मानकर मोक्षशास्त्रों में (जल सूर्य-कादिवत्, जल में कल्पित सूर्य के समान ब्रह्म का विशेष स्वरूप है) इस प्रकार उपमा का ग्रहण किया जाता है कि (जैसे स्वयं ज्योतिःस्वरूप यह सूर्य एक होता हुआ भी भिन्न-भिन्न जलों में प्रतिबिम्ब रूप से अनुगत (प्राप्त) हुआ बहुत प्रकार का अनेक

किया जाता है। इसी प्रकार अज एक भी यह आत्म देव क्षेत्रों-देहों में बुद्धि आदि उपाधि द्वारा भेदयुक्तरूपवाला किया जाता है)। इति। (सब प्राणी का एक ही आत्मा तत्तद् भूतों में विशेष (भिन्न) रूप से अवस्थित है और आकाश में स्थिर चन्द्र और जलगत चन्द्रप्रतिबिम्ब के समान आत्मा एक स्वरूपवाला और बहुत स्वरूपवाला दीखता (भासता) है। इत्यादि शास्त्रों में उपमा गृहीत है ॥ १८ ॥

यहां उक्तार्थविषयक शंका की जाती है कि—

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥ १९ ॥

न जलसूर्यकादितुल्यत्वमिहोपपद्यते तद्वदग्रहणात्। सूर्यादिभ्यो हि मूर्तेभ्य पृथग्भूत विप्रकृष्टदेश मूर्तं जल गृह्यते तत्र युक्त सूर्यादिप्रतिबिम्बोदय। न त्वात्मा मूर्तो न चास्मात्पृथग्भूता विप्रकृष्टदेशाश्चोपाधय, सर्वगतत्वात्सर्वानन्यत्वाच्च। तस्मादयुक्तोऽय दृष्टान्त इति ॥ १९ ॥

अत्र प्रतिविधीयते—

यहाँ बुद्धि आदि में आत्मा के जलसूर्यकादितुल्यत्व उपपन्न नहीं होता है, जिससे दृष्टान्त में जल के समान यह बुद्धि आदि का आत्मा से पृथक् ग्रहण नहीं होता है। दृष्टान्त में मूर्तिमान् सूर्यादि से पृथक् स्वरूपवाला दूरदेशवाला मूर्त-साकार जलगृहीत होता है, उस जल में सूर्यादि के प्रतिबिम्बों का उदय-प्रकट होना युक्त है। आत्मा तो मूर्त नहीं है, और न इनसे पृथक् स्वरूपवाले दूरदेशवर्ती उपाधि सब हैं। क्योंकि आत्मा को सर्वगतत्व और सब से अनन्यत्व (अभिन्नत्व) है। इससे यह दृष्टान्त अयुक्त है ॥ १९ ॥

यहाँ समाधान कहा जाता है कि—

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥२०॥

युक्त एव त्वय दृष्टान्तो विवक्षितांशसम्भवात्, नहि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो क्वचित्कंचिद्विवक्षितांश मुक्त्वा सर्वसारूप्य केनचिद्दर्शयितु शक्यते। सर्वसारूप्ये हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोच्छेद एव स्यात्। नचेद स्वमनीषया जलसूर्यकादिदृष्टान्तप्रणयनम्। शास्त्रप्रणीतस्य त्वस्य प्रयोजनमात्रमुपन्यस्यते। किं पुनरत्र विवक्षित सारूप्यमिति। तदुच्यते। वृद्धिह्रासभाक्त्वमिति। जलगत हि सूर्यप्रतिबिम्ब जलवृद्धौ वर्धते जलह्रासे ह्रसति जलचलने चलति जलभेदे भिद्यते इत्येव जलधर्मानुयायि भवति, नतु परमार्थत सूर्यस्य तथात्वमस्ति। एव परमार्थतोऽविकृतमेकरूपमपि सद् ब्रह्म देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद्भजत इवोपाधिधर्मान्वृद्धिह्रासादीन्, एवमुभयोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयो सामञ्जस्यादविरोध ॥२०॥

विवक्षितांश के सम्भव होने से यह दृष्टान्त युक्त ही है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में कहीं किसी विवक्षित अंश को छोड़ कर सर्वांश में समरूपता किसी से दिखाई नहीं जा सकती है। और सर्वांश में समरूपता होने पर दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकभाव का उच्छेद ही

होगा। अपनी बुद्धि से वह जलसूर्यकादि दृष्टान्त का प्रणयन (निर्माण) नहीं किया गया है, किन्तु शास्त्र से प्रणीत (निर्मित-प्राप्त) इस दृष्टान्त के प्रयोजनमात्र का उपन्यास (कथन) किया जाता है। फिर भी यहाँ विवक्षित सादृश्य क्या है ? वह कहा जाता है कि (वृद्धिह्रासभागित्व होना ही सादृश्य है) जिससे जलगत सूर्य का प्रतिबिम्ब जल की वृद्धि होने पर बढ़ता है, जल के न्यून-क्षीण होने पर न्यून-क्षीण होताहै, जल के चलने से चलता है, जल के भेद होने पर भिन्न होता है। इस प्रकार जल के धर्मानुगामी, उसके अनुसार भासने वाला प्रतिबिम्ब होता है। परन्तु उससे सूर्य को तथात्व (वृद्धि आदि धर्मवत्त्व) परमार्थ से नहीं है। इसी प्रकार परमार्थ स्वरूप से विकाररहित एकस्वरूप भी सत् ब्रह्म देहादि रूप उपाधि के अन्तर्भाव से उपाधि के धर्म वृद्धि-ह्रासादि को मानो भजता है (प्राप्त होता है) इस प्रकार दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक दोनों के सामञ्जस्य (संमेलन) से विरोध (वैषम्य) नहीं है ॥ २० ॥

दर्शनाच्च ॥ २१ ॥

दर्शयति च श्रुतिः परस्यैव ब्रह्मणो देहादिपूपाधिष्वन्तरनुप्रवेशम्—
पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः ।
पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत् ॥ (बृ० २।५।१८) इति ।

'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य' (छा० ६।३।२) इति च। तस्माद्युक्तमेतत्—'अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्' (ब्र० सू० ३।२।१८) इति। तस्मान्निर्विकल्पकैकलिङ्गमेव ब्रह्म नोभयलिङ्गं विपरीतलिङ्गं चेति सिद्धम्। अत्र केचिद् द्वे अधिकरणे कल्पयन्ति। प्रथमं तावत्—किं प्रत्यस्तमिताशेषप्रपञ्चमेकाकारं ब्रह्मोत प्रपञ्चवदनेकाकारोपेतमिति। द्वितीयं तु—स्थिते प्रत्यस्तमितप्रपञ्चत्वे किं सल्लक्षणं ब्रह्मोत बोधलक्षणमुतोभयलक्षणमिति। अत्र वयं वदामः—सर्वथाप्यानर्थक्यमधिकरणान्तरारम्भस्येति। यदि तावदनेकलिङ्गत्वं परस्य ब्रह्मणो निराकर्तव्यमित्ययं प्रयासस्तत्पूर्वेणैव 'न स्थानतोऽपि' इत्यनेनाधिकरणेन निराकृतमित्युत्तरमधिकरणं 'प्रकाशवच्च' एतद् व्यर्थमेव भवेत्। न च सल्लक्षणमेव ब्रह्म न बोधलक्षणमिति शक्यं वक्तुम्, 'विज्ञानघन एवे'त्यादिश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। कथं वा निरस्तचैतन्यं ब्रह्म चेतनस्य जीवस्यात्मत्वेनोपदिश्येत। नापि बोधलक्षणमेव ब्रह्म न सल्लक्षणमिति शक्यं वक्तुम् 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' (क० ६।१३) इत्यादिश्रुतिवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। कथं वा निरस्तसत्ताको बोधोऽभ्युपगम्येत। नाप्युभयलक्षणमेव ब्रह्मेति शक्यं वक्तुम्, पूर्वाभ्युपगमविरोधप्रसङ्गात्। सत्ताव्यावृत्तेन च बोधेन बोधव्यावृत्तया च सत्तयोपेतं ब्रह्म प्रतिजानानस्य तदेव पूर्वाधिकरणप्रतिषिद्धं सप्रपञ्चत्वं ब्रह्मणः प्रसज्येत। श्रुतत्वाददोष इति चेत्। न। एकस्यानेकस्वभावत्वानुपपत्तेः। अथ—सत्तैव बोधो बोध एव च सत्ता नानयोः परस्परव्यावृत्तिरस्तीति—

यदुच्येत, तथापि किं सल्लक्षणं ब्रह्मोत बोधलक्षणमुतोभयलक्षणमित्ययं विकल्पो निरालम्बन एव स्यात्। सूत्राणि त्वेकाधिकरणत्वेनैवास्माभिर्नीतानि। अपि च ब्रह्मविषयासु श्रुतिष्वाकारवदनाकारप्रतिपादनेन विप्रतिपन्नास्वनाकारे ब्रह्मणि परिगृहीतेऽन्यस्य वक्तव्येतरासां श्रुतीनां गतिः। तादर्थ्येन प्रकाशवच्चेत्यादीनि सूत्राण्यर्थवन्तराणि सम्पद्यन्ते। यदप्याहुराकारवादिन्योऽपि श्रुतयः प्रपञ्चप्रविलयमुखेनानाकारप्रतिपत्त्यर्था एव न पृथगर्था इति, तदपि न समीचीनमिव लक्ष्यते। कथम्? ये हि परविद्याधिकारे केचित्प्रपञ्चा उच्यन्ते यथा 'युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेत्ययं वै हरयोऽयं वै दश च सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च' (बृ० २।५।१९) इत्येवमादयस्ते भवन्ति प्रविलयार्थाः 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (बृ० २।५।१९) इत्युपसंहारात्। ये पुनरुपासनाधिकारे प्रपञ्चा उच्यन्ते यथा 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः' (छा० ३।१४।२) इत्येवमादयो न तेषां प्रविलयार्थत्वं न्याय्यम्। 'स क्रतुं कुर्वीत' (छा० ३।१४।१) इत्येवंजातीयकेन प्रकृतेनैवोपासनविधिना तेषां संबन्धात्। श्रुत्या चैवंजातीयकानां गुणानामुपासनार्थत्वेऽवकल्प्यमाने न लक्षणया प्रविलयार्थत्वमवकल्पते। सर्वेषां च साधारणे प्रविलयार्थत्वे सति 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' (ब्र० सू० ३।२।१४) इति विनिगमनकारणवचनमनवकाशं स्यात्। फलमप्येषां यथोपदेशं क्वचिद् दुरितक्षयः क्वचिदैश्वर्यप्राप्तिः क्वचित्क्रममुक्तिरित्यवगम्यत एवेत्यतः पार्थगर्थ्यमेवोपासनावाक्यानां ब्रह्मवाक्यानां च न्याय्यं नैकवाक्यत्वम्। कथं चैषामेकवाक्यतोत्प्रेक्ष्यत इति वक्तव्यम्। एकनियोगप्रतीतेः प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्यवदिति चेत्। न। ब्रह्मवाक्येषु नियोगाभावात्। वस्तुमात्रपर्यवसायीनि हि ब्रह्मवाक्यानि न नियोगोपदेशीनीत्येतद्विस्तरेण प्रतिष्ठापितं 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इत्यत्र। किंविषयश्चात्र नियोगोऽभिप्रेयत इति वक्तव्यम्। पुरुषो हि नियुज्यमानः कुर्विति स्वव्यापारे कस्मिंश्चिन्नियुज्यते। ननु द्वैतप्रपञ्चप्रविलयो नियोगविषयो भविष्यति। अप्रविलापिते हि द्वैतप्रपञ्चे ब्रह्मतत्त्वावबोधो न भवत्यतो ब्रह्मतत्त्वावबोधप्रत्यनीकभूतो द्वैतप्रपञ्चः प्रविलाप्यः, यथा स्वर्गकामस्य यागोऽनुष्ठातव्य उपदिश्यत एवमपवर्गकामस्य प्रपञ्चप्रविलयः, यथा च तमसि व्यवस्थितं घटादितत्त्वमवबुभुत्समानेन तत्प्रत्यनीकभूतं तमः प्रविलाप्यते, एवं ब्रह्मतत्त्वमवबुभुत्समानेन तत्प्रत्यनीकभूतः प्रपञ्चः प्रविलापयितव्यः। ब्रह्मस्वभावो हि प्रपञ्चो न प्रपञ्चस्वभावं ब्रह्म, तेन नामरूपप्रपञ्चप्रविलापनेन ब्रह्मतत्त्वावबोधो भवतीति। अत्र वयं पृच्छामः—कोऽयं प्रपञ्चप्रविलयो नाम। किमग्निप्रतापसंपर्काद् घृतकाठिन्यप्रविलय इव प्रपञ्चप्रविलयः कर्तव्यः आहोस्विदेकस्मिंश्चन्द्रे तिमिरकृतानेकचन्द्रप्रपञ्चवदविद्याकृतो ब्रह्मणि नामरूपप्रपञ्चो विद्यया प्रविलापयितव्य इति। तत्र यदि तावत्-

द्वियमानोऽयं प्रपञ्चो देहादिलक्षण आध्यात्मिको बाह्यश्च पृथिव्यादिलक्षणः प्रविलापयितव्य इत्युच्यते स पुरुषमात्रेणाशक्यः प्रविलापयितुमिति तत्प्रविलयोपदेशोऽशक्यविषय एव स्यात्। एकेन चादिमुक्तेन पृथिव्यादिप्रविलयः कृत इतीदानीं पृथिव्यादिशून्यं जगदभविष्यत्। अथाविद्याध्यस्तो ब्रह्मण्येकस्मिन्नयं प्रपञ्चो विद्यया प्रविलाप्य इति ब्रूयात्, ततो ब्रह्मैवाविद्याध्यस्तप्रपञ्चप्रत्याख्यानेनावेदयितव्यम् 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इति। तस्मिन्नावेदिते विद्या स्वयमेवोत्पद्यते तया चाविद्या बाध्यते, ततश्चाविद्याध्यस्तः सकलोऽयं नामरूपप्रपञ्चः स्वप्नप्रपञ्चवत्प्रविलीयते। अनावेदिते तु ब्रह्मणि ब्रह्मविज्ञानं कुरु प्रपञ्चप्रविलयं चेति शतकृत्वोऽप्युक्ते, न ब्रह्मविज्ञानं प्रपञ्चप्रविलयो वा जायते। नन्वावेदिते ब्रह्मणि तद्विज्ञानविषयः प्रपञ्चविलयविषयो वा नियोगः स्यात्। न। निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मतत्त्ववदनेनैवोभयसिद्धेः। रज्जुस्वरूपप्रकाशनेनैव हि तत्स्वरूपविज्ञानमविद्याध्यस्तसर्पादिप्रपञ्चप्रविलयश्च भवति। नच कृतमेव पुनः क्रियते। नियोज्योऽपि च प्रपञ्चावस्थायां योऽवगम्यते जीवो नाम स प्रपञ्चपक्षस्यैव वा स्याद् ब्रह्मपक्षस्यैव वा। प्रथमे विकल्पे निष्प्रपञ्चब्रह्मतत्त्वप्रतिपादनेन पृथिव्यादिवज्जीवस्यापि प्रविलापितत्वात्कस्य प्रपञ्चप्रविलये नियोग उच्येत कस्य वा नियोगनिष्ठतया मोक्षोऽवाप्तव्य उच्येत। द्वितीयेऽपि ब्रह्मैवानियोज्यस्वभावं जीवस्य स्वरूपं जीवत्वं त्वविद्याकृतमेवेति प्रतिपादिते ब्रह्मणि नियोज्याभावान्नियोगाभाव एव। द्रष्टव्यादिशब्दा अपि परविद्याधिकारपठितास्तत्त्वाभिमुखीकरणप्रधाना न तत्त्वावबोधविधिप्रधाना भवन्ति। लोकेऽपीदं पश्येदमाकर्णयेति चैवंजातीयकेषु निर्देशेषु प्रणिधानमात्रं कुर्वित्युच्यते न साक्षाज्ज्ञानमेव कुर्विति। ज्ञेयाभिमुखस्यापि ज्ञानं कदाचिज्जायते कदाचिन्न जायते तस्मात्तं प्रति ज्ञानविषय एव दर्शयितव्यो ज्ञापयितुकामेन। तस्मिन्दर्शिते स्वयमेव यथाविषयं यथाप्रमाणं च ज्ञानमुत्पद्यते। न च प्रमाणान्तरेणान्यथाप्रसिद्धेऽर्थेऽन्यथाज्ञानं नियुक्तस्याप्युपपद्यते। यदि पुनर्नियुक्तोऽहमित्यन्यथाज्ञानं कुर्यान्न तु तज्ज्ञानं किं तर्हि मानसी सा क्रिया स्वयमेव चेदन्यथोत्पद्येत भ्रान्तिरेव स्यात्। ज्ञानं तु प्रमाणजन्यं यथाभूतविषयं च न तन्नियोगशतेनापि कारयितुं शक्यते। न च प्रतिषेधशतेनापि वारयितुं शक्यते। नहि तत्पुरुषतन्त्रं, वस्तुतन्त्रमेव हि तत्। अतोऽपि नियोगाभावः, किंचान्यन्नियोगनिष्ठतयैव पर्यवस्यत्याम्नाये यदभ्युपगतमनियोज्यब्रह्मात्मत्वं जीवस्य तदप्रमाणकमेव स्यात्। अथ शास्त्रमेवानियोज्यब्रह्मात्मत्वमप्याचक्षीत तदवबोधे च पुरुषं नियुञ्जीत ततो ब्रह्मशास्त्रस्यैकस्य व्यर्थपरता विरुद्धार्थपरता च प्रसज्येयाताम्। नियोगपरतायां च श्रुतहानिरश्रुतकल्पना कर्मफलवन्मोक्षफलस्यादृष्टफलस्यादृष्टफलत्वमनित्यत्वं चेत्येवमादयो दोषा न

केनचित्परिहर्तुं शक्या । तस्मादवगतिनिष्ठान्येव ब्रह्मवाक्यानि न नियोगनिष्ठानि । अतश्चैकनियोगप्रतीतेरेकवाक्यतेत्ययुक्तम् । अभ्युपगम्यमानेऽपि च ब्रह्मवाक्येषु नियोगसद्भावे तदेकत्वं निष्प्रपञ्चोपदेशेषु सप्रपञ्चोपदेशेषु चासिद्धम्। नहि शब्दान्तरादिभिः प्रमाणैर्नियोगभेदेऽवगम्यमाने सर्वत्रैको नियोग इति शक्यमाश्रयितुम् । प्रयाजदर्शपूर्णमासवाक्येषु त्वधिकारांशेनाभेदात्युक्तमेकत्वम्, नत्विह सगुणनिर्गुणचोदनासु कश्चिदेकत्वाधिकारांशोऽस्ति । नहि भारूपत्वादयो गुणा प्रपञ्चप्रविलयपकारिणः, नापि प्रपञ्चप्रविलया भारूपत्वादिगुणोपकारी, परस्परविरोधित्वात् । नहि कृत्स्नप्रपञ्चप्रविलापनं प्रपञ्चैकदेशापेक्षणं चैकस्मिन्धर्मिणि युक्तं समावेशयितुम् । तस्मादस्मदुक्त एव विभाग आकारवदनाकारोपदेशानां युक्ततर इति ॥ २१ ॥

परब्रह्म ही वो देहादिरूप उपाधियों के अन्दर में अनुप्रवेश को श्रुति दर्शाती है कि (परमात्मा ने दो पैरवाले मनुष्यादिशरीररूप पुरों को बनाया और चार पैर वाले पशु आदि शरीररूप पुरों को बनाया। तत्त्वादि की अभिव्यक्ति में प्रथम ही पक्षी (लिङ्गशरीरवाला) होकर वह परमात्मा ही रूप पुरुष पुर में प्रवेश किया, तथा प्रविष्ट होने पर भी स्वरूप से पुरुष (पूर्ण ही) रहा)। (इस जीवात्मा रूप से अनुप्रवेश करके नाम रूप को व्यक्त करूं) इत्यादि। इसमें (अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्) यह कथन युक्त है। जिससे निर्विकल्पक (निर्गुण) एकलिङ्ग (लक्षण) वाला ही ब्रह्म है। उभय लिङ्गवाला और विपरीत (विशेष) लिङ्गवाला नहीं है, यह सिद्ध हुआ। यहाँ कोई दो अधिकरण की कल्पना करते हैं (न स्थानतोपि) इत्यादि से प्रथम की कल्पना करते हैं कि क्या निरस्तसमस्तप्रपञ्चवाला एवं आकारवाला ब्रह्म है अथवा प्रपञ्च के समान अनेक आकार से युक्त ब्रह्म है। उस प्रथम अधिकरण में निरस्त प्रपञ्चवाला—प्रपञ्चशून्य ब्रह्म के स्थिर होने पर (प्रकाशवच्च) इत्यादि से द्वितीय की कल्पना करते हैं कि क्या ब्रह्म केवल सत्स्वरूप है, अथवा केवल बोधस्वरूप है, यद्वा उभयस्वरूप है। वहाँ सत्चिदुभयरूपता को पूर्वपक्ष करके (आह च तन्मात्रम्) इस सूत्र में सत्तामात्र सिद्धान्त सिद्ध करते हैं। यहाँ द्वितीय अधिकरण की अयुक्तता को भाष्यकार दर्शाते हैं, कि हम यहाँ कहते हैं कि अन्य अधिकरण के आरम्भ की सर्वथा अनर्थकता है। यदि द्वितीय अधिकरण से ब्रह्म का अनेकलिङ्गत्व निराकरण करना है इसके लिए यह अधिकरण की रचना रूप प्रयास हो, तो (न स्थानतोऽपि) इस पूर्व अधिकरण से ही अनेकलिङ्गत्व निराकृत हो चुका है। इससे (प्रकाशवच्च) इत्यादि उत्तर अधिकरण व्यर्थ ही होगा। ब्रह्म सत्स्वरूप ही है। बोध (ज्ञान) स्वरूप नहीं है ऐसा नहीं कह सकते हैं। जिससे बोधरूप नहीं मानने पर (विज्ञानघन ही ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियों की व्यर्थता की प्राप्ति होगी। चेतनतारहित ब्रह्म का चेतन जीव के आत्मारूप से कैसे उपदेश हो सकता है। ब्रह्मबोध ही स्वरूप है,

सत् स्वरूप नहीं है, यह भी नहीं कह सकते हैं। ऐसा मानने से (आत्मा है ऐसा ही समझना चाहिये) इत्यादि श्रुतियों की व्यर्थता की प्राप्ति होगी अथवा सत्तारहित बोध को कोई किस प्रकार समझेगा। उभय (पृथक् दो) स्वरूपवाला ही ब्रह्म है, यह भी नही कह सकते हैं। जिससे ऐसा मानने पर पूर्व के स्वाभ्युपगम (स्वीकृति) से विरोध की प्राप्ति होगी। सत्ता से व्यावृत्त (भिन्न) बोध और बोध से व्यावृत्त सत्ता, इन दोनों मे युक्त ब्रह्म की प्रतिज्ञा करने वाले को पूर्व अधिकरण में जिसका प्रतिषेध किया है, उसी ब्रह्म की सप्रपञ्चता की प्राप्ति होगी। अर्थात् निष्प्रपञ्च एक-रूपत्व पूर्व सिद्धान्त के विरोध से भिन्नोभयरूपत्वविषयक पूर्वपक्ष भी नहीं हो सकता है। श्रुति में सत्स्वरूप और ज्ञानस्वरूप ब्रह्म सुना गया है। इससे दोष नहीं है, अर्थात् पूर्वपक्ष का असम्भव नहीं है, श्रुतिबल से पूर्वपक्ष हो सकता है। यदि ऐसा कहो तो यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि श्रुतिबल से एक वस्तु को विरुद्ध अनेकस्वभावत्व की अनुपपत्ति होगी, अर्थात् श्रुति भी विरुद्ध अर्थ को नहीं कह सकती है। यदि कहो कि सत्ता ही बोध है, बोध ही सत्ता है, सत्ता और बोध इन दोनों को परस्पर व्यावृत्ति (भेद) नहीं है। दोनों अखण्ड स्वरूप हैं। तो भी ब्रह्म क्या सत् स्वरूप है अथवा बोध स्वरूप है, अथवा उभयस्वरूप है। इस प्रकार अखण्डवस्तुविषयक विकल्प (संशय) निरालम्बन (निराश्रय-निर्विषय) ही होगा। इससे दूसरा अधिकरण अयुक्त है। हमने तो एक अधिकरणरूप से भी सूत्रों की सङ्गति-योजना की है। दूसरी बात है कि साकार और निराकार ब्रह्म का प्रतिपादन के द्वारा परस्पर विरोधयुक्त श्रुतियों के रहते निराकार ब्रह्म को स्वीकार करने पर अन्य श्रुतियों की गति (विषय-आश्रय) अवश्य कहना चाहिये। इससे उस गति को कहने, प्रदर्शन कराने के लिए, 'प्रकाशवच्च' इत्यादि सूत्र अत्यन्त सार्थक सिद्ध होते हैं। इससे अधिकरण का भेद नहीं है और जो कोई यह कहते हैं कि (मनोमयः प्राणशरीरः सत्यकामः) इत्यादि ब्रह्म के आकारो को कहने वाली भी श्रुतियां (ब्रह्म मनोमय है। परन्तु अन्य उपाधि रहित है। प्राण शरीरवाला है अन्य शरीररहित है, सत्य कामवाला है अन्य काम रहित है) इस प्रकार से प्रपञ्च का क्रमशः विलय द्वारा निराकार के ज्ञानार्थ कही हैं। पृथक् उपासना आदि प्रयोजन के लिए नहीं हैं। वह कथन समीचीन (उचित) सा नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि पर विद्या के प्रकरण में जो कोई प्रपञ्च कहे जाते हैं। जैसे कि (रथ में युक्त-लगे घोड़ों के समान इस आत्मा के हरणशील हरि-घोड़े इन्द्रियां सौ हैं दश हैं, यह आत्मा ही हरि है। यही दश इन्द्रिय रूप है, और प्राणिभेद से कितने सहस्र और बहुत और अनन्त है) इत्यादि प्रपञ्च हैं। वे प्रविलयार्थक है। यह प्रविलयार्थत्व (सो यह ब्रह्मात्मा कार्य-कारण रहित और बाह्य-अन्तर रहित है) इस उपसंहार से सिद्ध और प्रतीत होता है। और जो उपासना प्रकरण में प्रपञ्च कहे जाते हैं, जैसे कि (आत्मा मनोमय और प्राणरूप शरीरवाला ज्ञानस्वरूप है) इत्यादि। उनका प्रविलयार्थत्व न्याय युक्त नहीं है, क्योंकि (वह

उपासक क्रतु सकल्प चिन्तन करे) इस प्रकार की प्रकृत उपासनाविधि के साथ उनको सम्बन्ध है। और इस प्रकार के मनोमयत्वादि गुणो को श्रुति की शक्तिवृत्ति से उपासनार्थकत्व के अवकल्पित-सिद्ध होते, लक्षणा द्वारा प्रविलयार्थकत्व नही सिद्ध हो सकता है। और साकार-निराकार श्रुति के विरोध होते ब्रह्म निराकार ही है, इस मे नियामक क्या है, ऐसी शका होने पर, अस्थूलादि श्रुति का तात्पर्य नियामक है, इस अर्थ को कहने के लिये 'अरूपवदेव' इत्यादि सूत्र है, और सब प्रपञ्चो के साधारण रूप से विलयार्थक निराकार विषय के होने पर शका के अभाव से (अरूपवदेव) इत्यादि नियामक कारण का कथन अनवकाश (व्यर्थ) होगा। और यदि कहो कि निष्प्रपञ्च वाक्य फलवाले हैं, इससे निष्फल सप्रपञ्च वाक्य उनके ही अङ्ग हैं, तो सो कहना ठीक नही। इन सप्रपञ्च वाक्यजन्य उपासनाओ का फल भी उपदेश के अनुसार कही पाप का नाश, कही ऐश्वर्य की प्राप्ति कही क्रममुक्ति ये अवगत (अनुभूत) होते ही है, इससे उपासनावाक्य और ब्रह्मवाक्यो की पृथगर्थता ही न्याययुक्त है। प्रविलयार्थता रूप एकवाक्यता (एकार्थता) युक्त नही है। और इनकी एकवाक्यता कैसे उत्प्रेक्षित (कल्पित सिद्ध) होती है सो कहना चाहिये। यदि कहो कि अङ्ग रूप प्रयाज याग और प्रधान स्वरूप दर्श-पूर्णमास के बोधक वाक्यो की एकवाक्यता जैसे एक प्रधानापूर्वरूप नियोग (फल) से होता है। इसी प्रकार यहाँ भी एक प्रपञ्चविषयक एक अपूर्व अनुभवादि रूप एक नियोग की प्रतीति से एकवाक्यता सिद्ध होती है (नियुज्यते सम्बध्यतेऽनेनेति नियोग) जिसमे सम्बन्ध हो उसको नियोग कहते है। फल पुरुष की प्रेरणा करता है। या विधि प्रेरणा करती है। तब पुरुष किसी काम म फल के श्रवण से विधि के अनुसार प्रवृत्त होता है। विधि को भी नियोग कहते हैं। दर्श-पूर्णमास के समान ब्रह्मवाक्यो मे दर्शपूर्णमासादि के समान नियोग अपूर्व वा विधि के अभाव से उसके समान एकवाक्यता नहीं हो सकती है। जिससे वस्तुमात्र मे ब्रह्मवाक्यो का पर्यवसान (तात्पर्य अन्तिम स्थिति) है। इससे ब्रह्मवाक्य नियोग (अपूर्वादि) का उपदेश देने वाले नही हैं। यह अर्थ विस्तारपूर्वक (तत्तु समन्वयात्) इस सूत्र में प्रतिष्ठापित (प्रतिपादित) किया गया है। यहाँ किस विषयक नियोग विधि अभिप्रेत है, सो विषय कहना चाहिए। जिससे कहो इस प्रकार नियुज्यमान (नियुक्त प्रेरित) पुरुष अपने किसी व्यापार म नियुक्त किया जाता है। ब्रह्मवाक्य म व्यापार का अभाव है। यहाँ प्रपञ्च प्रविलयवादी कहता है कि द्वैत प्रपञ्च का प्रविलय नियोग (विधि) का विषय होगा। जिससे द्वैतप्रपञ्च को प्रविलापित (नष्ट) किये बिना ब्रह्म तत्त्व का अवबोध (अनुभव), नहीं होता है। अत ब्रह्म तत्त्व के अवबोध का विरोधी प्रतिबन्धक रूप द्वैत प्रपञ्च का प्रविलय कर्तव्य है। जैसे स्वर्ग की इच्छा वाली के प्रति अनुष्ठान के योग्य (कर्तव्य) याग का उपदेश दिया जाता है। इसी प्रकार अपवर्ग की इच्छा वाले मुमुक्षुओ के प्रति प्रपञ्च प्रविलय का उपदेश दिया जाता है। जैसे अन्धकार म वर्तमान घटादि वस्तु को

समझने की इच्छा वालों से उस ज्ञान के विरोधी अन्धकार का प्रविलय किया जाता है। इसी प्रकार ब्रह्मतत्त्व को जानने की इच्छा वालों से उस ज्ञान के विरोधी प्रपञ्च का प्रविलय कर्तव्य है। यदि कहा जाय की प्रपञ्च रूपता को ब्रह्म ने ही धारण किया है। इससे प्रपञ्च के प्रविलय से ब्रह्म का प्रविलय प्राप्त होगा। वहाँ कहा जाता है कि ब्रह्मस्वभाव वाला (ब्रह्म की सत्ता से सत्ता वाला) प्रपञ्च है। प्रपञ्चस्वभाव वाला ब्रह्म नहीं है स्वतः सत्य स्वरूप है। कार्य रूप कारण की सत्ता नहीं होती है, कारण रूप कार्य की सत्ता होती है, इससे कार्य के प्रविलय से कारण मात्र अवशेष रहेगा उसका प्रविलय नहीं होगा। जिसमे नामरूपात्मक प्रपञ्च के प्रविलायन के द्वारा ब्रह्म तत्व का अवबोध (अनुभव) होता है। ऐसी शंका होने पर भाष्यकार कहते है कि हम यहाँ पूछते हैं कि यह प्रपञ्च का प्रविलय नाम कौन पदार्थ है। क्या अग्नि के प्रताप (तेज) के सम्बन्ध से घृत की कठिनता के प्रविलय के समान प्रपञ्च का प्रविलय कर्तव्य है। अथवा एक चन्द्र में तिमिररूप नेत्र के दोष से किये गये (भासित) अनेक चन्द्र प्रपञ्च के समान ब्रह्म में अविद्या कृत नामरूप का प्रपञ्च विद्या से प्रविलय करने योग्य है। वहाँ यदि देहादिरूप आध्यात्मिक और पृथिवी आदि रूप बाह्य विद्यमान यह प्रपञ्च प्रविलय करने योग्य है, यह कहा जाता है, तो वह विद्यमान सत्य प्रपञ्च पुरुष मात्र से प्रविलायन (नाशन) के लिए अशक्य है, इससे उस प्रपञ्च का प्रविलय विषयक उपदेश अशक्य विषयक ही होगा। और एक आदि मुक्त से पृथिवी आदि का प्रविलय किया जा चुका है, इससे इस समय पृथिवी आदि से शून्य जगत् को होना चाहिए, अर्थात् एक के मुक्त होते ही जगत का अभाव हो गया होता यदि कहे कि एक ब्रह्म में अविद्या से अध्यस्त (कल्पित) यह प्रपञ्च विद्या से प्रविलीन किया जाता है। तब तो अविद्या से अध्यस्त प्रपञ्च का प्रत्याख्यान (निषेध) के द्वारा ब्रह्म ही आवेदन (उपदेश) के योग्य है कि (एक द्वैत रहित ब्रह्म है। वह सबका कारण परम सूक्ष्म सत स्वरूप जो वस्तु है वह सत्य है। वह आत्मा है, वही तुम हो)उस ब्रह्म के आवेदित (उपदिष्ट) होने पर अधिकारी में विद्या स्वयं ही उत्पन्न होती है, प्रपञ्च विलय से नहीं उत्पन्न होती है, और उस विद्या से अविद्या बाधित होती है (मिथ्या निश्चित होती है निवृत्त होती है) तब कारण के अभाव से अविद्या से अध्यस्त सम्पूर्ण यह नामरूप का प्रपञ्च स्वप्नप्रपञ्च के समान प्रविलीन होता है। ब्रह्म के अनावेदित (अनुपदिष्ट) होवे तो, ब्रह्मविज्ञान करो, और प्रपञ्च का प्रविलय करो इस प्रकार सौ बार कहने पर भी, न ब्रह्मविज्ञान उत्पन्न होता है, न प्रपञ्च का प्रविलय उत्पन्न होता है। शंका होती है कि ब्रह्म के आवेदित (उपदिष्ट) होने पर ब्रह्मविज्ञान-विषयक वा प्रपञ्चविलयविषयक नियोग (विधि) होगा। वहाँ कहा जाता है कि ब्रह्मतत्त्व के आवेदन से ही विज्ञान और प्रविलय दोनों के सिद्ध होने से विधि की जरूरत नहीं है, उपदेश से सिद्ध फल के लिए विधि निरर्थक है। रज्जु के स्वरूप के प्रकाशन से ही उसके स्वरूप का विज्ञान, और अविद्या से अध्यस्त सर्पादि का प्रविलय होता है,

विधि से नहीं। किया हुआ सिद्ध कार्य ही फिर नहीं किया जाता है। नियोग का विषय नियोज्य (प्रवृत्त) के अभाव में भी यहाँ नियोग नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रपञ्चावस्था में जो जीव नाम वाला नियोज्य भी अवगत (ज्ञात) होता है, वह या तो प्रपञ्च पक्ष का (प्रपञ्च के अन्तर्गत) होगा, या तो ब्रह्म पक्ष का होगा। वहाँ प्रथम विकल्प में प्रपञ्च पक्ष के जीव के होने पर निष्प्रपञ्च ब्रह्मतत्त्व के प्रतिपादन द्वारा पृथिवी आदि के समान जीव के प्रविलापित (बाधित) होने से किस को प्रपञ्च के प्रविलय में नियोग कहा जायगा। या नियोग में निष्ठता (स्थिरता) से प्राप्त होने योग्य मोक्ष किसका कहा जायगा। दूसरे विकल्प में भी अनियोज्य स्वभाव वाला ब्रह्म ही जीव का स्वरूप है। उसमें जीवत्व अविद्याकृत ही है, इस प्रकार ब्रह्म के प्रतिपादित उपदिष्ट होने पर नियोज्य के अभाव से नियोग का अभाव ही सिद्ध होता है। यदि कहो कि (आत्मा द्रष्टव्य) इत्यादि विधि वाक्यों की क्या गति होगी कि यदि नियोग का अभाव है, तो कहा जाता है कि परविद्याप्रकरण में पठित द्रष्टव्यादि शब्द भी तत्त्व के अभिमुखकरणप्रधान वाले हैं, अर्थात् तत्त्व के अभिमुख करने में उनका तात्पर्य है, तत्त्व के अनभिमुख को तत्त्व के अभिमुख करना ही जिनका प्रधान कार्य है, ऐसे वे शब्द हैं, तत्त्वबोध का विधानरूप प्रधान (तात्पर्य) वाले नहीं हैं, लोक में भी इस को देखो, इसको सुनो, इस प्रकार के निर्देशों (विधियों-आज्ञाओं) में प्रणिधान (चित्त सावधान) मात्र करो यह कहा जाता है। साक्षात् ज्ञान ही करो, ऐसा नहीं कहा जाता है। ज्ञेय के अभिमुख को भी कभी ज्ञान होता है, कभी नहीं होता है, इससे उस ज्ञेयाभिमुख के प्रति, अर्थात् सावधान जिज्ञासु के प्रति उसे समझाने की इच्छावाले गुरु द्वारा ज्ञान का विषय ही उपदेश से दर्शन योग्य होता है और उस ज्ञान के विषय के दर्शित (उपदिष्ट) आदि होने पर विषय और प्रमाण के अनुसार ज्ञान स्वयम् ही उत्पन्न होता है। प्रमाणान्तर से अन्यथा (अन्यरूप से) प्रसिद्ध अर्थ विषयक नियुक्त को भी अन्यथा ज्ञान (प्रसिद्धि से विपरीत ज्ञान) नहीं उत्पन्न होता है और स्त्री आदि को अग्नि से भिन्न समझते हुए भी उपासक यदि समझता है कि मैं इन्हें अग्नि रूप से चिन्तन के लिए शास्त्रादि से नियुक्त (आज्ञप्त) हूँ, और ऐसा समझ कर अन्यथा ज्ञान (अग्नि ज्ञान) करता है। शालग्राम में चतुर्भुजादि ज्ञान करता है, तो वस्तुतः वह ज्ञान नहीं है, किन्तु आज्ञाजन्य वह मानसी क्रिया है। नियोग के बिना स्वयं यदि, अन्यथा ज्ञान उत्पन्न हो तो वह भ्रान्ति ही होगी। ज्ञान तो प्रमाणजन्य और जैसा विषय रहता है वैसा ही होता है। प्रमाण और विषय के बिना सैकड़ों नियोगों से ज्ञान कराया नहीं जा सकता है। प्रमाण तथा विषय के उपस्थित रहते सैकड़ों निषेधों से ज्ञान का वारण नहीं किया जा सकता है, जिससे वह ज्ञान पुरुष के अधीन नहीं है, किन्तु वस्तु के अधीन ही वह ज्ञान है, इससे भी नियोग का अभाव है। दूसरी बात है कि नियोग (विधि) निष्ठता रूप से ही आम्नाय (वेदान्त) के पर्यवसन्न (निश्चित) होने पर, अनियोज्य ब्रह्मात्मता जो जीव को माना गया है, वह प्रमाणरहित ही होगा।

यदि शास्त्र ही जीव की अनियोज्य ब्रह्मात्मता को भी कहे, और उसके ज्ञान में पुरुष को नियुक्त भी करे, तो एक ही ब्रह्मविषयकशास्त्र को दो अर्थ की प्रतिपादकता और विरुद्धार्थ प्रतिपादकता प्राप्त होगी। वेदान्त की नियोगपरता (नियोग में तात्पर्य) को मानने पर श्रुत ब्रह्मार्थ की हानि (त्याग) होगी और अश्रुत विधि की कल्पना होगी। विधि की कल्पना होने पर, कर्मफल के समान मोक्षरूप फल को भी अदृष्ट (धर्म) जन्यत्व और अनित्यादि रूप दोष किसी से निवारण नहीं किये जा सकेंगे। इससे ज्ञान में निष्ठा (स्थिति) वाले ही ब्रह्म वाक्य हैं, नियोगनिष्ठ नहीं हैं, यह सिद्ध होता है। इससे एक नियोग की प्रतीति से साकार निराकार वाक्यों की एकवाक्यता है यह कथन अयुक्त है। ब्रह्मबोधक वाक्यों में नियोग की सत्ता को मानने पर भी, निष्प्रपञ्च ब्रह्म के उपदेशों और सप्रपञ्च ब्रह्म के उपदेशों में उस नियोग का एकत्व असिद्ध है, क्योंकि, यजति, ददाति, इत्यादि शब्दभेद, प्रकरणभेदादि रूप प्रमाणों से नियोग के भेद के अवगत होते, सर्वत्र एक नियोग है, ऐसा आश्रयण स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार यहां, वेद, उपासीत, इत्यादि शब्दभेद प्रकरणभेदादि हैं और प्रयाज-दर्शपूर्णमास वाक्यों में तो अधिकारांश द्वारा अभेद होने से, अर्थात् अङ्गयुक्त प्रधानयाग में एक स्वर्गेच्छु का अधिकार होने से, साङ्गयज्ञ से साध्य फलार्थक अपूर्व (अदृष्ट) के एक होने से वह नियोग की एकता युक्त है। यहाँ सगुण-निर्गुण विधियों में कोई अधिकारांश एकत्व को सिद्ध करनेवाला नहीं है, अर्थात् एकत्व को नियोग में सिद्ध करने वाला फलादि वा अधिकारी का कोई विशेषण नहीं है। मुमुक्षु और अभ्युदयेच्छु अधिकारी के भेद से निर्गुण-सगुण विद्याओं में अङ्गाङ्गिभाव नहीं है, इससे नियोग की एकता नहीं है। अङ्गाङ्गिभाव नहीं होने से ही उपकार्य-उपकारक भाव नहीं है। रूपत्वादि गुण प्रपञ्च प्रविलय के उपकारक नहीं हैं, न प्रपञ्च प्रविलय ही भारूपत्वादि गुणों का उपकारक है, क्योंकि इन्हें परस्पर विरोधित्व है। जिससे एकधर्मी (ब्रह्म) में सम्पूर्ण प्रपञ्च का प्रविलापन और भारूपत्व सत्यकामत्व मनोमयत्वादि रूप प्रपञ्च के एकदेश का अपेक्षण (स्थापन) का समावेश करना युक्त नहीं हो सकता है, इससे भाष्यकार कहते हैं कि हम से कहा गया हुआ ही साकार-निराकार उपदेशों का विभाग युक्ततर है (अत्यन्त-युक्त है) ॥ २१ ॥

प्रकृतैतावत्त्वाधिकरण ॥ ६ ॥

ब्रह्मापि नेति नेतीति निषिद्धमथवा नहि। द्विरुक्त्या ब्रह्मजगती निषिध्येते उभे अपि॥
वीप्सेयमितिशब्दोक्ता सर्वदृश्यनिषिद्धये। अनिदं सत्यसत्यं च ब्रह्मैकं शिष्यतेऽवधिः॥

'नेति-नेति' यह श्रुति, पूर्व में प्रधानरूप से प्रकृत ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त स्वरूप मात्र एतावत्त्व (परिच्छिन्नत्व) का प्रतिषेध करती है, ब्रह्म मूर्तामूर्त के विशेषण होने से अप्रधान है, उसको निषेध के साथ सम्बन्ध नहीं है। यह कैसे समझा जाता है, तो जिससे उस निषेध के अनन्तर फिर ब्रह्म का ही कथन उपदेश श्रुति करती है।

यहाँ संशय होता है कि पूर्वनिर्दिष्ट सब वस्तु की इति शब्द से उपस्थिति द्वारा ब्रह्म भी नेति-नेति शब्द से निषिद्ध होता है अथवा ब्रह्म नहीं निषिद्ध होता है। पूर्वपक्ष है कि द्विवार के कथन द्वारा शून्यवाद के अभिप्राय में ब्रह्म और मूर्तामूर्तात्मक जगत दोनों का निषेध किया जाता है। सिद्धान्त है कि इति शब्द इदन्ता विषयरूप से ज्ञेय वस्तु का बोधक है, इससे मूर्तामूर्त से उपलक्षित अनात्ममात्र सर्व दृश्य का निषेध के लिये यह इति शब्द से कही गई वीप्सा इच्छा विषय व्याप्ति है। इस व्याप्ति से युक्त न शब्द सभी इद का ही निषेध करता है, इससे सत्य का सत्य अनिदंरूप एवब्रह्म निषेध का अवधिरूप से शेष रहता है उसका निषेध नहीं हो सकता है ॥ १–२ ॥

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥२२॥

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च' मर्त्यं चामर्त्यं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च (बृ० २।३।१) इत्युपक्रम्य पञ्चमहाभूतानि द्वैराश्येन प्रविभज्यामूर्तरसस्य च पुरुषशब्दोदितस्य माहारजनादीनि रूपाणि दर्शयित्वा पुनः पठ्यते—'अथात आदेशो नेति नेति नह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्ति' (बृ० २ । ३ । ६) इति। तत्र कोऽस्य प्रतिषेधस्य विषय इति जिज्ञासामहे। नह्यत्रेदं तदिति विशेषितं किंचित्प्रतिषेध्यमुपलभ्यते। इतिशब्देन त्वत्र प्रतिषेध्यं किमपि समर्प्यते नेति नेतीति परत्वान्नञ्प्रयोगस्य इतिशब्दश्चायं संनिहितालम्बन एवंशब्दसमानवृत्तिः प्रयुज्यमानो दृश्यते 'इति ह स्मोपाध्यायः कथयति' इत्येवमादिषु। संनिहितं चात्र प्रकरणसामर्थ्याद्रूपद्वयं सप्रपञ्चं ब्रह्मणः, तच्च ब्रह्म यस्य ते द्वे रूपे, तत्र नः संशय उपजायते—किमयं प्रतिषेधो रूपे रूपवच्चोभयमपि प्रतिषेधत्याहोस्विदेकतरम्। यदाप्येकतरं तदापि किं ब्रह्म प्रतिषेधति रूपे परिशिनष्ट्याहोस्विद्रूपे प्रतिषेधति ब्रह्म परिशिनष्टीति। तत्र प्रकृतत्वाविशेषादुभयमपि प्रतिषेधतीत्याशङ्कामहे। द्वौ चैतौ प्रतिषेधौ द्विर्नेतिशब्दप्रयोगात्। तयोरेकेन सप्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपं प्रतिषिध्यतेऽपरेण रूपवद्ब्रह्मेति भवति मतिः। अथवा ब्रह्मैव रूपवत्प्रतिषिध्यते तद्धि वाङ्मनसातीतत्वादसंभाव्यमानसद्भावं प्रतिषेधार्हम्, नतु रूपप्रपञ्चः प्रत्यक्षादिगोचरत्वादप्रतिषेधार्हः। अभ्यासस्त्वादरार्थ इति।

ब्रह्म के दो ही रूप हैं, एक मूर्त ही है, जो तेज, जल, भूमिरूप है, और एक अमूर्त ही है जो वायु, आकाशरूप है, यहाँ मूर्त ही मर्त्य (मरणशील), स्थित (परिच्छिन्न) और सत (विशेष प्रत्यक्ष धर्म वाला) है। अमूर्त, ही अमर्त्य, यद और त्यत् है। इस प्रकार उपक्रम करके पाँच महाभूतों को उक्त रीति से दो राशि(पुञ्ज)रूप से विभाग करके और अमूर्त का रस(सार)रूप पुरुष शब्द से कथित हिरण्यगर्भ सूक्ष्म शरीर के महारजन (हल्दी से रंगा हुआ वस्त्र) आदि तुल्य विचित्र रूपों को दर्शा कर फिर

पढ़ा जाता है कि (मूर्तामूर्त के निर्देश के अनन्तर जिससे अवशिष्ट उपदेश योग्य मूर्तामूर्त रहित ब्रह्म ही है, इससे अब नेति-नेति यह ब्रह्म का आदेश (उपदेश) है, नेति-नेति इससे अन्य पर (उत्तम) निर्देशन (उपदेश) नहीं है। यहाँ जिज्ञासा करते हैं, जानना चाहते है कि इस निषेध का विषय क्या है, जिससे यहाँ प्रतिषेध के योग्य विशेष रूप निर्दिष्ट नहीं उपलब्ध होता है कि वह निषेधार्ह यह है। इति शब्द से तो यहां कोई प्रतिषेध योग्य सामान्य रूप से समर्पित (प्राप्त) होता है, जिससे नेति-नेति यहाँ इति शब्द जिससे परे है ऐसा नञ् (न) शब्द का प्रयोग है, इससे सामान्य अर्थ समर्पित होता है। सामान्य अर्थ को कहने वाला भी यह इति शब्द एवं शब्द के समान वृत्ति (शक्ति) वाला होने से सन्निहित आलम्बन (विषय) में ही प्रयुज्यमान प्रयुक्त उच्चारित देखा जाता है, जैसे कि (यह उपाध्याय ने कहा) इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त होता है। यहाँ प्रकरण के सामर्थ्य से ब्रह्म के सप्रपञ्च (विस्तारयुक्त) दो रूप सन्निहित (पास में) हैं। ब्रह्म वह है जिसके दो रूप हैं। यहाँ हमें संशय होता है कि क्या यह प्रतिषेध दोनों रूप और रूप वाला दोनों का प्रतिषेध करता है, अथवा दोनों में से एक का प्रतिषेध करता है, और जब एक का प्रतिषेध करता है, तब भी क्या ब्रह्म का प्रतिषेध करता है, और दो रूपों को परिशेष रखता है, अथवा दोनों रूपों का प्रतिषेध करता है, और ब्रह्म को परिशेष रखता है। यहाँ प्रकृतत्व के अविशेष (तुल्य) होने से रूप और ब्रह्म दोनों का ही प्रतिषेध करता है इस प्रकार पूर्वपक्षीरूप से आशङ्का कर सकते हैं। दो बार नेति शब्द के प्रयोग से ये दो प्रतिषेध हैं। उन दोनों में से एक नेति के द्वारा सप्रपञ्च ब्रह्म का रूप प्रतिषिद्ध होता है और दूसरे द्वारा रूप वाला ब्रह्म प्रतिषिद्ध होता है, ऐसी मति (प्रतीति) होती है। अथवा रूप वाला ब्रह्म का ही प्रतिषेध किया जाता है, मन, वाणी का अविषय होने से असम्भावित सत्ता वाला वह ब्रह्म प्रतिषेध के योग्य है और प्रत्यक्षादि का विषय होने से रूप प्रपञ्च प्रतिषेध के योग्य नहीं है। नेति का अभ्यास तो आदर के लिए है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न तावदुभयप्रतिषेध उपपद्यते शून्यवादप्रसङ्गात्। किंचिद्धि परमार्थमालम्ब्यापरमार्थः प्रतिषिध्यते यथा रज्ज्वादिषु सर्पादयः। तच्च परिशिष्यमाणे कस्मिंश्चिद्भावेऽवकल्पते। कृत्स्नप्रतिषेधे तु कोऽन्यो भावः परिशिष्येत। अपरिशिष्यमाणे चान्यस्मिन्य इतरः प्रतिषेद्धुमारभ्यते प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात्तस्यैव परमार्थत्वापत्तेः प्रतिषेधानुपपत्तिः। नापि ब्रह्मप्रतिषेध उपपद्यते 'ब्रह्म ते ब्रवाणि' (बृ० २।१।१) इत्याद्युपक्रमविरोधात्। 'असन्नेव स भवति, असद्ब्रह्मेति वेद चेत्' (तैत्ति० २।६।१) इत्यादिनिन्दाविरोधात्, 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' (कठ० ६।१३) इत्यवधारणविरोधात्, सर्ववेदान्तव्याकोपप्रसङ्गाच्च। वाङ्मनसातीतत्वमपि ब्रह्मणो नाभावाभिप्रायेणाभिधीयते, नहि महता परिकरबन्धेन 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१।१)

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) इत्येवमादिना वेदान्तेषु ब्रह्म प्रतिपाद्य तस्यैव पुनरभावोऽभिलप्येत । 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति हि न्यायः ।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि शून्यवाद की प्राप्ति से दोनों का निषेध तो उपपन्न नहीं हो सकता है। किसी परमार्थ (सत्य) का अवलम्ब लेकर असत्य का प्रतिषेध किया जाता है। जैसे कि रज्जु आदि में सर्पादि का प्रतिषेध किया जाता है। वह परमार्थ का अवलम्बन और प्रतिषेधन किसी भाव वस्तु के परिशेष रहते ही सिद्ध होता है। सब का प्रतिषेध करने पर तो अन्य भाव कौन परिशेष रहेगा कि जिसके अवलम्बन से प्रतिषेध होगा। निरधिष्ठान प्रतिषेध का असंभव है, अधिष्ठान की प्रमा से ही कल्पित की निवृत्ति के लिए उपदेश होता है। अन्य भाव के अपरिशेष रहने पर, जिस इतर पदार्थ का प्रतिषेध आरम्भ किया जाता है, अधिष्ठान प्रमा के बिना उसी का प्रतिषेध के अशक्य होने से उसी की परमार्थत्व (सत्यत्व) की प्राप्ति से प्रतिषेध की अनुपपत्ति होगी। ब्रह्म का प्रतिषेध भी उपपन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि ब्रह्म के निषेध पक्ष में (तेरे लिए ब्रह्म कहूँगा) इत्यादि उपक्रम से विरोध होगा। (ब्रह्म असत् है ऐसा जो जानता है वह स्वयं असत् होता है) इत्यादि निन्दा विरोध से, और (ब्रह्म है, आत्मा है, ऐसा ही समझना चाहिए) इस अवधारण के विरोध से, और सब वेदान्त का बाधविरोध की प्राप्ति से ब्रह्म का निषेध नहीं हो सकता है। ब्रह्म के वाक् और मन का अविषयत्व भी ब्रह्म के अभाव के अभिप्राय से नहीं कहा जाता है, जिससे (ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को प्राप्त होता है। सत्य ज्ञान अनन्त स्वरूप ब्रह्म) इत्यादि महान् परिकर (प्रयत्न) के प्रबन्ध द्वारा वेदान्तों में ब्रह्म का प्रतिपादन करके फिर उसी का अभाव नहीं कहा जा सकता है। लौकिक न्याय है कि (पङ्क देह में लगा कर उसे धोने की अपेक्षा दूर स्थिति से उसका स्पर्श नहीं करना श्रेष्ठ है)।

प्रतिपादनप्रक्रिया त्वेषा 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० २।४।१) इति । एतदुक्तं भवति—वाङ्मनसातीतमविषयान्तःपाति प्रत्यगात्मभूतं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं ब्रह्मेति । तस्माद्ब्रह्मणो रूपप्रपञ्चं प्रतिषेधति परिशिनष्टि ब्रह्मेत्यभ्युपगन्तव्यम् । तदेतदुच्यते प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधतीति । प्रकृतं यदेतावदियत्तापरिच्छिन्नं मूर्तामूर्तलक्षणं ब्रह्मणो रूपं तदेष शब्दः प्रतिषेधति । तद्धि प्रकृतं प्रपञ्चितं च पूर्वस्मिन्ग्रन्थेऽधिदैवतमध्यात्मं च, तज्जनितमेव च वासनालक्षणमपरं रूपममूर्तरसभूतं पुरुषशब्दोदितं लिङ्गात्मव्यपाश्रयं माहारजनाद्युपमाभिर्दर्शितम् । अमूर्तरसस्य पुरुषस्य चक्षुर्ग्राह्यरूपयोगित्वानुपपत्तेः । तदेतत्सप्रपञ्चं ब्रह्मणो रूपमविनिहितालम्बनेनेतिकरणेन प्रतिषेधकेनञ्प्रत्युपनीयत इति गम्यते । ब्रह्म तु रूपविशेषणत्वेन षष्ठ्या निर्दिष्टं पूर्वस्मिन्ग्रन्थे न स्वप्रधानत्वेन । प्रपञ्चिते च

तदीये रूपद्वये रूपवतः स्वरूपजिज्ञासायामिदमुपक्रान्तम् 'अथात आदेशो नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति। तत्र कल्पितरूपप्रत्याख्यानेन ब्रह्मणः स्वरूपावेदनमिदमिति निर्णीयते।

(मन सहित वाक् जिस में नहीं पहुँच कर लौटता है) यह तो ब्रह्म को प्रतिपादन करने की प्रक्रिया (प्रकार) है। इससे यह उक्त (वर्णित) होता है कि ब्रह्म मन वाक् का अविषय है, अत एव विषयों के अन्तःपाती (मध्यवर्ती) नहीं है, इससे सबका प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा) स्वरूप और नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध, नित्य मुक्त स्वभाव है। अर्थात् अन्तरात्मा होते भी कर्ता-भोक्ता आदि स्वरूप नहीं है किन्तु साक्षिमात्र ब्रह्म है। इसी से नेति-नेति यह श्रुति ब्रह्म के मायामय रूप प्रपञ्च का प्रतिषेध करती है और ब्रह्म को परिशेष रखती है। ऐसा अभ्युपगम (स्वीकार-अनुभव) करना चाहिए। इससे यह कहा जाता है कि (प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति) इति। प्रकृत (प्रकरण में प्राप्त) जो एतावत् इयत्ता से परिच्छिन्न (परिमित) मूर्त और अमूर्त स्वरूप ब्रह्म का रूप है उसका नेति-नेति यह शब्द प्रतिषेध करता है, जिससे वही अधिदैवत और अध्यात्म ब्रह्म का रूप पूर्वग्रंथ में प्रकृत है—प्रपञ्चित (विस्तार से वर्णित) है। उसी से उत्पन्न हुआ ही वासना स्वरूप ब्रह्म का अन्य रूप है। जो अमूर्त का रस स्वरूप, पुरुष शब्द से वर्णित, लिङ्गात्मा (हिरण्यगर्भ) आश्रित, और महारजनादि उपमाओं के द्वारा दर्शित है। जिससे अमूर्त के रस (सार) रूप पुरुष को चक्षु से ग्रहण योग्य रूप के योगित्व (संबन्धित्व) की अनुपपत्ति है। इससे वह वासनामय रूपों से उपमित होता है। प्रसिद्ध रूप वाला नहीं होता है। इससे यह विस्तारयुक्त ब्रह्म का रूप सन्निहित विषयक इति शब्दरूप करण (साधन) के द्वारा प्रतिषेधक नञ् (न) शब्द के प्रति प्रतियोगी (निषेध्य) रूप से उपनीत (प्राप्त समर्पित) किया जाता है। ऐसी प्रतीति होती है। यद्यपि ब्रह्म अर्थ स्वरूप से प्रधान है, उसका सम्बन्ध होना चाहिये, तथापि शब्दार्थ रूप से, रूप के विशेषण रूप से षष्ठी विभक्ति द्वारा पूर्वग्रन्थ में ब्रह्म निर्दिष्ट है, स्वयं प्रधानरूप से नहीं निर्दिष्ट है, इससे ब्रह्म का सम्बन्ध नहीं हो सकता है। उस ब्रह्म के मूर्तामूर्त दो रूप के प्रपञ्चित (सविस्तर निरूपित) होने पर, उससे रूप वाले ब्रह्म की जिज्ञासा (ज्ञानेच्छा) होने पर, यह उपक्रान्त (आरब्ध) हुआ है कि (रूप के निर्देश के अनन्तर नेति-नेति यह उपदेश है) यहाँ कल्पित रूपों के प्रत्याख्यान के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का यह आवेदन (उपदेश) है, ऐसा निर्णय होता है।

तदास्पदं हीदं समस्तं कार्यं नेति नेतीति प्रतिषिद्धम्। युक्तं च कार्यस्य वाचारम्भणशब्दादिभ्योऽसत्त्वमिति नेति नेतीति प्रतिषेधनं नतु ब्रह्मणः, सर्वकल्पनामूलत्वात्। न चात्रेयमाशङ्का कर्तव्या—कथं हि शास्त्रं स्वयमेव ब्रह्मणो रूपद्वयं दर्शयित्वा स्वयमेव पुनः प्रतिषेधति—'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति, यतो नेदं शास्त्रं प्रतिपाद्यत्वेन

ब्रह्मणो रूपद्वयं निर्दिशति, लोकप्रसिद्धं त्विदं रूपद्वयं ब्रह्मणि कल्पितं परामृशति प्रतिषेध्यत्वाय शुद्धब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनाय चेति निरवद्यम्। द्वौ चेतौ प्रतिषेधौ यथासंख्यन्यायेन द्वे अपि मूर्तामूर्ते प्रतिषेधतः। यद्वा पूर्वः प्रतिषेधो भूतराशिं प्रतिषेधत्युत्तरो वासनाराशिम् प्रतिषेधति। अथवा 'नेति नेति' (बृ० २।३।६) इति वीप्सेयमितीति यावत्किंचिदुत्प्रेक्ष्यते तत्सर्वं न भवतीत्यर्थः।

ब्रह्म जिस का आस्पद (प्रतिष्ठा आश्रय) है ऐसा यह सम्पूर्ण कार्य नेति-नेति इससे प्रतिषिद्ध होता है। कार्य का (वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्) इत्यादि वाचारम्भण श्रुति आदि से असत्व (मिथ्यात्व) है इससे नेति-नेति इससे उस कार्य का प्रतिषेधन युक्त है। सब कल्पना के मूल सर्वाधिष्ठान होने से ब्रह्म का निषेध युक्त नहीं है। यहाँ यह भी आशंका नहीं करने योग्य है कि ब्रह्म के दो रूपों को स्वयं ही दर्शा कर फिर शास्त्र स्वयं ही प्रतिषेध कैसे करता है (पङ्क लगा कर धोने की अपेक्षा दूर स्थिति से पङ्क का स्पर्श नहीं करना श्रेष्ठ है) अर्थात् जिसका निषेध करना हो उसका निरूपण ही नहीं करना श्रेष्ठ है। जिससे यह शास्त्र ब्रह्म के दो रूपों का प्रतिपादन योग्य रूप से निर्देश नहीं करता है, किन्तु लोक में प्रसिद्ध ब्रह्म में कल्पित इन दोनों रूपों की प्रतिषेध्यता और शुद्ध ब्रह्म स्वरूप का प्रतिपादन के लिए रूपों का निर्देश शास्त्र करता है, अर्थात् रूपों के प्रतिषेध द्वारा शुद्ध ब्रह्म के ज्ञान के लिए रूप का निर्देश है, इससे निर्दोष है। नेति नेति ये दो प्रतिषेध हैं, वह (यथासंख्यमनुदेशः समानाम्) उद्देश्य विधेय अर्थ के सम संख्या होने पर क्रम के अनुसार सम्बन्ध होता है। इस यथासंख्य न्याय से मूर्त और अमूर्त दोनों ही का प्रतिषेध करते हैं। अथवा पूर्व प्रतिषेधभूत समूह का प्रतिषेध करता है उत्तर प्रतिषेध वासनावृन्द का प्रतिषेध करता है। अथवा नेति नेति यह वीप्सा (व्याप्ति-बोधक) है। इससे जो कुछ अनात्म वस्तु उत्प्रेक्षित (कल्पित) होती है, वह ब्रह्म नहीं है यह अर्थ है।

परिगणितप्रतिषेधे हि क्रियमाणे यदि नेतद्ब्रह्म किमन्यद्ब्रह्म भवेदिति जिज्ञासा स्यात्, वीप्सायां तु सत्यां समस्तस्य विषयजातस्य प्रतिषेधादविषयः प्रत्यगात्मा ब्रह्मेति जिज्ञासा निवर्तते। तस्मात्प्रपञ्चमेव ब्रह्मणि कल्पितं प्रतिषेधति परिशिनष्टि ब्रह्मेति निर्णयः। इतश्चैष एव निर्णयः। यत-स्ततः प्रतिषेधाद् भूयो ब्रवीति 'अन्यत्परमस्ति' (बृ० २।३।६) इति। अभावावसाने हि प्रतिषेधे क्रियमाणे किमन्यत्परमस्तीति ब्रूयात्। तत्रैषाक्षरयोजना—नेति नेतीति ब्रह्मादिश्य तमेवादेशं पुनर्निर्वक्ति, नेति नेतीत्यस्य कोऽर्थः, नह्येतस्माद् ब्रह्मणो व्यतिरिक्तमस्तीत्यतो नेति नेतीत्युच्यते न पुनः स्वयमेव नास्तीत्यर्थः। तच्च दर्शयति 'अन्यत्परमप्रतिषिद्धं ब्रह्मास्ती'ति। यदा पुनरेवमक्षराणि योज्यन्ते नह्येतस्मादिति नेति नेति, नहि प्रपञ्चप्रतिषेधरूपादादेशनादन्यत्परमादेशनं ब्रह्मणोऽस्तीति। तदा ततो ब्रवीति च भूय इत्येतन्नाम-

धेयविषयं योजयितव्यम्। अथ नामधेयम्—'सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् इति हि ब्रवीति' (बृ० २।१।२०) इति। तच्च ब्रह्मावसाने प्रतिषेधे समञ्जसं भवति, अभावावसाने तु प्रतिषेधे किं सत्यस्य सत्यमित्युच्येत। तस्माद् ब्रह्मावसानोऽयं प्रतिषेधो नाभावावसान इत्यध्यवस्यामः॥ २२॥

जिससे परिगणित का प्रतिषेध करने पर, यदि यह प्रतिषिद्ध मूर्त-अमूर्त ब्रह्म नहीं है, तो कोई अन्य ब्रह्म होगा, ऐसी जिज्ञासा हो सकती है। वीप्सा के होने पर तो समस्त विषय समूह का प्रतिषेध होने से अविषयरूप अन्तरात्मा ब्रह्म है ऐसा निश्चय होने से जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है। इससे ब्रह्म में कल्पित प्रपञ्च का ही श्रुति प्रतिषेध करती है। ब्रह्म को परिशेष सिद्ध करती है यह निर्णय है। इससे भी यही निर्णय है कि जिससे उस प्रतिषेध के बाद फिर श्रुति कहती है कि (अन्य परब्रह्म है) अभावरूप अवसान (समाप्ति) वाला निषेध के करने पर अन्य पर है इस प्रकार किस को कहेगी। यहाँ इस प्रकर अक्षर (पद) की योजना (अन्वय) है कि नेति-नेति इस प्रकार ब्रह्म का आदेश (निर्वचन) करके, उसी आदेश का फिर निर्वचन करती है कि, नेति-नेति इसका क्या अर्थ है कि इस ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है, इससे नेति-नेति ब्रह्म कहा जाता है और स्वयं ब्रह्म ही नहीं है, ऐसा अर्थ नहीं है। वही दर्शाती है कि (मूर्तामूर्तादि से अन्य अप्रतिषिद्ध परब्रह्म है) जब इस प्रकार अक्षर योजित (अन्वित) होवे हैं कि (न हि एतस्मात् नेति नेति) प्रपञ्च का निषेधरूप ब्रह्म का आदेशन (उपदेश) से अन्य परमदेशन ब्रह्म का नहीं है। तब (ततो ब्रवीति च भूयः) इस सूत्रभाग का नामधेय विषयक योजना करना चाहिये (अनन्तर में उस ब्रह्म का नामधेय-नाम-सत्य का सत्य वह है जिससे प्राण सत्य है; उनका भी सत्य स्वरूप ब्रह्म है, इससे ब्रह्म का, सत्य का, सत्य नाम है इस प्रकार श्रुति कहती है। वह कथन ब्रह्मावसान वाला प्रतिषेध के होने पर युक्त होगा। अभावावसान वाला प्रतिषेध के होने पर तो सत्य का सत्य इससे क्या कहा जायगा इससे ब्रह्मावसान यह प्रतिषेध है, अभावावसान नहीं है। ऐसा निश्चय करते हैं॥ २२॥

तदव्यक्तमाह हि॥ २३॥

यत्प्रतिषिद्धात्प्रपञ्चजातादन्यत्परं ब्रह्म तदस्ति चेत्कस्मान्न गृह्यत इति। उच्यते—तदव्यक्तमनिन्द्रियग्राह्यं सर्वदृश्यसाक्षित्वात्, आह ह्येवं श्रुतिः—'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा' (मुण्ड० ३।१।८) 'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते' (बृ० ३।९।२६) 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्' (मुण्ड० १।१।६) 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने' (तै० २।७।१) इत्याद्या। स्मृतिरपि—'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते' (भ० गी० २।२५) इत्याद्या॥ २३॥

शंका होती है प्रतिसिद्ध प्रपञ्च से अन्य जो पर ब्रह्म है, वह यदि वर्तमान है, तो हम सबसे गृहीत ज्ञात क्यों नहीं होता है। उत्तर कहा जाता है कि सर्वदृश्य के साक्षित्व से वह अव्यक्त (रूपादि रहित) है, अतएव इन्द्रियों से ग्रहण के योग्य नहीं है। जिसमें इसी प्रकार श्रुति कहती है कि (ब्रह्मात्मा चक्षु से गृहीत ज्ञात नहीं होता है न वाक् से गृहीत (कथित) होता है न अन्य देव इन्द्रियों से गृहीत होता है, न तप वा कर्म से गृहीत होता है)। अतः यह आत्मा नेति-नेति निर्दिष्ट है, इन्द्रियों से ग्रहण के अयोग्य है, इससे इन्द्रियों से गृहीत नहीं होता है। जो ज्ञान इन्द्रियों से अदृश्य और कर्मेन्द्रियों से आग्राह्य है वह ब्रह्म है। जब यह साधक अदृश्य, अशरीर, अवाच्य निराधार ब्रह्म में अभय स्थिति का लाभ करता है तब वह अभय को प्राप्त होता है। इत्यादि श्रुति है। (यह आत्मा अव्यक्त इन्द्रियों का अविषय अचिन्त्य अनुमान का अविषय और विकार के अयोग्य निरवयव असंग कहा जाता है) इत्यादि स्मृति भी कहती है ॥ २३ ॥

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २४ ॥

अपि चैनमात्मानं निरस्तसमस्तप्रपञ्चमव्यक्तं संराधनकाले पश्यन्ति योगिनः। संराधनं च भक्तिध्यानप्रणिधानाद्यनुष्ठानम्। कथं पुनरवगम्यते संराधनकाले पश्यन्तीति। प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः। तथाहि श्रुतिः—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' ॥ (क० ४।१) इति।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः (मु० ३।१।८) इति चैवमाद्या। स्मृतिरपि—

यं विनिद्रा जितश्वासाः संतुष्टाः संयतेन्द्रियाः।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ इति चैवमाद्या ॥ २४ ॥

इन्द्रियादि से अग्राह्य भी निरस्त समस्त प्रपञ्च वाला अव्यक्त इस आत्मा को योगी लोग संराधन काल में दर्शन करते हैं। भक्ति, ध्यान और प्रणिधान (समाधि) आदि संराधन (सम्यक् आराधन) कहा जाता है। भक्ति और ध्यान से प्रत्यगात्मा का पूर्णरीति से चित्त में निधान (स्थापन) को प्रणिधान कहते हैं वह समाधि रूप है। भक्ति और ध्यान से प्रणिधान होता है। शंका होती है कि योगी लोग संराधन काल में दर्शन करते हैं, यह कैसे समझा जाता है। उत्तर है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से, अर्थात् श्रुति और स्मृति से समझा जाता है सूत्रगत प्रत्यक्ष अनुमान शब्द का श्रुति स्मृति अर्थ है। वैसा ही श्रुति है कि (जिससे इन्द्रियाँ बाह्य विषयों में ही गमन करती हैं, इससे परमात्मा ने उनका हनन किया है। इसीसे जीव बाह्य विषय को देखता है अन्तरात्मा को नहीं देखता है, कोई धीर विवेकी अमृतत्व की इच्छा

करता हुआ इन्द्रियों का निरोधयुक्त होकर प्रत्यगात्मा को देखता है। कर्मादि से विशुद्ध अन्तःकरण वाला ज्ञान की स्वच्छतापूर्वक उस निरवयव का ध्यान करता हुआ उसका दर्शन करता है)। इत्यादि श्रुति का कथन है और (निद्रा प्रमाद-रहित, श्वास को जीतने वाले, सन्तुष्ट, संयतइन्द्रिय वाले युञ्जान-ध्यानशील योगी जिस ज्योतिस्वरूप आत्मा को देखते हैं। उस योग से लाभयोग्य आत्म के प्रति नमस्कार है। सनातन उस भगवान् को योगी प्रत्यक्ष देखते हैं) इत्यादि स्मृति भी है ॥ २४ ॥

ननु संराध्यसंराधकभावाभ्युपगमात्परेतरात्मनोरन्यत्वं स्यादिति, नेत्युच्यते—

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥ २५ ॥

यथा प्रकाशाकाशसवितृप्रभृतयोऽङ्गुलिकरकोदकप्रभृतिषु कर्मसूपाधिभूतेषु सविशेषा इवावभासन्ते, नच स्वाभाविकीमविशेषात्मतां जहति, एवमुपाधिनिमित्त एवायमात्मभेदः स्वतस्त्वैकात्म्यमेव। तथाहि—वेदान्तेष्वभ्यासेनासकृज्जीवप्राज्ञयोरभेदः प्रतिपाद्यते ॥ २५ ॥

जैसे प्रकाश, आकाश, सूर्य आदि, अङ्गुलि, कमण्डलु, जल आदि उपाधिस्वरूप कर्मों में सविशेष (भिन्न) के समान अवभासते प्रतीत होते हैं, परन्तु अपनी स्वाभाविक अविशेषात्मता (अभिन्नता) को नहीं त्यागते हैं। इसी प्रकार प्रकाश (चिदात्मा) भी ध्यानादि के कर्मरूप उपाधि में भिन्न के समान भासता है, इससे उपाधिनिमित्तक ही यह आत्मा का भेद है। स्वतः तो इस आत्म को एकात्मता रूप अविशेषता ही है। जिससे इसी प्रकार वेदान्तों में, तत्त्वमसि, इत्यादि के अभ्यास द्वारा बार-बार जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन किया जाता है। वह अभेद भी पूर्वोक्त संराधन कर्म विषयक अभ्यास श्रवण-मननपूर्वक निदिध्यासन के द्वारा शुद्ध प्रकाश ज्ञानरूप से समझा जाता है। इससे अव्यक्त के ज्ञान के लिये संराधन का अभ्यास कर्तव्य है, इत्यादि ॥ २५ ॥

अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गम् ॥ २६ ॥

अतश्च स्वाभाविकत्वादभेदस्याविद्याकृतत्वाच्च भेदस्य विद्ययाऽविद्यां विधूय जीवः परेणानन्तेन प्राज्ञेनात्मनैकतां गच्छति। तथाहि लिङ्गम्—'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३।२।९) 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) इत्यादि ॥ २६ ॥

इस अभेद की स्वाभाविकता से तथा भेद के अविद्यादि कृत औपाधिक होने से विद्या से अविद्या को नष्ट करने पर अनन्त प्राज्ञात्मा के साथ एकता को प्राप्त करता है तथा इस अभ्यास से एकता का अनुभव करता है। ऐसा ही लिङ्ग (हेतु-

प्रमाण) है कि (अत जो कोई परब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है। ज्ञानी जीवनकाल में ही ब्रह्मस्वरूप होता हुआ फिर विदेहकाल में ब्रह्म स्वरूपता को प्राप्त करता है) इत्यादि ॥ २६ ॥

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥ २७ ॥

तस्मिन्नेव सराध्यसराधकभावे मतान्तरमुपन्यस्यति स्वमतविशुद्धये। क्वचिज्जीवप्राज्ञयोर्भेदो व्यपदिश्यते 'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' (मुण्ड० ३।१।८) इति ध्यातृध्यातव्यत्वेन द्रष्टृद्रष्टव्यत्वेन च, 'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' (मु० ३।२।८) इति गन्तृगन्तव्यत्वेन, 'यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति' इति नियन्तृनियन्तव्यत्वेन च। क्वचित्तु तयोरेवाभेदो व्यपदिश्यते 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०) 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१) 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३।७।३) इति। तत्रैवमुभयव्यपदेशे सति यद्यभेद एकान्ततो गृह्येत भेदव्यपदेशो निरालम्बन एव स्यात्, अत उभयव्यपदेशदर्शनादहिकुण्डलवदत्र तत्त्वं भवितुमर्हति, यथाहिरित्यभेदः कुण्डलाभोगप्रांशुत्वादीनीति तु भेद एवमिहापीति ॥ २७ ॥

उक्त उस सराध्य-सराधक (उपास्य-उपासक) भाव में स्वमत की विशुद्धि के लिए सूत्रकार मतान्तर का उपन्यास करते हैं। कहीं जीव और प्राज्ञ (ईश्वर) के भेद का ध्याता और ध्यातव्य (ध्येय) रूप से द्रष्टा और द्रष्टव्य (दृश्य) रूप से व्यपदेश (कथन) किया जाता है कि (उस विशुद्धि के बाद उस आत्मा का ध्यान करता हुआ अधिकारी निरवयव आत्मा को देखता है) और कहीं गन्ता और गन्तव्य रूप से भेद का निर्देश किया जाता है कि (पर से पर दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है) कहा नियन्ता और नियन्तव्य रूप से भेद कहा जाता है कि (जो सब भूतों के अन्दर वर्तमान रह कर उनका नियमन शासन करता है) और कहा उसी जीव और प्राज्ञ के अभेद का व्यपदेश किया जाता है कि (तुम उस सत् ब्रह्म स्वरूप हो। मैं ब्रह्म हूँ। यह तेरा ही आत्मा सब के अन्दर वर्तमान है। यह तेरा ही आत्मा अन्तर्यामी और अमृत है) इस प्रकार भेद और अभेद दोनों व्यपदेशों के रहते, वहाँ यदि अभेद ही निश्चितरूप से गृहीत (स्वीकृत) किया जाय तो भेद का व्यपदेश निराश्रय निर्विषय हो जायगा। इससे दोनों व्यपदेशों को देखने से अहि (सर्प) और उस सर्प के कुण्डलाकार के समान यहाँ तत्त्व (वस्तु) होने योग्य है। जैसे कि सर्प को सर्प रूप से अभेद है और कुण्डलाकार वक्रता पूर्णाकार दीर्घाकारता आदि रूप से भेद है। इसी प्रकार यहाँ भी जीवरूप से भेद है ब्रह्मरूप से जीव का अभेद है। इसी प्रकार जानरूपता और ज्ञानाश्रयता का व्यपदेश भी अहिकुण्डल तुल्य है। ऐसा कोई कहते हैं ॥ २७ ॥

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २८ ॥

अथवा प्रकाशाश्रयवदेतत्प्रतिपत्तव्यम्। यथा प्रकाशः सावित्रस्तदाश्रयश्च सविता नात्यन्तभिन्नावुभयोरपि तेजस्त्वाविशेषात्। अथ च भेदव्यपदेशभाजौ भवत एवमिहापीति ॥ २८ ॥

अथवा सूर्यादि का प्रकाश, और प्रकाश का आश्रय सूर्यादि के समान इस भेदाभेद को समझना चाहिये कि जैसे सूर्य का प्रकाश और उस प्रकाश का आश्रय सूर्य दोनों के तेजरूप स्वभाव होने से दोनो अत्यन्त भिन्न नहीं हैं, इससे तेजरूप से ही भिन्न-अभिन्न है, और भेद व्यपदेश (व्यवहार) के भागी (आश्रय) होते हैं। इसी प्रकार यहाँ भी एक आत्मत्वधर्म से ही श्रुति में भेदाभेद का व्यवहार होता है ॥ २८ ॥

पूर्ववद्वा ॥ २९ ॥

यथा वा पूर्वमुपन्यस्तं प्रकाशादिवच्चाविशेष्यमिति तथैवैतद्भवितुमर्हति। तथाह्यविद्याकृतत्वाद्बन्धस्य विद्यया मोक्ष उपपद्यते। यदि पुनः परमार्थत एव बद्धः कश्चिदात्माऽहिकुण्डलन्यायेन परस्यात्मनः संस्थानभूतः प्रकाशाश्रयन्यायेन चैकदेशभूतोऽभ्युपगम्येत ततः पारमार्थिकस्य बन्धस्य तिरस्कर्तुमशक्यत्वान्मोक्षशास्त्रवैयर्थ्यं प्रसज्येत, नचात्रोभावपि भेदाभेदौ श्रुतिस्तुल्यवद्व्यपदिशति। अभेदमेव हि प्रतिपाद्यत्वेन निर्दिशति भेदं तु पूर्वप्रसिद्धमेवानुवदत्यर्थान्तरविवक्षया। तस्मात्प्रकाशादिवच्चावैशेष्यमित्येष एव सिद्धान्तः ॥ २९ ॥

सिद्धान्त है, अथवा जैसे प्रथम प्रकाश आदि के समान जीव ईश्वर में अविशेषता अभेद कहा गया है। उसी के समान यहाँ भी होने के योग्य है। जिससे इसी प्रकार अविद्याकृत बन्ध के होने से विद्या से मोक्ष उपपन्न होता है और यदि परमार्थरूप से ही अहि-कुण्डल न्याय से कोई बद्ध आत्मा परमात्मा का संस्थान (सन्निवेश आकार) स्वरूप माना जाय और प्रकाशाश्रय न्याय से परमात्मा का एकदेश स्वरूप माना जाय तो, पारमार्थिक बन्ध का तिरस्कार (नाश) करना अशक्य होने से मोक्ष विधायक शास्त्र की व्यर्थता प्राप्त होगी। यहाँ भेद और अभेद का व्यपदेश को श्रुति तुल्यरूप से नहीं करती है। किन्तु अभेद का ही प्रतिपादनीयरूप से निर्देश करती है। पूर्वसिद्ध ही भेद का तो अर्थान्तर (उपासनादि) की विवक्षा से अनुवाद करती है। इससे प्रकाशादि के समान अविशेषता (अभेद) है, यही सिद्धान्त है ॥ २९ ॥

प्रतिषेधाच्च ॥ ३० ॥

इतश्चैष एव सिद्धान्तः। यत्कारणं परस्मादात्मनोऽन्यत् चेतनं प्रतिषेधति शास्त्रम्—'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' (बृ० ३। ७। २३) इत्येवमादि। 'अथात

आदेशो नेति नेति' (बृ० २ । ३ । ६) 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (बृ० २ । ५ । १९) इति च ब्रह्मव्यतिरिक्तप्रपञ्चनिराकरणाद् ब्रह्ममात्रपरिशेषाच्चैष एव सिद्धान्त इति गम्यते ॥ ३० ॥

इससे भी यही सिद्धान्त है कि जिस कारण से परमात्मा से अन्य चेतन का शास्त्र प्रतिषेध करता है कि (इससे अन्य द्रष्टा नहीं है) इत्यादि । (इसके बाद उपदेश है नेति-नेति) अतः यह ब्रह्म अपूर्व अनपर अनन्तर अबाह्य है । इस ब्रह्म से भिन्न प्रपञ्च का निराकरण और ब्रह्ममात्र का परिशेष से यही सिद्धान्त है यह समझा जाता है ॥ ३० ॥

पराधिकरण ॥ ७ ॥

अस्त्यन्यद्ब्रह्मणो नो वा विद्यते ब्रह्मणोऽधिकम् । सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशतः ।
धारणात्सेतुतोन्मानमुपास्त्यै भेदसंगति । उपाध्युद्भवनाशाभ्यां नान्यदन्यनिषेधतः ॥८॥

(सेतुर्विधृतिः) इससे सेतु का व्यपदेश और चतुष्पात्त्वादि उन्मान का व्यपदेश और सम्बन्ध तथा भेद के व्यपदेशों से सिद्ध है कि इस ब्रह्म से अन्य भी सत्य वस्तु है । यह पूर्वपक्षरूप सूत्र है । संशय है कि ब्रह्म से अन्य सत्य वस्तु है, अथवा नहीं है । पूर्वपक्ष है कि सेतुत्व उन्मानत्व सम्बन्ध और भेदवत्ता से अन्य वस्तु है, अन्य की सत्ता के बिना सेतु आदि के असम्भव से अन्य की सत्ता सिद्ध होती है ॥ १ ॥ सिद्धान्त है कि मुख्य सेतुत्व का ब्रह्म में असम्भव है, इससे कल्पित का धारण से गौणी सेतुता है यह द्युभ्वादि अधिकरण में भी कहा गया है और उपासना प्रकरण में पठित होने से उन्मान वचन उपासना के लिए है और उपाधि के उद्भव तथा नाश से भेद और संगति (सम्बन्ध) का व्यवहार कथन होता है । अर्थात् उपाधि की उत्पत्ति से औपाधिक भेद होता है, और उपाधि के नाश से अभेदात्मक तादात्म्य सम्बन्ध होता है, अन्य के निषेध से अन्य वस्तु नहीं है ॥ २ ॥

परमतः सेतून्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥ ३१ ॥

यदेतन्निरस्तसमस्तप्रपञ्चं ब्रह्म निर्धारितमस्मात्परमन्यत्तत्त्वमस्ति नास्तीति श्रुतिविप्रतिपत्तेः संशयः । कानिचिद्धि वाक्यान्यापातेनैव प्रतिभासमानानि ब्रह्मणोऽपि परमन्यत्तत्त्वं प्रतिपादयन्तीव । तेषां हि परिहारमभिधातुमयमुपक्रमः क्रियते । परमतो ब्रह्मणोऽन्यत्तत्त्वं भवितुमर्हति । कुतः ? सेतुव्यपदेशादुन्मानव्यपदेशात्संबन्धव्यपदेशाद्भेदव्यपदेशाच्चेति । सेतुव्यपदेशस्तावत्—'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः' (छा० ८ । ४ । १) इत्यात्मशब्दाभिहितस्य ब्रह्मणः सेतुत्वं संकीर्तयति । सेतुशब्दश्च हि लोके जलसंतानविच्छेदकरे मृद्दार्वादिप्रचये प्रसिद्धः । इह तु सेतुशब्द आत्मनि प्रयुक्त इति लौकिकसेतोरिवास्मात्सेतोरन्यस्य वस्तुनोऽस्तित्वं गमयति । 'सेतुं तीर्त्वा' (छा० ८ । ४ । २) इति च तरतिशब्दप्रयोगात् । यथा लौकिकं सेतुं तीर्त्वा जाङ्गल-

मसेतुं प्राप्नोतीत्येवमात्मानं सेतुं तीर्त्वाऽनात्मानमसेतुं प्राप्नोतीति गम्यते।

जो यह समस्त प्रपञ्च से रहित ब्रह्म निर्धारित हुआ है, उससे भिन्न अन्य तत्त्व (वस्तु) है वा नहीं है, श्रुतियों की विप्रतिपत्ति (विरोध) से यह संशय होता है। जिससे कितने कोई-कोई वाक्य आपात से, श्रवण मात्र से, पूर्ण विचार किये विना ही ब्रह्म से भी भिन्न अन्यतत्त्व को प्रतिपादन करते हुए के समान प्रतिभासमान (प्रतीत) होते हैं। उन ही का परिहार को कहने के लिए यह उपक्रम (आरम्भ) किया जाता है। यहाँ पूर्वपक्ष है कि—इस ब्रह्म से पर-भिन्न अन्य तत्त्व होने के योग्य है, क्योंकि सेतु का व्यपदेश, उन्मान का व्यपदेश, सम्बन्ध का व्यपदेश और भेद का व्यपदेश से पर-वस्तु की सिद्धि होती है। प्रथम सेतु का व्यपदेश है कि (जो यह अमृतत्वादि लक्षण वाला आत्मा है वह सेतु के समान विधारण कर्त्ता है) यह श्रुति आत्म शब्द से कथित ब्रह्म के सेतुत्व धर्म का संकीर्तन करती है। लोक में जलसंतान का (प्रवाह का) विच्छेदकारक, मिट्टी-लकड़ी आदि का प्रचय (रचनाविशेष) में सेतु शब्द प्रसिद्ध है। यहाँ तो सेतु शब्द आत्मा में प्रयुक्त (प्रयोग वाला) हुआ है। इससे लौकिक सेतु के समान आत्मारूप सेतु से भी अन्य वस्तु की अस्तिता (सत्ता) को सेतु शब्द अवगम (बोध) कराता है। (इस आत्मसेतु को तर कर अन्ध भी अन्धातरहित होता है) इस प्रकार तरति शब्द के प्रयोग से, जैसे लौकिक सेतु को तर कर जंगल के स्थानविशेषरूप असेतु (सेतु से भिन्न) स्थान को मनुष्य प्राप्त करता है, इसी प्रकार आत्मारूप सेतु को तर कर अनात्मारूप असेतु को प्राप्त करता है। ऐसी प्रतीति होती है।

उन्मानव्यपदेशश्च भवति 'तदेतद्ब्रह्म चतुष्पादष्टाशफं षोडशकलमि' ति। यच्च लोक उन्मितमेतावदिदमिति परिच्छिन्नं कार्षापणादि ततोऽन्यद्वस्त्वस्तीति प्रसिद्धम्, तथा ब्रह्मणोऽप्युन्मानात्ततोऽन्येन वस्तुना भवितव्यमिति गम्यते। तथा सम्बन्धव्यपदेशोऽपि भवति—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' (छा० ६। ८। १) इति, 'शारीर आत्मा' (तै० २। ३। १) 'प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः' (बृ० ४। ३। २) इति च। मितानां च मितेन संबन्धो दृष्टो यथा नराणां नगरेण। जीवानां च ब्रह्मणा सम्बन्धं व्यपदिशति सुषुप्तौ। अतस्ततः परमन्यदमितमस्तीति गम्यते। भेदव्यपदेशश्चैतमेवार्थं गमयति। तथाहि—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा० १। ६। ६) इत्यादित्याधारमीश्वरं व्यपदिश्य ततो भेदेनाक्ष्याधारमीश्वरं व्यपदिशति-'अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० १। ७। ५) इति। अतिदेशं चास्यामुना रूपादिषु करोति—'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम' (छा० १। ७। ५) इति। सावधिकं चेश्वरत्वमुभयोर्व्यपदिशति—'ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च' (छा० १। ६। ८) इत्येकस्य,

'ये चेतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां च' (छा० १।७।३) इत्येकस्य। यथेदं मागधस्य राज्यमिदं वैदेहस्येति॥ ३१॥

उन्मान का व्यपदेश भी है कि (जैसे यह ब्रह्म चार पाद वाला, आठ खुर वाला सोलह अवयव वाला है) चार दिशाएँ, ब्रह्म का प्रकाशवान नाम वाला एक पाद है। पृथिवी अन्तरिक्ष स्वर्ग और समुद्र अनन्तवान् नाम वाला दूसरा पाद है। अग्नि सूर्य चन्द्र और विद्युत ज्योतिष्मान् नाम वाला तीसरा पाद है। चक्षु, श्रोत्र, वाक् और मन आयतनवान् नाम वाला चौथा पाद है। इन पादों का अट्ठाइस आठ शफ (खुर) है। चारों पाद में चार-चार अवयव हैं अतः सोलह अवयव हैं। लोक में जो उन्मित अर्थात् यह वस्तु इतना है इस प्रकार परिच्छिन्न कार्षापण (सोलह पैसे भर तामा) आदि है। उसमें अन्य वस्तु है, यह प्रसिद्ध है। इसी प्रकार ब्रह्म का भी उन्मान है, इससे उस ब्रह्म में अन्य वस्तु होनी चाहिए, ऐसी प्रतीति होती है। इसी प्रकार सम्बन्ध का व्यपदेश भी होता है कि (हे सोम्य! सुषुप्ति में जीवात्मा सद् ब्रह्म के साथ सम्पन्न एक होता है। अन्नमयरूप शरीर में रहने वाला यह आत्मा है। सुषुप्ति में प्राज्ञ आत्मा के साथ संमिलित जीव बाहर भीतर का नहीं जानता है) इत्यादि। परिमित पदार्थ का परिमित पदार्थ के साथ सम्बन्ध देखा गया है। जैसे मनुष्यों का नगर के साथ सम्बन्ध देखा गया है। जीवों का सुषुप्ति में ब्रह्म के साथ सम्बन्ध को श्रुति कहती है। इससे उस ब्रह्म में भिन्न अन्य अपरिमित वस्तु है, यह समझा जाता है। भेद का व्यपदेश भी इसी अर्थ का बोध अवगम कराता है। जिससे इसी प्रकार की श्रुति है कि (जो यह आदित्य के अन्दर हिरण्मय-ज्योतिर्मय पुरुष दीखता है) इस प्रकार आदित्य में रहने वाले ईश्वर का कथन करके, उससे भेदपूर्वक भिन्न रूप से आँख में रहने वाले ईश्वर का श्रुति कथन करती है कि (जो यह आँख में पुरुष दीखता है) और इस आँख में रहने वाले पुरुष का उस आदित्य में रहने वाले पुरुष के साथ रूपादि के विषय में श्रुति अतिदेश करती है (सादृश्यादि बोध कराती है) कि (जिस इस आँख में स्थित पुरुष का वही रूप है कि जो उस आदित्यस्थ पुरुष का रूप है। जो उस के पर्व हैं, जो उसका नाम है सो इसका नाम है) दोनों के सावधि (परिच्छिन्न) ऐश्वर्य का व्यपदेश करती है कि (आदित्य लोक से जो परे लोक हैं उनका और देवों के कामों का यह आदित्य पुरुष नियन्ता है) यह एक का ईश्वरत्व है। (जो इससे नीचे लोक हैं उनका और मनुष्यों के कामों का नियन्ता अक्षिस्थ पुरुष है) यह एक का ईश्वरत्व है। इसमें जैसे यह मगध का राज्य है, यह वैदेह का है, यहाँ परिच्छिन्न ईश्वरत्व बोधित होता है, वैसे ही श्रुति बोध कराती है॥ ३१॥

एवमेतेभ्यः सेत्वादिव्यपदेशेभ्यो ब्रह्मणः परमस्तीत्येवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—

इन सेतु आदि व्यपदेशों से इस प्रकार ब्रह्म से पर वस्तु है। ऐसा प्राप्त होने पर प्रतिपादन किया जाता है कि—

सामान्यात्तु ॥ ३२ ॥

तुशब्देन प्रदर्शितां प्राप्तिं निरुणद्धि। न ब्रह्मणोऽन्यत्किञ्चिद्भवितुमर्हति प्रमाणाभावात् । नह्यन्यस्यास्तित्वे किञ्चित्प्रमाणमुपलभामहे। सर्वस्य हि जनिमतो वस्तुजातस्य जन्मादि ब्रह्मणो भवतीति निर्धारितम्, अनन्यत्वं च कारणात्कार्यस्य। नच ब्रह्मव्यतिरिक्तं किञ्चिदजं संभवति 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इत्यवधारणात्। एकविज्ञानेन च सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानान्न ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वमवकल्पते। ननु सेत्वादिव्यपदेशाः ब्रह्मव्यतिरिक्तं सत्त्वं सूचयन्तीत्युक्तम्। नेत्युच्यते। सेतुव्यपदेशस्तावन्न ब्रह्मणो बाह्यस्य सद्भावं प्रतिपादयितुं क्षमते 'सेतुरात्मेति ह्याह न पुनस्ततः परमस्ती'ति। तत्र परस्मिन्नसति सेतुत्वं नावकल्पत इति परं किमपि कल्प्येत, नचैतन्न्याय्यं हठो ह्यप्रसिद्धकल्पना। अपिच सेतुव्यपदेशादात्मनो लौकिकसेतुनिदर्शनेन सेतुबाह्यवस्तुतां प्रसञ्जयता मृदारुमयतापि प्रासज्येत। नचैतन्न्याय्यम्, अजत्वादिश्रुतिविरोधात्। सेतुसामान्यात्तु सेतुशब्द आत्मनि प्रयुक्त इति श्लिष्यते, जगतस्तन्मर्यादानां च विधारकत्वं सेतुसामान्यमात्मनः, अतः सेतुरिव सेतुरिति प्रकृत आत्मा स्तूयते। सेतुं तीर्त्वेत्यपि तरतेरतिक्रमासम्भवात्प्राप्नोत्यर्थ एव वर्तते, यथा व्याकरणं तीर्ण इति प्राप्त इत्युच्यते नातिक्रान्तस्तद्वत् ॥ ३२ ॥

सूत्रगत तुशब्द से प्रदर्शित प्राप्ति का निरोध करते हैं कि प्रमाण के अभाव से ब्रह्म से अन्य होने योग्य कुछ नहीं है। जिससे अन्य के अस्तित्व (सत्ता) में किसी प्रमाण का उपलम्भ अनुभव नहीं कर रहे है। जन्म वाले सभी वस्तु समूह के जन्मादि ब्रह्म से होते है, यह निर्धारित हो चुका है, और कारण से कार्य के अनन्यत्व (अभेद) का भी निर्धारण हो चुका है और (हे सोम्य ! यह जगत् प्रथम सत् ही एक अद्वितीय ही था) इस अवधारण से ब्रह्म से अन्य किसी अज (अजन्मा-नित्य) का सम्भव नहीं है, और एक के विज्ञान से सबका विज्ञान की प्रतिज्ञा से भी ब्रह्म से भिन्न वस्तु का अस्तित्व नहीं सिद्ध हो सकता है। यदि कहो कि सेतु आदि के व्यपदेश ही ब्रह्म से भिन्न तत्त्व (वस्तु) की सूचना करते हैं, यह कहा जा चुका है। तो वहाँ कहा जाता है कि सेतु के व्यपदेशादि अतिरिक्त तत्त्व का सूचना नहीं कर सकते हैं। प्रथम सेतु का व्यपदेश ब्रह्म से बाह्य (अन्य) के सद्भाव को प्रतिपादन करने के लिए समर्थ नहीं है, क्योंकि वह व्यपदेश आत्मा सेतु है यही कहता है, फिर यह नहीं कहता है कि उससे पर (भिन्न) वस्तु है। वहाँ पर के नहीं रहने पर सेतुत्व नहीं सिद्ध होता है इससे किसी भी पर की कल्पना कोई करेगा। परन्तु यह न्याय-युक्त नहीं होगा, अप्रसिद्ध की कल्पना हठ (दुराग्रह) रूप ही होगा और दूसरी बात है कि आत्मा के सेतु व्यपदेश से लौकिक-सेतु के दृष्टान्त द्वारा सेतु रूप आत्मा से भिन्न पदार्थ की वस्तुता (सत्ता) का प्रसंग करने वाला से आत्मा में मिट्टी लकड़ी रूपता

की भी प्रसक्ति प्राप्ति की जायगी। परन्तु अजत्वादि श्रुति के साथ विरोध से यह न्याय युक्त नहीं होगा, और सेतु की समानता से सेतु शब्द आत्मा में प्रयुक्त (उच्चारित) हुआ है, यह सगत होता है। जगत् और उसकी मर्यादाओं का विधारकत्व ही आत्मा की सेतु के साथ तुल्यता है। इसमें सेतु के समान सेतु है इस प्रकार आत्मा की स्तुति की जाती है और (सेतु तीर्त्वा) इस वाक्य में भी आत्मा रूप सेतु को तर कर (उल्लङ्घन करके) इस प्रकार तृधातु के अर्थ के असम्भव से, उसका प्राप्ति ही अर्थ है। जैसे यह बटु व्याकरण तीर्ण है, इस वाक्य में व्याकरण को प्राप्त कर चुका है, यह कहा जाता है। व्याकरण का अतिक्रमण किया है, ऐसा नहीं कहा जाता, उसी के समान यहाँ भी समझना चाहिए ॥ ३२ ॥

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥ ३३ ॥

यदप्युक्तमुन्मानव्यपदेशादस्ति परमिति, तत्राभिधीयते—उन्मानव्यपदेशोऽपि न ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्त्वस्तित्वप्रतिपत्त्यर्थः। किमर्थस्तर्हि बुद्ध्यर्थः, उपासनार्थ इति यावत्। चतुष्पादष्टाशफं षोडशकलमित्येवंरूपा बुद्धिः कथं नु नाम ब्रह्मणि स्थिरा स्यादिति विकारद्वारेण ब्रह्मण उन्मानकल्पनैव क्रियते। नहि निर्विकारेऽनन्ते ब्रह्मणि सर्वैः पुम्भिः शक्या बुद्धिः स्थापयितुं मन्दमध्यमोत्तमबुद्धित्वात्पुंसामिति। पादवत्। यथा मनआकाशयोरध्यात्ममधिदैवतं च ब्रह्मप्रतीकयोराम्नातयोश्चत्वारो वागादयो मनःसंबन्धिनः पादाः कल्प्यन्ते, चत्वारश्चाग्न्यादय आकाशसम्बन्धिनः आध्यानाय तद्वत्। अथवा पादवदिति, यथा कार्षापणे पादविभागो व्यवहारप्राचुर्याय कल्प्यते, नहि सकलेनैव कार्षापणेन सर्वदा सर्वे जना व्यवहर्तुमीशते क्रयविक्रये परिमाणानियमात्तद्वदित्यर्थः ॥३३॥

और जो यह भी कहा था कि उन्मान के व्यपदेश से ब्रह्म से पर है, उस विषय में कहा जाता है कि उन्मान का व्यपदेश भी ब्रह्म से भिन्न वस्तु का ज्ञान के लिए नहीं है, तो किस के लिए है, ऐसी जिज्ञासा की निवृत्ति के लिए कहा जाता है कि बुद्धि (ज्ञान) के लिए है, अर्थात् उपासना के लिए है। चार पाद वाला, आठ खुर वाला, सोलह अवयव वाला ब्रह्म है, इस रूप आकार वाली बुद्धि किसी प्रकार भी ब्रह्म में स्थिर हो, इस दृष्टि से विकारों के द्वारा ब्रह्म में उन्मान की कल्पना ही की जाती है, उसमें वस्तुतः उन्मान का प्रतिपादन नहीं किया जाता है कि जिससे अन्य की सत्ता सिद्ध हो और पुरुषों के मन्द, मध्यम और उत्तम बुद्धि वाले होने से सभी पुरुषों से निर्विकार अनन्त ब्रह्म में बुद्धि को स्थिर नहीं किया जा सकता है, इससे विकार द्वारा ब्रह्म में बुद्धि की स्थिति रूप-उपासना के लिए उन्मान की कल्पना पाद कल्पना के समान है। जैसे सर्वात्मक ब्रह्म के प्रतीक (एकदेश) रूप से कथित मन आकाश के अध्यात्म और अधिदैवतरूप, वाक् प्राण चक्षु और श्रोत्र रूप मन सम्बन्धी वाक् आदि नामक चार पाद कल्पित होते है। तथा अग्नि वायु आदित्य और दिशा-

रूप आकाश सम्बन्धी अग्नि आदि नामक चार पाद कल्पित होते हैं, वह केवल आख्यान (उपासना) के लिये कल्पित होते हैं, इसी प्रकार उन्मान कल्पना और सेतु कल्पना को भी समझना चाहिये। अथवा पादवत् इसका यह अर्थ है कि जैसे कार्षापण में व्यवहार की अधिकता के लिए पाद का विभाग कल्पित होता है, जिससे क्रय और विक्रय (किनना और वेचना) में परिमाण के अनियम से सम्पूर्ण कार्षापण द्वारा ही सदा सब जन व्यवहार नहीं कर सकते हैं, उसी के समान यहाँ समझना चाहिये कि सब जन निर्विकार ब्रह्म में बुद्धि को स्थिर नहीं कर सकते हैं, इससे उन्मान की कल्पना की गई है ॥ ३३ ॥

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ॥ ३४ ॥

इह सूत्रे द्वयोरपि सम्बन्धभेदव्यपदेशयोः परिहारो विधीयते। यदप्युक्तं–सम्बन्धव्यपदेशाद्भेदव्यपदेशाच्च परमतः स्यात्—इति, तदप्यसत्। यत एकस्यापि स्थानविशेषापेक्षयैतौ व्यपदेशावुपपद्येते। सम्बन्धव्यपदेशे ताव-दयमर्थः बुध्याद्युपाधिस्थानविशेषयोगादद्भुतस्य विशेषविज्ञानस्योपाध्युपशमे य उपशमः स परमात्मना सम्बन्ध इत्युपाध्यपेक्षयैवोपचर्यते न परिमितत्वा-पेक्षया। तथा भेदव्यपदेशोऽपि ब्रह्मण उपाधिभेदापेक्षयोपचर्यते न स्वरूपभे-दापेक्षया। प्रकाशादिवदित्युपमोपादानम्। यथैकस्य प्रकाशस्य सौर्यस्य चान्द्रमसस्य वोपाधियोगादुपजातविशेषस्योपाध्युपशमात्सम्बन्धव्यपदेशो भव-त्युपाधिभेदाच्च भेदव्यपदेशः। यथा वा सूचीपाशाकाशादिपूपाध्यपेक्षयैवैतौ सम्बन्धभेदव्यपदेशौ भवतस्तद्वत् ॥ ३४ ॥

इस सूत्र में सम्बन्ध व्यपदेश और भेद व्यपदेश दोनों ही का परिहार किया जाता है कि जो यह भी कहा था कि सम्बन्ध व्यपदेश और भेद व्यपदेश से इस ब्रह्म से भिन्न वस्तु भी सिद्ध होगा, वह कथन असत् है, जिससे एक वस्तु के भी स्थान (उपाधि) विशेष की अपेक्षा से ये दोनों व्यपदेश उपपन्न (सिद्ध) होते हैं। प्रथम भेद व्यपदेश में यह अर्थ है कि बुद्धि आदि उपाधि रूप स्थान विशेष के सम्बन्ध से उद्भूत (प्रकट) हुआ विशेष विज्ञान का जो उपाधि के उपशम (निवृत्ति) होने पर उपशम होता है, वही उपाधि के उपशम की अपेक्षा से ही परमात्मा के साथ सम्बन्ध इस शब्द से उपचरित (व्यवहृत) होता है। परिमितत्व की अपेक्षा से सम्बन्ध का व्यवहार नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म का भेद व्यपदेश भी उपाधि के भेद की अपेक्षा से उपचरित (गौण) होता है, स्वरूप भेद की अपेक्षा से नहीं। इस सूत्रमें प्रकाशादिवत् उपमा का ग्रहण है, जैसे एक सूर्य वा चन्द्रमा के प्रकाश को उपाधि के सम्बन्ध से उत्पन्न विशेष का उपाधि के उपशम से सम्बन्ध का व्यपदेश होता है और उपाधि के भेद से भेद का व्यपदेश होता है। अथवा जैसे सुई के पाशा के आकाश आदि में उपाधि की अपेक्षा से ही ये सम्बन्ध और भेद के व्यपदेश होते हैं, वैसे ही यहाँ समझना चाहिए ॥ ३४ ॥

उपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥

उपपद्यते चाऽत्रेदृश एव सम्बन्धो नान्यादृशः । यथा 'स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इति हि स्वरूपसम्बन्धमेनमामनन्ति, स्वरूपस्य चानपायित्वात् । न नरनगरन्यायेन सम्बन्धो घटते, उपाधिकृतस्वरूपतिरोभावात्तु 'स्वमपीतो भवति' (छा० ६।८।१) इत्युपपद्यते । तथा भेदोऽपि नान्यादृशः सम्भवति । बहुतरश्रुतिप्रसिद्धैकेश्वरत्वविरोधात् । तथा च श्रुतिरेकस्याप्याकाशस्य स्थानकृतं भेदव्यपदेशमुपपादयति—'योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशः' (छा० ३।१२।७), 'योऽयमन्तः पुरुष आकाशः' (छा० ३।१२।८), 'योऽयमन्तर्हृदय आकाशः' (छा० ३।१२।६) इति च ॥ ३५ ॥

और यहाँ ऐसा ही (औपाधिक भेद की निवृत्ति रूप ही) सम्बन्ध उपपन्न होता है। अन्य प्रकार का नहीं। जैसे कि (स्वस्वरूप को प्राप्त होता है) इस प्रकार की श्रुतियाँ स्वरूप सम्बन्ध का ही कथन करती हैं और स्वरूप के अनपायी (नित्य) होने से नगर के साथ नरों के सम्बन्ध के न्याय (रीति) से स्वरूप सम्बन्ध सघटित नहीं हो सकता है, किन्तु उपाधिकृत स्वरूप के तिरोभाव (लीन) होने से (स्व स्वरूप को प्राप्त होता है) यह उपपन्न होता है और इसी प्रकार बहुत अधिक श्रुतियों से प्रसिद्ध एकेश्वरत्व के साथ विरोध से, औपाधिक भेद से अन्य प्रकार के भेद का भी सम्भव नहीं है और इसी प्रकार एक ही आकाश के स्थानकृत भेद व्यपदेश का उपपादन श्रुति करती है कि (जो यह पुरुष से बाहर भौतिक आकाश है। जो यह पुरुष-शरीर के अन्तर में आकाश है। जो यह हृदय के अन्तर में आकाश है) इत्यादि ॥ ३५ ॥

तथान्यप्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥

एवं सेत्वादिव्यपदेशान्परपक्षहेतूनुन्मथ्य सम्प्रति स्वपक्षं हेत्वन्तरेणोपसंहरति । तथान्यप्रतिषेधादपि न ब्रह्मणः परं वस्त्वन्तरमस्तीति गम्यते । तथाहि—'स एवाधस्तात्' (छा० ७।२५।१), 'अहमेवाधस्तात्' (छा० ७।२५।१), 'आत्मैवाधस्तात्' (छा० ७।२५।२), 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ० २।४।६), 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वम्' (छा० ७।२५।२), 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ० ४।४।१६), 'यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित्' (श्वे० ३।६), 'तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्' (बृ० २।५।१६) इत्येवमादीनि वाक्यानि स्वप्रकरणस्थान्यन्यार्थत्वेन परिणेतुमशक्यानि ब्रह्मव्यतिरिक्तं वस्त्वन्तरं वारयन्ति । सर्वान्तरश्रुतेश्च न परमात्मनोऽन्योऽन्तरात्माऽस्तीत्यवधार्यते ॥ ३६ ॥

इस पूर्व वर्णित रीति से पर पक्ष के हेतु रूप सेतु आदि व्यपदेशों का उन्मथन (निषेध) करके, अब इस समय हेत्वन्तर (अन्य हेतु) के द्वारा अपने पक्ष का उपसंहार करते हैं कि इसी प्रकार ब्रह्म से भिन्न वस्तु के प्रतिषेध से भी ब्रह्म से भिन्न अन्य वस्तु नहीं है, यह समझा जाता है, वह प्रतिषेध इस प्रकार है कि (वह भूमा विभु

ब्रह्म ही नीचे है। मैं ही नीचे हूँ। आत्मा ही नीचे है। उसका सब पराभव त्याग करता है जो आत्मा से अन्य सबको जानता है। यह सब ब्रह्म ही है। यह सब आत्मा ही है। इस आत्मा में नाना कुछ नहीं है। जिस पुरुष से पर श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं है। वह यह ब्रह्म कारण कार्य रहित और अन्तर बाहर भेद रहित है) इत्यादि वाक्य, स्व (ब्रह्मात्म) प्रकरणस्थ और अन्यार्थकत्व रूप से परिणयन (प्रापण) करने में अशक्य है, वह ब्रह्म से भिन्न अन्य वस्तु का वारण करता है। ब्रह्मात्म विषयक सर्वान्तर श्रुति मे परमात्मा से अन्य अन्तरात्मा नहीं है, यह अवधारण (निश्चय) किया जाता है। (तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास। ऋग्। पुरुषान्न परं किञ्चित्) ॥३६॥

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३७ ॥

अनेन सेत्वादिव्यपदेशनिराकरणेनान्यप्रतिषेधसमाश्रयणेन च सर्वगतत्वमप्यात्मनः सिद्धं भवति। अन्यथा हि तन्न सिद्ध्येत्। सेत्वादिव्यपदेशेषु हि मुख्येष्वङ्गीक्रियमाणेषु परिच्छेद आत्मनः प्रसज्येत, सेत्वादीनामेवमात्मकत्वात्। तथान्यप्रतिषेधेऽप्यसति वस्तु वस्त्वन्तराद्व्यावर्तत इति परिच्छेद एवात्मनः प्रसज्येत। सर्वगतत्वं चास्यायामशब्दादिभ्यो विज्ञायते। आयामशब्दो व्याप्तिवचनः शब्दः, यावान्वाऽयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदये आकाशः' (छा० ८।१।३) 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' 'ज्यायान्दिवः' (छा० ३।१४३) 'ज्यायानाकाशात्' 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' (भ. गी. २।२४) इत्येवमादयो हि श्रुतिस्मृतिन्यायाः सर्वगतत्वमात्मनोऽवबोधयन्ति ॥ ३७ ॥

इस सेतु आदि व्यपदेशों के निराकरण से और अन्य के प्रतिषेध के समाश्रयण से आत्मा के सर्वगतत्व विभुत्व की भी सिद्धि होती है, अन्यथा वह सर्वगतत्व नहीं सिद्ध होगा। जिससे सेतु आदि व्यपदेशों को मुख्य स्वीकार करने पर आत्मा का परिच्छेद प्राप्त होगा, क्योंकि सेतु आदि को एवमात्मत्व (परिच्छिन्न स्वरूपत्व) है। इसी प्रकार अन्य के प्रतिषेध नहीं होने पर भी एक वस्तु अन्य वस्तु से व्यावृत्त (भिन्न) होती है, इस प्रकार आत्मा का परिच्छेद ही प्राप्त होगा और आयाम शब्दादि से इस आत्मा का जहाँ सर्वगतत्व समझा जाता है, वहाँ आयाम शब्द व्याप्ति वाचक शब्द है। जितना परिमाण वाला यह बाह्य आकाश है, उतना ही परिमाण वाला यह हृदयान्तर्वर्ती आकाश आत्मा है। आत्मा आकाश के समान सर्वगत और नित्य है। स्वर्ग से बहुत बड़ा है, आकाश से बहुत बड़ा है, यह नित्य है, सर्वगत है, स्थाणु-स्थिर-अचल और सनातन (अनादि) है। इत्यादि श्रुति, स्मृति और न्याय आत्मा के सर्वगतत्व का अवबोध कराते है ॥ ३७ ॥

फलाधिकरण ॥ ८ ॥

कर्मैव फलदं यद्वा कर्माराधित ईश्वरः। अपूर्वावान्तरद्वारा कर्मणः फलदातृता ॥
अचेतनात्फलासूतेःशास्त्रीयात्पूजितेश्वरात्। कालान्तरे फलोत्पत्तेर्नापूर्वपरिकल्पना ॥ १ ॥

औपाधिक भेद वाला इस सर्वगत सत्य ईश्वर से ही व्यावहारिक जीव को कर्मादि के अनुसार इष्टानिष्ट फल की प्राप्ति होती है, सो उपपत्ति से (युक्ति से) सिद्ध होता है। वहाँ संशय है कि कर्म ही फल देने वाला है, अथवा कर्म द्वारा आराधित (सेवित) ईश्वर फल देने वाला है। पूर्वपक्ष है कि यद्यपि यह कर्म क्षणभंगुर है वह कालान्तरभावी फल को साक्षात् नहीं दे सकता है, तथापि जैसे वृक्ष में सेचित जल साक्षात् फल नहीं देकर रसादि रूप अवान्तर (मध्यगत) व्यापार द्वारा फल देता है, उसी प्रकार कर्म को भी अपूर्व (धर्माधर्म अदृष्ट) रूप अवान्तर व्यापार के द्वारा दातृत्व हो सकता है ॥ १ ॥

सिद्धान्त है कि स्वतन्त्र प्रकृति के समान स्वतन्त्र अचेतन कर्म से वा उसके व्यापार अदृष्ट से भी नियमित फल की यथा योग्य उत्पत्ति नहीं हो सकती है, इसमें शास्त्र से सिद्ध पूजित ईश्वर से फल की उत्पत्ति होने से स्वतन्त्र अपूर्व की कल्पना नहीं करनी पड़ती है। ईश्वराधीन फलप्रद कर्म और उसकी वासना सूक्ष्माशादि रूप अदृष्ट तो पञ्चाग्नि विद्या और (कर्मणा मृत्युमृषयो निषेदुः। कर्मणा बध्यते जन्तुः) इत्यादि शास्त्र से सिद्ध ही है ॥ २ ॥

फलमत उपपत्तेः ॥ ३८ ॥

तस्यैव ब्रह्मणो व्यावहारिक्यामीशित्रीशितव्यविभागावस्थायामयमन्यः स्वभावो वर्ण्यते। यदेतदिष्टव्यामिश्रलक्षणं कर्मफलं संसारगोचरं त्रिविधं प्रसिद्धं जन्तूनां किमेतत्कर्मणो भवत्याहोस्विदीश्वरादिति भवति विचारणा। तत्र तावत्प्रतिपाद्यते फलमत ईश्वराद्भवितुमर्हति। कुतः ? उपपत्तेः। स हि सर्वाध्यक्षः सृष्टिस्थितिसंहारान्विचित्रान्विदधद्देशकालविशेषाभिज्ञत्वात्कर्मिणां कर्मानुरूपं फलं सम्पादयतीत्युपपद्यते, कर्मणस्त्वनुक्षणविनाशिनः कालान्तरभावि फलं भवतीत्यनुपपन्नम्, अभावाद्भावानुत्पत्तेः। स्यादेतत् कर्म विनश्यत्स्वकालमेव स्वानुरूपं फलं जनयित्वा विनश्यति तत्फलं कालान्तरितं कर्त्रा भोक्ष्यत इति। तदपि न परिशुध्यति, प्राग्भोक्तृसम्बन्धात्फलत्वानुपपत्तेः। यत्कालं हि यत्सुखं दुःखं वात्मना भुज्यते तस्यैव लोके फलत्वं प्रसिद्धम्। नह्यसम्बद्धस्यात्मना सुखस्य दुःखस्य वा फलत्वं प्रतियन्ति लौकिकाः। अथोच्यते-मा भूत्कर्मानन्तरं फलोत्पादः, कर्मकार्यादपूर्वात्फलमुत्पत्स्यत—इति। तदपि नोपपद्यते। अपूर्वस्याचेतनस्य काष्ठलोष्टसमस्य चेतनेनाप्रवर्तितस्य प्रवृत्त्यनुपपत्तेः। तदस्तित्वे च प्रमाणाभावात्। अर्थापत्तिः प्रमाणमिति चेत्। न। ईश्वरसिद्धेरर्थापत्तिक्षयात् ॥ ३८ ॥

जिस पूर्व वर्णित ईश्वर की ही ईशितृ (ईशिता) ईशितव्य (नियम्य) रूप व्यावहारिक विभाग अवस्था में, उसके यह अन्य स्वभाव रूप फल हेतुत्व का वर्णन किया जाता है। कि जन्तुओं को जो यह इष्ट (सुख) अनिष्ट (दुःख) और सुख दुःख का

मिश्रण रूप तीन प्रकार के कर्म फल सांसारिक अवस्था में प्रसिद्ध हैं, वे क्या कर्म से प्राप्त होवे हैं, अथवा ईश्वर से प्राप्त होते हैं, ऐसी विचारणा (चर्चा) होती है। वहाँ प्रथम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाता है कि इस ईश्वर से फल होने योग्य है, क्योंकि उपपत्ति से ऐसा ही सिद्ध होता है। जिससे सबका अध्यक्ष रूप वह ईश्वर, देश काल विशेष की अभिज्ञता से विचित्र सृष्टि स्थिति और संहार का विधान (विधि सिद्धि) करता हुआ, कर्मियों के कर्मानुसार फल का सम्पादन (सिद्धि) करता है, उपपन्न (युक्ति सिद्ध) होता है। अनुक्षण विनाशी कर्म से कालान्तर में होने वाला फल होता है, यह तो अभाव से भाव की अनुत्पत्ति से अनुपपन्न है। यहाँ शङ्का होती है कि कर्म से भी यह फल हो सकता है, क्योंकि विनाश को प्राप्त होने वाला विनाश की उन्मुखता काल में अपनी वर्तमानता युक्त काल में ही कर्म अपने अनुसार फल को उत्पन्न करके नष्ट होता है और होगा, और वह फलान्तर में कर्म कर्त्ता से भोगा जायगा। उत्तर है कि यह कर्म का फल दातृत्व भी परिशुद्ध निर्दुष्ट नहीं सिद्ध होता है, जिससे भोक्ता के साथ सम्बन्ध से पूर्व काल में फल का फलत्व की ही अनुपपत्ति है। जिस काल सम्बन्धी जो सुख वा दुःख जीवात्मा से भोगा जायगा, या भोगा जाता है, उसी को लोक में फलरूपत्व प्रसिद्ध है। आत्मा से सम्बन्ध रहित सुख वा दुःख के फल रूपत्व को लौकिक जन नहीं समझते हैं। यदि कहा जाय कि कर्म के अनन्तर काल में फल की उत्पत्ति नहीं हो, किन्तु कर्म के कार्य रूप अदृष्ट धर्मा-धर्म से फल उत्पन्न होगा, तो कहा जाता है कि वह फल देने वाला स्वतन्त्र अपूर्व भी नहीं उपपन्न सिद्ध हो सकता है। जिससे काठ ढेले के समान अचेतन और चेतन से अप्रेरित अपूर्व की प्रवृत्ति की अनुपपत्ति है और उस स्वतन्त्र फल दाता अपूर्व के अस्तित्व (सत्ता) में प्रमाण का अभाव है। यदि कहें कि अर्थापत्ति (अपूर्व के बिना फल की असिद्धि) प्रमाण है, तो कहा जाता है कि अर्थापत्ति प्रमाण नहीं है। जिससे फलप्रद स्थायी ईश्वरकी सिद्धि से क्षणिक कर्म से फल की अनुपपत्ति रूप अर्थापत्ति के उपक्षय से स्वतन्त्र अपूर्व में प्रमाण का अभाव ही है॥ ३८॥

श्रुतत्वाच्च ॥ ३९ ॥

न केवलमुपपत्तेरेवेश्वरं फलहेतुं कल्पयामः, किं तर्हि ? श्रुतत्वादपीश्वरमेव फलहेतुं मन्यामहे। तथा च श्रुतिर्भवति-'स वा एष महानज आत्मान्नादो वसुदानः' (बृ० ४।४।२४) इत्येवंजातीयका ॥ ३९ ॥

केवल उपपत्ति से ही फल का हेतु रूप ईश्वर की कल्पना (अनुमिति) नहीं करते हैं, किन्तु श्रुति से श्रुत होने से भी ईश्वर को ही फल का हेतु मानते हैं। इसी प्रकार की श्रुति है कि (वह यह महान् अजन्मा आत्मा सब प्राणियों को सर्वत्र अन्न देने वाला है और धन देने वाला है) अर्थात् जड़ कर्म अपूर्व फल नहीं देता है किन्तु

कर्मादि के अनुसार सर्वज्ञ सर्वशक्ति वाला स्वतन्त्र ईश्वर ही फल देता है, अल्पज्ञता आदि से कोई जीव भी कर्म फल दाता वा स्वयं भोक्ता नहीं हो सकता है) ॥ ३९ ॥

धर्मं जैमिनिरत एव ॥ ४० ॥

जैमिनिस्त्वाचार्यो धर्मं फलस्य दातारं मन्यते । अत एव हेतोः श्रुतेरुपपत्तेश्च । श्रूयते तावदयमर्थः 'स्वर्गकामो यजेत' इत्येवमादिषु वाक्येषु । तत्र च विधिश्रुतेर्विषयभावोपगमाद्यागः स्वर्गस्योत्पादक इति गम्यते, अन्यथा ह्यननुष्ठातृको याग आपद्येत तत्रास्योपदेशवैयर्थ्यं स्यात् । नन्वनुक्षणविनाशिनः कर्मणः फलं नोपपद्यत इति परित्यक्तोऽयं पक्षः । नैष दोषः, श्रुतिप्रामाण्यात् । श्रुतिश्चेत्प्रमाणं यथाऽयं कर्मफलसम्बन्धः श्रुत उपपद्यते तथा कल्पयितव्यः, न चानुत्पाद्य किमप्यपूर्वं कर्म विनश्यत्कालान्तरितं फलं दातुं शक्नोति । अतः कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था फलस्य वा पूर्वावस्थाऽपूर्वं नामास्तीति तर्क्यते । उपपद्यते चायमर्थ उक्तेन प्रकारेण । ईश्वरस्तु फलं ददातीत्यनुपपन्नम् । अविचित्रस्य कारणस्य विचित्रकार्यानुपपत्तेर्वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गादनुष्ठानवैयर्थ्यापत्तेश्च । तस्माद्धर्मादेव फलमिति ॥ ४० ॥

जैमिनि आचार्य तो धर्म (अदृष्ट) को इसी श्रुति और उपपत्ति रूप हेतु से फल का दाता मानते हैं, कहते है कि यह कर्म को फलदातृत्व रूप अर्थ (स्वर्ग की इच्छा वाला मनुष्य याग से इष्ट का सम्पादन करे) इत्यादि वाक्यों मे सुना जाता है और उस वाक्य मे विधि रूप श्रुति (लिङ्कार का अर्थ रूप प्रेरणा) का विषय भाव के उपगम (प्राप्ति) से याग स्वर्ग का उत्पादक (हेतु) है ऐसी प्रतीति होती है । अर्थात् स्वर्ग रूप इष्ट को सिद्ध करना विधि (लिङ्) का अर्थ है और याग उसमें करण रूप से अन्वित होता है । इससे याग में स्वर्ग की हेतुता सिद्ध होता है । अन्यथा यदि याग इष्ट का हेतु नहीं हो, तो अनुष्ठाता रहित याग प्राप्त होगा, निष्फल याग का अनुष्ठान कौन करेगा और ऐसा होने पर इस याग का उपदेश की व्यर्थता होगी । यदि कहा जाय कि अनुक्षण विनश्वर यागादि कर्म से फल नहीं उत्पन्न होता है, इससे इस पक्ष का त्याग किया गया है, तो कहा जाता है कि श्रुति की प्रमाणता से यह दोष नहीं है । अर्थात् श्रुति यदि इस अर्थ मे प्रमाण है, तो जिस प्रकार यह श्रुति मे सुना गया हुआ कर्म फल का सम्बन्ध उपपन्न हो सके, वैसा उपाय कल्पना के योग्य है और किसी भी अपूर्व (अदृष्ट) को नहीं उत्पन्न करके विनष्ट होता हुआ कर्म कालान्तर मे होने वाले फल को नहीं दे सकता है । इससे कर्म की कोई सूक्ष्म उत्तरावस्था व्यापार वा फल की कोई पूर्वावस्था रूप अपूर्व नाम वाली वस्तु है ऐसा तर्क अनुमान किया जाता है और उक्त रीति से यह अर्थ उपपन्न भी होता है, इससे श्रुति और उपपत्ति से कर्म ही फल का हेतु रूप सिद्ध होता है और ईश्वर फल देता है, यह कथन तो अनुपपन्न है । क्योंकि यदि कर्म की अपेक्षा के बिना ईश्वर फल दाता हो, तो अविचित्र एक कारण से विचित्र फल रूप कार्य की अनुपपत्ति है और ईश्वर मे

विषमता क्रूरता की प्राप्ति रूप दोष होगा। तथा ईश्वर से ही फल होने पर कर्मानुष्ठान की व्यर्थता की आपत्ति होती है, इससे ईश्वर फल का हेतु नहीं है और यदि धर्म सापेक्ष ईश्वर फल दाता हो, तो भी उस धर्म से ही स्वभाव विशेष से फल होता है। ईश्वर से नहीं यह जैमिनि आचार्य का मत है ॥ ४० ॥

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

बादरायणस्त्वाचार्यः पूर्वोक्तमेवेश्वरं फलहेतुं मन्यते। केवलात्कर्मणोऽपूर्वाद्वा केवलात्फलमित्ययं पक्षस्तुशब्देन व्यावर्त्यते। कर्मापेक्षादपूर्वापेक्षाद्वा यथा तथास्त्वीश्वरात्फलमिति सिद्धान्तः। कुतः? हेतुव्यपदेशात्। धर्माधर्मयोरपि हि कारयितृत्वेनेश्वरो हेतुर्व्यपदिश्यते फलस्य च दातृत्वेन 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तु यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' इति। स्मर्यते चायमर्थो भगवद्गीतासु—

> यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
> तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥
> स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
> लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ (७।२१) इति।

सर्ववेदान्तेषु चेश्वरहेतुका एव सृष्टयो व्यपदिश्यन्ते। तदेव चेश्वरस्य फलहेतुत्वं यत्स्वकर्मानुरूपाः प्रजाः सृजतीति (१)। विचित्रकार्यानुपपत्त्यादयोऽपि दोषाः कृतप्रयत्नापेक्षत्वादीश्वरस्य न प्रसज्यन्ते ॥ ४१ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

बादरायण आचार्य तो पूर्व वर्णित ईश्वर को ही फल का हेतु मानते हैं। केवल कर्म से वा केवल अपूर्व से फल होता है, इस पक्ष की सूत्र गत तुशब्द से व्यावृत्ति (निवारण) की जाती है कि केवल अचेतन से देश कालादि के अनुसार योग्य फल नहीं हो सकता है। इससे कर्म की अपेक्षा युक्त अथवा अदृष्ट की अपेक्षा युक्त ईश्वर से जिस प्रकार हो सके उस प्रकार ही फल हो सकता है यह सिद्धान्त है, अर्थात् कर्मादि सापेक्ष ईश्वर के हेतु होने से वैषम्यादि किसी दोष की सम्भावना नहीं है। कर्मादि सापेक्ष ईश्वर ही फल का हेतु है, यह कैसे समझा जाता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि श्रुति मे ईश्वर का हेतु रूप से व्यपदेश से समझा जाता है। जिससे धर्म और अधर्म का भी कारयिता (करवाने वाला) हेतु रूप से और फल का दाता रूप से ईश्वर व्यपदिष्ट (कथित-उपदिष्ट) होता है कि (यह ईश्वर ही जीव के वासना आदि के अनुसार उस जीव से पुण्य कर्म करवाता है कि

जिसको ऊपर ले जाना चाहता है और वही उससे पाप कर्म करवाता है कि जिस को नीचे ले जाना चाहता है)। भगवद्गीता मे भी यह अर्थ स्मृत होता है ('कहा जाता है) कि (जो-जो कामी जीव जिस-जिस देव शरीर को श्रद्धा युक्त भक्त होकर पूजना चाहता है, उस जीव की उसी श्रद्धा को मैं स्थिर करता हूँ और वह उस श्रद्धा से युक्त होकर उस देव शरीर का आराधन करता है, फिर उसमे मुझ ईश्वर से ही विहित निर्मित उन कामो भोगो को अवश्य ही प्राप्त करता है)। सभी वेदान्तो मे ईश्वर रूप हेतु जन्य ही सृष्टियाँ कही जाती है और वही ईश्वर को फल हेतुत्व है कि जो स्व-स्व कर्मो के अनुसार प्रजा की सृष्टि ईश्वर करता है। जीव के कृत प्रयत्न (कर्म) की अपेक्षा पूर्वक उसके अनुसार सृष्टि आदि करने से ही विचित्र कार्य की अनुपपत्ति आदि दोष भी ईश्वर को नही प्राप्त होते है। अर्थात् कृतप्रयत्नापेक्षत्व ईश्वर के होने से दोषो का अभाव है ॥ ४१ ॥

जीवेशयो स्वरूपोऽत्र सविशेषो निरूपित ।
विवेकाय च धर्माय भक्त्या शुद्धस्य लब्धये ॥ १ ॥
सर्वावस्थासु यो जीवान् पाति भोगप्रदानत ।
अन्ते ददाति मोक्ष च भक्त्या तस्मै नमाम्यहम् ॥ २ ॥
विश्वम्भर विश्वकर मलारिं, विश्वेश्वर विश्वपर च विश्वम् ।
विश्वासवास जगता निवास, राम गुरु जन्महर नमामि ॥ ३ ॥
विश्वोद्भवे विश्वलये स्थितौ वा सदाऽसहायोऽपि करोति सर्वम् ।
यो विश्वनाथोऽखिलशक्तियुक्तस्त सादर जन्महर नमामि ॥ ४ ॥
माया यदीयाऽखिलकार्यसक्ता स्वय सदा साक्षितया विरक्त ।
सक्तो न च क्वापि न वा विरक्तस्त सादर जन्महर स्मरामि ॥ ५ ॥
भक्ताऽभय भीतिकर खलानामात्मानमेक ह्यजमद्वितीयम् ।
सर्वं स्वभासा किल कारयन्त हेतुत्वमुक्त हृदि सस्मरामि ॥ ६ ॥
यदात्मना विश्वमिद विभात सत्य तदासीदधुना च सत्यम् ।
मृदात्मना पिण्डघटादि यद्वत्त व्यापक सर्वमय नमामि ॥ ७ ॥
भीतो यदीयेन भयेन सर्वो वह्न्यादिदेव कुरुते स्वकर्म ।
यत्र स्थितो वा उदितश्च यस्मात्त देवदेव मनसा नमामि ॥ ८ ॥
आत्मा विमृत्युर्विजरो विपाप्मा विशोकसत्य खलु सत्यकाम ।
कामान् समस्तान् विसृजन्नकामो यो नित्यमास्ते ननु त नमाम ॥ ९ ॥
य आविरास्ते हृदि सर्वजन्तोर्हनूमतो मानसपुष्पभृङ्ग ।
लिङ्गैर्विमुक्त परत पर त नमामि राम स्वगुरु विशुद्धम् ॥ १० ॥
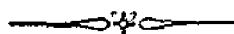
तृतीयाध्याये तृतीयः पादः

[अथ परापरब्रह्मविद्यागुणोपसंहारविवरणम्]

सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरण ॥ १ ॥

सर्ववेदेष्वनेकत्वमुपास्तेरथवैकता । अनेकत्वं कौथुमादिनामधर्मविभेदतः ।
विधिरूपफलैकत्वादेकत्वं नाम न श्रुतम् । शिरोव्रताख्यधर्मस्तु स्वाध्याये स्यान्न वेदने ॥१॥

(सर्वेषु वेदान्तेषु प्रत्ययः प्रतीतिर्ज्ञानं विधिर्यस्य तत्सर्व वेदान्तप्रत्ययं ब्रह्मोपासनमेकं परस्परभेदरहितमिति मन्तव्यम् विधिफलरूपादिषु विशेषाभावात्) सब वेदान्त में जिसका ज्ञान होता है वह विधि है, ऐसी जो ब्रह्म की उपासना है, सो एक है, ऐसा मानना चाहिये, उस एकता में विधिरूप फलादि का अभेद हेतु है। इसीसे विधि आदि जिन के भेद रहित हैं, सो किसी वेदान्त में हों उन्हे एक समझना चाहिये और विधि फल रूपादि के भेद से भिन्न समझना चाहिये। यह सूत्र का अर्थ है। यहाँ संशय होता है कि सब वेदों में उपासना की अनेकता है अथवा एकता है। पूर्वपक्ष है कि पूर्वमीमांसा में, शाखान्तराधिकरण में, नाम, रूप, और धर्मादि के भेद से कर्म का भेद कहा गया है। वैसे ही कठ, कौथुम, वाजसनेय, आदि वेद के भेद से नामों के भेद होने से, और शिरोव्रतादि धर्मों के भेद से उपासना में अनेकता होनी चाहिये। सिद्धान्त है कि (एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याऽविशेषात्) अर्थ (फल) का संयोग, द्रव्य देवतात्मक रूप, विधि रूप चोदना और आख्या की अविशेषता से कर्म एक होता है। इस सिद्धन्त सूत्र के अनुसार यहाँ भी विधि रूप और फल की एकता से विद्या में एकता है और कठकौथुमादि जो नाम हैं, वे ज्योतिष्टोमादि कर्म भेदक नामों के समान श्रुति में नहीं सुने गये हैं। ये अध्यापनादि निमित्तक नाम हैं, ये उपासना के भेदक नहीं हो सकते हैं, और इसी प्रकार शिरोव्रत नामक जो धर्म है वह (नैतदचीर्णव्रतोधीते) इस श्रुति के अनुसार अध्ययन का धर्म है उपासना का धर्म नहीं है ॥ १–२ ॥

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥

व्याख्यातं विज्ञेयस्य ब्रह्मणस्तत्त्वम्। इदानीं तु प्रतिवेदान्तं विज्ञानानि भिद्यन्ते न वेति विचार्यते। ननु विज्ञेयं ब्रह्म पूर्वापरादिभेदरहितमेकरसं सैन्धवघनवदवधारितं, तत्र कुतो विज्ञानभेदाभेदचिन्तावतारः। नहि कर्मबहुत्ववद्ब्रह्मबहुत्वमपि वेदान्तेषु प्रतिपिपादयिषितमिति शक्यं वक्तुम्, ब्रह्मण एकत्वादेकरूपत्वाच्च। न चैकरूपे ब्रह्मण्यनेकरूपाणि विज्ञानानि सम्भवन्ति, नह्यन्यथार्थोऽन्यथा ज्ञानमित्यभ्रान्तं भवति। यदि पुनरेकस्मिन्ब्रह्मणि बहूनि विज्ञानानि वेदान्तान्तरेषु प्रतिपिपादयिषितानि तेषामेकमभ्रान्तं भ्रान्तानीत-

राणीत्यनाश्वासप्रसङ्गो वेदान्तेषु। तस्मान्न तावत्प्रतिवेदान्तं ब्रह्मविज्ञानभेद आशङ्कितुं शक्यते। नाप्यस्य चोदनाद्यविशेषादभेद उच्येत, ब्रह्मविज्ञानस्याचोदनालक्षणत्वात्। अविधिप्रधानैर्हि वस्तुपर्यवसायिभिर्ब्रह्मवाक्यैर्ब्रह्मविज्ञानं जन्यत इत्यवोचदाचार्यः 'तत्तु समन्वयात्' (ब्र० सू० १।१।४) इत्यत्र। तत्कथमिमां भेदाभेदचिन्तामारभत इति।

विज्ञेय (मुमुक्षु से अवश्य ज्ञातव्य) ब्रह्म का तत्त्व (स्वरूप) व्याख्यात (निरूपित) हो चुका है। अब इस समय तो प्रत्येक वेदान्त में विज्ञान भिन्न होते हैं, या नहीं, यह विचार किया जाता है। यहाँ शङ्का होती है कि पूर्व अपर आदि भेदों से रहित सैंधवघन (लवणपिण्ड) के समान एक रस विज्ञेय ब्रह्म अवधारित (निश्चित) हो चुका है। उसमें विज्ञान के भेद और अभेद की चिंता (विचार) का अवतार (जन्म) किसी से हो सकता है। अर्थात् ब्रह्म वस्तु के भेद से विद्या का भेद हो सकता है। एक रस एक वस्तु विषयक विद्या का भेद भ्रम रूप ही होगा। क्योंकि कर्म के बहुत्व के समान ब्रह्म के बहुत्व भी वेदान्तों में प्रतिपादन की इच्छा का विषय है। इस प्रकार ब्रह्म के एकत्व और एक रसत्व से कहा नहीं जा सकता है और एक स्वरूप ब्रह्म में अनेक रूप वाले विज्ञानों का सम्भव नहीं है। जिससे अन्यथा अर्थ हो, और उससे अन्य प्रकार का ज्ञान हो तो इस अवस्था में वह ज्ञान अभ्रान्त (भ्रमभिन्न) नहीं होता है और यदि एक ब्रह्म विषयक बहुत विज्ञान वेदान्तों में प्रतिपादन की इच्छा के विषय हो, तो उनमें से वस्तु के अनुसार होने वाला एक विज्ञान अभ्रान्त होगा, और अन्य सब विज्ञान भ्रान्त होंगे, फिर इस अवस्था में वेदान्तों में ब्रह्म विज्ञान के भेदों की आशंका ही नहीं की जा सकती है। इसी प्रकार अभेद भी नहीं कहा जा सकता है। जिससे ब्रह्म विज्ञान को अचोदनालक्षणत्व (अचोदना स्वरूपत्व-चोदना से अजन्यत्व) है। आचार्य ने (तत्तु समन्वयात्) इस सूत्र में कहा है कि अविधि प्रधान (विधि प्रधानता से रहित) वस्तु मात्र में पर्यवसान (तात्पर्य वाले) ब्रह्म बोधक वाक्यों से ब्रह्म का विज्ञान उत्पन्न होता है। वहाँ फिर यह भेदा-भेद की चिन्ता (विचार) का आरम्भ आचार्य कैसे करते हैं।

तदुच्यते—सगुणब्रह्मविषया प्राणादिविषया चेयं विज्ञानभेदचिन्तेत्यदोषः। अत्र हि कर्मवदुपासनानां भेदाभेदौ संभवतः कर्मवदेव चोपासनानि दृष्टफलान्यदृष्टफलानि चोच्यन्ते, क्रममुक्तिफलानि च कानिचित्सम्यग्ज्ञानोत्पत्तिद्वारेण। तेष्वेषा चिन्ता सम्भवति—किं प्रतिवेदान्तं विज्ञानभेद आहोस्विन्न' इति। तत्र पूर्वपक्षहेतवस्तावदुपन्यस्यन्ते। नाम्नस्तावद्भेदप्रतिपत्तिहेतुत्वं प्रसिद्धं ज्योतिरादिषु। अस्ति चात्र वेदान्तान्तरविहितेषु विज्ञानेष्वन्यदन्यन्नाम तैत्तिरीयकं वाजसनेयकं कौथुमकं शाट्यायनकमित्येवमादि। तथा रूपभेदोऽपि कर्मभेदस्य प्रतिपादकः प्रसिद्धः 'वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इत्येवमादिषु। अस्ति चात्र रूपभेदः, तद्यथा—केचिच्छाखिनः

पञ्चाग्निविद्यायां षष्ठमपरमग्निमामनन्त्यपरे पुनः पञ्चैव पठन्ति तथा प्राणसंवादादिषु केचिदूनान्वागादीनामनन्ति केचिदधिकान्। तथा धर्मविशेषोऽपि कर्मभेदस्य प्रतिपादक आशङ्कितः कारीर्यादिषु। अस्ति चात्र धर्मविशेषः, यथाऽऽथर्वणिकानां शिरोव्रतमिति। एवं पुनरुक्त्यादयोऽपि भेद हेतवो यथासम्भवं वेदान्तान्तरेषु योजयितव्याः। तस्मात्प्रतिवेदान्तं विज्ञानभेद इति।

वहाँ उत्तर कहा जाता है कि सगुण ब्रह्म विषयक और प्राणादि विषयक यह विज्ञान भेद की चिन्ता है इससे दोष नहीं है। इस वेदान्त में कर्मो के समान उपासनाओं के भेद और अभेद का सम्भव है और कर्म ही के समान उपसना भी दृष्ट फल वाली और अदृष्ट फल वाली कही जाती है और कोई उपासना सम्यग् ज्ञान की उत्पत्ति द्वारा क्रममुक्ति फल वाली होती है। उस उपासना रूप विज्ञान विषयक इस चिन्ता का सम्भव है कि प्रत्येक वेदान्त में विज्ञान का भेद है, अथवा भेद नहीं है। जहाँ प्रथम पूर्वपक्ष के हेतु कहे जाते है। वहाँ प्रथम ज्योति आध्वर्यव-हीन, आदि वाक्यों में नाम को भेद प्रतीति के जनकत्व प्रसिद्ध है। अर्थात् ज्योतिष्टोम नामक याग के प्रकरण में (अथैष ज्योतिरथै सर्वज्योतिरेतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत) यह वाक्य पढ़ा हुआ है। वहाँ ज्योति शब्द से ज्योतिष्टोम का अनुवाद करके उसमें सहस्र दक्षिणा रूप गुण का विधान है। इस प्रकार पूर्वपक्ष है और सिद्धान्त है कि वाक्य गत अथ-शब्द से ज्योतिष्टोम के प्रकरण का विच्छेद हो चुका है, और अपूर्व ज्योति यह नाम है। इस नाम भेद से यह ज्योतिष्टोम से भिन्न ज्योति नाम वाला कर्म है इत्यादि। इसी प्रकार यहाँ भी अन्य वेदान्तों में विहित विज्ञान विषयक अन्य-अन्य नाम, तैत्तिरीयक, वाजसनेयक, कौथुम, शाख्यायनक इत्यादि हैं। इससे विज्ञान में भेद भास सकता है। इसी प्रकार कर्म के भेद का प्रतिपादक रूप भेद भी प्रसिद्ध है कि (वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्। ऐन्द्रं दधि ऐन्द्रं पयः) इत्यादि में रूप भेद से कर्म का भेद है। अर्थात् (विश्वेदेवा देवता यस्याः सा वैश्वदेवी आमिक्षा) विश्वेदेव नामक जिसका देव हैं सो आमिक्षा है और वाजियों (देव) के लिए वाजिन है। इन्द्र देवता वाला दधि है। इन्द्र देवता वाला पय है। ये चार कर्म हैं, क्योंकि द्रव्य और देवता याग रूप कर्म के रूप होते हैं। वहाँ प्रथम कर्म के आमिक्षा और विश्वेदेव रूप हैं। दूसरे के वाजि और वाजिन रूप हैं। तीसरे के इन्द्र और दधिरूप है, चौथे के इन्द्र और पय रूप हैं। वहाँ (तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्) इस वचन के अनुसार गरम दूध में दही देने से फट कर जो कठिनांश होता है, उसको आमिक्षा कहते हैं, और उसके पानी भाग को वाजिन कहते हैं। मीमांसा में विचार है कि वाजि शब्द से विश्वेदेव का ही अनुवाद करके वैश्वदेव याग में ही वाजिन गुण का विधान होना चाहिये। ऐसी शंका करके उत्तर है कि कर्म के स्वरूप का बोधक विधि को उत्पत्ति विधि कहते हैं और उत्पत्ति विधि में उपदिष्ट आमिक्षा से ही उस याग में द्रव्य की आकांक्षा शान्त हो गई है। इससे वाजि नामक देव और

वाजिन रूप द्रव्यात्मक रूप के भेद से यह वैश्वदेव याग से भिन्न कर्म का विधान है। इसी प्रकार यहाँ वेदान्त मे भी विज्ञान का रूप भेद है। वह इस प्रकार है कि कोई शाखा वाले पञ्चाग्नि विद्या म षष्ठ अन्य अग्नि का भी कथन करते हैं और अन्य कोई पाँच ही को पढते हैं। इसी प्रकार प्राणो के सवादादि मे कोई न्यून वाक् आदि कथन करते हैं और कोई अधिक का कथन करते हैं। इसी प्रकार कारीरि आदि मे कर्म भेद का प्रतिपादक धर्म विशेष भी आशङ्कित है कि कारीरी वाक्या को पढने वाले कोई भूमि म भोजन करते है, कोई ऐसा नही करते हैं, जहाँ कर्म भेद है अथवा नहीं है इत्यादि। और यहाँ धर्म विशेष है। जैसे कि आथर्वणिको का शिरोव्रत है। इसी प्रकार (समिधो यजति-तनूनपात यजति) इत्यादि वाक्यों मे यजति पद की पुनरुक्ति (अभ्यास) से पाँच प्रयाजा का भेद कहा गया है। जैसे ही शाखान्तर म अभ्यास से विद्या का भेद प्राप्त होता है। इस प्रकार पुनरुक्ति आदि भी भेद के हेतु हैं, सो यथा सम्भव अन्य वेदान्त म भी योजना (सम्बन्ध) के योग्य हैं। जिससे प्रत्येक वेदान्त मे विज्ञान का भेद है। अर्थात् (नाम-रूप-धर्म-विशेष-पुनरुक्ति-निन्दा-शक्ति-समाप्तिवचन-प्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनाच्छाखान्तरे कर्मभेद स्यात्) निन्दा, अशक्ति, समाप्तिवचन मे भेद, प्रायश्चित्त और अन्यार्थदर्शन (अर्थवाद) इन सबसे कर्म भेद, की शका होती तहाँ अग्निहोत्र के प्रसग मे निन्दा और प्रायश्चित्त से अग्निहोत्र का भेद होता है। इन हेतुओ मे निन्दा का प्रसग वेदान्त मे नही आता है। अन्य सब का प्रसग आता है।

एवं प्राप्ते ब्रूम —सर्ववेदान्तप्रत्ययानि विज्ञानानि तस्मिंस्तस्मिन्वेदान्ते तानि तान्येव भवितुमर्हन्ति। कुत ? चोदनाद्यविशेषात्। आदिग्रहणेन शाखान्तराधिकरणसिद्धान्तसूत्रोदिता अभेदहेतव इहाकृष्यन्ते, संयोगरूपचोदनाख्याविशेषादित्यर्थ। यथैकस्मिन्नग्निहोत्रे शाखाभेदेऽपि पुरुषप्रयत्नस्तादृश एव चोद्यते जुहुयादिति। एव 'यो ह वै ज्येष्ठ च श्रेष्ठ च वेद' (बृ० ६।१।१ छा० ५।१।१) इति वाजसनेयिना छन्दोगाना च तादृश्येन चोदना। प्रयोजनसंयोगोऽप्यविशिष्ट एव 'ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वाना भवति' (बृ० ६।१।१) इति। रूपमप्युभयत्र तदेव विज्ञानस्य यदुत ज्येष्ठश्रेष्ठादिगुणविशेषान्वित प्राणतत्त्वम्। यथा च द्रव्यदेवते यागस्य रूपमेव विज्ञेयरूप विज्ञानस्य तेन हि तद्रूप्यते। समाख्याऽपि सैव प्राणविद्येति। तस्मात्सर्ववेदान्तप्रत्ययत्व विज्ञानानाम्। एव पञ्चाग्निविद्यावैश्वानरविद्याशाण्डिल्यविद्यैत्येवमादिषु योजयितव्यम्। ये तु नामरूपाद्यो भेदहेत्वाभासास्ते प्रथम एव काण्डे 'न नाम्ना स्यादचोदनाभिधानत्वात्' इत्यारभ्य परिहृता ॥ १ ॥

इस प्रकार पूर्व पक्ष के प्राप्त होने पर कहते हैं कि (सर्वैर्वेदान्तै प्रतीयन्त इति सर्ववेदान्तप्रत्ययानि) सब वेदान्तो से जो समझे जाते हैं जिनम सब वेदान्त प्रमाण

हैं। ऐसे विज्ञान तत्तत् वेदान्तों में वे ही होने योग्य हैं। यह किस प्रमाण से समझा जाय कि सब वेदान्त में वे ही विज्ञान हैं, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं कि चोदना (विधि) आदि की अविशेषता से समझा जाता है। यहाँ सूत्रगत आदि शब्द से पूर्वमीमांसा के शाखान्तराधिकरण के सिद्धान्त सूत्र में कथित अभेद के साधक हेतु आकृष्ट होते हैं कि फल का संयोग, रूप, चोदना, और आख्या (नाम) की अविशेषता से विज्ञानों का भेद नहीं है यह सूत्र का अर्थ है। जैसे एक अग्नि-होत्र में शाखा के भेद होने पर (जुहुयात्) हवन से इष्ट का सम्पादन करे। इस वचन से पुरुष प्रयत्न वैसा ही विहित होता है कि जैसा एक शाखा में विहित होता है। इसी प्रकार (जो कोई ज्येष्ठ और श्रेष्ठ को जाने) यह वाजसनेयी और छान्दोगों की सदृश ही विधि है और प्रयोजन (फल) का संयोग भी तुल्य ही है कि (अपने सम्बन्धियों में ज्येष्ठ और श्रेष्ठ होता है और ज्येष्ठ श्रेष्ठ आदि गुण विशेषण से युक्त जो प्राणतत्त्व है। वही दोनों शाखा में विज्ञान का रूप है। जैसे याग के द्रव्य और देवता रूप होते हैं। इसी प्रकार विज्ञान का विज्ञेय विषय रूप होता है। जिससे जिस विषय द्वारा ही विज्ञान विशेष रूप वाला किया जाता है, निरूपित होता है। प्राणविद्या यह समाख्या (यौगिक नाम) भी दोनों शाखा में वही एक ही है। जिससे विज्ञानों को सब वेदान्तों से प्रत्ययत्व (ज्ञेयत्व) है। इसी प्रकार पञ्चाग्नि-विद्या, वैश्वानरविद्या, और शाण्डिल्यविद्या इत्यादि में विधि रूपादि की योजना करना चाहिये। जो काठक कौथुम आदि नाम और रूपादि भेद के हेतु के समान भासते हैं। उनका प्रथम काण्ड (पूर्वमीमांसा) में ही (न नाम्ना स्यादचोदनाभि-धानत्वात्।) इस प्रकार आरम्भ करके परिहार (निवारण) किया गया है कि काठ-कादि नामों से कर्म का भेद नहीं हो सकता है, क्योंकि काठकादि शब्द ग्रन्थ के नाम हैं, चोदना (विहित कर्म) के वाचक नहीं है। कर्म वाचक नाम के भेद से कर्म का भेद होता है। इससे भिन्न नाम वाले शाखा-ग्रन्थ के भेद रहते भी उससे विहित कर्म एक ही होता है। अल्प रूप के भेद से कर्म भिन्न नहीं होता है। धर्म विशेष अध्य-यन का अङ्ग है कर्म का नहीं है इत्यादि ॥ १ ॥

इहापि कञ्चिद्विशेषमाशङ्क्य परिहरति—
यहाँ भी किसी विशेष की आशंका करके परिहार करते हैं—

भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥ २ ॥

स्यादेतत्। सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वं विज्ञानानां गुणभेदान्नोपपद्यते। तथा-हि वाजसनेयिनः पञ्चाग्निविद्यां प्रस्तुत्य षष्ठमपरमग्निमामनन्ति—'तस्या-ग्निरेवाग्निर्भवति' (बृ० ६।२।१४) इत्यादिना। छन्दोगास्तु तं नामनन्ति पञ्च-संख्ययैव च त उपसंहरन्ति 'अथ ह य एतानेव पञ्चाग्नीन्वेद' (छा० ५।१०।१०) इति। येषां च स गुणोऽस्ति येषां च नास्ति कथमुभयेषामेका विद्योपपद्येत।

नचात्र गुणोपसंहारः शक्यते प्रत्येतुं, पञ्चसंख्याविरोधात् । तथा प्राणसंवादे श्रेष्ठादन्यांश्चतुरः प्राणान्वाक्चक्षुःश्रोत्रमनांसि छन्दोगा आमनन्ति । वाजसनेयिनस्तु पञ्चममप्यामनन्ति 'रेतो वै प्रजापतिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद' (बृ० ६।१।६) इति । आवापोद्वापभेदाच्च वेद्यभेदो भवति । वेद्यभेदाच्च विद्याभेदो द्रव्यदेवताभेदादिव यागस्येति चेत् ।

चोदना आदि के अविशेष होने पर यह विज्ञान का एकत्व हो सकता है। परन्तु गुणों के भेद से विज्ञानों की सर्व वेदान्त प्रत्ययत्व उपपन्न नहीं होता है। जिससे पञ्चाग्नि विद्या को प्रस्तुत करके वाजसनेयी अन्य षष्ठी अग्नि का इस प्रकार कथन करते हैं कि (उस मृतक पुरुष के दाह रूप आहुति के लिये प्रसिद्ध अग्नि ही अग्नि है) इत्यादि से कल्पना करते हैं। इसलिये छान्दोग लोग उसका कथन नहीं करते हैं किन्तु पाँच संख्या से ही वे लोग पञ्चाग्नि विद्या का उपसंहार (समाप्ति) करते हैं (फिर जो कोई इन पाँचों अग्नियों को जानता है वह महापापियों के साथ व्यवहार करता हुआ भी पाप से लिप्त नहीं होता है) इत्यादि। जिस वाजसनेयी को वह षष्ठाग्नि रूप गुण है। जिस छान्दोग को वह गुण नहीं है। उन दोनों की विद्या एक कैसे उपपन्न हो सकती है। यदि कहा जाय कि मृतक दाह के लिए जो वाजसनेयी शाखा में प्रसिद्धाग्नि है उसका छान्दोग्य में उपसंहार (प्राप्ति-स्वीकार) करने से रूप का भेद नहीं रहेगा। जहाँ कहा जाता है कि इस छान्दोग्य में से गुण का उपसंहार (ग्रहण) नहीं समझा जा सकता है। क्योंकि ऐसा करने से पाँच संख्या से विरोध होगा। इसी प्रकार प्राणसंवाद में छान्दोग लोग श्रेष्ठ प्राण से अन्य वाक् चक्षु, श्रोत्र और मनरूप चार प्राणों का कथन करते हैं। वाजसनेयी तो पञ्चम प्राण का भी कथन करते हैं कि रेत (वीर्य) प्रजनन शक्तियुक्त इन्द्रिय ही प्रजापति है। (ऐसा जो समझता है वह प्रजा और पशु से सम्पन्न होता है) इत्यादि। अधिक गुणादि के आवाप (परिक्षेप प्राप्ति) और उद्वाप (उद्धरण निष्काशन) से भी वेद्य (ज्ञेय) पदार्थ का भेद होता है। द्रव्य देवता के भेद से याग भेद के समान वेद्य के भेद से विद्या का भेद होता हैं। इससे उक्त स्थानों में विद्या का भेद है।

नैष दोषः । यत एकस्यामपि विद्यायामेवंजातीयको गुणभेद उपपद्यते । षष्ठस्याग्नेरुपसंहारो न सम्भवति तथापि द्युप्रभृतीनां पञ्चानामग्नीनामुभयत्र प्रत्यभिज्ञायमानत्वान्न विद्याभेदो भवितुमर्हति, नहि षोडशिग्रहणाग्रहणयोरतिरात्रो भिद्यते । पठ्यतेऽपि च षष्ठोऽग्निश्छन्दोगैः—'तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति' (छा० ५।९।२) इति । वाजसनेयिनस्तु सांपादिकेषु पञ्चस्वग्निष्वनुवृत्तायाः समिद्धूमादिकल्पनाया निवृत्तये 'तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समित्' बृ० ६।२।१४) इत्यादि समामनन्ति स नित्यानुवादः । अथाप्युपासनार्थ एष वादस्तथापि स गुणः शक्यते छन्दोगैरप्युपसंहर्तुम् । न चात्र पञ्चसंख्याविरोध आशङ्क्य, साम्पादिकाग्न्यभिप्राया ह्येषा पञ्चसंख्या नित्यानुवा-

द्भूता न विधिसमवायिनीत्यदोषः। एवं प्राणसंवादादिष्वप्यधिकस्य गुणस्येतरत्रोपसंहारो न विरुध्यते। नचावापोद्वापभेदाद्वेद्यभेदो विद्याभेदश्चाशङ्कयः, कस्यचिद्वेद्यांशस्यावापोद्वापयोरपि भूयसो वेद्यराशेरभेदावगमात्। तस्मादैकविद्यमेव ॥ २ ॥

यदि ऐसी शङ्का हो तो कहते हैं कि यह विद्या का भेद रूप दोष नहीं है। जिससे एक विद्या में भी इस प्रकार के गुण का भेद उपपन्न होता है। यद्यपि छान्दोग्य में षष्ट (छठी) अग्नि का उपसंहार नहीं हो सकता, तथापि स्वर्गादि पाँच अग्नियों की दोनों शाखाओं में प्रत्यभिज्ञा होती है। इससे पाँच अग्नियों को दोनों स्थानों में प्रत्यभिज्ञायमानत्व (प्रत्यभिज्ञाविषयत्व) है। इससे विद्या का भेद होने योग्य नहीं है। षोडशि पात्र के ग्रहण और अग्रहण मात्र से अतिरात्र याग का भेद नहीं होता है। अर्थात् अल्प गुणादि के भेद से जैसे कर्म में भेद नहीं होता वैसे अल्पवेद्य के भेद से विद्या का भेद नहीं हो सकता। छन्दोगो से षष्ठी अग्नि पढी भी जाती है कि (पारलौकिक कर्म में वर्तमान के उस मृतक देह को इस ग्राम में अग्नि के लिए लोग ले जाते हैं)। यदि कहो कि छान्दोग्य में अग्निमात्र सुना गया है। अन्यत्र समित आदि अधिक पढे जाते हैं। इससे विद्या का भेद है तो कहा जाता है कि वाजसनेयी भी साम्पादिक (कल्पित) पाँच अग्नियों में अनुवृत्त (सम्बद्ध) समित् धूमादि कल्पना की निवृत्ति के लिए (उस मृतक का दाह अन्त्येष्टि के लिए प्रसिद्ध अग्नि ही अग्नि है, प्रसिद्ध समित ही समित है) इत्यादि पढते हैं, सो नित्यानुवाद (प्रसिद्धानुवाद) रूप है। यदि यह उपासना के लिए अनुवाद है, तो भी वह गुण छन्दोगों से उपसंहार किया जा सकता है। उपसंहार करने पर पाँच संख्या के साथ विरोध की शंका भी यहाँ करने योग्य नहीं है, क्योंकि सम्पत्तिविधिसिद्ध अग्नि के अभिप्राय से ही यह पञ्चत्व रूप संख्या नित्यानुवाद रूप है विधि के साथ सम्बन्ध वाली ध्येय नहीं है, इससे दोष नहीं है। इसी प्रकार प्राणसंवाद आदि में भी अधिक गुण का अन्यत्र उपसंहार विरुद्ध नहीं होता है। आवाप-उद्वाप के भेद से वेद्य का भेद और विद्या का भेद की आशंका भी करने योग्य नहीं है। क्योंकि किसी वेद्यांग के आवाप और उद्वाप (वृद्धि और ह्रास) होने पर भी भूयः (बहुल) वेद्यराशि के अभेद के अवगम से भेद शङ्का का कोई हेतु नहीं है। जिससे सब वेदान्त मे एक विद्यात्व ही है ॥ २ ॥

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥ ३ ॥

यदप्युक्तम्—आथर्वणिकानां विद्यां प्रति शिरोव्रताद्यपेक्षणादन्येषां च तदनपेक्षणाद्विद्याभेद—इति, तत्प्रत्युच्यते। स्वाध्यायस्यैष धर्मो न विद्यायाः।

कथमिदमवगम्यते ? यतस्तथात्वेन स्वाध्यायधर्मत्वेन समाचारे वेदव्रतोपदेशपरे ग्रन्थे आथर्वणिका इदमपि वेदव्रतत्वेन व्याख्यातमिति समामनन्ति। 'नैतदचीर्णव्रतोऽधीत' (मु० ३।२।११) इति चाधिकृतविषयादेतच्छब्दादध्ययनशब्दाच्च स्वोपनिषदध्ययनधर्म एवैष इति निर्धार्यते।

जो यह भी कहा था कि अथर्वशाखा वालों की विद्या के प्रति (विद्या की प्राप्ति में) शिरोव्रतादि की अपेक्षा की जाती है और अन्य की विद्या की प्राप्ति में शिरोव्रतादि की अपेक्षा नहीं की जाती, इससे धर्मभेद से विद्या का भेद है। उसका प्रत्युत्तर कहा जाता है कि शिरोव्रतादि स्वाध्याय का धर्म है। अर्थात् स्वशब्द का अर्थ मुण्डक उपनिषद् है। अध्ययन को अध्याय कहते हैं। इससे मुण्डक के अध्ययन का यह धर्म है, विद्या का धर्म नहीं है। यदि कहा जाय कि यह कैसे समझा जाता है कि यह स्वाध्याय का ही धर्म है, तो कहा जाता है कि जिससे आथर्वणिक लोग कहते-पढते हैं कि तथात्वरूप से अर्थात् स्वाध्याय के धर्मस्वरूप से व्रतों के उपदेशपरक समाचार (सम्यगाचार) रूप अर्थात् सदाचार का प्रतिपादक ग्रंथ में, यह शिरोव्रतादि भी वेदव्रतरूप से अर्थात् वेदाध्ययन व्रत (धर्म) रूप से व्याख्यात (कथित) है। इस वचन में स्वाध्याय धर्म जाना जाता है। (एतत् इस मुण्डक का अध्ययन वह नहीं करता है कि जिसने शिरोव्रत नहीं किया है) इस वचन में अधिकृतविषयक एतत् शब्द और अध्ययन शब्द से भी अपनी उपनिषद् के अध्ययन का ही यह धर्म है ऐसा निर्धारण (निश्चय) किया जाता है।

ननु च 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेच्छिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्' (मु० ३।२।१०) इति ब्रह्मविद्यासंयोगश्रवणादेकैव सर्वत्र ब्रह्मविद्येति संकीर्येतैष धर्मः। न। तत्राप्येतामिति प्रकृतपरामर्शात्। प्रकृतत्वं च ब्रह्मविद्याया ग्रन्थविशेषापेक्षमिति ग्रन्थविशेषसंयोग्येवैष धर्मः। सवाश्च तन्नियम इति निदर्शननिर्देशः। यथा च सवाः सप्त सौर्यादयः शतौदनपर्यन्ता वेदान्तरोदितत्रेताग्न्यनभिसम्बन्धादाथर्वणोदितैकाग्न्यभिसम्बन्धाच्चाथर्वणिकानामेव नियम्यन्ते तथैवायमपि धर्मः स्वाध्यायविशेषसम्बन्धात्तत्रैव नियम्यते। तस्मादप्यनवद्यं विद्यैकत्वम् ॥३॥

शंका होती है कि (जिन्होंने शिरोव्रत का विधियुक्त अनुष्ठान किया है, उनके ही प्रति यह ब्रह्मविद्या कहनी चाहिये) इस प्रकार ब्रह्मविद्या के साथ व्रत का संयोग के श्रवण से और सर्वत्र ब्रह्मविद्या के एक ही होने से यह धर्म सर्वत्र संकीर्ण (सम्बद्ध) होगा और यदि नहीं सम्बद्ध होता है, तो सर्वत्र ब्रह्मविद्या एक नहीं है, विद्या का भेद है। उत्तर है कि इस धर्म का सर्वत्र सम्बन्ध नहीं होता है न वस्तुतः विद्या का भेद है, जिससे उस वचन में भी (एताम्) इस पद से प्रकृत का परामर्श (स्मरण) होने से ब्रह्म का बोधक ग्रन्थ का ही वाचक ब्रह्मविद्या शब्द है। अर्थात् एताम्, इससे प्रकृत का परामर्श होता है। ब्रह्मविद्या को प्रकृतत्व ग्रन्थविशेष की अपेक्षा से है, इससे ग्रन्थविशेष का

सम्वन्धी यह धर्म है। (सववच्च तन्नियमः) सूत्र में यह निदर्शन (दृष्टान्त) का निर्देश (कथन) है। सव शब्द होम, यज्ञविशेष का वाचक है। यहाँ जैसे शतौदन-पर्यन्त सौर्यादि नाम वाले सात होम, वेदान्तर (अन्य वेद) में कथित आहवनीय आदि त्रेताग्नि (तीन अग्नि) के साथ सम्बन्धाभाव, और आथर्वण में कथित एकर्षि नामक एक अग्नि के साथ सम्बन्ध के कारण आथर्वणिकों के ही लिए नियमित होते हैं, कि आथर्वणिकों को उस एक अग्नि में ही उक्त सातो होम करना चाहिए अन्य में नहीं। इसी प्रकार यह भी शिरोव्रतादि धर्म स्वाध्यायविशेष के साथ सम्बन्ध से उस स्वाध्याय (अध्ययन) में ही नियमित होता है इससे भी विद्या की एकता दोष रहित है ॥ ३ ॥

दर्शयति च ॥ ४ ॥

दर्शयति च वेदोऽपि विद्यैकत्वं सर्ववेदान्तेषु वेद्यैकत्वोपदेशात् 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (क० २।१५) इति, तथा 'एतमेव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगाः' इति च। तथा 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (क० ६।२) इति काठके उक्तस्येश्वरगुणस्य भयहेतुत्वस्य तैत्तिरीयके भेददर्शननिन्दायै परामर्शो दृश्यते 'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति' 'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य (त० २।७।१) इति। तथा वाजसनेयके प्रादेशमात्रसंपादितस्य वैश्वानरस्य छान्दोग्ये सिद्धवदुपादानम् 'यस्त्वेतमेव प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते' (छा० ५।१८।१) इति। तथा सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वेनाऽन्यत्र विहितानामुक्थादीनामन्यत्रोपासनविधानायोपादानात्प्रायदर्शनन्यायेनोपासनानामपि सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वसिद्धिः ॥ ४ ॥

वेद्यब्रह्म की एकता के उपदेश से निर्गुण ब्रह्मविद्या की एकता को वेद भी सब वेदान्तों में दर्शाता है तथा उसके सन्निधिपाठादि से सगुण विद्याओं की भी एकता दर्शाता है कि (सब वेद जिस प्राप्तव्य वस्तु का प्रतिपादन करते हैं) इति। इसी प्रकार (इसी ब्रह्मात्मा को बह्वृच-ऋग्वेदी महान् उक्थ में विचार करते हैं, इसी को अग्नि में अध्वर्यु होम द्वारा पूजते हैं, छन्दोग महाव्रत में इसका ध्यान करते हैं) यह वचन भी सगुण की एकता को दर्शाता है। इसी प्रकार (जगत् का कारणरूप ब्रह्म महाभय का हेतु है, उद्यत वज्र के समान है) इस कठसम्बन्धी वचन में कहा गया भयहेतुत्वरूप ईश्वर के गुण का भेददर्शन की निन्दा के लिए तैत्तिरीयक में परामर्श देखा जाता है कि (जब यह अज्ञ जीव इस अद्वैत ब्रह्म मे परम् उत् अल्प भी अन्तर-भेद देखता-समझता है, तब उसको भय होता है। जिससे ब्रह्म के मनन विचारादि से रहित विद्वान् के लिए भी वह ब्रह्म ही भय का हेतु होता है) यह परामर्श दर्शन एकता को सिद्ध करता है। इसी प्रकार वाजसनेयक में प्रादेशमात्ररूप मे सम्पादित (कल्पित) वैश्वानर का छान्दोग्य मे सिद्ध वस्तु के समान उपादान (ग्रहण) भी वैश्वानरविद्या की

एकता को दर्शाता है कि (जो कोई इस वैश्वानर को यथोक्त रीति से द्युमूर्धादि रूप प्रदेशों से युक्त प्रादेशमात्र अभिविमान प्रत्यगात्मक रूप से ज्ञायमान आत्मारूप से उपासना करता है वह सर्वत्र अन्न खाता है) इति। जैसे निर्गुण और सगुण ब्रह्म की एकता है, उसकी विद्या भिन्न नहीं होती है, इसी प्रकार अन्यत्र विहित (उक्त) उक्थादि (वेदांश आदि) का अन्य स्थान में उपासना विधान के लिये ग्रहण से सर्ववेदान्त में उक्थादि के प्रत्ययत्व (प्रतीयमानत्व) प्रतीतिविषयत्व द्वारा प्रायदर्शन न्याय से बाहुल्यरूप से उपासनाओं की सर्ववेदान्त प्रत्ययसिद्धि (सर्व वेदान्त में एकता ज्ञान की सिद्धि) होती है ॥ ४ ॥

उपसंहाराधिकरण ॥ २ ॥

एकोपास्ताऽनाहार्या आहार्या वा गुणाः श्रुतौ। अनुक्तत्वादनाहार्या उपकारः श्रुतैर्गुणैः ॥१॥
श्रुतत्वादन्यशाखायामाहार्या अग्निहोत्रवत्। विशिष्टविद्योपकारः स्वशाखोक्तगुणैः समः ॥२॥

समान (अनेक शाखा में वर्णित एक) विज्ञान उपासना में कही श्रुत गुण का अन्यत्र अश्रुत गुण के स्थान में अर्थ के अभेद से (प्रयोजन की अविशेषता-तुल्यता से) उपसंहार (संग्रह-सम्बन्ध) समझना चाहिये, कि जैसे अग्निहोत्र में अन्यत्र उक्त धर्म का अन्यत्र संग्रह होता है, वैसे ही यहाँ भी होना है। यहाँ संशय है कि एक उपासना में अन्यत्र श्रुत गुण आहरण (संग्रह) के योग्य है, अथवा अन्य श्रुति में आहरण योग्य नहीं है। पूर्वपक्ष है कि जो गुण जिस श्रुति में अनुक्त है सो अनुक्त होने ही से अन्यत्र से उपसंहार के अयोग्य है। यदि कहा जाय कि गुण से उपासना में उपकार (विशेष फल) होता है, इसलिए उपसंहार करना चाहिए तो कहा जाता है कि श्रुत गुणों से ही उपकार होगा, अन्य गुण का ग्रहण निरर्थक है। सिद्धान्त है कि एक शाखा में नहीं श्रुत होने पर अन्य शाखा में श्रुत होने से अग्निहोत्र कर्म के समान विद्या में भी गुण का उपसंहार करना चाहिए, क्योंकि उपसंहार करने से अपनी शाखा में उक्त गुणों से जन्य उपकार के समान उन उपसंहृत गुणों से विशिष्ट (अधिक) विद्या में उपकार होगा अधिक गुण का अधिक फल होगा इत्यादि ॥ १–२ ॥

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ॥ ५ ॥

इदं प्रयोजनसूत्रम्। स्थिते चैवं सर्ववेदान्तप्रत्ययत्वे सर्वविज्ञानानामन्यत्रोदितानां विज्ञानगुणानामन्यत्रापि समाने विज्ञान उपसंहारो भवति, अर्थाभेदात्। य एव हि तेषां गुणानामेकत्रार्थो विशिष्टविज्ञानोपकारकः स एवान्यत्रापि, उभयत्रापि हि तदेवैकं विज्ञानं तस्मादुपसंहारः विधिशेषवत्, यथाहि विधिशेषाणामग्निहोत्रादिधर्माणां तदेवैकमग्निहोत्रादि कर्म सर्वत्रेत्यर्थाभेदादुपसंहार एवमिहापि। यदि हि विज्ञानभेदो भवेत्ततो विज्ञानान्तरनिबद्धत्वाद् गुणानां प्रकृतिविकृतिभावाभावान्न स्यादुपसंहारः। विज्ञानैकत्वे तु नैवमिति, अस्यैव तु प्रयोजनसूत्रस्य प्रपञ्चः सर्वाभेदादित्यारभ्य भविष्यति ॥ ५ ॥

भाष्यकार कहते हैं कि विद्या की एकता साधन का प्रयोजन को कहने वाला यह सूत्र है। क्योंकि इस पूर्व कही रीति से सर्ववेदान्त-प्रत्ययत्व (सब वेदान्त से ज्ञेयत्व) के सब विज्ञान के सिद्ध होने पर स्थिर होने पर, अन्यत्र कथित विज्ञान के गुणों का कहीं अन्यत्र भी समान विज्ञान में अर्थ के अभेद से उपसंहार होता है। जिससे उन गुणों का विशिष्ट विज्ञान का उपकारक जो ही अर्थ (फल-प्रयोजन) एक स्थान में है वही अर्थ उपसंहार करने पर अन्यत्र भी होगा। जिससे दोनों स्थान में एक वही विज्ञान है। इससे उपकार की तुल्यता से विधि शेष (अंग) के समान उपसंहार होता है। जैसे कि विधि के शेषों (अङ्गों) अग्निहोत्रादि के धर्मों का वही एक अग्निहोत्रादि कर्म सर्वत्र है इस बुद्धि से और अर्थ के अभेद से उपसंहार होता है। इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। यदि विज्ञान का भेद हो, तब तो गुणों को विज्ञानान्तर में निबद्ध होने से तथा प्रकृति-विकृतिभाव के अभाव से उपसंहार नहीं हो। परन्तु विज्ञान का एकत्व के होने पर तो इस प्रकार गुण का अनुपसंहार नहीं होता है। अर्थात् कर्मों में भेद रहते गुण का उपसंहार नहीं होता है। परन्तु प्रकृति-विकृतिभाव के रहने पर प्रकृति कर्म के गुण का विकृति कर्म में (प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या) प्रकृति के समान विकृति करना चाहिए, इस वचन के अनुसार सम्बन्ध होता है। जिसमे अन्य से गुण की प्राप्ति नहीं हो उसको प्रकृति कहते हैं। अन्य को विकृति कहते हैं। विज्ञान में प्रकृति-विकृति-भाव नहीं होने से भेद रहने पर अन्य के गुण का अन्य में सम्बन्ध नहीं हो सकता है। परन्तु अभेद रहने पर तो सम्बन्ध होता ही है। इसी प्रयोजनसूत्र का सर्वाभेदात् यहाँ से आरम्भ करके विस्तार किया जायगा, पुनरुक्ति नहीं है ॥ ५ ॥

अन्यथात्वाधिकरण ॥ २ ॥

एकाभिन्नाथोद्गीथविद्या छान्दोग्यकाण्वयोः। एका स्यान्नामसामान्यात्संग्रामादिसमत्वतः॥१॥
उद्गीथावयवोंकार उद्गातेत्युभयोर्भिदा। वेद्यभेदेऽर्थवादादिसाम्यमत्राप्रयोजकम् ॥ २ ॥

छान्दोग्य और बृहदारण्यक में उद्गीथ विद्या पढ़ी गई है, वहाँ छान्दोग्य में उद्गीथ का अवयव ओंकार की प्राणरूप से उपासना कही गई है। बृहदारण्यक में सम्पूर्ण उद्गीथ के कर्ता उद्गातारूप से प्राण की उपासना कही गई है। इस शब्द भेद से उपासना में अन्यथात्व है, भेद है। ऐसा यदि कोई कहे, तो पूर्वपक्षी कहता है कि इस अल्प भेद से विद्या का भेद नहीं हो सकता है, नामादि बहुत की तुल्यता से विद्या की एकता है। यह सूत्रार्थ है। संदेह है कि छान्दोग्य और काण्व की उद्गीथविद्या भिन्न है अथवा अभिन्न है। पूर्वपक्ष है कि नाम की समानता से तथा सात्त्विक-तामस इन्द्रिय-वृत्तिरूप देवासुर के संग्रामादि की तुल्यता से एक विद्या होनी चाहिए। सिद्धान्त है कि छान्दोग्य मे उद्गीथ का अवयव ओंकार उपास्य है। अन्यत्र उद्गातारूप प्राण उपास्य है। विज्ञान का वेद्य के भेद से भेद होता है इससे विद्या का भेद है, वेद्य के भेद रहते अर्थवादादि की तुल्यता इस विद्या में अभेद का प्रयोजक (हेतु) नहीं हो सकती है ॥ १–२ ॥

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥ ६ ॥

वाजसनेयके 'ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्ययामेति' (बृ० १।३।१) 'ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथा' (बृ० १।३।२) इति प्रक्रम्य वागादीन्प्राणानसुरपाप्मविद्धत्वेन निन्दित्वा मुख्यप्राणपरिग्रहः पठ्यते—'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उदगायत्' (बृ० १।३।७) इति तथा छान्दोग्येऽपि—'तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम' (छा० १।२।१) इति प्रक्रम्येतरान्प्राणानसुरपाप्मविद्धत्वेन निन्दित्वा तथैव मुख्यप्राणपरिग्रहः पठ्यते—'अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे' (छा० १।२।७) इति । उभयत्रापि च प्राणप्रशंसया प्राणविद्याविधिरध्यवसीयते । तत्र संशयः—किमत्र विद्याभेदः स्यादाहोस्विद्विद्यैकत्वमिति । किं तावत्प्राप्तं ? पूर्वेण न्यायेन विद्यैकत्वमिति ।

वाजसनेयक (बृहदारण्यक) में वर्णन है कि (असुरों से—तामस वृत्तियों से पराजित वे देव कहने लगे कि इस उद्गीथ के कर्तृत्वरूप से इस ज्योतिष्टोम यज्ञ में असुरों को जीत कर अपने देवभाव को प्राप्त करें। ऐसा निश्चय करके उन देवों ने वाक् के अभिमानी देव से कहा कि तुम हम सब के लिए उद्गान कर्म करो, तथास्तु ऐसा कहकर वाक् उद्गान किया) इस प्रकार से आरम्भ करके और वाक् आदि प्राणों की असुर-सम्बन्धी पापों से विद्धत्व (व्याप्तत्व) द्वारा निन्दा करके मुख्य प्राण का उद्गातारूप से परिग्रह पढ़ा जाता है कि (आस्य-मुख में रहने वाले प्राण से देव सब कहने लगे कि तुम हमारे लिए उद्गान करो, तथास्तु इस प्रकार स्वीकार करके यह प्राण उनके लिए उद्गान किया) इत्यादि। इसी प्रकार छान्दोग्य में भी है कि (उस प्रवृत्त देवासुर संग्राम में देव सब ने उद्गीथ कर्म को प्राप्त किया कि इस कर्म से असुरों का पराजय करेंगे) इस प्रकार से आरम्भ करके अन्य प्राणों की पापविद्धत्व से निन्दा करके, उक्त रीति से ही मुख्य प्राण का परिग्रह पढ़ा जाता है कि (फिर जोही यह प्रसिद्ध मुख में रहने वाला प्राण है उसकी उद्गीथरूप से उपासना देवों ने की) दोनों उपनिषद् में ही प्राण की प्रशंसा से प्राणविद्या की विधि का निश्चय किया जाता है।

ननु न युक्तं विद्यैकत्वं प्रक्रमभेदात्, अन्यथा हि प्रक्रमन्ते वाजसनेयिनोऽन्यथा छन्दोगाः 'त्वं न उद्गाय' (बृ० १।३।२) इति वाजसनेयिन उद्गीथस्य कर्तृत्वेन प्राणमामनन्ति, छन्दोगास्तूद्गीथत्वेन 'तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे' (छा० १।२।७) इति, तत्कथं विद्यैकत्वं स्यादिति चेत्। नैष दोषः। न ह्येतावता विशेषेण विद्यैकत्वमपगच्छति अविशेषस्यापि बहुतरस्य प्रतीयमानत्वात्। तथाहि—देवासुरसंग्रामोपक्रमत्वमसुरात्ययाभिप्राय उद्गीथोपन्यासो वागादिसंकीर्तनं तन्निन्दया मुख्यप्राणव्यपाश्रयस्तद्वीर्याच्चासुरविध्वंसनमश्मलोष्टनिदर्शनेनेत्येवं बहवोऽर्था उभयत्राप्यविशिष्टा प्रतीयन्ते। वाजसनेयकेऽपि चोद्गीथ-

सामानाधिकरण्यं प्राणस्य श्रुतम्—'एष उ वा उद्गीथः' (बृ० १।३।२३) इति। तस्माच्छान्दोग्येऽपि कर्तृत्वं लक्षयितव्यम्। तस्माच्च विद्यैकत्वमिति ॥ ६ ॥

यहाँ संशय होता है कि क्या यहाँ विद्या का भेद होगा, अथवा विद्या की एकता है। प्रथम क्या प्राप्त है ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष होता है कि पूर्व न्याय से विद्या का एकत्व प्राप्त होता है। पूर्वपक्ष मे शंका होती है कि प्रक्रम (उपक्रम) के भेद से विद्या का एकत्व (अभेद) युक्त नहीं है। जिससे वाजसनेयी अन्य प्रकार से आरम्भ करते है। छन्दोग उससे अन्य प्रकार से आरम्भ करते है (तुम हमारे लिए उद्गान करो) इस प्रकार वाजसनेयी उद्गीथ (उद्गान) के कर्तृत्वरूप से प्राण का कथन करते हैं। छन्दोग्य तो उद्गीथत्व (ओंकारत्व) रूप से प्राण का कथन करते है कि (उस मुख्य प्राण की उद्गीथरूप से देवों ने उपासना की) इस प्रकार के भेद होते वह विद्या का एकत्व कैसे होगा। पूर्वपक्षी कहता है कि यह दोष नहीं है, जिससे इतना विशेष भेद से विद्या की एकता नष्ट नहीं होती है, क्योकि बहुतर (अतिअधिक) अविशेष (अभेद) के भी प्रतीयमान (प्रतीत) होने से विद्या की एकता सिद्ध होती है। क्रमत्व विशेष से अधिक अविशेष ही इस प्रकार है कि देवासुर-संग्रामीय क्रमत्व, असुरों के अत्यय का अभिप्राय (असुरजयार्थक संवाद) उद्गीथ का उपन्यास, वाक् आदि का संकीर्तन, उनकी निन्दा से मुख्य प्राण का आश्रयण और उस प्राण के वीर्य-प्रभाव से असुरों का नाश उसके लिये पत्थर-मृत्तिका के लोष्ट (ढेले) का दृष्टान्तरूप से कथन कि जैसे पत्थर को प्राप्त होकर लोष्ट नष्ट होता है, इसी प्रकार प्राण को हनन के लिए प्राप्त होकर असुर पाप स्वयं नष्ट होते हैं। इस प्रकार के बहुत अर्थ दोनों स्थान में तुल्य प्रतीत होते हैं। वाजसनेयक में भी उद्गीथ के सामाधिकरणता (उद्गीथरूपता) प्राण की छान्दोग्य के समान सुनी जाती है कि (यह प्राण अवश्य उद्गीथ है) इस प्रकार उद्गीथरूपता के दोनों में तुल्य होने पर इसी से छान्दोग्य में भी उद्गीथ कर्तृत्व प्राण में लक्षणा से समझना चाहिए। इस प्रकार अल्प भेद के भी नहीं रहने से विद्या की एकता है ॥ ६ ॥

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥ ७ ॥

न वा विद्यैकत्वमत्र न्याय्यं विद्याभेद एवात्र न्याय्यः। कस्मात्? प्रकरण-भेदादिति। प्रक्रमभेदादित्यर्थः। तथाहि—इह प्रक्रमभेदो दृश्यते छान्दोग्ये तावत् 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) इत्येवमुद्गीथावयवस्यों-कारस्योपास्यत्वं प्रस्तुत्य रसतमादिगुणोपव्याख्यानं च तत्र कृत्वा 'अथ खल्वेत-स्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति' (छा० १।१।१०) इति, पुनरपि तमेवोद्गीथा-वयवमोंकारमनुवर्त्य देवासुराख्यायिकाद्वारेण 'तं प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे' (छा० १।२।२) इत्याह। तत्र यद्युद्गीथशब्देन सकला भक्तिरभिप्रेयेत तस्याश्च कर्तोद्गातर्त्विक्तत उपक्रमश्चोपरुध्येत, लक्षणा च प्रसज्येत। उपक्रमानुरोधेन

चेत्तस्मिन्वाक्ये उपसंहारेण भवितव्यम्। तस्मादत्र तावदुद्गीथाध्ययने ओंकारे प्राणदृष्टिरुपदिश्यते।

यहाँ विद्या का एकत्व न्याययुक्त किसी प्रकार नहीं है, विद्या का भेद ही यहाँ न्याययुक्त है क्योंकि प्रकरण भेद (प्रक्रमभेद) से यही सिद्ध होता है। सूत्रगत प्रकरण शब्द का प्रक्रम अर्थ है। यहाँ इस प्रकार प्रक्रम (उपक्रम) भेद देखा जाता है कि छान्दोग्य में तो (ओम् इस अक्षररूप उद्गीथ के अवयव की उपासना करे) इस प्रकार उद्गीथ के अवयव ओंकार के उपास्यत्व का प्रस्ताव (आरम्भ) और पृथिवी आदि रसों का भी रसतम (उत्तम रस) ओंकार है इत्यादि गुणों का उसमें उपव्याख्यान (कथन) करके (अथ इसी प्रकृत उद्गीथ के अवयवरूप ओंकार अक्षर का उपव्याख्यान है) इस प्रकार फिर भी देवासुर की आख्यायिका द्वारा उसी उद्गीथ के अवयव ओंकार की अनुवृत्ति करके (उन देवों ने प्राणरूप से उस उद्गीथ के अवयव ओंकार की उपासना की) यह श्रुति कहती है।

वाजसनेयके तूद्गीथशब्देनावयवग्रहणे कारणाभावात्सकलैव भक्तिरावेद्यते, 'त्वं न उद्गाय' (बृ० १।३।२) इत्यपि तस्याः कर्तोद्गातृत्विक्प्राणत्वेन निरूप्यत इति प्रस्थानान्तरम्। यदपि तत्रोद्गीथसामानाधिकरण्यं प्राणस्य तदप्युद्गातृत्वेनैव दिदर्शयिषितस्य प्राणस्य सर्वात्मत्वप्रतिपादनार्थमिति न निर्दिष्टत्वमावहति, सकलभक्तिविषय एव च तत्राप्युद्गीथशब्द इति वैषम्यम्। नच प्राणस्योद्गातृत्वमसंभवेन हेतुना परित्यज्येत उद्गीथभाववदुद्गातृभावस्याप्युपासनार्थत्वेनोपदिश्यमानत्वात्। प्राणवीर्येणैव चोद्गातोद्गात्रं कर्म करोतीति नास्त्यसंभवः। तथा च तत्रैव श्रावितम्—'वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायत्' (बृ० १।३।२४) इति।

यहाँ यदि वाजसनेय के साथ एकता के लिए उद्गीथ शब्द से सम्पूर्ण उद्गीथ भाग अभिप्रेत (स्वीकृत गृहीत) किया जाय, और (प्राणमुद्गीथम्) यहाँ उस उद्गीथ भाग का कर्ता उद्गाता ऋत्विक् रूप उपास्य प्राण अभिप्रेत किया जाय, तो उपक्रम उपरुद्ध (बाधित) हो जायगा, अर्थात् ओंकार की उपासनारूप उपक्रम का भङ्ग होगा, और उद्गीथ पद की उद्गीथकर्ता अर्थ में लक्षणा की प्राप्ति होगी। यदि कहा जाय कि उद्गीथ पद की उद्गीथ के अवयव में लक्षणा करनी ही पड़ती है। उसमें श्रेष्ठ है कि श्रुत्यन्तर के अनुसार से तथा उपसंहार में कर्तारूप प्राण की उपासना के निश्चय से उपक्रम में भी कर्ता प्राण का निश्चय किया जाय, तो कहा जाता है कि एक वाक्य में असंदिग्ध उपक्रम के अनुसार उपसंहार का होना चाहिए, उपक्रम संदिग्ध हो वहाँ भले ही उपसंहार के अनुसार उसका निश्चय किया जाता है, यहाँ तो ओंकाररूप अक्षर को उपक्रम में उपास्यत्व निश्चित है। इससे उसके साथ एक विभक्तियुक्त उद्गीथपद की लक्षणा भी निश्चित है। इससे उपसंहार को उपक्रम के अनुसार

कर्तव्य है। जिससे यहाँ उद्गीथ के अवयव ओंकार मे ही प्राणदृष्टि का उपदेश दिया जाता है, उद्गीथ भाग में नही। वाजसनेयक में तो उद्गीथ शब्द से अवयव के ग्रहण में कारण के अभाव से सम्पूर्ण उद्गीथ भाग ही उद्गीथ शब्द से आवेदित (बोधित) होता है। (तुम हमारे लिए उद्गान करो) इस वचन से भी उस उद्गीथ भाग का गानकर्ता ऋत्विक् उद्गाता ही प्राणरूप मे निरूपित्त होता है, इससे यह प्रस्थानान्तर है (छान्दोग्य से अन्य प्रकार का उपक्रम है।) उस वाजसनेयक मे जो भी प्राण की उद्गीथ के साथ समानाधिकरणता (एकविभक्तिवाच्यता) है, वह भी उद्गातृत्वरूप से ही दर्शाने की इच्छा के विषय प्राण की सर्वात्मता का प्रतिपादन के लिए है, इससे वह विद्या की एकता को नही सिद्ध करता है। वहाँ भी उद्गीथ शब्द सम्पूर्ण उद्गीथ भागविषयक ही है, यह विषमता है। जडता से प्राण के उद्गातृत्व के असंभव रूप हेतु से भी प्राण के उद्गातृत्व त्यागा नहीं जा सकता है। क्योंकि उद्गीथरूपता के समान ही उद्गातृरूपता का भी उपासना के लिए उपदेश है प्राण के वीर्य (बल-प्रभाव) से ही उद्गाता औद्गात्र (उद्गान) कर्म करता है, इससे प्राण के उद्गातृत्व का असम्भव नहीं है। इसी प्रकार वहाँ ही सुनाया गया है कि (*प्राणप्रधान वाक् द्वारा आत्मस्वरूप प्राण से उस उद्गाता ने उद्गान किया*)।

नच विवक्षितार्थभेदेऽवगम्यमाने वाक्यच्छायानुकारमात्रेण समानार्थत्वमध्यवसातुं युक्तम्, तथा ह्यभ्युदयवाक्ये पशुकामवाक्ये च—'त्रेधा तण्डुलान्विभजेद्ये मध्यमाः स्युस्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं कुर्यात्' इत्यादिनिर्देशसाम्येऽप्युपक्रमभेदादभ्युदयवाक्ये देवतापनयोऽध्यवसितः, पशुकामवाक्ये तु यागविधिः, तथेहाप्युपक्रमभेदाद्विद्याभेदः, परोवरीयस्त्वादिवत्। यथा परमात्मदृष्ट्यध्याससाम्येऽपि 'आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्' (छा० १।९।१) 'स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः' (छा० १।९।२) इति 'परोवरीयस्त्वादिगुणविशिष्टमुद्गीथोपासनमक्ष्यादित्यादिगतहिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणविशिष्टोद्गीथोपासनाद्भिन्नम्, नचेतरेतरगुणोपसंहार एकस्यामपि शाखायां तद्वच्छाखान्तरस्थेष्वप्येवंजातीयकेषूपासनेष्विति ॥ ७ ॥

विवक्षित अर्थ उपास्य ओंकार और प्राण के भेद के अवगम्यमान (अनुभूत) होते वाक्यच्छाया (वाक्य-प्रतिबिम्ब) के अनुकरण (तुल्यता) मात्र से समानार्थत्व का निश्चय करना युक्त नही है। वह इस प्रकार से युक्त नहीं है कि जैसे अभ्युदय वाक्य (दर्शयाग मे चन्द्रमा के अभ्युदयनिमित्तक कर्मबोधक वाक्य) और पशुकामवाक्य मे (तण्डुलों का त्रिधा विभाग करे, उनमे जो मध्यम तण्डुल हों उनका दाता अग्नि के लिये आठ कपाल में पुरोडाश करे) इत्यादि निर्देश के तुल्य होते भी उपक्रम के भेद से अभ्युदय वाक्य मे देवता का अपनय (त्याग) अध्यवसित (निश्चित) होता है, कर्म वही रहता है। पशुकाम वाक्य में तो अन्य याग का विधान होता है, उसी प्रकार से यहाँ भी परोवरीयस्त्वादि के समान विद्या का भेद उपक्रम के भेद से

होना है। अर्थात् (विवाएत प्रजया पशुभिरर्द्धयति वर्द्धयत्यस्य भ्रातृव्य यस्य हविर्निरुप्त पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति त्रेधा तण्डुलान् विभजेद् ये मध्यमास्तानग्नय दात्रे पुरोडाशमष्टाकपाल कुर्याद् य स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधँश्चरुं येऽणिष्ठास्तान् विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम्) चतुर्दशी म ही अमावास्या के भ्रम से जिस यज्ञकर्ता को अमावास्या म दर्शयाग के लिए प्रवृत्त होना चाहिए वह चतुर्दशी म ही प्रवृत्त हो और दर्श के देवता अग्नि आदि के लिए तण्डुल दधिपयरूप हवि प्रथम ही निरुप्त सकल्पित हो जाय उसके बाद यदि चन्द्रमा अभ्युदित हो तो उस यज्ञकर्ता को काल के विपर्ययरूप अपराध स वही सकल्पित हवि इसको प्रजा आदि से वियुक्त करता है उसके शत्रु को बढाता है (इसलिए काल की भ्राति वाला यजमान दधि आदि सहित जो तीन प्रकार के सकल्पित तण्डुल है उनको अग्नि आदि देवो से विभजेत् (विभक्त करे) और दातृप्रदातृ शिपिविष्ट(महेश्वरत्व)रूप गुण वाले देवो के प्रति उसी क्रम म अष्टाकपाल पुरोडाश चरु का अर्पण करे। इस प्रकार देवता का अपनयमात्र अध्यवसित होता है। पशुकाम वाक्य म यद्यपि (ये स्थविष्ठास्तानग्नये प्रणायते) इत्यादि निर्देश अभ्युदय वाक्य के तुल्य है तथापि अमावास्या म नित्य दर्शकर्म की समाप्ति के बाद फिर गोदोहन के लिए वत्सापाकरणादि का उपक्रम है इससे यागान्तर की विधि है अभ्युदय वाक्य के साथ पशुकाम वाक्य को एकार्थता नही है, इसी प्रकार यहाँ भी कुछ अश म निर्देश की समता विद्या की एकता का हेतु नही है, किन्तु परोवरीयस्त्वादि के समान विद्या का भेद है जैसे परमात्मदृष्टि का अध्यास के तुल्य होते भी (आकाश परमात्मा ही इन सब भूतो से अति महान है और आकाश ही सबका परम आश्रय है। वही परमात्मा पर से पर और वर से वर परोवरीयान् ही उद्गीथ है, और सो यह उद्गीथ अनन्त है) इस प्रकार का परोवरीयस्त्वादि गुणविशिष्ट उद्गीथ की उपासना, नेत्रसूर्यादिगत हिरण्यश्मश्रुत्वादि गुणविशिष्ट उद्गीथ उपासना से भिन्न है। भिन्न होन स एक शाखा म भी परस्पर गुणो का उपसहार भी नही होता है। इसी प्रकार शाखान्तर मे स्थित इस प्रकार के उपासनाओ म गुणोपसहार नही होना है ॥ ७ ॥

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥ ८ ॥

अथोच्येत सज्ञैकत्वाद्विद्यैकत्वमत्र न्याय्यमुद्गीथविद्येति ह्युभयत्राप्येका सज्ञेति। तदपि नोपपद्यते। उक्त ह्येतत्—'न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत्' (ब्र० सू० ३।३।७) इति। तदेव चात्र न्याय्यतर श्रुत्यक्षरानुगत हि तत्स्म सज्ञैकत्व तु श्रुत्यक्षरबाह्यमुद्गीथशब्दमात्रप्रयोगाल्लौकिकैर्व्यवहर्तृभिरुपचर्यते। अस्ति चैतत्सज्ञैकत्व प्रसिद्धभेदेष्वपि परोवरीयस्त्वाद्युपासनेषूद्गीथविद्येति। तथा प्रसिद्धभेदानामप्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीना काठकैकग्रन्थपरिपठिताना काठकसज्ञैकत्व दृश्यते तथेहापि भविष्यति। यत्र तु नास्ति कश्चिदेवजातीयको भेदहेतुस्तत्र भवतु सज्ञैकत्वाद्विद्यैकत्व यथा सवर्गविद्यादिषु ॥ ८ ॥

यदि पूर्वपक्षी कहे कि संज्ञा की एकता से विद्या का एकत्वही न्याययुक्त है। उद्गीथ विद्या यह संज्ञा दोनों स्थान में एक ही है, तो वह कहना उपपन्न नहीं हो सकता, जिससे यह कहा जा चुका है कि (न वा प्रकरणभेदात्) इत्यादि, और वही यहाँ अत्यन्त न्याययुक्त है, जिससे वह श्रुति के अक्षरों से अनुगत (प्राप्त) है। संज्ञा की एकता तो श्रुति के अक्षरों से बाहर है, उद्गीथ शब्दमात्र के प्रयोग से लौकिक व्यवहार करने वालों से उपचार-व्यवहार किया जाता है। प्रसिद्ध भेदवाले परोवरीयस्त्वादि-उपासनाओं में भी उद्गीथविद्या, यह संज्ञा की एकता है, इसी प्रकार प्रसिद्ध भेद वाले, काठक नामक एक ग्रन्थ में पठित अग्निहोत्र दर्शपूर्णमासादि को भी काठक एक संज्ञावत्त्व देखा जाता है। उसी प्रकार यहाँ भी होगा। परन्तु जहाँ इस प्रकार का कोई भेद का हेतु नहीं है, वहाँ संज्ञा की एकता से विद्या की एकता होगी, जैसे कि संवर्ग विद्या की सब शाखा में संज्ञा की एकता से एकता होती है ॥ ८ ॥

व्याप्त्यधिकरण ॥ ४ ।

किमध्यासोऽथवा बाध ऐक्यं चाथ विशेष्यता। अक्षरस्यात्र नास्त्यैक्यं नियतं हेत्वभावतः॥
वेदेषु व्याप्त ओंकार उद्गीथेन विशिष्यते। अध्यासादौ फलं कल्प्यं संनिकृष्टांशलक्षणा॥

(ओमित्येदक्षरमुद्गीथमुपासीत) यहाँ संशय होता है कि इस वचन से ओंकार अक्षर की उपासना विहित है, यहाँ उद्गीथ पद का क्या फल है, उद्गीथ का उच्चारण असमञ्जस (अयुक्त) प्रतीत होता है। उत्तर है कि ओंकार की सब वेद में व्याप्ति से ओमित्येतदक्षरमुपासीत) इतना ही कहने पर संशय हो सकता था कि किस ओंकार की उपासना की जाय और उद्गीथपद के रहने से लक्षणा द्वारा निःसंशय बोध होता है कि उद्गीथ के अवयवरूप ओंकार की उपासना करे इससे समञ्जस (युक्त) उद्गीथ पद है। फिर भी शंका होती है कि यदि ओंकार व्यापक है, तो उद्गीथ का अवयव ओंकार अन्य स्थान में पठित से भिन्न नहीं है कि फिर भी विशेषण असमञ्जस व्यर्थ है। उत्तर है कि परमात्मा की व्याप्ति के समान होने से समञ्जस है। अर्थात् परमात्मा की व्याप्ति रहते भी औपाधिक भेद से हृदयादि मे भेद माना जाता है। इसी प्रकार सब वेद में व्यापक एक ओंकार के पाठादि कृत औपाधिक भेद से भेद समझा जाता है इत्यादि सूत्रार्थ है॥)

यहाँ समानाधिकरणविषयक संशय है कि नाम ब्रह्मेत्युपासीत, इसके समान यह अध्यासमूलक उपदेश है। अथवा यश्चौरः स स्थाणुः। जो चोर था वह ठूंठ है। इसके समान बाध दृष्टि से है, या अहं ब्रह्म इत्यादि के समान एकता दृष्टि से है, अथवा नीलो घटः इत्यादि के समान विशेषण विशेष्यभाव से है। पूर्वपक्ष है कि हेतुविशेष के अभाव से यहाँ श्रुति के अक्षर का नियत (निश्चित) ऐक्य (एकार्थबोधकत्व) नहीं है। उत्तर है कि वेदो मे व्याप्त ओंकार उद्गीथ द्वारा विशेषित किया जाता है। अध्यासादि में नामोपासनादि के समान फल की कल्पना करनी पड़ेगी, विशेषण पक्ष

म इतर की व्यावृत्ति फल होता है और सन्निकृष्ट अवयव में लक्षणा होती है अन्यथा विप्रकृष्ट लक्षणा की प्राप्ति होगी ॥ १-७ ॥

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥ ९ ॥

'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) इत्यत्राक्षरोद्गीथशब्दयोः सामानाधिकरण्ये श्रूयमाणेऽध्यासापवादैकत्वविशेषणपक्षाणां प्रतिभासनात्कतमोऽत्र पक्षो न्याय्यः स्यादिति विचारः। तत्राध्यासो नाम द्वयोर्वस्तुनोरनिवर्तितायामेवान्यतरबुद्धावन्यतरबुद्धिरध्यस्यते, यस्मिन्नितरबुद्धिरध्यस्यतेऽनुवर्तत एव तस्मिंस्तद्बुद्धिरध्यस्तेतरबुद्धावपि। यथा नाम्नि ब्रह्मबुद्धावध्यस्यमानायामप्यनुवर्तत एव नामबुद्धिर्न ब्रह्मबुद्ध्या निवर्तते। यथा वा प्रतिमादिषु विष्ण्वादिबुद्ध्यध्यासः। एवमिहाप्यक्षरे उद्गीथबुद्धिरध्यस्येत उद्गीथे वाऽक्षरबुद्धिरिति।

(उद्गीथ का अवयव ओम् इस अक्षर की उपासना करे) यहाँ इस वाक्य में अक्षर और उद्गीथ शब्द की समानाधिकरणता के सुनने पर, अध्यास, अपवाद, एकत्व और विशेषण इन चारों पक्षों की प्रतीति होने में इन चारों में से कौन पक्ष यहाँ न्याययुक्त है यह विचार उपस्थित होता है। यहाँ अध्यास वह कहा जाता है कि जहाँ दो वस्तुओं में से एक वस्तु की बुद्धि की निवृत्ति हुए बिना ही अन्य दूसरी वस्तु की बुद्धि कल्पित होती है जिसमें अन्य की बुद्धि कल्पित होती है, उसमें कल्पित अन्य की बुद्धि होते भी उस वस्तु का अपनी बुद्धि भी वर्तमान ही रहती है। जैसे कि (नाम ब्रह्मेत्युपासीत) इस वचन के बल से नाम में ब्रह्मबुद्धि कल्पना (सिद्धि) करने पर भी नाम बुद्धि भी अनुवर्तमान ही रहती है ब्रह्मबुद्धि से नामबुद्धि निवृत्त नहीं होती है। अथवा जैसे प्रतिमा आदि में विष्णु आदि बुद्धि का अध्यास विधि वशादि से होता है परन्तु प्रतिमा आदि बुद्धि निवृत्त नहीं होती है। इसी प्रकार यहाँ भी अक्षर में उद्गीथ बुद्धि कल्पित होती है अथवा उद्गीथ में अक्षर बुद्धि अध्यस्त होती है। एक यह पक्ष है।

अपवादो नाम यत्र कस्मिंश्चिद्वस्तुनि पूर्वनिविष्टायां मिथ्याबुद्धौ निश्चितायां पश्चादुपजायमाना यथार्था बुद्धिः पूर्वनिविष्टाया मिथ्याबुद्धेर्निवर्तिका भवति, यथा देहेन्द्रियसंघाते आत्मबुद्धिरात्मन्येवात्मबुद्ध्या पश्चाद्भाविन्या 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यनया यथार्थबुद्ध्या निवर्तते, यथा वा दिग्भ्रान्तिबुद्धिर्दिग्याथात्म्यबुद्ध्या निवर्त्यते, एवमिहाप्यक्षरबुद्ध्योद्गीथबुद्धिर्निवर्त्यते उद्गीथबुद्ध्या वाऽक्षरबुद्धिरिति। एकत्वं त्वक्षरोद्गीथशब्दयोरनतिरिक्तार्थवृत्तित्वम्, यथा द्विजोत्तमो ब्राह्मणो भूमिदेव इति। विशेषणं पुनः सर्ववेदव्यापिन ओमित्येतस्याक्षरस्य ग्रहणप्रसङ्गे औद्गात्रविषयस्य समर्पणम्, यथा नीलं यदुत्पलं तदानयेति। एवमिहाप्युद्गीथो य ॐकारस्तमुपासीतेति। एवमेतस्मिन्सामानाधिकरण्यवाक्ये विमृश्यमाने एते पक्षाः प्रतिभान्ति। तत्रान्यतमनिर्धारणकारणाभावादनिर्धार-

णप्राप्ताविदमुच्यते—व्याप्तेश्च समञ्जसमिति । चशब्दोऽयं तुशब्दस्थाननिवेशी पक्षत्रयव्यावर्तनप्रयोजनः । तदिह त्रयः पक्षः सावद्या इति पर्युदस्यन्ते, विशेषणपक्ष एवैको निरवद्य इत्युपादीयते ।।

अपवाद वह कहा जाता है कि जहाँ किसी वस्तु मे निश्चित (निश्चयात्मक) मिथ्या (भ्रान्ति) बुद्धि के पूर्वकाल मे निविष्ट (उत्पन्न स्थिर) होवे, पीछे उत्पन्न होने वाली यथार्थ बुद्धि उस पूर्वनिविष्ट मिथ्या बुद्धि को निवृत्त करने वाली होती है। जैसे कि देह इन्द्रिय आदि के संघात (समूह) मे प्रथम निविष्ट आत्मबुद्धि (तत्वमसि) इत्यादि उपदेशों से पीछे होने वाली आत्मविषयक ही आत्मबुद्धिरूप इस यथार्थ बुद्धि से निवृत्त होती है। अथवा जैसे दिग्भ्रमबुद्धि दिक् के यथार्थ बुद्धि से निवृत्त होती है, इसी प्रकार यहाँ भी अक्षर बुद्धि से उद्गीथ बुद्धि निवृत्त होती है, वा उद्गीथबुद्धि से अक्षरबुद्धि निवृत्त होती है। यह दूसरा पक्ष है। अक्षर और उद्गीथ शब्द को अनतिरिक्तार्थवृत्तित्व (एकार्थवाचकत्व) एकत्व है, जैसे द्विजोत्तम, ब्राह्मण और भूमिदेव इन शब्दो को एकत्व है। विशेषणरूप उद्गीथ शब्द तो सर्ववेद मे व्यापक ओम् इस अक्षर के ग्रहण-प्राप्त होने पर औद्गात्र (उद्गान) का विषयरूप ओम् शब्द का समर्पण (बोध) कराता है, जैसे नील जो कमल है उसको लाओ, यह प्रयोग होता है। इसी प्रकार यहाँ भी उद्गीथ जो ओंकार उसकी उपासना करो। यह प्रयोग होता है। इस प्रकार इस समानाधिकरणताबोधक वाक्य के विचार काल में ये चार पक्ष प्रतीत होते हैं। उनमें किसी एक पक्ष के निर्धारण के कारण के अभाव से अनिर्धारण की प्राप्तिरूप पूर्वपक्ष के होने पर यह कहा जाता है कि (व्याप्तेश्च समञ्जसम्) इति। सूत्रगत यह च शब्द तु शब्द के स्थान मे निवेश (स्थिति) वाला है, वह प्रथम के तीन पक्ष की व्यावृत्तिरूप प्रयोजन वाला है। इससे यहाँ तीनों पक्ष सदोष है, इससे पर्युदस्त (निवारित) किये जाते हैं। एक विशेषण पक्ष ही दोषरहित है, इससे उसका उपादान (ग्रहण) किया जाता है।

तत्राध्यासे तावद्या बुद्धिरितरत्राध्यस्यते तच्छब्दस्य लक्षणावृत्तित्वं प्रसज्येत तत्फलं च कल्प्येत। श्रूयत एव फलम् 'आपयिता ह वै कामानां भवति' (छा० १।१।७) इत्यादीति चेत्। न। तस्यान्यफलत्वात्। आप्त्यादिदृष्टिफलं हि तन्नोद्गीथाध्यासफलम्। अपवादेऽपि समानः फलाभावः। मिथ्याज्ञाननिवृत्तिः फलमिति चेत्। न। पुरुषार्थोपयोगानवगमात्। नच कदाचिदप्योंकारादोंकारबुद्धिर्निवर्तते उद्गीथाद्वोद्गीथबुद्धिः। नचेदं वाक्यं वस्तुतत्त्वप्रतिपादनपरम्, उपासनविधिपरत्वात्। नाप्येकत्वपक्षः संगच्छते, निष्प्रयोजनं हि तदा शब्दद्वयोच्चारणं स्यात् एकेनैव विवक्षितार्थसमर्पणात्। नच हौत्रविषये आध्वर्यवविषये वाऽक्षरे ओंकारशब्दवाच्ये उद्गीथशब्दप्रसिद्धिरस्ति। नापि सकलायां साम्नो द्वितीयायां भक्तावुद्गीथशब्दवाच्यायामोंकारशब्दप्रसिद्धिर्येनानतिरिक्ता-

र्थता स्यात्। परिशेषाद्विशेषणपक्ष परिगृह्यते, व्याप्ते सर्ववेदसाधारण्यात्। सर्वव्याप्यक्षरमिह मा प्रसञ्जीत्यत उद्गीथशब्देनाक्षर विशेष्यते कथ नामोद्गीथावयवभूत ओकारो गृह्येतेति।

यहाँ अध्यास पक्ष मे जो बुद्धि अन्यार्थ म कल्पित होगी, अर्थात् उद्गीथ की बुद्धि ओकार मे कल्पित होगी, तो उस उद्गीथ के वाचक उद्गीथ शब्द की ओकार अर्थ मे लक्षणावृत्ति की प्राप्ति होगी ओकार की उद्गीथरूप मे प्रतीकोपासना का फल की कल्पना करनी पडेगी। यदि कहो कि (वह यजमान के कामो को प्राप्त कराने वाला होता है) इत्यादि फल सुना ही जाता है इससे फल की कल्पना नही करनी पडेगी, तो वह कहना युक्त नही है। जिससे उसको अन्य का फलत्व है, अर्थात् ओकार आप्ति है, समृद्धि है इस दृष्टि से जो ओकार की उपासना की जाती है उसका वह फल है उद्गीथ के अध्यास का वह फल नही है। अपवाद पक्ष मे भी फल का अभाव अध्यास पक्ष के समान है, यदि कहो कि मिथ्याज्ञान की निवृत्ति फल है, तो वह नही कह सकते हो, क्योकि आत्मज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्तिजन्य पुरुषार्थ के समान ओकार बुद्धि से उद्गीथ बुद्धि की या उद्गीथ बुद्धि से ओकार बुद्धि की निवृत्तिजन्य कोई पुरुषार्थरूप उपयोग (फल) अवगत (ज्ञात) नही होता है। वस्तुत ओकार से कभी ओकार बुद्धि नही निवृत्त होती है, न उद्गीथ से उद्गीथ बुद्धि निवृत्त होती है। इससे इस पक्ष का सम्भव भी नही है। अर्थात् भ्रमबुद्धि की यथार्थबुद्धि से निवृत्ति होती है, यहाँ भ्रमबुद्धि नही है। वस्तुतत्त्व का प्रतिपादक वचन से तत्त्वज्ञान द्वारा भ्रान्ति की निवृत्ति होती है। यह वाक्य वस्तुतत्त्व का प्रतिपादनपरक नही है। क्योकि इस वाक्य को उपासना विधिपरत्व है। एकत्वपक्ष भी सगत नही हो सकता है जिससे उस एकत्व पक्ष मे ओंकार और उद्गीथ दोनो शब्द का उच्चारण निष्प्रयोजन होगा। क्योकि एकार्थता मे किसी एक शब्द से ही विवक्षित अर्थ का समर्पण (पूर्णबोध) हो सकता है। एकार्थकत्व हो भी नही सकता है जिससे हौत्रविषयक (होताकृत कर्मविषयक) या आध्वर्यव (अध्वर्युकर्म) विषयक ओकार शब्द का वाच्य अक्षररूप अर्थ मे उद्गीथ शब्द की प्रसिद्धि नही है। इसी प्रकार उद्गीथ शब्द का वाच्य सामवेद के सम्पूर्ण द्वितीय भाग मे भी ओकार शब्द की प्रसिद्धि नहीं है कि जिससे अनतिरिक्तार्थता (एकार्थता) हो। अन्य पक्षो में दोष होने से परिशेष मे विशेषण पक्ष परिगृहीत होता है। सूत्रगत व्याप्ति पद का सर्ववेदसाधारणता अर्थ है। इससे सूत्र का भावार्थ है कि (ओमित्यक्षरमुपासीत) ओम् इस अक्षर की उपासना करे, ऐसा कहने से सब वेद मे व्यापक ओकार इस उपासना मे प्राप्त होगा, वह नहीं प्राप्त हो इसलिए उद्गीथ शब्द के द्वारा अक्षर को विशेषित (व्यापक से भिन्न) किया जाता है कि किसी प्रकार से (लक्षणा से) उद्गीथ का अवयवरूप ओकार गृहीत हो। इससे विशेषण समञ्जस है।

नन्वस्मिन्नपि पक्षे समाना लक्षणा, उद्गीथशब्दस्यावयवलक्षणार्थत्वात्। सत्यमेवमेतत्, लक्षणायामपि तु सन्निकर्षविप्रकर्षौ भवत एव, अध्यासपक्षे

ह्यर्थान्तरबुद्धिरर्थान्तरे निक्षिप्यत इति विप्रकृष्टा लक्षणा, विशेषणपक्षे त्ववयविवचनेन शब्देनावयवः समर्प्यत इति संनिकृष्टा लक्षणा। समुदायेषु हि प्रवृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि प्रवर्तमाना दृष्टाः पटग्रामादिषु। अतश्च व्याप्तिहेतोरोमित्येतदक्षरमित्येतस्योद्गीथमित्येतद्विशेषणमिति समञ्जसमेतन्निरवद्यमित्यर्थः॥ ९॥

शंका होती है कि इस पक्ष में भी उद्गीथ शब्द के अवयवार्थ में लक्षणार्थकता से लक्षणा पूर्व के समान ही है। उत्तर है कि लक्षणा की तुल्यता सत्य है परन्तु लक्षणा में भी सन्निकर्ष और विप्रकर्ष होता ही है। अध्यासपक्ष में अर्थान्तर की बुद्धि किसी अन्यार्थ में निक्षिप्त (प्राप्त) की जाती है, इससे वह विप्रकृष्ट (दूर) लक्षणा है। विशेषण पक्ष में तो अवयवी वाचक शब्द से उसी का अवयव बोधित समर्पित होता है इससे सन्निकृष्ट लक्षणा है। जिससे समुदाय पट ग्रामादि में प्रवृत्त शब्द उनके अवयवों में भी प्रवर्तमान देखे गये हैं, इससे और व्याप्तिरूप हेतु से (ओमित्येतदक्षरम्) इस भाग का (उद्गीथम्) इतना भाग श्रुति में विशेषण है। इस प्रकार यह सममञ्जस निर्दोष है यह अर्थ है॥ ९॥

सर्वाभेदाधिकरण॥ ५॥

वसिष्ठत्वाद्यनाहार्यमाहार्यं वैवमित्यतः। उक्तस्यैव परामर्शादनाहार्यमनुक्तितः॥ १॥
प्राणद्वारेण बुद्धिस्थं वसिष्ठत्वादि नेतरत्। एवंशब्दपरामर्शयोग्यमाहार्यमिष्यते॥ २॥

सर्वत्र प्राणविद्या के अभेद होने से कहीं सुने गये ये प्राण के गुण अन्यत्र (अश्रुतस्थान) में भी उपसंहार के योग्य होते हैं, वेद्यवस्तु के एक होने से एकत्र सम्बन्ध वाले गुण अन्यत्र उससे वियुक्त नहीं हो सकते हैं। यह प्राणविद्यादि सब के लिए तुल्य न्याय है। यहाँ संशय है कि छान्दोग्य बृहदारण्यक में प्राणविद्या के- प्रकरण में प्राण के वसिष्ठत्वादि गुण पढते हैं। तैत्तिरीयक कौषीतकी आदि में नहीं पढ़ते हैं, यहाँ अपठित स्थान में वे गुण उपसंहार के योग्य हैं अथवा नहीं हैं। पूर्वपक्ष है कि उन स्थानों में (य एवं वेद) जो ऐसा जानता है उपासना करता है। इस प्रकार एवं शब्द के पढ़ने से उस शाखा में पठित का ही परामर्श होता है, इससे अनुक्ति के कारण उपसंहार के योग्य नहीं हैं। सिद्धान्त है कि गुणी प्राण द्वारा बुद्धिस्थ वसिष्ठत्वादि गुण प्राण से इतरत् (भिन्न) नहीं है, इससे एवं शब्द से प्राण के समान सर्वत्र परामर्श के योग्य हैं, इससे उपसंहार के योग्य इष्ट है॥ १–२॥

सर्वाभेदादन्यत्रेमे॥ १०॥

वाजसनेयिनां छन्दोगानां च प्राणसंवादे श्रैष्ठ्यगुणान्वितस्य प्राणस्योपास्यत्वमुक्तम्, वागादयोऽपि हि तत्र वसिष्ठत्वादिगुणान्विता उक्ताः, ते च गुणाः प्राणे पुनः प्रत्यर्पिताः—'यद्वा अहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसि' (बृ०

६।१।१४) इत्यादिना। अन्येषामपि तु शाखिनां कौषीतकिप्रभृतीनां प्राणसंवादेषु 'अथातो निःश्रेयसादानम्', 'एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः' (कौ० २।१४) इत्येवंजातीयकेषु प्राणस्य श्रैष्ठ्यमुक्तं न त्विमे वसिष्ठत्वादयोऽपि गुणा उक्ताः। तत्र संशयः—किमिमे वसिष्ठत्वादयो गुणाः क्वचिदुक्ता अन्यत्राप्यस्येरन्नुत नास्येरन्निति। तत्र प्राप्तं तावन्नास्येरन्निति। कुतः ? एवंशब्दसंयोगात्। 'अथो य एवं विद्वान्प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा' इति तत्र तत्रैवंशब्देन वेद्यं वस्तु निवेद्यते। एवंशब्दश्च संनिहितावलम्बनो न शाखान्तरपठितमेवंजातीयकं गुणजातं शक्नोति निवेदयितुम्, तस्मात्स्वप्रकरणस्थैरेव गुणैर्निराकाङ्क्षत्वमिति।

वाजसनेयी और छन्दोग के प्राण-संवाद में श्रेष्ठतादि गुणयुक्त प्राण की उपास्यता कही गई है। वागादि भी वहाँ वसिष्ठत्वादि गुण वाले कहे गये हैं। वे वागादि के वसिष्ठत्व (वासहेतुत्व) आदि गुण फिर प्राण में वागादि से प्रत्यर्पित किए गये हैं कि (जो मैं वसिष्ठ हूँ सो तुम ही हो) इत्यादि। कौषीतकी आदि अन्य शाखा वालों के प्राण संवादों में भी (अब इसके बाद निःश्रेय-श्रेष्ठता का आदान निर्धारण प्रस्तुत होता है। ये देव अपनी श्रेष्ठता के लिए विवाद करते हुए इस शरीर से निकले) इस प्रकार वाले सम्वादों में प्राण की श्रेष्ठता कही गई है। परन्तु ये वसिष्ठत्वादि गुण नहीं कहे गये हैं। यहाँ संशय होता है कि क्या ये कहीं कहे गये वसिष्ठत्वादि गुण अन्यत्र भी आक्षिप्त प्राप्त होंगे अथवा नहीं प्राप्त होंगे। यहाँ प्रथम प्राप्त होता है कि ,नहीं प्राप्त होंगे, क्यों नहीं होंगे, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि एवं शब्दों के संयोग से नहीं प्राप्त होंगे। (जिस प्रकार वागादि से प्राण की श्रेष्ठता है अथो उस प्रकार से इस श्रेष्ठता गुण को जानने वाला जो इसी प्रकार से उपासना करता है वह प्राण में श्रेष्ठता का ज्ञान कर ध्यान करके स्वयं श्रेष्ठ होता है) इस प्रकार तत्तत् स्थानों में एवं शब्द से वेद्य वस्तु निवेदित (प्रदर्शित) होती है। सन्निहित को अवलम्बन (वाच्यरूप से ग्रहण) करने वाला एवं शब्द, शाखान्तर में पठित इस प्रकार के वसिष्ठत्वादि गुण समूह का निवेदन (ज्ञान) नहीं करा सकता है। इससे स्वप्रकरणस्थ गुणों से ही विद्या की निराकांक्षता होती है।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—अस्येरन्निमे गुणाः क्वचिदुक्ता वसिष्ठत्वादयोऽन्यत्रापि। कुतः ? सर्वाभेदात्। सर्वत्रैव हि तदेवैकं प्राणविज्ञानमभिन्नं प्रत्यभिज्ञायते। प्राणसंवादादिसारूप्यात्। अभेदे च विज्ञानस्य कथमिमे गुणाः क्वचिदुक्ता अन्यत्र नास्येरन्। नन्वेवंशब्दस्तत्र तत्र भेदेनैवंजातीयकं गुणजातं वेद्यत्वाय समर्पयतीत्युक्तम्। अत्रोच्यते। यद्यपि कौषीतकिब्राह्मणगतेनैवंशब्देन वाजसनेयिब्राह्मणगतं गुणजातमसंशब्दितमसंनिहितत्वात्तथापि तस्मिन्नेव विज्ञाने वाजसनेयिब्राह्मणगतेनैवंशब्देन तत्संशब्दितमिति न परशाखागतमप्यभि-

विज्ञानात्सम्बद्धं गुणजातं स्वशाखागताद्विशिष्यते। नचैवं सति श्रुतहानिरश्रुतकल्पना वा भवति। एकस्यामपि हि शाखायां श्रुता गुणाः श्रुता एव सर्वत्र भवन्ति गुणवतो भेदाभावात्। नहि देवदत्तः शौर्यादिगुणत्वेन स्वदेशे प्रसिद्धो देशान्तरं गतस्तद्देश्यैरविभावितशौर्यादिगुणोऽप्यतद्गुणो भवति। यथाच तत्र परिचयविशेषाद्देशान्तरेऽपि देवदत्तगुणा विभाव्यन्ते, एवमभियोगविशेषाच्छाखान्तरेऽप्युपास्या गुणाः शाखान्तरेऽप्यस्येरन्। तस्मादेकप्रधानसंबद्धा धर्मा एकत्राप्युच्यमानाः सर्वत्रैवोपसंहर्तव्या इति॥ १० ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर प्रत्युत्तर कहते हैं कि कहीं भी कहे गये थे वसिष्ठत्वादि गुण अन्यत्र भी आक्षिप्त-प्राप्त होंगे, क्योंकि सर्वत्र विद्या का अभेद है। जिससे सर्वत्र ही वही एक अभिन्न प्राण विज्ञान प्रत्यभिज्ञात होता है। प्राण संवादादि की सरूपता प्रत्यभिज्ञा में हेतु है, इससे प्रत्यभिज्ञा होती है। इस प्रकार विज्ञान के अभेद होते कहीं भी कहे गये गुण अन्यत्र क्यों नहीं प्राप्त होंगे। यदि कहो कि इस प्रकार के गुण-समूह को तत्तत् स्थान में भेदयुक्त ही वेदना के लिए एवं शब्द समर्पित (उपस्थित) करता है, यह कहा जा चुका है? तो यहाँ कहा जाता है कि यद्यपि कौषीतकी ब्राह्मण गत एवं शब्द से वाजसनेयी ब्राह्मणगत गुणसमूह असन्निहितत्व के कारण अशब्दित (अकथित) हैं। तथापि उसी विज्ञान में वाजसनेयीगत एवं शब्द से वह गुणसमूह संशब्दित है। इससे परशाखागत भी अभिन्न (एक) विज्ञान से सम्बन्धवाला गुणसमूह स्वशाखागत से विशिष्ट (भिन्न) नहीं होता है। अर्थात् विज्ञान द्वारा सम्बन्ध हो जाने से वाजसनेयगत गुण कौषीतकिगत गुण से भिन्न नहीं समझा जाता है। ऐसा होने से श्रुत की हानि वा अश्रुत की कल्पना भी नहीं होती है। जिससे गुणवाला विज्ञान के भेद के अभाव से एक शाखा में सुने गये गुण सर्वत्र सुने ही हुए होते हैं। जैसे शौर्यादिगुणवत्ता से अपने देश में प्रसिद्ध देवदत्त देशान्तर में प्राप्त होने पर उस देश के वासियों से अविज्ञात शौर्यादिगुणवाला होते भी देवदत्त उन गुणों से रहित नहीं हो जाता है। जैसे उस देशान्तर में भी परिचय विशेष से देवदत्त के गुण विज्ञात-प्रख्यात होते हैं। इसी प्रकार सम्बन्ध विशेष से शाखान्तर में भी उपास्य गुण किसी अन्य शाखान्तर में भी प्राप्त होंगे, उससे एक प्रधान के साथ सम्बन्धवाले धर्म एक स्थान में कहे गये हों तो भी सर्वत्र उपसंहार कर्तव्य है॥ १० ॥

आनन्दाद्यधिकरण ॥ ६ ॥

नाहार्या उत वाहार्या आनंदाद्या अनाहृतिः। वामनीसत्यकामादेर्गिवैतेषां व्यवस्थितेः॥
विधीयमानधर्माणां व्यवस्था स्याद्यथाविधि। प्रतिपत्तिफलानां तु सर्वशाखासु संहृतिः॥

प्रधान मुख्य ब्रह्म के जो आनन्दादि गुण के लिए उपदिष्ट हैं, वह एक ज्ञानार्थक होने से सब सर्वत्र यथाशक्ति उपसंहार के योग्य हैं। यहाँ संशय होता है कि तैत्तिरीयक में आनन्दादि गुण पढ़े गये हैं। ऐतरेयक आदि में नहीं पढ़े गये हैं, ऐतरेयक में प्रज्ञान रूप गुण पढ़ा गया है, वहाँ गुणों का परस्पर उपसंहार करना चाहिए, अथवा नहीं।

वहाँ पूर्वपक्ष है कि तत्तत् ब्रह्म की उपासनाओं में जैसे वामनी सत्यकामादि गुणों की व्यवस्था नियम है, वैसे ही आनन्दादि की तत्तत् शाखा में व्यवस्था है। सिद्धान्त है कि विधीयमान धर्मों की विधि के अनुसार व्यवस्था होगी। ज्ञानार्थक की तो सब शाखा में उपसंहृति होगी ॥ १-१० ॥

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ ११ ॥

ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरासु श्रुतिष्वानन्दरूपत्वं विज्ञानघनत्वं सर्वगतत्वं सर्वात्मत्वमित्येवंजातीयका ब्रह्मणो धर्माः क्वचित्केचिच्छ्रूयन्ते। तेषु संशयः किमानन्दादयो ब्रह्मधर्मा यत्र यावन्तः श्रूयन्ते तावन्त एव तत्र प्रतिपत्तव्याः किंवा सर्वे सर्वत्रेति। तत्र यथाश्रुतिविभागं धर्मप्रतिपत्तौ प्राप्तायामिदमुच्यते— आनन्दादयः प्रधानस्य ब्रह्मणो धर्माः सर्वे सर्वत्र प्रतिपत्तव्याः। कस्मात्? सर्वाभेदादेव। सर्वत्र हि तदेवैकं प्रधानं विशेष्यं ब्रह्म न भिद्यते। तस्मात्सार्वत्रिकत्वं ब्रह्मधर्माणां तेनैव पूर्वाधिकरणोदितेन देवदत्तशौर्यादिनिदर्शनेन ॥११॥

ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादनपरक श्रुतियों में, आनन्दरूपत्व, विज्ञानघनत्व, सर्वगतत्व, सर्वात्मत्व इस प्रकार के ब्रह्म के धर्म कहीं कोई सुने जाते हैं। अर्थात् सब धर्म सर्वत्र नहीं सुने जाते हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न स्थानों में सुने जाते हैं। उनके विषय में संशय होता है कि क्या आनन्दादि ब्रह्म के धर्म जहाँ जितने सुने जाते हैं वहाँ उतने ही समझने योग्य हैं, अथवा सब गुण सर्वत्र उपसंहार द्वारा समझने योग्य है। वहाँ श्रुतिविभाग के अनुसार धर्मप्रतिपत्ति (धर्मज्ञान) के प्राप्त होने पर यह कहा जाता है कि आनन्दादि रूप प्रधान (मुख्य) ब्रह्म के सब धर्म सर्वत्र उपसंहार से समझना चाहिये। अर्थात् सत्य आनन्दज्ञान सर्वगत सर्वात्मस्वरूप अखण्ड एक ब्रह्म है, जैसे कि उष्ण, प्रकाशक, दाहक, शीतवारक स्वरूप एक अग्नि है। वहाँ सत्यत्वादि कल्पित धर्म असत्यत्वादि का वारणपूर्वक अखण्ड ब्रह्म का बोध के लिए पढ़े जाते हैं, इससे जितने धर्मों के उच्चारण अध्ययनादि में विपरीत (असत्यत्वादि) बुद्धि का वारणपूर्वक सत्यादिस्वरूप अखण्ड अद्वय एक ब्रह्म का बोध हो सके वे धर्म कहीं भी पढ़े हों उनका उपसंहार ब्रह्म के समानाधिकरणतापूर्वक उच्चारण-अध्ययन कर्तव्य है। ऐसा क्यों कर्तव्य है ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि सर्वाभेद रूप पूर्वोक्त हेतु ही से ऐसा कर्तव्य है। जिससे सर्वत्र वही एक प्रधान ब्रह्म विशेष्य है वह कहीं भिन्न नहीं होता है। उससे पूर्व अधिकरण में वर्णित देवदत्त के शौर्यादि रूप उस दृष्टान्त से ही ब्रह्म के धर्मों को सार्वत्रिकत्व (सर्वत्र सम्बन्धित्व) सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

नन्वेवं सति प्रियशिरस्त्वादयोऽपि धर्माः सर्वे सर्वत्र सङ्कीर्येरन्, तथाहि— तैत्तिरीयक आनन्दमयमात्मानं प्रक्रम्याम्नायते—'तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः आनन्द आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' (तै० २।५) इति। अत उत्तरं पठति—

पूर्वोक्त अर्थविषयक शंका होती है कि उक्त रीति से आनन्दादिरूप ब्रह्म के धर्मों का सर्वत्रोपसंहार मानने पर प्रियशिरस्त्वादि भी सब धर्म सर्वत्र संकीर्ण होंगे, अर्थात् सगुण उपासनाओं में भी सब धर्म सर्वत्र उपसंहृत होंगे, क्योंकि सगुण ब्रह्म भी तो सर्वत्र वस्तुतः अभिन्न ही है। तैत्तिरीयक में आनन्दमय आत्मा का प्रक्रम (उपक्रम) करके कहा जाता है कि—(उस आनन्दमय आत्मा का प्रिय इष्टदर्शनजन्य सुख ही शिर है, मोद-इष्ट की प्राप्तिजन्य सुख दक्षिण पक्ष है। प्रमोद-उपभोगादिजन्य सुख, उत्तर पक्ष है। सामान्य आनन्द आत्मा है। ब्रह्मपुच्छ के समान प्रतिष्ठा आधार है) इत्यादि। अतः इस शंका का उत्तर सूत्रकार पढते हैं कि—

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥ १२ ॥

प्रियशिरस्त्वादीनां धर्माणां तैत्तिरीयक आम्नातानां नास्त्यन्यत्र प्राप्तिः। यत्कारणं प्रियं मोदः प्रमोद आनन्द इत्येते परस्परापेक्षया भोक्त्रन्तरापेक्षया चोपचितापचितरूपा उपलभ्यन्ते। उपचयापचयौ च सति भेदे सम्भवतः। निर्भेदं तु ब्रह्म 'एकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः। नचैते प्रियशिरस्त्वादयो ब्रह्मधर्माः, कोशधर्मास्त्वेत इत्युपदिष्टमस्माभिः 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (ब्र० सू० १।१।१२) इत्यत्र। अपि च परस्मिन्ब्रह्मणि चित्तावतारोपायमात्रत्वेनैते परिकल्प्यन्ते न द्रष्टव्यत्वेन।

तैत्तिरीयक में कहे गये प्रियशिरस्त्वादि धर्मों की अन्यत्र प्राप्ति नहीं होती है, जिस कारण से प्रिय, मोद, प्रमोद और आनन्द ये धर्म परस्पर की अपेक्षा से और अन्य भोक्ता जीव की अपेक्षा से भी उपचित (पुष्टियुक्त) और अपचित (अपुष्ट) रूपवाले उपलब्ध (अनुभूत) होते हैं। भेद के रहते उपचय और अपचय हो सकते हैं। ब्रह्म तो (एक ही अद्वितीय ब्रह्म है) इत्यादि श्रुतियों से भेदरहित सिद्ध होता है। वस्तुतः ये प्रियशिरस्त्वादि ब्रह्म के धर्म नहीं हैं, किन्तु आनन्दमय नामक कोश के धर्म हैं। इस प्रकार (आनन्दमयोऽभ्यासात्) इस सूत्र में भाष्यकार से उपदेश कहा जा चुका है। दूसरी बात है कि परब्रह्म में चित्त का अवतरण (प्रवृत्ति स्थिति) के उपाय (साधन) मात्र रूप से ये प्रियशिरस्त्वादि परिकल्पित होते हैं, द्रष्टव्य—ज्ञेय रूप से नहीं परिकल्पित होते हैं।

एवमपि सुतरामन्यत्राप्राप्तिः प्रियशिरस्त्वादीनाम्। ब्रह्मधर्मास्त्वेतान्कृत्वा न्यायमात्रमिदमाचार्येण प्रदर्शितं प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरिति। स च न्यायोऽन्येषु निश्चितेषु ब्रह्मधर्मेषूपासनायोपदिश्यमानेषु नेतव्यः संयद्वामादिषु सत्यकामादिषु च। तेषु हि सत्यप्युपास्यस्य ब्रह्मण एकत्वे प्रक्रमभेदादुपासनाभेदे सति नान्योन्यधर्माणामन्योन्यत्र प्राप्तिः। यथा च द्वे नार्यावेकं नृपतिमुपासाते छत्रेणैका चामरेणान्या तत्रोपास्यैकत्वेऽप्युपासनाभेदो धर्मव्यवस्था च भवत्येवमिहापीति। उपचितापचितगुणत्वं हि सति भेदव्यवहारे सगुणे ब्रह्मण्युप-

पद्यते न निर्गुणे परस्मिन्ब्रह्मणि । अतो न सत्यकामत्वादीना धर्माणां क्वचिच्छ्रुतानां सर्वत्र प्राप्तिरित्यर्थः ॥ १२ ॥

इस प्रकार अन्य स्थान में भी प्रियशिरस्त्वादि की अन्यत्र नेय ब्रह्म में सुतरां (अत्यन्त) अप्राप्ति है । इस प्रकार अप्राप्ति होते भी इन प्रियशिरस्त्वादि को ब्रह्म के धर्म मतान्तर के अनुसार मानकर आचार्य ने यह न्यायमात्र प्रदर्शित किया है कि इन ब्रह्म के धर्म मानने पर भी इस रीति से प्रियशिरस्त्वादि की अप्राप्ति है । उस न्याय प्रदर्शन का यह फल है कि उपासना के लिए उपदिश्यमान (उपदिष्ट) सत्यकामादि और सत्यकामादि रूप निश्चित अन्य ब्रह्म के धर्मों में वह न्याय नेतव्य (प्राप्त करने योग्य) होता है । जिससे उन धर्मों में उपास्य ब्रह्म के एकत्व होने भी उपक्रम के भेद से उपासना का भेद होने पर परस्पर के धर्मों की परस्पर में प्राप्ति नहीं होती है । जैसे दो नारी एक राजा की उपासना (सेवा) करती है । वहाँ एक छत्र द्वारा करती है अन्य चामर द्वारा करती है तो वहाँ उपास्य की एकता होने भी उपासना का भेद और धर्म की व्यवस्था होती है । इसी प्रकार यहाँ भी धर्म की व्यवस्था होगी । जिससे सगुण ब्रह्म में भेद व्यवहार के रहते ही क्वचित् चयचितगुणवत्त्व उपपन्न होता है निर्गुण परब्रह्म में नहीं । इससे कहीं श्रुत सत्यकामत्वादि धर्मों की सर्वत्र प्राप्ति नहीं होती है यह अर्थ है ॥ १२ ॥

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥ १३ ॥

इतरे त्वानन्दादयो धर्मा ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनायैवोच्यमाना अर्थसामान्यात्प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणो धर्मिण एकत्वात्सर्वे सर्वत्र प्रतीयेरन्निति वैषम्यं, प्रतिपत्तिमात्रप्रयोजना हि त इति ॥ १३ ॥

उपास्य धर्म से अतिरिक्त आनन्दादि धर्म तो ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन के लिए ही कहे गये हैं सो अर्थ की समानता से प्रतिपादनीय ब्रह्मरूप धर्मी की एकता से सब सर्वत्र प्रतीत उपपन्न होंगे । जिससे वे प्रतिपत्ति मात्र प्रयोजन वाले सत्यत्व ज्ञानत्व आनन्दत्व आत्मत्व ब्रह्मत्व पूर्णत्वादि आदि धर्म हैं ॥ १३ ॥

आध्यानाधिकरण ॥ ७ ॥

सदा परम्परावादेर्नैया पुरुष एव हि । तथा सत्यनुसन्धान वाक्यानि स्युर्न्ह्यपि ॥ १ ॥
पुरुष एव न तत्र यस्मात्परो महान् । नबोध्य एव च तत्र न नियत एक पुमांस्ततः ॥२॥

(इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था) इत्यादि श्रुति में इन्द्रियों से पर अर्थ अर्थ से पर मन मन से पर बुद्धि व्यष्टि बुद्धि से पर समष्टि बुद्धिरूप महान् आत्मा उससे पर अव्यक्त (प्रकृति माया) अव्यक्त से पर (सूक्ष्म श्रेष्ठ) पुरुष है इस प्रकार क्रम से परत्व कहा गया है । वहाँ आध्यान के लिए पूर्वोक्त आनन्दादिवाला ब्रह्म ही यहाँ पुरुष शब्द से कहा गया है कि जिससे उसका ज्ञान हो अन्य इन्द्रियादि की परता का वर्णन भी पुरुष का ज्ञान ही लिए है । उनका प्रत्येक परत्व आध्यान के लिए नहीं है । जिससे उसका कोई फल नहीं है । यहाँ संशय है कि इन्द्रियादि के सभी परम्परा (क्रम) नेय ध्येय प्रतिपाद्य हैं ।

अथवा पुरुष ही ज्ञेय है। पूर्व पक्ष है कि सब परम्परा श्रुति से तुल्य ही श्रुत है। इससे श्रुतत्व के कारण सब परत्व ज्ञेय-ध्येयादि हैं। यदि कहा जाय कि अनेक परत्व की ध्येयता-ज्ञेयता के लिए अनेक के प्रतिपादन से वाक्यभेद होगा तो, तो कहा जाता है कि अनेक अर्थ के होने से वाक्य वहुत भी हों तो दोष नहीं है। सिद्धान्त है कि (निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते) उस आत्मा को जानकर मृत्युमुख-अविद्यादि से विमुक्त होता है। इस श्रुति रीति से पुरुष का ज्ञान पुरुषार्थरूप है। उसी के लिए वहाँ वाक्-मन आदि के निरोधादि रूप महान् यत्न सुना गया है, इससे उसका वोध के ही लिए इन्द्रियादि सुने गये है जिससे एक पुरुष ही वेद्य है ॥ १—२ ॥

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥ १४ ॥

काठके हि पठ्यते—'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिः' (क० ३।१०) इत्यारभ्य 'पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः' (क० ३।११) इति। तत्र संशयः—किमिमे सर्व एवार्थादयस्ततस्ततः परत्वेन प्रतिपाद्यन्ते, उत पुरुष एवैभ्यः सर्वेभ्यः परः प्रतिपाद्यत-इति। तत्र तावत्सर्वेषामेवैषां परत्वेन प्रतिपादनमिति भवति मतिः। तथाहि श्रूयते—'इदमस्मात्परमिदमस्मात्परम्' इति। ननु वहुष्वर्थेषु परत्वेन प्रतिपादयिषितेषु वाक्यभेदः स्यात्। नैष दोषः। वाक्यबहुत्वोपपत्तेः वहून्येव ह्येतानि वाक्यानि प्रभवन्ति वहुविषयान्परत्वोपेतान्प्रतिपादयितुम्। तस्मात्प्रत्येकमेषां परत्व-प्रतिपादनमिति।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—पुरुष एव ह्येभ्यः सर्वेभ्यः परः प्रतिपाद्यत इति न युक्तं प्रत्येकमेषां परत्वप्रतिपादनम्। कस्मात्? प्रयोजनाभावात्। नहीतरेषु परत्वेन प्रतिपन्नेषु किञ्चित्प्रयोजनं दृश्यते श्रूयते वा, पुरुषे त्विन्द्रियादिभ्यः परस्मिन्स-र्वानर्थव्रातातीते प्रतिपन्ने दृश्यते प्रयोजनं मोक्षसिद्धिः। तथा च श्रुतिः—'निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' (क० ३।१५) इति। अपि च परप्रतिषेधेन काष्ठाशब्देन च पुरुषविषयमादरं दर्शयन्पुरुषप्रतिपत्त्यर्थैव पूर्वापरप्रवाहोक्तिरिति दर्शयति—आध्यानायेति। आध्यानपूर्वकाय सम्यग्दर्शनायेत्यर्थः। सम्यग्दर्शनार्थमेव हीहाध्यानमुपदिश्यते न त्वाध्यानमेव स्वप्रधानम् ॥ १४ ॥

कठ उपनिषद में पढा जाता है कि (कार्यरूप इन्द्रियों से पर सूक्ष्म उनके कारण रूप अर्थ हैं; उनसे सूक्ष्म मन है, मन से सूक्ष्म बुद्धि है) इस प्रकार आरम्भ करके (पुरुष से पर कुछ नहीं है, वह परत्व की काष्ठासीमा पर्यवसानरूप है, और परा गति (प्रकृष्ट आश्रय) है कि जिसको प्राप्त करके संसार से रहित हुआ जाता है) इत्यादि। वहाँ संशय होता है कि क्या ये सब ही अर्थादि उस-उस से (इन्द्रियादि से) पररूप से प्रतिपादित होते हैं। अथवा इन सबसे पर एक पुरुष ही प्रतिपादित होता है। वहाँ इन सबका पररूप से प्रतिपादन है ऐसी मति (बुद्धि-ज्ञान) प्रथम होती है।

जिसमे इसी प्रकार से सुना जाता है कि यह अर्थ इस इन्द्रिय से पर है यह मन इस अर्थ से पर है इत्यादि। यदि कहा जाय कि बहुत अर्थों के परत्व से प्रतिपादन की इच्छा के विषय होने पर वाक्यभेद होगा तो कहा जाता है कि वाक्य के बहुत्व की उपपत्ति से यह दोष नहीं है। जिससे परत्व से युक्त बहुत विषयों का प्रतिपादन के लिए ये बहुत ही वाक्य समर्थ हो सकते हैं। जिससे इनके प्रत्येक परत्व का प्रतिपादन है। ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि इन सबमे परपुरुष ही प्रतिपादित होता है। प्रत्येक इन सबके परत्व का प्रतिपादन युक्त नहीं है, क्यों युक्त नहीं है तो कहा जाता है कि प्रयोजन के अभाव से युक्त नहीं है। जिससे पुरुष से इतर के परत्व से प्रतिपत्ति (निश्चित ज्ञान) होने पर कोई प्रयोजन (फल) देखा या सुना नहीं जाता है। सब अनर्थ-समूह से रहित इन्द्रियादि से पर पुरुष के प्रतिपन्न (अनुभूत) होने पर जो मोक्ष की सिद्धि रूप प्रयोजन देखा जाता है। इसी प्रकार श्रुति कहती है कि (उस आत्मा को जानकर मृत्यु के मुख से पृथक् हो जाता है) और दूसरी बात है कि (पुरुषात्‌ पर किञ्चित्‌ सा काष्ठा) इस वचन से पुरुष से पर के प्रतिषेध द्वारा और काष्ठा शब्द से पुरुषविषयक आदर को दर्शाता हुआ गुरु तथा वेद पुरुष का ज्ञान के लिए ही पूर्वापरप्रवाह (परत्व-क्रम) की उक्ति है इस अर्थ को दर्शाता है, वह आध्यान के लिए दर्शाता है, अर्थात् तत्तत्परत्व का आध्यान चिन्तन पूर्वक सम्यग् दर्शन के लिए दर्शाता है यह अर्थ है। जिससे सम्यक् दर्शन के लिए ही यहाँ आध्यान का उपदेश दिया जाता है आध्यान ही स्वप्रधान नहीं है ॥ १४ ॥

आत्मशब्दाच्च ॥ १५ ॥

इतश्च पुरुषप्रतिपत्त्यर्थैवेयमिन्द्रियादिप्रवाहोक्तिः। यत्कारणम्—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ (कठ० ३।१२)—

इति प्रकृतं पुरुषमात्मेत्याह। अतश्चानात्मत्वमितरेषां विवक्षितमिति गम्यते। तस्यैव च दुर्विज्ञानतां संस्कृतमतिगम्यतां च दर्शयति। तद्विज्ञानायैव च 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' (कठ० ३।१३) इत्याध्यानं विदधाति। तद्व्याख्यातम् 'आनुमानिकमप्येकेषाम्' (ब्र० सू० १।४।१) इत्यत्र। एवमनेकप्रकार आदरातिशयः श्रुतेः पुरुषे लक्ष्यते नेतरेषु। अपि च 'सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्' (क० ३।९) इत्युक्ते किं तदध्वनः पारं विष्णोः परमं पदमित्यस्यामाकाङ्क्षायामिन्द्रियाद्यनुक्रमणात्परमपदप्रतिपत्त्यर्थ एवायमायास इत्यवसीयते ॥ १५ ॥

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी पुरुष की प्रतिपत्ति (ज्ञान) के लिए ही यह इन्द्रियादि के प्रवाह (परम्परा) की उक्ति है कि जिस कारण से (सब भूतों में आच्छादित यह पुरुष आत्मरूप से नहीं प्रकाशता है किन्तु अग्र्य एकाग्रतायुक्त सूक्ष्म बुद्धि द्वारा सूक्ष्म-

दर्शियों से तो देखा जाता है) यह श्रुति प्रकृत पुरुष को आत्मा इस शब्द से कहती है। इससे इतर के अनात्मत्व विवक्षित है। यह ज्ञात होता है। उसी की दुर्विज्ञानता (कष्ट-साध्य ज्ञानविषयता) को और संस्कृतमतिगम्यता (शुद्धबुद्धिज्ञेयता) को श्रुति दर्शाती है। उसी के विज्ञान के लिये (विवेकी वाक् का मन मे उपसंहार करे) इत्यादि वचन से आध्यान का विधान करती। सो (आनुमानिकमप्येकेषाम्) यहाँ व्याख्यात हो चुका है। इस प्रकार श्रुति का अनेक प्रकार वाला पुरुषविषयक आशय का अतिशय (औत्कर्ष्य) श्रुति से ही लक्षित होता है। इतर पदार्थविषयक आशय नहीं लक्षित होता है। (वह विद्वान् संसारगति के पार रूप पद को पाता है, और वही परमात्मा परम स्वरूप है) ऐसा कहने पर, वह संसारमार्ग के पार रूप विष्णु का पर पद क्यों है, इस आकांक्षा के होने पर इन्द्रियादि के अनुक्रमण (क्रमपूर्वक कथन) होने से परम पद की प्रतिपत्ति के लिए ही यह आयास (आरम्भ) है ऐसा निश्चय किया जाता है ॥१५॥

आत्मगृहीत्यधिकरण ॥ ८ ॥

आत्मा वा इदमित्यत्र विराट् स्यादथवेश्वरः। भूतासृष्टेर्नेश्वरः स्याद्गवाद्यानयनाद्विराट् ॥१॥
भूतोपसंहृतेरीशः स्याददृैतावधारणात् । अर्थवादो गवाद्युक्तिर्ब्रह्मात्मत्वं विवक्षितम् ॥२॥
द्वयोर्वस्त्वन्यदेकं वा काण्वछान्दोग्यषष्ठयोः। उभयत्र पृथग्वस्तु सदात्मभ्यासुपक्रमात् ॥३॥
साधारणोऽयं सच्छब्दः स आत्मा तत्त्वमित्यतः। वाक्यशेषादात्मवाची तस्माद्वस्त्वेकमेतयोः॥

(आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्) इस ऐतरेयक वाक्य मे तथा (सदेव सोम्येदमग्र आसीत्) इस छान्दोग्य वाक्य में तथा (अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुत श्चोनः। तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मन धीरमामृतं युवानम्। अथर्व० १०।४।८।४४) इस वाक्य में आत्म शब्द से तथा मन शब्द से परमात्मा का ग्रहण है क्योंकि परमात्मा ही सबकी सृष्टि आदि में समर्थ है और परमात्मा ही पूर्ण काम सर्वाधार सर्वज्ञ अमृत स्वयम्भू आनन्द से तृप्त और किसी से न्यूनतारहित हो सकता है, तथा युवा समर्थ, परमात्मा को जान करके ही विद्वान भयरहित होता है। अन्य को नहीं। इन सब स्थानों में परमात्मा को कैसे समझना चाहिये तो कहा जाता है कि (तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः) इत्यादि इतर श्रुति के समान समझना चाहिये। तथा उन वचनों से उत्तर में पठित वचनों से समझना चाहिये। यह सूत्रार्थ है। यहाँ संशय है कि 'आत्मा वा इदम्' इस वाक्य में आत्मा शब्द का अर्थ विराट् होगा, अथवा ईश्वर होगा, पूर्व-पक्ष है कि भूतों की सृष्टि का अकथन से विराट् होगा, ईश्वर नहीं। तथा देवताओं के लिये गाय लाया, अश्व लाया, इस विशेष क्रियाओं से भी विराट् प्रतीत होता है। सिद्धान्त है कि (एक एवाग्र आसीत्) इस अवधारण मे अद्वैत का बोध होता है, इससे आत्म शब्द का अर्थ ईश्वर ही होगा, और भूतों की सृष्टि का उपसंहार से ब्रह्मात्मत्व ही विवक्षित है। गवादि आनयन का उक्ति अर्थवाद रूप है, भाव है कि कोई क्रिया ईश्वर के विना नहीं होती है, इनसे देवों के लिए गौ आदि का विराट् द्वारा ले आना वस्तुतः ईश्वर ही सिद्ध करता है ॥ १-२ ॥

काण्व और छान्दोग्य दोनों के षष्ठ अध्याय में प्रतिपाद्य वस्तु भिन्न है या एक है यह संशय है। पूर्वपक्ष है कि छान्दोग्य में सत् शब्द से अध्याय का उपक्रम है और काण्व में आत्म शब्द से उपक्रम है इससे दोनों में भिन्न वस्तु है। सिद्धान्त है कि यद्यपि यह सत् शब्द साधारण है आत्मा अनात्मा दोनों का कह सकता है, तथापि (स आत्मा तत्त्वमसि) इस वाक्यशेष में सत् शब्द आत्मा का वाचक सिद्ध होता है जिससे इन दोनों में एक वस्तु है ॥ ३-४ ॥

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥ १६ ॥

ऐतरेयके श्रूयते—'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्स ईक्षत लोकान्नु सृजा' इति (ऐ० १।१) 'स इमाँल्लोकानसृजताम्भो मरीचीर्मरमापः' (ऐ० १।२) इत्यादि। तत्र संशयः किं पर एवात्मेहात्मशब्देनाभिलप्यत उतान्यः कश्चिदिति। किं तावत्प्राप्तम्? न परमात्मेहात्मशब्दाभिलप्यो भवितुमर्हतीति। कस्मात्? वाक्यान्वयदर्शनात्। ननु वाक्यान्वयः सुतरां परमात्मविषयो दृश्यते प्रागुत्पत्तेरात्मैकत्वावधारणात्, ईक्षणपूर्वकस्रष्टृत्ववचनाच्च। नेत्युच्यते। लोकसृष्टिवचनात्। परमात्मनि हि स्रष्टरि परिगृह्यमाणे महाभूतसृष्टिरादौ वक्तव्या लोकसृष्टिस्त्विहादावुच्यते। लोकाश्च महाभूतसंनिवेशविशेषाः। तथा चाम्भःप्रभृतीँल्लोकत्वेनैव निर्ब्रवीति—'अदोऽम्भः परेण दिवम्' (ऐ० १।३) इत्यादिना। लोकसृष्टिश्च परमेश्वराधिष्ठितेनापरेण केनचिदीश्वरेण क्रियत इति श्रुतिस्मृत्योरुपलभ्यते।

ऐतरेयक में सुना जाता है कि (सृष्टि से पूर्वकाल में यह सब जगत् एक आत्म रूप ही था, अन्य कुछ भी मिषत् क्रियायुक्त नहीं था। उस आत्मा ने विचार किया कि मैं लोकों की सृष्टि करूँ। फिर उसने अम्भ-स्वर्ग, मरीची अन्तरिक्ष, मर मर्त्य, आप-पाताल, इन लोकों को रचा) इत्यादि। यहाँ संशय होता है कि परमात्मा ही यहाँ आत्मशब्द से कहा जाता है अथवा अन्य कोई कहा जाता है। यहाँ प्रथम क्या प्राप्त होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि यहाँ आत्मशब्द से परमात्मा नहीं कहाने योग्य है, अर्थात् नहीं कहा जा सकता है क्योंकि वाक्य के अन्वय को देखने से परमात्मा की प्रतीति नहीं होती है शंका होती है कि उत्पत्ति से पहले आत्मा के एकत्व के अवधारण से और ईक्षणपूर्वक सृष्टिकर्तृत्व के कथन से परमात्मविषयक वाक्य का अन्वय सुन्दर स्पष्ट दीखता है। उत्तर है कि लोकों की सृष्टि के कथन से सुन्दर अन्वय नहीं दीखता है। जिससे सृष्टिकर्ता परमात्मा के परिग्रहण करने पर महाभूतों की सृष्टि आदि में कहना चाहिये और यहाँ तो लोकों की सृष्टि आदि में कही जाती है और लोक महाभूत नहीं है किन्तु लोक तो महाभूतों के संनिवेश (रचनाकार) विशेष रूप भौतिक पदार्थ हैं। इसी प्रकार अम्भ आदि का लोक रूप से ही श्रुति निर्वचन व्याख्यान करती है कि (दिन से पर दिव में स्थिर चन्द्र जल से व्याप्त जो लोक है वह अम्भ है)। लोकों की सृष्टि परमेश्वर से

अधिष्ठित (परमेश्वराधीन) किसी अन्य ईश्वर से की जाती है। यह श्रुति-स्मृति में उपलब्ध होता है, ऐसा वर्णन देखा जाता है।

तथाहि श्रुतिर्भवति—'आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः' (बृ० १।४।१) इत्याद्या। स्मृतिरपि—

स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते।
आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत॥ इति।

ऐतरेयिणोऽपि 'अथातो रेतसः सृष्टिः प्रजापते रेतो देवाः' इत्यत्र पूर्वस्मिन् प्रकरणे प्रजापतिकर्तृकां विचित्रां सृष्टिमामनन्ति। आत्मशब्दोऽपि तस्मिन्प्रयुज्यमानो दृश्यते। 'आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः' (बृ० १।४।१) इत्यत्र। एकत्वावधारणमपि प्रागुत्पत्तेः स्वविकारापेक्षमुपपद्यते। ईक्षणमपि तस्य चेतनत्वाभ्युपगमादुपपन्नम्। अपि च 'ताभ्यो गामानयत्ताभ्योऽश्वमानयत्ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन्नि'त्येवंजातीयको भूयान्व्यापारविशेषो लौकिकेषु विशेषवत्स्वात्मसु प्रसिद्ध इहानुगम्यते। तस्माद्विशेषवानेव कश्चिदिहात्मा स्यादिति।

इसी प्रकार की श्रुति है कि (यह जगत् सृष्टि से प्रथम हिरण्यगर्भ रूप आत्मस्वरूप ही था और वह आत्मा पुरुषविध नराकार था) इत्यादि। स्मृति भी है कि (वह प्रथम शरीरी है, वही पुरुष कहा जाता है। वह चराचर भूतों का आदिकर्ता है। वह ब्रह्म सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ और था) और (अब रेत-कार्य की सृष्टि कही जाती है कि देव सब प्रजापति के कार्य हैं) इस पूर्व प्रकरण में ऐतरेय शाखा वाले भी प्रजापति जिसका कर्ता है ऐसी विचित्र सृष्टि का वर्णन करते हैं। और आत्मशब्द भी उसी प्रजापति मे प्रयुज्यमान (उच्चार्यमाण) दीखता है (आत्मा ही यह नराकार था)। अपने कार्यों की उत्पत्ति से प्रथम अपने कार्यों की अपेक्षा से एकत्व का अवधारण भी उपपन्न होता है, तथा चेतनता के स्वीकार से ईक्षण (आलोचन-विचार) भी उपपन्न है। और दूसरी बात है कि (उसने देवों के लिए गाय लाया, अश्व लाया, पुरुष लाया, फिर उन देवताओं को कहा) इस प्रकार के लौकिक विशेष (भेद) वाले आत्माओं मे प्रसिद्ध बहुत व्यापारविशेष यहाँ अनुगम (अनुभूत) होते हैं उससे विशेष वाला ही कोई आत्मा यहाँ होगा।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—पर एवात्मेहात्मशब्देन गृह्यत इतरवत्। यथेतरेषु सृष्टिश्रवणेषु 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० २।१।१) इत्येवमादिषु परस्यात्मनो ग्रहणम्, यथा चेतरस्मिँल्लौकिकात्मशब्दप्रयोगे प्रत्यगात्मैव मुख्य आत्मशब्देन गृह्यते तथेहापि भवितुमर्हति। यत्र तु 'आत्मैवेदमग्र आसीत्' (बृ० १।४।१) इत्येवमादौ 'पुरुषविधः' (बृ० १।४।१) इत्येवमादि विशेषणान्तरं श्रूयते भवेत्तत्र विशेषवत आत्मनो ग्रहणम्। अत्र पुनः परमात्मग्रहणानुगुणमेव विशेषणमप्युत्तरमुपलभ्यते 'स ईक्षत लोकान्नु सृजै' इति, (ऐ०

१।१) 'स इमाल्लोकानसृजत' (ऐ० १।२) इत्येवमादि। तस्मात्तस्यैव ग्रहणमिति न्याय्यम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि इतर श्रुति के समान यहाँ आत्मशब्द से परमात्मा ही का ग्रहण किया जाता है। जिस प्रकार (उस इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ) इत्यादिक सृष्टिश्रवणों में परमात्मा का ग्रहण आत्मशब्द से होता है। जिस प्रकार इतर लौकिक आत्म शब्द के प्रयोग में मुख्य प्रत्यगात्मा ही आत्म शब्द में गृहीत होता है उसी प्रकार यहाँ भी होने योग्य है। क्योंकि आत्म शब्द की चिदात्मा में मुख्य वृत्ति है और मुख्य के ग्रहण में बाधक का अभाव है तथा उत्तर के ईक्षणादि श्रवण भी अनुकूल है। जहाँ (आत्मा ही यह आगे था) इत्यादि वाक्य में (पुरुषाकार) इत्यादि विशेषणान्तर सुना जाता है वहाँ बाधक के सद्भाव से विराट् वाला आत्मा ही का ग्रहण होगा। यहाँ तो परमात्मा के ग्रहण के अनुकूल ही उत्तर का विशेषण भी उपलब्ध (ज्ञात) होता है कि (वह विचारने लगा कि लोकों की सृष्टि करूँ) और (उसने इन लोकों को रचा) इत्यादि। उसमें महाभूतों की सृष्टिपूर्वक लोकों की सृष्टि करने वाले उस परमात्मा का ही ग्रहण है ऐसा मानना ही न्याययुक्त है ॥ १६ ॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥ १७ ॥

'वाक्यान्वयदर्शनान्न परमात्मग्रहण'मिति पुनर्यदुक्तं तत्परिहर्तव्यमिति। अत्रोच्यते। स्यादवधारणादिति। भवेदुपपन्नं परमात्मनो ग्रहणम्। कस्मात्? अवधारणात्। परमात्मग्रहणे हि प्रागुत्पत्तेरात्मैकत्वावधारणमाञ्जसमवकल्पते, अन्यथा ह्यनाञ्जसं तत्परिकल्प्येत। लोकसृष्टिवचनं तु श्रुत्यन्तरप्रसिद्धमहाभूतसृष्ट्यनन्तरमिति योजयिष्यामि। यथा 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्येतच्छ्रुत्यन्तरप्रसिद्धवियद्वायुसृष्ट्यनन्तरमित्ययूयुजमेवमिहापि। श्रुत्यन्तरप्रसिद्धो हि समानविषयो विशेषः श्रुत्यन्तरेषूपसंहर्तव्यो भवति। योऽप्ययं व्यापारविशेषानुगमस्ताभ्यो गामानयदित्येवमादिः सोऽपि विवक्षितार्थावधारणानुगुण्येनैव ग्रहीतव्यः। नह्ययं सकलः कथाप्रबन्धो विवक्षित इति शक्यते वक्तुं, तत्प्रतिपत्तौ पुरुषार्थाभावात्। ब्रह्मात्मत्वं त्विह विवक्षितम्। तथाह्यम्भःप्रभृतीनां लोकानां लोकपालानां चाग्न्यादीनां सृष्टिं शिष्ट्वा करणानि करणायतनं च शरीरमुपदिश्य स एव स्रष्टा 'कथं न्विदं मदृते स्यात्' (ऐ० ३।११) इति वीक्ष्येदं शरीरं प्रविवेशेति दर्शयति—'स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत' (ऐ० ३।१२) इति। पुनश्च 'यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितम्' (ऐ० ३।११) इत्येवमादिना करणव्यापारविवचनपूर्वकम् 'अथ कोऽहम्' (ऐ० ३।११) इति वीक्ष्य 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततमपश्यत्' (ऐ० ३।१३) इति ब्रह्मात्मत्वदर्शनमवधारयति। तथोपरिष्टादपि 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः' (ऐत० ५।३) इत्यादिना समस्तभेदजातं सह महाभूतैरनुक्रम्य 'सर्वं तत्प्रज्ञानेत्र

प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐत० ५।३) इति ब्रह्मात्मत्वदर्शनमेवावधारयति । तस्मादिहात्मगृहीतिरित्यनपवादम् ।

वाक्य के अन्वय के देखने से परमात्मा का ग्रहण नहीं है, यह जो प्रथम कहा जा चुका है, उसका परिहार तो फिर भी कर्तव्य है, यदि ऐसे कोई कहे तो यहाँ कहा जाता है कि अवधारण से परमात्मा का ग्रहण होगा। अर्थात् परमात्मा का ग्रहण उपपन्न होगा। किस हेतु से होगा, अवधारण से होगा। जिससे परमात्मा के ग्रहण करने ही पर उत्पत्ति से प्रथम एकत्व का अवधारण सर्वथा युक्त सिद्ध होता है। अन्यथा वह अवधारण अयुक्त-अमुख्य होगा। लोक की सृष्टिविषयक वचन को तो श्रुत्यन्तर में प्रसिद्ध भूतसृष्टि के अनन्तर परमात्मा ने लोकों को रचा, ऐसी योजना करेंगें। जैसे कि (उसने तेज को रचा) इस वचन की श्रुत्यन्तर मे प्रसिद्ध आकाश और वायु की सृष्टि के अनन्तर परमात्मा ने तेज को रचा इस प्रकार योजना की गई है। उसी प्रकार यहाँ भी योजना की जायगी। जिससे श्रुत्यन्तर में प्रसिद्ध समान विषय वाला विशेष अन्य श्रुतियों में उपसंहार के योग्य होता है। और जो भी यह व्यवहार विशेष का अनुगम (सम्बन्ध-अनुभव) है, वह भी विवक्षितार्थ अवधारण के अनुसार से ग्रहण करने के योग्य है कि लोक की सृष्टि में भी हिरण्यगर्भ का व्यापार नहीं है किन्तु उनमें प्रविष्ट परमात्मा का ही वह भी व्यापार है। जिससे यह सम्पूर्ण कथा का प्रबन्ध विवक्षित है, ऐसा नहीं कह सकते हैं। क्योंकि उस प्रबन्ध की प्रतिपत्ति (ज्ञान) में पुरुषार्थ (फल) का अभाव है। यहाँ तो ब्रह्मात्मत्व (सर्वात्मभाव) ही विवक्षित है। सो इस प्रकार है कि अम्भ (स्वर्ग) आदि लोकों और अग्नि आदि लोकपालों की सृष्टि का उपदेश करके तथा करण (इन्द्रिय) और करणों के आश्रय शरीर का उपदेश करके, (मेरे विना यह कैसे रहेगा) इस प्रकार उसी सृष्टिकर्ता ने विचार किया, और विचार कर शरीर में प्रवेश किया यह श्रुति दर्शाती है कि (वह परमेश्वर इसी शिर की सीमा को फार कर उसी ब्रह्मरन्ध्र द्वारा लिङ्ग-शरीरसहित स्थूल शरीर में पैठा) और फिर भी विचार किया कि (मेरे विना वाक् से व्याहृत-कथन हुआ, प्राण से श्वास लिया गया) इत्यादि वचनों से कारणों के व्यापारों का विवेचन पूर्वक (फिर मैं कौन हूँ) अर्थात् इन्द्रियाँ यदि अपना व्यापार आप ही करती हैं, तो मैं किसका स्वामी हूँ। इस प्रकार विचार कर (वह इस शुद्ध ही व्यापक ब्रह्म पुरुष को निज स्वरूप समझा) इस प्रकार श्रुति ब्रह्मात्मत्वदर्शन का अवधारण करती है। इसी प्रकार आगे भी ब्रह्मात्मत्व दर्शन का ही अवधारण करती है कि (यह ब्रह्म है यह इन्द्र है) इत्यादि वचनों से महाभूतों के सहित समस्त भेदसमूह का अनुक्रमण (क्रमशः कथन) करके (ये सब प्रज्ञान-चिदात्मा रूप नेतावाले चिदात्मा के आश्रित हैं, प्रज्ञान नेत्रवाला लोक है, सबकी प्रज्ञा प्रतिष्ठा है प्रज्ञान ब्रह्म है) इत्यादि। उससे यहाँ परमात्मा ही का ग्रहण है, यह अपवादरहित कथन है॥

अपरा योजना—आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् । वाजसनेयके कतम आत्मेति

योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (बृ० ४।३।७) इत्यात्मशब्देनोपक्रम्य तस्यैव सर्वसङ्गविनिर्मुक्तत्वप्रतिपादनेन ब्रह्मात्मतामवधारयति। तथा ह्युपसंहरति—'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५) इति। छान्दोग्ये तु 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इत्यन्तरेणैवात्मशब्दमुपक्रम्योदर्के 'स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इति तादात्म्यमुपदिशति। तत्र संशयः—तुल्यार्थत्वं किमनयोराम्नानयोः स्यादतुल्यार्थत्वं वेति। अतुल्यार्थत्वमिति तावत्प्राप्तम्। अतुल्यत्वादाम्नानयोः, न ह्याम्नानवैरूप्ये सत्यर्थसाम्यं युक्तं प्रतिपत्तुमाम्नानतन्त्रत्वादर्थपरिग्रहस्य। वाजसनेयके ह्यात्मशब्दोपक्रमादात्मतत्त्वोपदेश इति गम्यते। छान्दोग्ये तूपक्रमविपर्ययादुपदेशविपर्ययः। ननु छान्दोग्यानामप्यस्त्युदर्के तादात्म्योपदेश इत्युक्तम्। सत्यमुक्तम्। उपक्रमतन्त्रत्वादुपसंहारस्य तादात्म्यसंपत्तिः सेति मन्यते।

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात्—इस सूत्र की अपर योजना है कि वाजसनेयक में (वही इत्यादि में आत्मा कौन है जो यह विज्ञानमय हृदय के अन्दर प्राणों में ज्योतिरूप पुरुष है वह आत्मा है) इस प्रकार आत्मशब्द से उपक्रम करके उसीकी सर्वसंग विनिर्मुक्तता का प्रतिपादन के द्वारा उसकी ब्रह्मात्मता का अवधारण श्रुति करती है। जिससे उसी प्रकार ब्रह्मरूप से उपसंहार करती है कि (वही यह महान् अज आत्मा अजर अमर अमृत अभय ब्रह्म है) इति। और छान्दोग्य में तो (हे सोम्य! यह जगत् उत्पत्ति से प्रथम एक ही अद्वितीय सत् स्वरूप ही था) इस प्रकार आत्मशब्द के बिना ही उपक्रम करके उदर्क (उपसंहार उत्तर) में (वह आत्मा है वह तुम हो) इस प्रकार तादात्म्य (अभेद) का उपदेश युक्त करते हैं। वहाँ संशय होता है कि क्या इन दोनों श्रुतियों को तुल्यार्थवत्त्व होगा अथवा अतुल्यार्थवत्त्व है। वहाँ श्रुतियों की अन्यता में प्रथम अतुल्यार्थत्व प्राप्त होता है, जिससे श्रुति की विषमता रहते ज्ञानादि के श्रुति के अधीन होने से अर्थ की समता समझना युक्त नहीं है। वाजसनेयक में आत्मशब्द से उपक्रम होने से आत्मतत्त्व का उपदेश है यह समझा जाता है। छान्दोग्य में तो उपक्रम के विपर्यय से (आत्मशब्द रहित होने से) उपदेश का विपर्यय समझा जाता है। यदि कहा जाय कि छान्दोग्य में भी उपसंहार में तादात्म्य का उपदेश है यह कहा जा चुका है। तो कहते हैं कि कहा जा चुका है वह सत्य है। परन्तु उपसंहार के उपक्रम के अधीन होने से वह तादात्म्य-सम्पत्ति (उपासनार्थक सम्पादनरूप) है ऐसा मानते हैं।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते आत्मगृहीतिः 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (छा० ६।२।१) इत्यत्र छन्दोगानामपि भवितुमर्हतीतरवत्। यथा 'कतम आत्मा' (बृ० ४।३।७) इत्यत्र वाजसनेयिनामात्मगृहीतिस्तथैव। कस्मात्? उत्तरात्तादात्म्योपदेशात्। अन्वयादिति चेत्, स्यादवधारणात्। यदुक्तम्—उपक्रमान्य-

यादुपक्रमे चात्मशब्दश्रवणाभावान्नात्मगृहीतिः—इति तस्य कः परिहार इति चेत्, सोऽभिधीयते स्यादवधारणादिति। भवेदुपपन्नेहात्मगृहीतिः अवधारणात्। तथाहि—'येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' (छा० ६।१।१) इत्येकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमवधार्य तत्संपिपादयिषया 'सदेव' इत्याह। तच्चात्मगृहीतौ सत्यां संपद्यते, अन्यथा हि योऽयं मुख्य आत्मा स न विज्ञात इति नैव सर्वविज्ञानं संपद्येत, तथा प्रागुत्पत्तेरेकत्वावधारणं जीवस्य चात्मशब्देन परामर्शः, स्वापावस्थायां च तत्स्वभावसंपत्तिकथनं परिचोदनापूर्वकं च पुनः पुनः 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्यवधारणमिति च सर्वमेतत्तादात्म्यप्रतिपादनायामेवावकल्पते न तादात्म्यसंपादनायाम्। नचात्रोपक्रमतन्त्रतोपन्यासो न्याय्यः। नह्युपक्रम आत्मत्वसंकीर्तनमनात्मत्वसंकीर्तनं वास्ति। सामान्योपक्रमश्च न वाक्यशेषगतेन विशेषेण विरुध्यते विशेषाकाङ्क्षित्वात्सामान्यस्य। सच्छब्दार्थोऽपि च पर्यालोच्यमानो न मुख्यादात्मनोऽन्यः संभवत्यतोऽन्यस्य वस्तुजातस्यारम्भणशब्दादिभ्योऽनृतत्वोपपत्तेः आम्नानवैषम्यमपि नावश्यमर्थवैषम्यमावहति, आहर पात्रं पात्रमाहरेत्येवमादिष्वर्थसाम्येऽपि तद्दर्शनात्। तस्मादेवंजातीयकेषु वाक्येषु प्रतिपादनप्रकारभेदेऽपि प्रतिपाद्यार्थाभेद इति सिद्धम् ॥ १७ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहा जाता है कि (हे सोम्य ! यह प्रथम सत् ही था) छन्दोगों के भी इस वाक्य में इतर वाक्य के समान परमात्मा ही का ग्रहण होने योग्य है। अर्थात् (कौन आत्मा है) इस वाजसनेयी के वाक्य में जैसे आत्म शब्द से परमात्मा का ग्रहण होता है, वैसे ही छन्दोगों के वाक्य में सत् शब्द से परमात्मा का ग्रहण होना उचित है। क्यों ऐसा होना उचित है, तो कहा जाता है कि उत्तर (आगे) के तादात्म्य (अभेद) के उपदेश से ऐसा होना उचित है। फिर यदि कहो कि अन्वय से नहीं हो सकता है, तो कहा जाता है कि अवधारण से हो सकता है। अर्थात् यदि यह कहो कि उपक्रम के अन्वय से (उपक्रम के अधीन उपसंहार के होने से) और उपक्रम में आत्मशब्द के श्रवण के अभाव से उपक्रम के अनुसार से छान्दोग्य वाक्य में परमात्मा का ग्रहण नहीं हो सकता है, यह जो प्रथम कहा जा चुका है उसका परिहार (उत्तर) है। तो वह परिहार कहा जाता है कि अवधारण से परमात्मा का ग्रहण होगा, अर्थात् यहाँ अवधारण से परमात्मा का ग्रहण उत्पन्न (युक्तसिद्ध) होगा। जिसने इस प्रकार का अवधार । है कि (जिस आदेश के सुनने से अश्रुत भी श्रुत होता है, अमत भी मत होता है। अविज्ञात भी विज्ञात होता है) इस प्रकार एक के विज्ञान से सब के विज्ञान का अवधारण करके उसी का प्रतिपादन की इच्छा से (सदेव) सत्य ही था, इत्यादि कहते हैं। वह (सदेव) ऐसा अवधारण परमात्मा से सत्शब्द से ग्रहण करने पर उत्पन्न होता है। अन्यथा (अन्य के ग्रहण करने पर) जो यह मुख्य आत्मा है वह यदि नहीं विज्ञात हुआ, तो सर्वविज्ञान सम्पन्न नहीं हो सकता है। इसी प्रकार उत्पत्ति के पूर्वकाल

म (एकमव) इस प्रकार एकत्व का अवधारण और (अनेन जीवेनात्मना) इस प्रकार जीव का आत्मशब्द से परामर्श (कथन) और (सतासम्पन्नो भवति) इस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में परमात्मस्वभाव की सम्पत्ति (प्राप्ति) का कथन और बार बार (भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु) फिर मुझ आप समझावें। इस प्रकार की प्रेरणा प्रश्नपूर्वक (तत्त्वमसि) तुम वही हो। यह अवधारण य सब तादात्म्य के प्रतिपादन म युक्त सिद्ध होते हैं तादात्म्य की सपादना (सम्पत्ति आरोप) म नहीं सिद्ध हो सकते है। उपक्रमतन्त्रता (अधीनता) का यहाँ उपन्यास (कथन) भी युक्त नहीं है क्योंकि उपक्रम म आत्मत्व का सकीतन वा अनात्मत्व का सकीर्तन नहीं है किन्तु सामान्य रूप मे सत् का सकीतन है। सामान्य रूप वाला उपक्रम वाक्य गेपगत विशेष से विरुद्ध नहीं होता है क्योंकि सामान्य वाक्य विशेष वाक्य की आकांक्षा वाला होता है। वस्तुत पर्यालोच्यमान (विचार्यमाण) सत् शब्द का अर्थ भी मुख्य आत्मा म अन्य नहीं सिद्ध हो सकता है क्योंकि इस मुख्य आत्मा स अन्य वस्तु समूह की आरम्भणशब्दादि स अनृतत्व (मिथ्यात्व) की उपपत्ति मे मुख्यात्मा ही सत् सिद्ध होता है। श्रुति पाठ की विषमता भी अर्थ की विषमता को अवश्य ही नहीं प्राप्त करती है (लाओ पात्र पात्र लाओ) इत्यादि वाक्यों म अर्थ की तुल्यता रहते भी पाठ की विषमता देखी जाती है। उसमे इस प्रकार के वाक्यो म प्रतिपादन की प्रक्रियारीति क भेद रहते भी प्रतिपादन के विषय अर्थ का अभेद रहता है। अर्थात् बृहदारण्यक में त्वमर्थ (जीवात्मा) से आरम्भ करके शुद्ध तदर्थ (ईश्वरसाक्षी) का प्रतिपादन है। छान्दोग्य म ईश्वर के स्वरूप से आरम्भ करके शुद्ध जीवात्मा का प्रतिपादन है, और जीवेश्वर का शुद्ध साक्षीस्वरूप आत्मा अभिन्न है यह सिद्ध हुआ ॥ १७ ॥

कार्याख्यानाधिकरण ॥ ९ ॥

अनग्नतुप्याचमने विधेये शुद्धिरेव वा। उभे अपि विधेये ते द्वयोरत्र श्रुतत्वत ॥ १ ॥
स्मृतेराचमन प्राप्तं प्रायत्यर्थमनूद्य तत्। अनग्नतामति प्राणविद्याऽपूर्वा विधीयते ॥ २ ॥

पूर्व कही रीति से परमात्मा से भिन्न सब को आरम्भण शब्दादि स ब्रह्मकार्यत्व के आख्यान मे ब्रह्म ही (अपूर्वम्) इत्यादि श्रुति के अनुसार कारण रहित है। इससे सत्य और आत्मा है। उस परमात्मा की अनुभूति का साधन शौच है और (द्विजो नित्यमुपस्पृशेत्) इत्यादि स्मृति स शौच के लिए उपस्पर्शादि विहित है। (सत्त्वशुद्धि-सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च) इस योगसूत्र स अन्त करण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता, एकाग्रता, इन्द्रियों का विजय आत्मदर्शन की योग्यता ये शौच के आभ्यन्तर फल योगदर्शन म दर्शाये गये हैं। प्रकृत मे (अशिष्यन्त आचमन्ति) इत्यादि श्रुति स शुद्धि के लिए स्मृति से प्राप्त कर्तव्य रूप आचमन का आख्यान अनुवादमात्र होने स आचमन का विधान नहीं किया जाता है, किन्तु अपूर्व (अप्राप्त) होने से अनग्नता के चिन्तन मात्र का प्राणविद्या म विधान किया जाता है। यहाँ संशय है कि

श्रुति मे अनग्नता का चिन्तन और आचमन दोनों विधेय हैं या आचमन के जल में वस्त्र बुद्धि करके और उसके द्वारा प्राण की अनग्नता की बुद्धिमात्र का विधान है। पूर्वपक्ष है कि दोनों के यहाँ श्रुत होने से दोनों का विधान है। सिद्धान्त है कि (विधिरत्यन्तमप्राप्तौ) इस वचन के अनुसार अत्यन्त अप्राप्ति रहते विधि होती है। इसमे प्रयत का भावरूप प्रायत्य, शुद्धि के लिए प्राप्त उस आचमन का अनुवाद करके प्राणवेत्ता की अपूर्व अनग्नता मति विहित होती है ॥ १-२ ॥

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥ १८ ॥

छन्दोगा वाजसनेयिनश्च प्राणसंवादे श्वादिमर्यादं प्राणस्यान्नमाम्नाय तस्यैवापो वास आमनन्ति। अनन्तरं च छन्दोगा आमनन्ति—'तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति' (छा० ५।२।२) इति । वाजसनेयिनस्त्वामनन्ति—'तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वा चाचामन्त्येतमेव तदनमनग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते' (बृ० ६।१।१४) 'तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदेतमेव तदनमनग्नं कुरुते' इति। तत्र त्वाचमनमनग्नताचिन्तनं च प्राणस्य प्रतीयते। तत्किमुभयमपि विधीयत उताचमनमेवोतानग्नताचिन्तनमेवेति विचार्यते। किं तावत्प्राप्तम्? उभयमपि विधीयते इति। कुतः? उभयस्याप्यवगम्यमानत्वात्। उभयमपि चैतदपूर्वत्वाद्विध्यर्हम् अथवाऽऽचमनमेव विधीयते, विस्पष्टा हि तस्मान्विधिविभक्तिस्तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाचामेदिति तस्यैव स्तुत्यर्थमनग्नतासंकीर्तनमिति।

प्राणों के संवाद में (मे किमन्नं किं वासः) मेरा क्या अन्न होगा क्या वस्त्र होगा ? इस प्रकार प्राण के पूछने पर, इन्द्रियों ने कहा कि (यदिदं किञ्चाश्वभ्य आकृमिभ्यस्तत्तेऽन्नमापोवासः) इस प्रकार छन्दोग और वाजसनेयी प्राण के संवाद में कुत्ते कृमि आदि पर्यन्त को प्राण का अन्न कहकर और उस प्राण का वस्त्र रूप जल को कहते हैं। उसके बाद में छन्दोग कहते हैं कि (जिससे जल प्राण का वस्त्र है इसीसे भोजन करने वाले विद्वान् यह करते हैं कि भोजन से प्रथम और भोजन के बाद में जलों से प्राण का परिधान आच्छादन करते हैं) और वाजसनेयी तो कहते हैं कि (यतः जल प्राण का वस्त्र है अतः श्रोत्रिय विद्वान् लोग भोजन करते समय प्रथम आचमन करते हैं। और भोजन करके आचमन करते हैं। इसी अन (प्राण) को उस आचमन से अनग्न करना मानते है, जिससे ऐसा जानने वाला विद्वान् भोजन करने से प्रथम आचमन करे और भोजन करके आचमन करे, उससे इसी प्राण को अनग्न करता है) इति, वहाँ दोनों श्रुतियों में आचमन और प्राण की अनग्नता का चिन्तन प्रतीत होता है। इससे क्या दोनों विहित है ? अथवा आचमन ही विहित होता है, यद्वा अनग्नता चिन्तन ही विहित होता है, यह विचार किया जाता है। वहाँ प्रथम क्या प्राप्त होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्षी कहता है कि दोनों प्राप्त होता है, क्योंकि दोनों का विधान किया

जाता है, दोनों का विधान किससे समझा जाता है ऐसी जिज्ञासा हो, तो कहा जाता है कि दोनों ही के अवगम्यमान (प्रतीत) होने से दोनों का विधान समझा जाता है। और अपूर्वता से ये दोनों ही विधि के योग्य भी हैं। अथवा आचमन का ही विधान किया जाता है, जिससे उस आचमन विषयक विघट विधायक विभक्ति है कि जिससे ऐसा विद्वान् भोजन से पहले आचमन करे और भोजन करके आचमन करे और आचमन की विधि होने पर उसी की स्तुति के लिए अनग्नता का सङ्कीर्तन है विधि नहीं है।

एवं प्राप्ते ब्रूम'—नाचमनस्य विधेयत्वमुपपद्यते कार्याख्यानात्। प्राप्तमेव हीद कार्यत्वेनाचमन प्रायत्यार्थं स्मृतिप्रसिद्धमन्वाख्यायेत। नन्विय श्रुतिस्तस्या स्मृतेर्मूल स्यात्। नेत्युच्यते, विषयनानात्वात्। सामान्यविषया हि स्मृति पुरुषमात्रसबद्ध प्रायत्यार्थमाचमन प्रापयति। श्रुतिस्तु प्राणविद्याप्रकरणपठिता तद्विषयमेवाचमन विदधती विदध्यात्। नच भिन्नविषययो श्रुतिस्मृत्योर्मूलमूलिभावोऽवकल्पते। नचेय श्रुति प्राणविद्यासयोग्यपूर्वमाचमन विधास्यतीति शक्यमाश्रयितुम्, पूर्वस्यैव पुरुषमात्रसयोगिन आचमनस्येह प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्। अतएव च नोभयविधानम्। उभयविधाने च वाक्य भिद्येत, तस्मात्प्राप्तमेवाशिशिषतामशितवता चोभयत आचमनमनूद्य 'एतमेव तदनमनग्न कुर्वन्तो मन्यन्ते' (बृ० ६।१।१४) इति प्राणस्यानग्नताकरणसंकल्पोऽनेन वाक्येनाचमनीयास्वप्सु प्राणविद्यासबन्धित्वेनापूर्व उपदिश्यते। नचायमनग्नतावाद आचमनस्तुत्यर्थ इति न्याय्यम्, आचमनस्याविधेयत्वात्, स्वय चानग्नतासंकल्पस्य विधेयत्वप्रतीते। नचैव सत्येकस्याचमनस्योभयार्थताभ्युपगता भवति प्रायत्यार्थता परिधानार्थता चेति, क्रियान्तरत्वाभ्युपगमात्। क्रियान्तरमेव ह्याचमन नाम प्रायत्यार्थं पुरुषस्याभ्युपगम्यते, तदीयासु त्वप्सु वास सकल्पन नाम क्रियान्तरमेव परिधानार्थं प्राणस्याभ्युपगम्यत इत्यनवद्यम्। अपिच 'यदिद किचाश्वभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतगेभ्यस्तत्तेऽन्नम्' (बृ० ६।१।१४) इत्यत्र तावन्न सर्वान्नाभ्यवहारश्चोद्यत इति शक्य वक्तुम्, अशब्दत्वादशक्यत्वाच्च। सर्वं तु प्राणस्यान्नमितीयमन्नदृष्टिश्चोद्यते। तत्साहचर्याच्चापोवास इत्यत्रापि नापामाचमन चोद्यते प्रसिद्धास्वेव त्वाचमनीयास्वप्सु परिधानदृष्टिश्चोद्यत इति युक्तम्। नह्यर्धवैशस सम्भवति। अपि चाचामन्तीति वर्तमानापदेशित्वाव्वाय शब्दो विधिक्षम।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि कार्याख्यान से आचमन को विधेयत्व उपपन्न नहीं होता है। जिससे शुद्धि के लिए कर्तव्य रूप से प्राप्त स्मृति में प्रसिद्ध हो यह आचमन कहा जाता है। यदि कहो कि स्मृति सिद्ध का श्रुति नहीं अनुवाद कर सकती है, किन्तु यह श्रुति ही उस स्मृति का मूल है, तो कहा जाता है कि विषय के नानात्व (भेद) से यह श्रुति उस स्मृति का मूल नहीं है, समान विषय में मूल मूलीभाव होता है। और सामान्य विषयक स्मृति है सो पुरुष मात्र के साथ सम्बन्ध वाला शुद्धि

रूप प्रयोजन वाला आचमन को प्राप्त कराती है। प्राणविद्या के प्रकारण में पठित श्रुति तो आचमन का विधान करती हुई भी प्राणविद्या-विषयक ही आचमन का विधान करेगी। भिन्न विषयवाली श्रुति-स्मृति को मूल-मूलि भाव नहीं सिद्ध हो सकता है। वस्तुतः यह श्रुति प्राणविद्या-सम्बन्धी अपूर्व आचमन का विधान करेगी ऐसा आश्रयण (स्वीकार) नहीं कर सकते हैं, क्योंकि पुरुषमात्र के सम्बन्धी पूर्व के ही आचमन की यहाँ प्रत्यभिज्ञा होती है। इससे वही यहां प्रत्यभिज्ञायमान (सम्बद्ध) है। इस विधि के अभाव से ही उभय (दोनों) का विधान भी नहीं है। उभय के विधान में वाक्य-भेद होगा। इसमे भोजन की इच्छा वाले और भोजन कर चुकने वाले को प्राप्त भोजन से पूर्वपरकालिक आचमन का ही अनुवाद करके (इस प्राण को ही उस आचमन से अनग्न करते हुए समझते हैं) इस वाक्य से प्राण की अनग्नताकरण का संकल्प आचमनीय जलविपयक प्राणविद्या के सम्बन्धित्व रूप से अपूर्व उपदिष्ट होता है। आचमन की अविधेयता से तथा अनग्नताविपयक संकल्प के विधेयत्व की स्वयं प्रतीति से (यह अनग्नता का कथन आचमन की स्तुति के लिए है) यह पूर्वोक्त वचन न्याययुक्त नहीं है। इस प्रकार संकल्प के विधेयत्व की प्रतीति होने पर संकल्प में क्रियान्तरत्व के अभ्युपगम से एक आचमन की शुद्ध्यर्थता और परिधानार्थता रूप उभयार्थता स्वीकृत नहीं होती है, कि जिससे कहा जा सके कि शुद्ध्यर्थक आचमन को प्राण परिधानार्थकत्व विरुद्ध है, जिससे आचमन को आच्छानार्थत्व असिद्ध है, परन्तु संकल्पमात्र कर्तव्य है। जिससे पुरुष की शुद्धि के लिए आचमन नामक क्रियान्तर माना जाता है। उस आचमन सम्बन्धी जलों में वस्त्र वा संकल्प नामक क्रियान्तर ही प्राणों के परिधानार्थक माना जाता है, इससे उभयार्थता आदि दोष नहीं है। दूसरी बात है कि (कुत्ता, कृमि, कीट पतंगपर्यन्त जो कुछ है सो सब तेरा अन्न है) यह सब अन्न के भोजन का विधान किया जाता है, ऐसा नहीं कह सकते है, क्योंकि ऐसा कोई शब्द श्रुति नहीं है, और ऐसा होना अशक्य भी है। इससे सब प्राण का अन्न है इस प्रकार की यह अन्नदृष्टि विहित होती है। उसके साहचर्य से जल वस्त्र है, यहाँ भी जल के आचमन का नहीं विधान किया जाता है, किन्तु प्रसिद्ध आचनार्थक जलों में परिधान (वस्त्र) दृष्टि का विधान किया जाता है। ऐसा युक्त है। ऐसा नहीं मान कर अन्न वाक्य में दृष्टि-विधिरूप और आचमन वाक्य में क्रिया विधिरूप अर्थवैरूप्य का सम्भव नहीं है। आचमन्ति, यह वर्तमान के कथन से यह शब्द आचमन की विधि में समर्थ भी नहीं है।

ननु मन्यन्त इत्यत्रापि समानं वर्तमानापदेशित्वम्। सत्यमेव तत् अवश्यविधेये त्वन्यतरस्मिन्वासः कार्याख्यानादपां वासःसंकल्पनमेवापूर्वं विधीयते नाचमनं पूर्ववद्धि तदित्युपपादितम्। यदप्युक्तं—विस्पष्टा चाचमने विधिविभक्तिः—इति, तदपि पूर्ववत्त्वेनैवाचमनस्य प्रत्युक्तम्। अत एवाचम-

नस्यानिविविदिसितत्वादेतमेव तदनमनग्न कुर्वन्तो मन्यन्ते इत्यत्रैव काण्वा पर्यवस्यन्ति तस्मादेवंविदित्यादि। तस्मान्माध्यंदिनानामपि पाठे आचमनानुवादेनैवनित्त्वमेव प्रकृतप्राणवासोविज्ञान विधीयते इति प्रतिपत्तव्यम्। योऽप्ययमभ्युपगम क्वचिदाचमन विधीयतां क्वचिद्वासोविज्ञानमिति सोऽपि न साधु। आपो वास इत्यादिकाया वाक्यप्रवृत्ते सर्वत्रैकरूप्यात्। तस्माद्वासोविज्ञानमेवेह विधीयते नाचमनमिति न्याय्यम्॥ १८॥

यदि कहो कि (अनग्न म यन्ते) यहाँ भी तुल्य ही वर्तमानापदेशित्व (वर्तमानवाचकत्व) है, तो यह कहना सत्य है, तो भी अन्यतर (दो म से एक) के अवश्य विधेय होने पर कार्यान्तर रूप हेतु से जल का वस्त्ररूप अपूर्वसंकल्पन ही विहित होता है, आचमन नहीं विहित होता है वह पूर्व सिद्ध है यह उपपादित हो चुका है। जो यह कहा था कि आचमन मे विस्पष्ट विधि विभक्ति है, सो भी आचमन के पूर्व सिद्धत्व से ही प्रत्युक्त (खण्डित) हो चुका। इस पूर्व सिद्ध होने के कारण आचमन विधि के इष्ट नहीं होने स ही (इस प्राण को इससे अनग्न करना मानते है) यहाँ काण्वशाखा वाले समाप्ति करते है। (तस्माद् एव विद्) इत्यादि नहीं पढते है, जिससे माध्यन्दिनो के पाठ म भी आचमन के अनुवाद द्वारा एव विरव ही अर्थात् प्रकृत प्राणवस्त्रविरव विहित होता है, ऐसा समझना चाहिए। जो यह अभ्युपगम है कि क्वचित् (माध्यन्दिन) मे आचमन का विधान किया जाय, और कहीं अन्यत्र वस्त्रविज्ञान का विधान किया जाय। सो अभ्युपगम भी साधु नहीं है। क्योंकि (आपोवास) इत्यादि वाक्य प्रवृत्ति भी सर्वत्र एकरूपता है। जिससे यहाँ वस्त्रविज्ञान का ही विधान किया जाता है। आचमन का नहीं यह न्याययुक्त है॥ १८॥

समानाधिकरण ॥ १०॥

शाण्डिल्यविद्या काण्वानां द्विविधैकविधाऽथवा। द्विरुक्तेरेकशाखायां द्वैविध्यमिति गम्यते॥
एका मनोमयत्वादिप्रत्यभिज्ञानतो भवेत्। विद्याया विधिरेकत्र स्यादन्यत्र गुणो विधि॥

जैसे भिन्न शाखा मे उपास्य के अभेद से विद्या की एकता और गुण का उपसंहार होता है, इसी प्रकार समान (एक) शाखा म भी समझना चाहिये। यहाँ संशय है कि एक काण्वशाखा वाले के दो ग्रन्थ म शाण्डिल्य विद्या पढी हुई है सो दोनो स्थान मे द्विविध (भिन्न) होगी, अथवा एकविध (अभिन्न) होगी। पूर्वपक्ष है कि भिन्न शाखा मे अध्येता आदि के भेद से पुनरुक्ति दोष नहीं होता है, इससे एक विद्या दो शाखा मे पढी जा सकती है, परन्तु एक शाखा मे एक विद्या के दो स्थान म पढने से पुनरुक्ति होगी इससे द्विविधता की प्रतीति होती है। सिद्धान्त है कि मनोमयत्वादि द्वारा प्रत्यभिज्ञा होने से विद्या एक है। एक स्थान मे विद्या की विधि है। अन्य स्थान में गुणविषयक विधि है, इससे पुनरुक्ति भी नहीं है॥ १-२॥

समान एवं चाभेदात् ॥ १९ ॥

वाजसनेयिशाखायामग्निरहस्ये शाण्डिल्यनामाङ्किता विद्या विज्ञाता, तत्र च गुणाः श्रूयन्ते—'स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपम्' इत्येवमादयः। तस्यामेव शाखायां बृहदारण्यके पुनः पठ्यते—मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एषां सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच' (बृ० ५।६।१) इति। तत्र संशयः—किनियमेका विद्याग्निरहस्यबृहदारण्यकयोर्गुणोपसंहारश्चोत द्वे इमे विद्ये गुणानुपसंहारश्चेति। किं तावत्प्राप्तम्? विद्याभेदो गुणव्यवस्था चेति। कुतः? पौनरुक्त्यप्रसङ्गात्। भिन्नासु हि शाखास्वध्येतृवेदितृभेदात्पौनरुक्त्यपरिहारमालोच्य विद्यैकत्वमध्यवसायैकत्रातिरिक्ता गुणा इतरत्रोपसंह्रियन्ते प्राणसंवादादिष्वित्युक्तम्। एकस्यां पुनः शाखायामध्येतृवेदितृभेदाभावादशक्यपरिहारे पौनरुक्त्ये न विप्रकृष्टदेशस्थैका विद्या भवितुमर्हति। नचात्रैकमाम्नानं विद्याविधानार्थमपरं गुणविधानार्थमिति विभागः संभवति। तदा ह्यतिरिक्ता एव गुणा इतरत्रेतरत्र चाम्नायेरन्नसमानाः, समाना अपि तूभयत्राम्नायन्ते मनोमयत्वादयः, तस्मान्नान्योन्यगुणोपसंहार इति।

वाजसनेय शाखा में अग्निरहस्य प्रकरण में शाण्डिल्य से दृष्ट होने से शाण्डिल्य नाम से अङ्कित (चिह्नित) विद्या विज्ञात होती है। यहाँ (वह जिज्ञासु, मनोमय, प्राणरूप शरीर वाला प्रकाश स्वरूप आत्मा की उपासना करे) इत्यादि मनोमयत्वादि रूप गुण सुने जाते है। उसी शाखा मे बृहदारण्यक ग्रन्थ में फिर पढ़ा जाता है कि (यह पुरुष मनोमय है, प्रकाश उसका सत्य स्वरूप है, अर्थात् वह भास्वर है। उस हृदय के अन्दर यव वा व्रीहितुल्य परिमाण वाला योगियों से देखा जाता है। सो यह सब का ईशान स्वामी है, सब का स्वतन्त्र अधिपति है। जो कुछ यह जगत है, उस सब का वह प्रशासन करता है) यहाँ संशय होता है कि अग्निरहस्य और बृहदारण्यक में क्या यह एक विद्या है और गुणों का उपसंहार होता है, अथवा ये दो विद्याएँ है, और गुणों का उपसंहार नहीं होता है। जिज्ञासा होती है कि प्रथम प्राप्त क्या होता है। पूर्वपक्ष है कि विद्या का भेद और गुणों का अनुपसंहार प्राप्त होता है। क्योंकि एक विद्या होने पर पुनरुक्ति का प्रसङ्ग होगा। जिससे भिन्न शाखाओं में अध्ययनकर्ता और वेदिता (द्रष्टा) के भेद से पुनरुक्तिता का परिहार को समझ कर विद्या की एकता को निश्चय करके, एक स्थान में पढ़े गये अधिक गुण अन्य स्थान में उपसंहृत किए जाते हैं, यह प्राण सम्वादादि में कहा जा चुका है। परन्तु एक शाखा में अध्येता वेदिता के भेद के अभाव से पुनरुक्तता दोष के परिहार नहीं हो सकने से, दूरदेशस्थ एकविद्या होने योग्य नहीं है। यहाँ एक श्रुति

विद्या का विधान के लिए है, अन्य गुण विधान क ि लिए है। ऐसा विभाग भी नहीं हो सकता है। जिससे ऐसी विभागावस्था म, अधिक ही गुण भिन्न भिन्न श्रुतियो म कहे जावे, और समान (तुल्य एक) गुण दोना श्रुतियो म नहीं कहे जावे, और मनोमयत्वादि समान गुण भी दोनों स्थाना म पढ़े जाते है, जिसम परस्पर गुणो का उपसहार नहीं होता है।

एवं प्राप्ते ब्रूमहे—यथा भिन्नासु शाखासु विद्यैकत्व गुणोपसंहारश्च भवत्येवमेकस्यामपि शाखाया भवितुमर्हति, उपास्याभेदात्। तदेव हि ब्रह्म मनोमयत्वादिगुणकमुभयत्राप्युपास्यमभिन्न प्रत्यभिजानीमहे। उपास्य च रूप विद्याया। न च विद्यमाने रूपाभेदे विद्याभेदमध्यवसातु शक्नुम। नापि विद्याऽभेदे गुणव्यवस्थानम्। ननु पौनरुक्त्यप्रसङ्गाद्विद्याभेदोऽध्यवसित। नेत्युच्यते अर्थविभागोपपत्ते। एक ह्याम्नान विद्याविधानार्थमपर गुणविधानार्थमिति न किंचिन्नोपपद्यते। नन्वेव सति यदपठितमग्निरहस्ये तदेव बृहदारण्यके पठितव्यम् 'स एष सर्वस्येशान' इत्यादि। यत्तु पठितमेव मनोमय इत्यादि तन्न पठितव्यम्। नैष दोष। तद्बलेनैव प्रदेशान्तरपठितविद्याप्रत्यभिज्ञानात्। समानगुणाम्नानेन हि विप्रकृष्टदेशा शाण्डिल्यविद्या प्रत्यभिज्ञाप्य तस्यामीशानत्वाद्युपदिश्यते। अन्यथा हि कथ तस्यामय गुणविधिरभिधीयते। अपि चाप्राप्तांशोपदेशेनार्थवति वाक्ये सजाते प्राप्तांशपरामर्शस्य नित्यानुवादतयाऽप्युपपद्यमानत्वान्न तद्बलेन प्रत्यभिज्ञोपेक्षितु शक्यते। तस्मादत्र समानायामपि शाखाया विद्यैकत्व गुणोपसहारश्चेत्युपपन्नम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि उपास्य के अभेद से जैसे भिन्न शाखाओं मे विद्या की एकता होती है, और गुणो का उपसहार होता है। उसी प्रकार एक शाखा म भी होने के योग्य है। जिससे मनोमयत्वादि गुण वाला उसी अभिन्न उपास्य ब्रह्म की दोनो स्थानो म प्रत्यभिज्ञा करते हैं। विद्या (उपासना) का उपास्य रूप होता है। रूप के अभेद विद्यमान रहते विद्या के भेद का निश्चय नहीं कर सकते हैं और विद्या के अभेद होने गुण का व्यवस्थान (अनुपसहार) भी नहीं हो सकता है। यदि कहा जाय कि पुनरुक्तिता के प्रसग स विद्या का भेद निश्चित किया गया है, तो कहा जाता है कि अर्थों के विभाग की उपपत्ति से पुनरुक्तिता की प्राप्ति नहीं है, एव वह श्रुति जिसम अधिक गुण श्रुत हैं, वह विद्या का विधान के लिए प्रधान है। उसमे अन्य बृहदारण्यक श्रुति गुण विधान के लिए है। इससे कुछ भी अनुपपन्न नहीं है। यदि कहा जाय की ऐसी व्यवस्था होने पर अग्निरहस्य म जो अपठित है, वही बृहदारण्यक म पढना चाहिए (वह मन का स्वामी है) इत्यादि। जो (मनोमय) इत्यादि अग्निरहस्य म पढा ही हुआ है, उसको बृहदारण्यक म नहीं पढना चाहिए। यहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योकि कुछ पठित गुण का

पाठरूप बल से ही प्रदेशान्तर में पठित विद्या की प्रत्यभिज्ञा होती है। समान गुण के कथन द्वारा ही दूरदेश वाली शाण्डिल्यविद्या की प्रत्यभिज्ञा कराकर उसमें ईशानत्वादि का उपदेश दिया जाता है, अन्यथा उसमें यह गुण विधि कैसे कहा जायगा। अप्राप्त अंश के उपदेश से वाक्य के अर्थवाला (सार्थक) होने पर प्राप्तांश का परामर्श (कथन) के नित्यानुवादरूपता से भी उपपन्न होने से उसके बल से प्रत्यभिज्ञा की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। अर्थात् विद्या का भेद नहीं माना जा सकता है। इससे यहाँ एक शाखा में भी विद्या का एकत्व और गुणों का उपसंहार होता है, यह उपपन्न होता है ॥ १९ ॥

सम्बन्धाधिकरण ॥ ११ ॥

संहारः स्याद्व्यवस्था वा नाम्नोरहरहं त्विति । विद्यैकत्वेन संहारः स्यादध्यात्माधिदैवयोः ॥
तस्योपनिषदित्येवंभिन्नस्थानत्वदर्शनात् । स्थितासीनगुरूपास्त्योरिव नाम्नोर्व्यवस्थितिः ॥

एक विद्या के साथ सम्बन्ध होने से शाण्डिल्यविद्या के समान अन्यत्र भी गुण का उपसंहार होगा। ब्रह्म के अधिदैवत और अध्यात्म भेद से अहर्, अहम् ये दो रहस्य नाम बृहदारण्यक में कहे गए हैं, वहाँ संशय होता है कि इन नामों का परस्पर उपसंहार होगा, अथवा व्यवस्था रहेगी। पूर्वपक्ष है कि विद्या की एकता से अध्यात्म अधिदैवत नामों का उपसंहार होगा। सिद्धान्त है कि यद्यपि ब्रह्म एक है उसकी विद्या एक है तथापि नेत्र और आदित्यरूप भिन्न स्थान मान कर औपाधिक-भेदयुक्त ब्रह्म के तस्य उपनिषद्, अक्षिस्थ का उपनिषद् वा आदित्यस्थ का उपनिषद् इस प्रकार से भिन्न स्थानत्व के दर्शन से नामों की व्यवस्था होती है। जैसे गुरु के एक होते भी स्थित और आसीन गुरु की सेवा उपासना में व्यवस्था होती है॥

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥ २० ॥

बृहदारण्यके 'सत्यं ब्रह्म' (बृ० ५।३।१) इत्युपक्रम्य 'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' (बृ० ५।५।३) इति तस्यैव सत्यस्य ब्रह्मणोऽधिदैवतमध्यात्मं चायतनविशेषमुपदिश्य व्याहृतिशरीरत्वं च संपाद्य द्वे उपनिषदावुपदिश्येते । 'तस्योपनिषदहरित्यधिदैवतम् । तस्योपनिषदहमित्यध्यात्मम्' । तत्र संशयः—किमविभागेनैवोभे अप्युपनिषदावुभयत्रानुसंधातव्ये उत विभागेनैकाधिदैवतमेकाध्यात्ममिति । तत्र सूत्रेणैवोपक्रमते । यथा शाण्डिल्यविद्यायां विभागेनाप्यधीतायां गुणोपसंहार उक्त एवमन्यत्राप्येवंजातीयके विषये भवितुमर्हति, एकविद्याभिसम्बन्धात् । एका हीयं सत्यविद्याधिदैवमध्यात्मं चाधीता उपक्रमाभेदाद् व्यतिषक्तपाठाच्च । कथं तस्यामुदितो धर्मस्तस्यामेव न स्यात् । यो ह्याचार्ये कश्चिदनुगमनादिराचारश्चोदितः स ग्रामगतेऽरण्यगते च तुल्यवदेव भवति । तस्मादुभयोरप्युपनिषदोरुभयत्र प्राप्तिरिति ॥ २० ॥

बृहदारण्यक में (ब्रह्म सत्य है। ऐसा उपक्रम करके (वह सत् ब्रह्म क्या है वह आदित्य पुरुष क्या है कि सो आदित्य है कि जो यह सूर्यमण्डल में पुरुष है यही सत्य ब्रह्म है। जो यह दक्षिण नेत्र में पुरुष है वह ब्रह्म है) इस प्रकार उस उपक्रान्त ब्रह्म के ही अधिदैवत (सूर्यमण्डल) और अध्यात्म (नेत्र) आयतन (आश्रय) विशेष का उपदेश करके और व्याहृति को उस ब्रह्म के शरीररूप से संपादन (सिद्ध) करके दो उपनिषदों (रहस्य नामों) का उपदेश किया जाता है कि उस ब्रह्म का अधिदैवत (अहर्) यह नाम है। उसी का अध्यात्म (अहम्) यह नाम है। यहाँ संशय होता है कि एक ब्रह्म के दो नाम होने से विभाग के बिना ही दोनों नाम दोनों स्थानों में अनुसंधान चिन्तन के योग्य हैं अथवा विभाग पूर्वक एक अधिदैवत उपनिषद् और एक अध्यात्म उपनिषद् अनुसंधान के योग्य है। इस प्रकार संशय होने पर यहाँ सूत्र द्वारा ही अधिकरण का आरम्भ करते हैं पूर्व पक्ष करते हैं कि जैसे विभागपूर्वक पठित भी शाण्डिल्यविद्या में गुण का उपसंहार कहा गया है इसी प्रकार एक विद्या के साथ सम्बन्ध से इस प्रकार के विषय रहते अन्यत्र भी उपसंहार होने योग्य है। जिसमें अधिदैवत और अध्यात्म रूप से पठित भी यह विद्या (सत्य ब्रह्म) इत्यादि उपक्रम के अभेद से तथा व्यतिषक्त (संश्लिष्ट) पाठ से एक ही सत्यविद्या है। इस प्रकार से एक होने पर उसी में कथित धर्म उसी में नहीं हो यह कैसे होगा। जिससे आचार्यविषयक जो कुछ अनुगमनादि सदाचार कहा गया है वह सदाचार आचार्य के ग्राम में रहते या जंगल में रहते सदृश ही होता है। वैसे ही ब्रह्म के अधिदैवत अध्यात्म स्थानभेद होते भी उपनिषत् का चिन्तन तुल्य होगा, इससे दोनों उपनिषदों की दोनों स्थानों में प्राप्ति होगी ॥ २० ॥

एवं प्राप्ते प्रतिविधत्ते—

न वा विशेषात् ॥ २१ ॥

न वोभयोरुभयत्र प्राप्तिः। कस्मात्? विशेषात्, उपासनस्थानविशेषोपनिबन्धादित्यर्थः। कथं स्थानविशेषोपनिबन्ध इत्युच्यते—'य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः' (बृ० ५।५।३) इति ह्याधिदैविकं पुरुषं प्रकृत्य तस्योपनिषदहरिति श्रावयति, 'योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' (बृ० ५।५।४) इति चाध्यात्मिकं पुरुषं प्रकृत्य तस्योपनिषदहमिति। तस्येति चैतत्सन्निहितावलम्बनं सर्वनाम, तस्मादायतनविशेषव्यपाश्रयेणैवैते उपनिषदावुपदिश्येते। कुत उभयोरुभयत्र प्राप्तिः। नन्वेक एवायमधिदैवतमध्यात्मं च पुरुषः, एकस्यैव सत्यस्य ब्रह्मण आयतनद्वयप्रतिपादनात्। सत्यमेवमेतत्। एकस्यापि त्ववस्थाविशेषोपादानेनैवोपनिषद्विशेषोपदेशात्तदवस्थस्यैव सा भवितुमर्हतीति। अस्ति चायं दृष्टान्तः सत्यप्याचार्यस्वरूपानपाये यदाचार्यस्यासीनस्यानुवर्तनमुक्तं न तत्तिष्ठतो भवति,

यत्र तिष्ठत उक्तं न तदासीनस्येति । ग्रामारण्ययोस्त्वाचार्यस्वरूपानपायात्तत्स्वरूपानुबद्धस्य च धर्मस्य ग्रामारण्यकृतविशेषाभावादुभयत्र तुल्यवद्भाव इत्यदृष्टान्तः सः । तस्माद्व्यवस्थाऽनयोरुपनिषदोः ॥ २१ ॥

इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर प्रत्युत्तर कहते हैं दोनों उपनिषदों की दोनों स्थानों में प्राप्ति नहीं होती है। यदि कहो कि क्यों नहीं होती है, तो कहा जाता है कि विशेष से नहीं होती है। अर्थात् उपासना के स्थानविशेष के साथ उपनिषदों के उपनिबन्ध (कथन-सम्बन्ध) से अन्यत्र प्राप्ति नहीं होती है। स्थानविशेष का उपनिबन्ध किस प्रकार है, यह कहा जाता है कि (जो यह इस मण्डल में पुरुष है) इस प्रकार आधिदैविक पुरुष को प्रकृत (प्रकरणस्थ) करके उसका उपनिषद् (अहर्) है इस प्रकार श्रुति सुनाती है। (जो यह दक्षिण आँख में पुरुष है) इस प्रकार अध्यात्म पुरुष को प्रकृत करके उस का उपनिषद् (अहम्) है इस प्रकार सुनाती है। तस्य यह शब्द सन्निहित विषय वाला सर्वनाम है, इससे आयतन (आश्रय) विशेष के आश्रयण सम्बन्ध द्वारा ही ये दोनों उपनिषद् उपदिष्ट होते हैं। फिर किस हेतु से दोनो की दोनों स्थानो में प्राप्ति हो सकती है। यदि कहा जाय कि यह अधिदैवत और अध्यात्म पुरुष एक ही है, क्योकि एक ही सत्य ब्रह्म के दो आयतन का प्रतिपादन किया गया है। इससे नाम की व्यवस्था नहीं हो सकती है। यहाँ कहा जाता है कि एक ब्रह्म के दो स्थान हैं, यह सत्य ही है। किन्तु एक के भी अवस्थाविशेष के उपादान (ग्रहण) द्वारा ही उपनिषद्विशेष के उपदेश से उस अवस्था वाला ही का वह उपनिषद् होने योग्य है। यह दृष्टान्त भी है कि आचार्य के स्वरूप के अनपाय (वर्तमान) होते भी बैठे हुए आचार्य का जो अनुवर्तन (सेवन) कहा गया है, सो खड़े का नहीं कहा गया है। जो खड़े का कहा गया है वह बैठे का नहीं कहा गया है। अर्थात् आचार्य की अवस्थाभेद से अनुवृत्ति में भी धर्मशास्त्र में भेद कहा गया है। ग्राम और जंगल में तो आचार्य के स्वरूप के अनपाय से और उस आचार्य के स्वरूप के साथ सम्बन्ध वाला धर्म को ग्राम और जंगलकृत भेद के अभाव से दोनों स्थानों में उस धर्म का तुल्य भाव रहता है। इससे वह दृष्टान्त नहीं है, इससे इन दोनों उपनिषदों की व्यवस्था है। इस सूत्र में वा शब्द एवकारार्थ में माना गया है ॥ २१ ॥

दर्शयति च ॥ २२ ॥

अपि चैवंजातीयकानां धर्माणां व्यवस्थेति लिङ्गदर्शनं भवति—'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम' (छा० १।७।५) इति । कथमस्य लिङ्गत्वमिति तदुच्यते । अक्ष्यादित्यस्थानभेदभिन्नान्धर्मानन्योन्यस्मिन्ननुपसंहार्यान्पश्यन्निहातिदेशेनादित्यपुरुषगतान्रूपादीनक्षिपुरुष उपसंहरति—'तस्यैतस्य तदेव रूपम्' (छा० १।७।५) इत्यादिना । तस्माद् व्यवस्थिते एवैते उपनिषदाविति निर्णयः ॥ २२ ॥

इस प्रकार के धर्मों की व्यवस्था रहती है परस्पर उपसंहार नहीं होता है इस अर्थ को समझने के लिए लिङ्ग (हेतु) का दर्शन होता है कि (जो इस चक्षुस्थ पुरुष का वही रूप है कि जो आदित्यस्थ उस पुरुष का रूप है। जो आदित्यस्थ के दो पर्व हैं वही इसके दो पर्व हैं जो उसका नाम है सोई चाक्षुष का नाम है) इस का लिङ्गत्व कैसे है यह कहा जाता है कि नेत्र आदित्यरूप स्थान के भेद से भिन्न धर्मों का परस्पर उपसंहार के अयोग्य देखता हुआ यहाँ आदित्य पुरुषगत रूपादि का अतिदेश के द्वारा अक्षिस्थ पुरुष में उपसंहार करते हैं कि (तस्यैतस्य तदेव रूपम्) इत्यादि। अन्यथा विद्या की एकता से उपसंहार सिद्ध हो था अतिदेश व्यर्थ होगा इससे एकविद्या में भी स्थान के भेद से कथित गुणों के अनुपसंहार से ये उपनिषद् व्यवस्थित ही हैं यह निर्णय है॥ २२॥

संभृत्यधिकरण ॥ १२ ॥

आहार्या वा न वा तत्र सम्भृत्यादिविभूतयः। आहार्या ब्रह्मधर्मत्वाच्छाण्डिल्यादावबारणात्॥
असाधारणधर्माणां प्रत्यभिज्ञात्र नास्त्यतः। अनाहार्या ब्रह्ममात्रसम्बन्धोऽतिप्रसञ्जकः॥२॥

उपास्य ब्रह्म के अभेद होने से सम्भृति द्युव्याप्ति गुण विभूति का अन्यत्र उपसंहार प्राप्त है परन्तु इसी स्थानविशेष के सम्बन्ध से उपसंहार नहीं होता है। यहाँ संशय है कि सभृति आदि ब्रह्म की विभूतियों का शाण्डिल्यादि विद्याओं में उपसंहार होता है, अथवा नहीं होता है। पूर्वपक्ष है कि ब्रह्म के धर्म होने से शाण्डिल्यादि विद्याओं में वारण के अभाव से उपसंहार होना चाहिये। सिद्धान्त है कि प्रथम जैसे कहा गया है कि मनोमय आदि असाधारण धर्मों के दोनों वाक्यों में रहने से उनके द्वारा प्रत्यभिज्ञापूर्वक शेष गुणों का उपसंहार होता है। इस प्रकार से यहाँ असाधारण धर्मों की और धर्मों द्वारा विद्या की प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है। इससे यहाँ उपसंहार नहीं होता है। ब्रह्ममात्र का सम्बन्ध तो अतिव्याप्ति का हेतु है अर्थात् ब्रह्म के सम्बन्ध-मात्र से गुणोपसंहार मानने पर सब विद्या में सब गुण का उपसंहार होगा, क्योंकि सर्वत्र ब्रह्म ही उपास्य है॥ १-२॥

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः॥ २३॥

'ब्रह्मज्येष्ठा वीर्या सम्भृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान' इत्येवं राणायनीयानां खिलेषु वीर्यसम्भृतिद्युनिवेशप्रभृतयो ब्रह्मणो विभूतयः पठ्यन्ते। तेषामेव चोपनिषदि शाण्डिल्यविद्याप्रभृतयो ब्रह्मविद्याः पठ्यन्ते। तासु ब्रह्मविद्यासु ता ब्रह्मविभूतय उपसंह्रियेरन्न वेति विचारणायां ब्रह्मसम्बन्धादुपसंहार-प्राप्तावेवं पठति—सम्भृतिद्युव्याप्तिप्रभृतयो विभूतयः शाण्डिल्यविद्याप्रभृतिषु नोपसंहर्तव्याः, अतएव चायतनविशेषयोगात्। तथाहि शाण्डिल्य-विद्यायां हृदयायतनत्वं ब्रह्मण उक्तम्—'एष म आत्माऽन्तर्हृदये' (छा० ३।१४।

४३) इति। तद्वदेव दहरविद्यायामपि 'दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छा० ८।१।१) इति। उपकोसलविद्यायां त्वक्ष्यायतनत्वम् 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० ४।१५।१) इति। एवं तत्र तत्र तत्तदाध्यात्मिकमायतनमेतासु विद्यासु प्रतीयते। आधिदैविक्यस्त्वेता विभूतयः संभृतिद्युव्याप्तिप्रभृतयस्तासां कुत एतासु प्राप्तिः।

ब्रह्म ही जिन के ज्येष्ठ (कारण) हैं, ऐसे (ब्रह्मज्येष्ठानि) ब्रह्म ज्येष्ठ वाले (वीर्याणि) वीर्य-पराक्रम ब्रह्म से प्रथम संभृत (धृत) हुए। वही ज्येष्ठ ब्रह्म देवादि की उत्पत्ति से प्रथम ही स्वर्ग को व्याप्त किया। (ब्रह्म भूतानां प्रथमं तु जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः) भूतों का कारण रूप ब्रह्म प्रथम था, उस ब्रह्म के साथ स्पर्धा कौन कर सकता है। इस प्रकार राणायनीय नाम वालों के खिल (परिशिष्ट ग्रन्थ) में वीर्य का धारण स्वर्ग में निवेश व्यापकत्वादि ब्रह्म की विभूतियाँ पढी जाती हैं। उन राणायनीयों के ही उपनिषद् में शाण्डिल्यविद्या आदि ब्रह्मविद्याएँ पढ़ी जाती हैं, उन ब्रह्मविद्याओं में वे ब्रह्म की विभूतियां उपसंहृत होंगी, अथवा नहीं होंगी; ऐसी विचारणा (विचार) की उपस्थिति होने पर ब्रह्म के सम्बन्ध से उपसंहार की प्राप्ति होने पर, इस प्रकार पढ़ते—कहते हैं कि संभृतिद्युव्याप्ति आदि विभूतियां शाण्डिल्यविद्या आदि मे उपसंहृत नहीं होने योग्य हैं, और नहीं सम्बन्ध होने में यह आयतन विशेष का सम्बन्ध ही हेतु है। जिससे इसी प्रकार शाण्डिल्यविद्या में ब्रह्म का हृदय आयतनत्व कहा हुआ है कि (यह मेरा आत्मा हृदय के अन्दर है) इसी प्रकार दहरविद्या में भी ब्रह्म का हृदय स्थान कहा हुआ है कि (अल्प हृदयकमल ब्रह्म का गृह उपलब्धिस्थान है इसमें दहर अल्प अन्तराकाश ब्रह्म रहता है) उपकोशल विद्या में तो नेत्र आयतनत्व (आश्रयत्व) कहा हुआ है कि (जो आँख में पुरुष दीखता है वह ब्रह्म है) इस प्रकार तत्तत् स्थानों मे तत्तत् आध्यात्मिक (शरीर सम्बन्धी) आयतन इन विद्याओं में प्रतीत होता है। संभृति द्युव्याप्ति आदि ये विभूतियाँ तो आधिदैविकी हैं, फिर उन की इन विद्याओं में कैसे प्राप्ति होगी।

नन्वेतास्वप्याधिदैविक्यो विभूतयः श्रूयन्ते—'ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः' (छा० ३।१४।३) 'एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति' (छा० ४।१५।४) 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते' (छा० ८।१।३) इत्येवमाद्याः। सन्ति चान्या आयतनविशेषहीना अपीह ब्रह्मविद्याः षोडशकलाद्याः। सत्यमेवमेतत्। तथाप्यत्र विद्यते विशेषः संभृत्याद्यनुपसंहारहेतुः। समानगुणाम्नानेन हि प्रत्युपस्थापितासु विप्रकृष्टदेशास्वपि विद्यासु विप्रकृष्टदेशा गुणा उपसंह्रियेरन्निति युक्तम्। संभृत्यादयस्तु शाण्डिल्यादिवाक्यगोचराश्च मनोमयत्वादयो गुणाः परस्परव्यावृत्तस्वरूपत्वान्न प्रदेशान्तरवर्तिविद्याप्रत्युपस्थापनक्षमाः। नच ब्रह्मसंबन्धमात्रेण प्रदेशान्तरवर्तिविद्याप्रत्युपस्थापनमित्युच्यते, विद्या-

भेदेऽपि तदुपपत्ते । एकमपि हि ब्रह्म विभूतिभेदैरनेकधोपास्यत इति स्थिति, परोवरीयस्त्वादिवद्‌भेददर्शनात्। तस्माद्वीर्यसंभृत्यादीना शाण्डिल्य विद्यादिष्वनुपसंहार इति ॥ २३ ॥

शङ्का होती है कि इन शाण्डिल्यादिविद्याओं में भी आधिदैविकी विभूतियाँ सुनी जाती हैं कि (आकाशादि से आत्मा अत्यन्त बडा है। इन लोकों से अति बडा है)। यह सब लोको में प्रकाश को प्राप्त कराने वाला है जिससे सब लोको में यही प्रकाशता है। जितना बडा यह बाहर का आकाश है। उतना बडा यह अन्दर हृदयाकाश आत्मा है इसके अन्दर में ही स्वर्ग और भूमि दोनों स्थिर हैं) इत्यादि और अन्य आयतनरहित भी षोडशकला आदि ब्रह्मविद्या इस प्रकरण में है, इसमें आधिदैविक तुल्यता से तथा अध्यात्मतुल्यता से संभृत्यादि की प्राप्ति है। उत्तर है कि यह विभूति का श्रवण सत्य ही है तो भी संभृति आदि के अनुपसंहार का हेतुरूप विशेष (भेद) यहाँ है। जिससे समान गुण के कथन द्वारा दूरदेश वाली विद्याओं के भी प्रत्युपस्थापित (प्रत्यभिज्ञात) होने पर दूरदेश वाले गुण उसमें उपसंहृत होते हैं यह युक्त है। यहाँ तो संभृत्यादिरूप गुण और शाण्डिल्यविद्यावाक्यगत मनोमयत्वादि गुण परस्पर व्यावृत्त स्वरूप वाले होने से दूरदेशवर्ती विद्या के प्रत्युपस्थान (प्रत्यभिज्ञा) में समर्थ नहीं है। ब्रह्म के सम्बन्ध मात्र से प्रदेशान्तरवर्ती विद्या का प्रत्युपस्थापन होता है ऐसा नहीं कहा जाता है, जिससे विद्या के भेद रहते भी ब्रह्म सम्बन्ध की उपपत्ति होती है एक ही ब्रह्म विभूति के भेदों द्वारा अनेक प्रकार से उपासित होता है ऐसी स्थिति (मर्यादा निश्चय) है। पूर्वोक्त परोवरीयस्त्वादि गुणयुक्त उपासना का हिरण्यश्मश्रुत्वादि उपासना से भेद देखने से ऐसा निश्चय होता है। इससे वीर्यसंभृत्यादि का शाण्डिल्यविद्या आदि में उपसंहार नहीं होता है ॥ २३ ॥

पुरुषाद्यधिकरण ॥ १३ ॥

पुंविद्यैकाऽथवा भिन्ना तैत्तिरीयकताण्डिनो । मरणावभृथत्वादिसाम्यादेकेति गम्यते ॥ १ ॥
बहुना रूपभेदेन किंचित्साम्यस्य बाधनात्। न विद्यैक्य तैत्तिरीये ब्रह्मविद्याप्रशंसनात् ॥२॥

ताण्डीपैङ्गी की पुरुषविद्या में जैसे गुण हैं वैसे इतर के विद्या में गुण के अकथन से विद्या भिन्न है, इससे गुण का उपसंहार नहीं होता है। संशय है कि तैत्तिरीयक और ताण्डी की पुरुषविद्या एक है अथवा भिन्न है। पूर्वपक्ष है कि मरणरूप अवभृथत्वादि के दोनों स्थानों में तुल्य होने से विद्या एक ही है ऐसी प्रतीति होती है। अधिक रूप के भेद होने से अल्पतुल्यता का बाध होता है, इससे विद्या की एकता नहीं है। ताण्डी शाखा में ही पुरुषविद्या है तैत्तिरीयक में तो ब्रह्मविद्या की प्रशंसामात्र है स्वतन्त्र पुरुषविद्या नहीं है ॥ १–२ ॥

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥ २४ ॥

अस्ति ताण्डिना पैङ्गिना च रहस्यब्राह्मणे पुरुषविद्या। तत्र पुरुषो यज्ञ

कल्पितः। तदीयमायुस्त्रेधा विभज्य सवनत्रयं कल्पितम्। अशिशिषादीनि च दीक्षादिभावेन कल्पितानि, अन्ये च धर्मास्तत्र समधिगताश्चाशीर्मन्त्रप्रयोगादयः। तैत्तिरीयका अपि कंचित्पुरुषयज्ञं कल्पयन्ति—'तस्यैव विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी' (नारा० ८०) इत्येतेनानुवाकेन। तत्र संशयः—किं ये इतरत्रोक्ताः पुरुषयज्ञस्य धर्मास्ते तैत्तिरीयकेऽप्युपसंहर्तव्याः किंवा नोपसंहर्तव्या इति। पुरुषयज्ञत्वाविशेषादुपसंहारप्राप्तावाचक्ष्महे—नोपसंहर्तव्या इति। कस्मात्? तद्रूपप्रत्यभिज्ञानाभावात्। तदाहाचार्यः—पुरुषविद्यायामिवेति। यथैकेषां शाखिनां ताण्डिनां पैङ्गिनां च पुरुषविद्यायामाम्नानं नैवमितरेषां तैत्तिरीयाणामाम्नानमस्ति। तेषां हीतरविलक्षणमेव यज्ञसंपादनं दृश्यते पत्नीयजमानवेदवेदिबर्हिर्यूपाज्यपश्वृत्विगाद्यनुक्रमणात्। यदपि सवनसंपादनं तदपीतरविलक्षणमेव 'यत्प्रातर्मध्यंदिनꣳ सायं च तानि सवनानि' (नारा० ८०) इति।

ताण्डी और पैङ्गी के रहस्य ब्राह्मण में पुरुषविद्या है। यहाँ पुरुष को यज्ञरूप से कल्पित (सिद्ध) किया गया है कि (पुरुष ही यज्ञ है) और उस पुरुष की आयु को तीन प्रकार से विभाग करके तीन सवन नामक कर्म विशेषस्नान रूप से कल्पित किया गया है कि (उस पुरुष का जो चौबीस वर्षतक का जीवन है सो प्रातः सवन है, फिर चार अधिक चालीस वर्ष का जीवन मध्यदिन का सवन है, फिर आठ अधिक चालीस वर्ष का जीवन तृतीय सवन है। भोजन की इच्छा आदि दीक्षा आदि रूप से कल्पित हुए है कि (जो खाना चाहता है, जो पीना चाहता है, जो रमता नहीं है वह दीक्षा है) इत्यादि। (यावदायुः सन्तनुते) इससे आशीर्वाद (अक्षितमसि) इत्यादि मन्त्रप्रयोगादि अन्य भी धर्म वहाँ अधिगत (ज्ञात) होते हैं, यह छान्दोग्य अ० ३।१६।१–३ आदि में वर्णित है। तैत्तिरीयक भी कोई पुरुषयज्ञ की कल्पना करते हैं कि (इस प्रकार जानने वाला उसके यज्ञ का आत्मा यजमान है श्रद्धा पत्नी है) इस अनुवाक से यज्ञ की कल्पना होती है। यहाँ विद्वान् पुरुष ही यज्ञ हैं, ऐसी दृष्टि से संशय होता है कि जो अन्यत्र पुरुषरूप यज्ञ के धर्म कहे गये हैं, वे धर्म तैत्तिरीयक में उपसंहार के योग्य है, अथवा उपसंहार के योग्य नहीं हैं। पुरुषयज्ञत्व की अविशेषता (तुल्यता) से उपसंहार की प्राप्ति होने पर कहते हैं कि उपसंहार के योग्य नहीं है। क्योंकि तैत्तिरीयक में अन्यत्र कथित उस पुरुषयज्ञ के रूप की प्रत्यभिज्ञा का अभाव है। वही आचार्य (सूत्रकार) कहते हैं कि (पुरुष विद्यायामिव)। जिस प्रकार एक ताण्डी और पैङ्गी शाखा वालों की पुरुषविद्या में श्रुति कथन है, उससे अन्य तैत्तिरीयों की वैसी श्रुति कथन नहीं है। जिससे उन तैत्तिरीयो के यज्ञ का संपादन अन्य से विलक्षण ही देखा जाता है (श्रद्धा पत्नी, आत्मा यजमान, शिखा वेद (कुशमुष्टि) उर वेदि, लोम बर्हि, हृदय यूप, काम आज्य, क्रोध पशु, वाक् होता, प्राण उद्गाता, नेत्र अध्वर्यु, मन ब्रह्मा) इत्यादि अनुक्रमण से विलक्षणता है। जो सवन का सम्पादन

(कथन) है, वह भी इतर से विलक्षण ही है कि (जो प्रात काल, मध्यदिन और सायंकाल हैं व सवन हैं)।

यदपि किंचिन्मरणावभृथत्वादिसाम्यं तदप्यल्पीयस्त्वाद् भूयसा वैलक्षण्येनाभिभूयमानं न प्रत्यभिज्ञापनक्षमम्। नच तैत्तिरीयके पुरुषस्य यज्ञत्वं श्रूयते। विदुषो यज्ञस्येति हि नचैते समानाधिकरणे षष्ठ्यौ, विद्वानेव यो यज्ञस्तस्येति। नहि पुरुषस्य मुख्यं यज्ञत्वमस्ति। व्यधिकरणे त्वेते षष्ठ्यौ विदुषो यो यज्ञस्तस्येति। भवति हि पुरुषस्य मुख्यो यज्ञसंबन्धः। सत्यां च गतौ मुख्य एवार्थ आश्रयितव्यो न भाक्तः। आत्मा यजमान इति च यजमानत्वं पुरुषस्य निर्दिशन्वैयधिकरण्येनैवास्य यज्ञसम्बन्धं दर्शयति। अपिच तस्यैवंविदुष इति सिद्धवदनुवादश्रुतौ सत्यां पुरुषस्य यज्ञभावमात्मादीनां च यजमानादिभावं प्रतिपित्समानस्य वाक्यभेदः स्यात्। अपिच ससंन्यासामात्मविद्यां पुरस्तादुपदिश्यानन्तरं तस्यैवंविदुष इत्याद्यनुक्रमणं पश्यन्तः पूर्वशेष एवैष आम्नायो न स्वतन्त्र इति प्रतीमः। तथा चैकमेव फलमुभयोरप्यनुवाकयोरुपलभामहे 'ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति' इति। इतरेषां त्वनन्यशेषः पुरुषविद्याम्नायः। आयुरभिवृद्धिफलो ह्यसौ 'एष ह षोडशवर्षशतं जीवति य एवं वेद' (छा० ३।१६।७) इति समभिव्याहारात्। तस्माच्छाखान्तराधीतानां पुरुषविद्याधर्माणामाशीर्मन्त्रादीनामप्राप्तिस्तैत्तिरीयके ॥ २४ ॥

जो मरण में अवभृथत्व (अन्तिम स्नानत्व) आदि कल्पना में कुछ तुल्यता है, वह भी अति अल्पता के कारण अधिक विलक्षणता से अभिभूत होकर प्रत्यभिज्ञापन में असमर्थ है। और वस्तुतः तैत्तिरीयक में पुरुष के यज्ञरूपत्व नहीं सुना जाता है (विदुषो यज्ञस्य) यहाँ समानाधिकरण अभेदबोधक दो षष्ठी विभक्ति नहीं है कि (जो विद्वान् ही यज्ञ है उसका आत्मा यजमान है) क्योंकि पुरुष का मुख्य यज्ञत्व नहीं है इससे ये दोनों षष्ठी व्यधिकरण (भेद का बोधक) हैं कि (विद्वान् का जो यज्ञ जिस का आत्मा यजमान है) जिसमें पुरुष को यज्ञ के साथ मुख्य सम्बन्ध होता है। गति रहते मुख्य ही आश्रयण के योग्य होता है भाक्त (गौण) नहीं। आत्मा यजमान है इस प्रकार पुरुष का यजमानत्व को कहता हुवा वाक्य व्यधिकरणता (भेद) से ही इस पुरुष के सम्बन्ध को यज्ञ के साथ दर्शाता है। दूसरी बात है कि इस इस प्रकार के विद्वान् के इस प्रकार सिद्ध यज्ञतुल्य अनुवाद श्रुति के रहते पुरुष के यज्ञभाव का और आत्मादि के यजमानादि भाव को प्रतिपादन की इच्छा वाले का वाक्यभेद होगा। विद्वान् के यज्ञ का अनुवाद करके विद्वान् के अङ्गो द्वारा यज्ञाङ्ग की सिद्धि संपादन विधान में एकवाक्यता प्रतीत होती है। यह भेद भी है कि संन्यास सहित आत्मविद्या का प्रथम उपदेश करके उसके बाद (तस्यैव विदुष) इत्यादि उपक्रमण (आरम्भ) को देखते हुए, समझते हैं कि पूर्वोक्त आत्मविद्या का शेष (अङ्ग)

रूप प्रशंसार्थक ही यह आम्नाय श्रुति है, स्वतन्त्र नहीं है। इसी प्रकार संन्यासादि विधायक और इस अङ्गविधायक इन दोनों ही अनुवाक के एक ही फल, उपलब्ध करते हैं कि (ब्रह्म की महिमा को प्राप्त करता है। इतर पैङ्गी आदि के तो अनन्यशेष- (स्वतन्त्र) पुरुषविद्या का कथन है। वह आयु की अभिवृद्धिरूप फल वाला है (जो ऐसा जानता है वह एक सौ सोलह वर्ष जीता है) ऐसा कथन से उक्त फल प्रतीत होता है। इससे सिद्ध हुआ कि शाखान्तर मे पठित पुरुषविद्या के धर्म आशीष मन्त्रादि की तैत्तिरीयक में नहीं प्राप्ति होती है ॥ २४ ॥

वेधाद्यधिकरण ॥ १४ ॥

वेधमन्त्रप्रवर्ग्यादि विद्याङ्गमथवा न तु ।
विद्यासन्निधिपाठेन विद्याङ्गे मन्त्रकर्मणी ॥ १ ॥
लिङ्गेनान्यत्र मन्त्राणां वाक्येनापि च कर्मणाम् ।
विनियोगात् सन्निधिस्तु बाध्योऽतो नाङ्गता तयोः ॥ २ ॥

(सर्वं प्रविध्य) इत्यादि मन्त्र, और प्रवर्ग्यादि कर्मों का सन्निहित पठित विद्याओं में उपसंहार नहीं होता है। उसमें कारण है कि वेधादिरूप अर्थो का भेद है, अर्थात् विद्या में अनुपयुक्त मन्त्रों का अर्थ है, और कर्म भी विद्या मे अनुपयुक्त है। यहाँ संशय है कि वेधादि के बोधक मन्त्र और प्रवर्ग्यादि कर्म विद्या के अङ्ग हैं। अथवा नहीं हैं। पूर्वपक्ष है कि समीप में पाठ से अङ्ग हैं। सिद्धान्त है कि अङ्ग और अङ्गी के सम्बन्ध बोधक विधि को विनियोग विधि कहते हैं, सो विधि भी, श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या, इन छः प्रमाणों के बल से अङ्ग अङ्गी के सम्बन्ध का बोध कराती है। इन प्रमाणों में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा पर-पर दुर्बल होते हैं। जैसे कि श्रुति की अपेक्षा लिङ्ग दुर्बल होता है इन दोनों की जहाँ प्राप्ति होगी वहाँ श्रुति के अनुसार सम्बन्ध समझा जायगा, लिङ्ग के अनुसार नहीं। यहाँ निरपेक्ष शब्द को श्रुति कहते है, उसके विधात्री, अभिधात्री, विनियोक्त्री ये तीन भेद होते हैं, शब्द के सामर्थ्य को लिङ्ग कहते हैं। एकसाथ पाठ को वाक्य कहते हैं, अङ्गाङ्गी दोनों की परस्पर आकांक्षा को प्रकरण कहते हैं। देश की समानता को स्थान कहते हैं, सन्निधिपाठ भी एक प्रकार का स्थान है, वह लिङ्ग से बहुत दुर्बल है और वाक्य से भी दुर्बल है। इस लिङ्गरूप प्रमाण से मन्त्रों का अन्यत्र सम्बन्ध होता है, और वाक्य रूप प्रमाण से प्रवर्ग्यादि कर्मों का भी अन्यत्र सम्बन्ध होता है, लिङ्ग तथा वाक्य से सन्निधि पाठ का बाध होता है, अर्थात् उसके अनुसार सम्बन्ध, अङ्गाङ्गिभाव नहीं होता है। इससे उक्त मन्त्र और कर्म को विद्या की अङ्गता नहीं है ॥ १–२ ॥

वेधाद्यर्थभेदात् ॥ २५ ॥

अस्त्याथर्वणिकानामुपनिषदारम्भे मन्त्रसमाम्नायः—सर्वं प्रविध्य हृदयं

प्रविध्य धमनी प्रवृज्य शिरोऽभिप्रवृज्य त्रिधा विपृक्त' इत्यादि। स ताण्डिनाम्—'देव सवित प्रसुव यज्ञम्' इत्यादि। शाट्यायनिनाम्—'श्वेताश्वो हरितनीलोऽसि' इत्यादि। कठानां तैत्तिरीयकाणां च—'शं नो मित्रः शं वरुणः' (तै० १।१।१) इत्यादि। वाजसनेयिनां तूपनिषदारम्भे प्रवर्ग्यब्राह्मणं पठ्यते—'देवा ह वै सत्रं निषेदुः' इत्यादि। कौषीतकिनामप्यग्निष्टोमब्राह्मणम्—'ब्रह्म वा अग्निष्टोमो ब्रह्मैव तदहर्ब्रह्मणैव ते ब्रह्मोपयन्ति तेऽमृतत्वमाप्नुवन्ति य एतदहरुपयन्ति' इति। किमिमे सर्वे 'प्रविध्य' इत्यादयो मन्त्राः प्रवर्ग्यादीनि च कर्माणि विद्यासूपसंह्रियेरन्किंवा नोपसंह्रियेरन्निति मीमांसामहे। किं तावत्प्रतिभाति। उपसंहार एवैषां विद्यास्विति। कुतः? विद्याप्रधानानामुपनिषद्ग्रन्थानां समीपे पाठात्। नन्वेषां विद्यार्थतया विधानं नोपलभामहे। बाढम्। अनुपलभमाना अपि त्वनुमास्यामहे संनिधिसामर्थ्यात्। नहि संनिधेरर्थवत्त्वे संभवत्यकस्मात्संनिधानमाश्रयितुं युक्तम्।

आथर्वणिकों के उपनिषद् के आरम्भ में मन्त्र का पाठ है कि (हे देव! मेरे शत्रु के सब अङ्गों को विदीर्ण करो, हृदय का प्रवेधन करो, धमनी (शिरा) सब को तोड़ डालो, सिर को सर्वथा नष्ट करो, इस प्रकार मेरा शत्रु त्रिधा तीन प्रकार से विनष्ट हो जाय) इत्यादि। ताण्डियों के उपनिषद् के आरम्भ में मन्त्रपाठ है कि (हे सविता-सर्वोत्पादक सूर्यदेव! यज्ञ को यजपति को सिद्ध-सम्पन्न करो) इत्यादि। शाट्यायनियों के उपनिषद् के आरम्भ में है कि (उच्चैःश्रवा नामक जिसके श्वेत अश्व हैं, वह तुम नील इन्द्रमणि के समान हरित हो) इत्यादि। कठों और तैत्तिरीयकों के उपनिषद् के आरम्भ में मन्त्रपाठ है कि (मित्र-सूर्य, हमारे सुखकारक हों। वरुण हमारे सुखकारक हों) इत्यादि। वाजसनेयियों के उपनिषद् के आरम्भ में प्रवर्ग्य-ब्राह्मण ग्रन्थ में पढ़ा जाता है कि (इन्द्रादि देव सब किसी समय यज्ञ को सिद्ध करने के लिए उपस्थित हुए) कौषीतकियों के उपनिषद् के आरम्भ में भी अग्निष्टोम ब्राह्मण पढ़ा जाता है कि (अग्निष्टोम यज्ञ ब्रह्म ही है और वह जिस दिन में किया जाता है वह दिन भी ब्रह्म है, इससे जो इस दिन में साध्य कर्म का अनुष्ठान करता है, वह ब्रह्मरूप साधन से अपर ब्रह्म को प्राप्त करता है, वह क्रम से अमृतत्व को प्राप्त करता है) इति। प्रविध्य इत्यादि ये सब मन्त्र, और प्रवर्ग्यादि कर्म क्या विद्याओं में उपसंहृत होंगे अथवा नहीं उपसंहृत होंगे। ऐसी मीमांसा (विचारणा) करते हैं, तो प्रथम हमें क्या प्रतीत होता है कि इन का विद्याओं में उपसंहार ही होता है। क्योंकि विद्याप्रधान उपनिषद् ग्रन्थों के समीप में इनका पाठ है। यदि कहा जाय कि विद्यायक (विद्या के हेतु) रूप से इनका ज्ञान नहीं होता है, तो कहा जाता है कि इनमें विद्यार्थकता की अनुपलब्धि तो सत्य ही है, परन्तु संनिधि के सामर्थ्य से अनुपलभ्यमान विद्यार्थकताओं का भी अनुमान करेंगे। संनिधि का अर्थवत्त्व के सम्भव रहते वह आकस्मिक निरर्थक है ऐसा मानना युक्त नहीं है।

ननु नैषां मन्त्राणां विद्याविषयं किंचित्सामर्थ्यं पश्यामः, कथं च प्रवर्ग्यादीनि कर्माण्यन्यार्थत्वेनैव विनियुक्तानि सन्ति विद्यार्थत्वेनापि प्रतिपद्येमहीति। नैष दोषः। सामर्थ्यं तावन्मन्त्राणां विद्याविषयमपि किंचिच्छक्यं कल्पयितुं हृदयादिसंकीर्तनात्। हृदयादीनि हि प्रायेणोपासनेष्वायतनादिभावेनोपदिष्टानि तद्द्वारेण च हृदयं प्रविध्येत्येवंजातीयकानां मन्त्राणामुपपन्नमुपासनाङ्गत्वम्। दृष्टश्चोपासनेष्वपि मन्त्रविनियोगः 'भूः प्रपद्येऽमुनामुनामुना' (छा० ३।१५।३) इत्येवमादिः। तथा प्रवर्ग्यादीनां कर्मणामन्यत्रापि विनियुक्तानां सतामविरुद्धो विद्यासु विनियोगो वाजपेय इव बृहस्पतिसवस्येति।

शंका होती है कि इन मन्त्रों का विद्याविषयक कुछ भी सामार्थ्य नहीं देखते हैं। प्रवर्ग्यादि कर्म के विनियोग विधि से अन्यार्थकत्व रूप से विनियुक्त (सम्बद्ध) होते विद्यार्थकत्व रूप मे कैसे समझ सकते हैं। उत्तर है कि हृदयादि के संकीर्तन से मन्त्रों की विद्याविषयक भी कुछ सामर्थ्य कल्पना की जा सकती है। प्रायः उपासनाओं में हृदयादिक ही आश्रयरूप से उपदिष्ट हैं। उस हृदयादि के द्वारा (हृदयं प्रविध्य) इत्यादि प्रकार वाले मन्त्रों को विद्या उपासना का अङ्गत्व उपपन्न होता है। उपासनाओं में भी मन्त्र का विनियोग (सम्बन्ध) देखा गया है कि (अमुक नाम वाला पुत्र के साथ मैं इस भूलोक को प्राप्त करूँ) अर्थात् मुझे पुत्र का वियोग नहीं हो, पुत्र का दीर्घजीवित्व के लिए की गई उपासना में तीन वार पुत्र के नाम का ग्रहण पूर्वक इस मन्त्र का प्रयोग किया जाता है। इत्यादि इसी प्रकार अन्यत्र विनियुक्त भी प्रवर्ग्यादि कर्मों के होते, विद्या में भी विनियोग अविरुद्ध है। जैसे कि (ब्रह्मवर्चसकामो बृहस्पतिसवेन यजेत) ब्रह्मतेज की कामना वाला बृहस्पति सव से इष्ट का सम्पादन करे। इस वाक्य से ब्रह्मवर्चस फल में विनियुक्त बृहस्पति सव का भी (वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत) इस वाजपेय प्रकरणस्थ वाक्य से उस बृहस्पति सव का वाजपेय के उत्तर अङ्ग रूप से सम्बन्ध होता है, इसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये। यदि दोनों स्थान के बृहस्पति सव भिन्न कर्म हों तो भी नाम की तुल्यता से उदाहरण दिया है। तथा यज्ञक्रतु में विनियुक्त खादिरत्वादि का विद्या में विनियोग होता है सो उदाहरण है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नैषामुपसंहारो विद्यास्विति। कस्मात्? वेधाद्यर्थभेदात्। हृदयं प्रविध्येत्येवंजातीयकानां हि मन्त्राणां येऽर्था हृदयवेधादयो भिन्नाः, अनभिसंबद्धास्त उपनिषदुदिताभिर्विद्याभिः, न तेषां ताभिः संगन्तुं सामर्थ्यमस्ति। ननु हृदयस्योपासनेष्वप्युपयोगात्तद्द्वारक उपासनासम्बन्ध उपन्यस्तः। नेत्युच्यते, हृदयमात्रसंकीर्तनस्य ह्येवमुपयोगः कथंचिदुत्प्रेक्ष्येत, नच हृदयमात्रमत्र मन्त्रार्थः। हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्येत्येवंजातीयको हि न सकलो मन्त्रार्थो विद्याभिरभिसम्बध्यते, आभिचारिकविषयो ह्येषोऽर्थस्तस्मादाभिचारिकेण कर्मणा सर्वं प्रविध्येत्येतस्य मन्त्रस्याभिस-

म्बन्धः । तथा 'देव सवितः प्रसुव यज्ञम्' इत्यस्य यज्ञप्रसवलिङ्गत्वाद्यज्ञेन कर्मणाभिसम्बन्धः । तद्विशेषसम्बन्धस्तु प्रमाणान्तरादनुसर्तव्यः । एवमन्येषामपि मन्त्राणां केषांचिल्लिङ्गेन केषांचिद्वचनेन केषांचित्प्रमाणान्तरेणेत्येवमर्थान्तरेषु विनियुक्तानां रहस्यपठितानामपि सतां न सन्निधिमात्रेण विद्याशेषत्वोपपत्तिः । दुर्बलो हि सन्निधिः श्रुत्यादिभ्य इत्युक्तं प्रथमे तन्त्रे 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै० सू० ३।३।१३) इत्यत्र । तथा कर्मणामपि प्रवर्ग्यादीनामन्यत्र विनियुक्तानां न विद्याशेषत्वोपपत्तिः, नह्येषां विद्याभिः सहैकार्थ्यं किंचिदस्ति । वाजपेये तु बृहस्पतिसवस्य स्पष्टं विनियोगान्तरम्—'वाजपेयेनेष्ट्वा बृहस्पतिसवेन यजेत' इति । अपि चैकोऽयं प्रवर्ग्यः सकृदुत्पन्नो बलीयसा प्रमाणेनान्यत्र विनियुक्तो न दुर्बलेन प्रमाणेनान्यत्रापि विनियोगमर्हति । अगृह्यमाणविशेषत्वे हि प्रमाणयोरेतदेवं स्यान्नतु बलवदबलवतोः, प्रमाणयोरगृह्यमाणविशेषता संभवति, बलवदबलवत्त्वविशेषादेव । तस्मादेवंजातीयकानां मन्त्राणां कर्मणां वा न सन्निधिपाठमात्रेण विद्याशेषत्वमाशङ्कितव्यम्, अरण्यानुवचनादिधर्मसामान्यात्तु सन्निधिपाठ इति संतोष्टव्यम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार अन्यत्र विनियुक्त मन्त्रों को विद्याङ्गत्व प्राप्त होने पर कहते हैं कि इन मन्त्रों का विद्याओं में उपसंहार नहीं होता है। क्योंकि वेधादि अर्थों का भेद है, जिसमें (हृदयं प्रविध्य) इस प्रकार के मन्त्रों के जो हृदय-वेधनादि भिन्न अर्थ हैं, सो उपनिषद् में कथित विद्याओं के साथ सम्बन्ध से रहित है, उन विद्याओं के साथ उन मन्त्रों को संगत (सम्बद्ध) होने का सामर्थ्य नहीं है। यदि कहो कि हृदय का उपासनाओं में भी उपयोग होने से उस हृदय द्वारा उपासना के साथ मन्त्र का सम्बन्ध कहा जा चुका है, तो कहा जाता है कि विद्या में उपयोग नहीं है। क्योंकि इस कथित रीति से भी मन्त्र में हृदयमात्र संकीर्तन का उपयोग कथंचित् उत्प्रेक्षित (कल्पित) होगा, परन्तु यह हृदयमात्र ही सम्पूर्ण मन्त्र का अर्थ नहीं है (हृदय का भेदन करो, धमनियों को तोडो, इस प्रकार का सम्पूर्ण मन्त्र का अर्थ विद्याओं के साथ साक्षात् सर्वथा सम्बन्ध वाला नहीं होता है। वस्तुतः आभिचारिक (मारक) कर्मविषयक यह मन्त्रार्थ है, जिससे आभिचारिक कर्म के साथ (सर्वं प्रविध्य) इत्यादि मन्त्र का सर्वथा सम्बन्ध है। इसी प्रकार (हे सवितः देव ! यज्ञ को सिद्ध करो) इस मन्त्र का यज्ञ के प्रसव रूप लिङ्ग से यज्ञ कर्म के साथ सम्बन्ध है। किस मन्त्र का किस यज्ञ कर्म के साथ सम्बन्ध है, इस प्रकार के विशेष सम्बन्ध प्रमाणान्तर से समझने योग्य है। इसी प्रकार अन्य मन्त्रों में भी किसी का लिङ्ग से, किसी का वचन से, किसी का प्रकरणादि रूप प्रमाणान्तर से अर्थान्तर में विनियोग है। इस प्रकार अर्थान्तरों में विनियुक्तों का रहस्य (उपनिषद्) में पठित होते भी सन्निधिमात्र से विद्या के शेषत्व (अङ्गत्व) की उपपत्ति नहीं होती है। सन्निधि (स्थान) श्रुति और लिङ्गादि से दुर्बल है, इस

प्रकार पूर्व मीमांसा में कहा गया है कि श्रुति (निरपेक्ष विधि आदि) लिङ्ग (शब्द-सामर्थ्य) वाक्य (साथ पाठ) प्रकरण (अङ्गाङ्गी की आकांक्षा) स्थान (पाठ वा अनुष्ठानदेश की समानता) और यौगिक शब्द रूप समाख्या इन के समवाय में (समान विषय मे दो के विरोध मे) पूर्व पूर्व से पर पर की दुर्बलता होती है क्योंकि पूर्व पूर्व की अपेक्षा पर पर को अपने अर्थ के बोध कराने में विप्रकर्षता (दूरता) होती है। भाव है कि श्रुति अपने अर्थ को बोध कराने में किसी की अपेक्षा विना बोध कराती है, लिङ्ग श्रुति की कल्पनापूर्वक अपने अर्थ को बोध करता है इससे श्रुति और लिङ्ग का जहाँ विरोध हो वहाँ लिङ्ग जिस काल में श्रुति की कल्पना में प्रवृत्त होता है उसी काल में उसे बाध कर श्रुति स्वार्थ का बोध कराती है, श्रुति और लिङ्ग का विरोध के उदाहरण मन्त्रादि है कि (कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र ! सश्चसि दाशुषे) ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते। हे इन्द्र ! कभी तुम घातक नहीं होते हो, किन्तु आहुति देने वाला यजमान के लिए प्रसन्न होते हो। इस मन्त्र में इन्द्र के प्रकाशन की शक्ति है, इससे इसके द्वारा इन्द्र के उपस्थान की प्राप्ति होते भी ऐन्द्री इन्द्रदेवताक मन्त्र द्वारा गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करना चाहिये। इस श्रुतिगत तृतीया विभक्ति रूप श्रुति से गार्हपत्याग्नि के उपस्थान-करणत्व के बोध हो जाने से उस मन्त्र से इन्द्र का उपस्थान बाधित होता है। इसी प्रकार लिंग और वाक्य के विरोध में लिङ्ग से वाक्य बाधित होता है। सब के विरोध का उदाहरण अन्यत्र ज्ञेय हैं, श्रुति सब से प्रबल है, समाख्या सब से दुर्बल है। मध्य के पूर्व-पूर्व से पर-पर दुर्बल है पूर्व-पूर्व प्रबल हैं। प्रकृत में इतना ही उपयोग है कि 'सन्निधान लिङ्गादि से दुर्बल है' इससे लिङ्गादि से बाधित होता है, उससे लिङ्गादि द्वारा अन्यत्र विनियुक्त मन्त्रों का दुर्बल सन्निधि (स्थान) से विद्या में सम्बन्ध नहीं होता है। इसी प्रकार अन्यत्र विनियुक्त (सम्बद्ध) प्रवर्ग्यादि कर्मों कोभी विद्या के शेषत्व (अङ्गत्व) की उपपत्ति नहीं हो सकती है, जिससे इन कर्मों को विद्या के साथ एकार्थता कुछ नहीं है। अर्थात् इन कर्मों के विद्या के उपकारकत्व में और विद्याओं के साथ एकफलत्व मे कोई प्रमाण नहीं है। वाजपेय में तो स्पष्ट ही बृहस्पतिसवको विनियोजक वचनान्तर है कि (वाजपेय से यजन करके बृहस्पति सवसे यजन करे) और दूसरी बात है कि एक यह प्रवर्ग्यरूप कर्म एक बार उत्पन्न होने पर और श्रुति, लिङ्ग, वाक्य रूप प्रबल प्रमाणोंसे अन्यत्र विनियुक्त होने पर दुर्बल सन्निधिरूप प्रमाण से कहीं अन्यत्र भी विनि-योग के योग्य नहीं है। जिससे प्रमाणों के अगृहीत विशेष (भेद) वत्ता होते, अर्थात् दुर्बलत्व-प्रबलत्व के ज्ञान नहीं रहते यह ऐसा हो सकता है कि एक प्रमाण से कहीं विनियुक्त का ही अन्य प्रमाण से अन्यत्र भी उस का विनियोग हो। परन्तु बली और दुर्बल प्रमाणों की अगृहीतविशेषता का सम्भव नहीं है, बलवत्व-अबलत्व विशेष (भेद) से ही विशेषता गृहीत है। उससे उक्त प्रकार वाले मन्त्रों को वा कर्मों को सन्निधि पाठमात्र से विद्या के शेषत्व की आशंका नहीं करनी चाहिए। यदि कहो कि वेधादि वाक्यो का उपनिषदो के साथ पाठ को क्या गति है, तो कहा जाता है कि अरण्य में

अनुवचनादिरूप धर्म की समानता से सन्निधि पाठ है ऐसा समझ कर संतोष करना चाहिए ॥ २५ ॥

हान्यधिकरण ॥ १५ ॥

उपायनमनाहार्यं हानायाह्रियतेऽथवा । अश्रुतत्वादनाक्षेपाद्विद्याभेदाच्च नाहृति ॥ १ ॥
विद्याभेदेऽप्यर्थवाद आहार्यं स्तुतिसाम्यतः । हानस्य प्रत्यभिज्ञानादेकविंशादिवादवत् ॥ २ ॥
विधूननं चालनं स्याद्धानं वा चालनं भवेत् । दोधूयन्ते ध्वजाग्राणीत्यादौ चालनदर्शनात् ॥ ३ ॥
हानमेव भवेद्वाक्यशेषेऽन्योपायनश्रवात् । कर्त्रा न ह्यपरित्यक्तमन्यः स्वीकर्तुमर्हति ॥ ४ ॥

सगुण और निर्गुण विद्या प्रकरण में कहीं तो विद्वान के पुण्य पाप की निवृत्ति लिखा है। कहीं लिखा है कि विद्वान के मित्र और शत्रु क्रम से पुण्य और पाप का ग्रहण करते हैं। कहीं निवृत्ति और अन्य से ग्रहण दोनों लिखा है। जहाँ अन्य से ग्रहण-मात्र लिखा है, वहाँ निवृत्ति अर्थतः सिद्ध होता है। किन्तु जहाँ केवल हानि निवृत्ति लिखा है, वहाँ के लिए कहते हैं, कि केवल हानि के स्थान में उपायन ग्रहण का सम्बन्ध समझना चाहिए क्योंकि हानि का शेषत्व उपायन शब्द में एक स्थान में गृहीत हो चुका है। उसका अन्य स्थान में भी कुशा आदि के समान ग्रहण होगा, वह पूर्व मीमांसा में कहा गया है। एक प्रकार की यह सूत्राक्षर की योजना है, तु शब्द का केवल अर्थ है ॥ अथवा पापादि की निवृत्ति के स्थान में विधूनन शब्द आया है उस का कम्पन अर्थ भी हो सकता है इससे कहते हैं कि हानि अर्थ में ही विधूनन शब्द है क्योंकि वह उपायन शब्द का शेष है, और वह एकत्र पठित भी अन्य स्थान में निर्णय का हेतु कुशादि के समान होगा इत्यादि ॥ यहाँ संशय है कि केवल हानि के स्थान में उपायन का उपसंहार करना चाहिए अथवा नहीं करना चाहिये। पूर्वपक्ष है कि अश्रुत होने से, और उपायन के विना भी हान (त्याग) के सम्भव से आक्षेप के अभाव से, और विद्या के भेद से उपसंहार नहीं होता है। सिद्धान्त है कि उपायन का वर्णन अर्थवाद रूप है, इससे स्तुति की तुल्यता के कारण विद्या के भेद रहते भी उपसंहार के योग्य है, और प्रत्यभिज्ञा से हानि दोनों स्थान में एक सिद्ध होती है। उस को उपायन के साथ सम्बन्ध है, जैसे कि एकविंशादि अर्थवाद को अन्य अर्थवाद के साथ सम्बन्ध होता है। विधूनन चालन (कम्पन) रूप होगा या हान (त्याग) होगा। यह संशय है। पूर्व पक्ष है कि ध्वजा के अग्रभाग बार बार अत्यन्त काँप रहे हैं ऐसा प्रयोग के देखने से चालन ही विधूनन का अर्थ होगा। सिद्धान्त है कि वाक्यशेष में अन्य से ग्रहण के सुनने से उस का त्याग ही अर्थ होगा, क्योंकि कर्ता से अपरित्यक्त को अन्य स्वीकार (ग्रहण) नहीं कर सकता है ॥ १–४ ॥

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाछन्दःस्तुत्यु-पगानवत्तदुक्तम् ॥ २६ ॥

अस्ति ताण्डिना श्रुतिः—'अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव

राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामि' (छा० ८।१३।१) इति। तथाथर्वणिकानाम् 'तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मुण्ड० ३।२।८) इति। तथा शाट्यायनिनः पठन्ति 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति। तथैव कौषीतकिनः 'तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते तस्य प्रियाः ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्' (कौ० १।४) इति। तदिह क्वचित्सुकृतदुष्कृतयोर्हानं श्रूयते क्वचित्तयोरेव विभागेन प्रियैरप्रियैश्चोपायनं क्वचित्तूभयमपि हानमुपायनं च। तद्यत्रोभयं श्रूयते तत्र तावन्न किंचिद्वक्तव्यमस्ति। यत्राप्युपायनमेव श्रूयते न हानं तत्राप्यर्थादेव हानं सन्निपतति, अन्यैरात्मीययोः सुकृतदुष्कृतयोरुपेयमानयोरावश्यकत्वात्तद्धानस्य। यत्र तु हानमेव श्रूयते नोपायनं तत्रोपायनं संनिपतेद्वा न वेति विचिकित्सायामश्रवणादसंनिपातः, विद्यान्तरगोचरत्वाच्च शाखान्तरीयस्य श्रवणस्य। अपि चात्मकर्तृकं सुकृतदुष्कृतयोर्हानं परकर्तृकं तूपायनं तयोरसत्यावश्यकभावे कथं हानेनोपायनमाक्षिप्येत। तस्मादसंनिपातो हानावुपायनस्येति।

ताण्डियों की श्रुति है कि (जैसे घोड़ा धूलियुक्त अपने रोमों को त्याग कर—झार कर निर्मल होता है, वैसे मैं ज्ञान से पाप (धर्माधर्मादि) को त्याग कर निर्मल चित्त वाला होकर, और राहुग्रस्त चन्द्रमा जैसे राहु के मुख से मुक्त होकर प्रकाशित होता है, वैसे कृतात्मा कृतार्थ स्वरूप मैं शरीर को त्याग कर देहाभिमान से रहित होकर अकृत नित्य ब्रह्मात्मक लोक को प्राप्त करने वाला हूँ।) इसी प्रकार आथर्वणिकों की श्रुति है कि (जैसे बहती हुई नदियाँ नाम-रूप को त्याग कर समुद्र में लीन होती हैं, वैसे ही विद्वान भी अविद्याकृत नाम-रूप से विभक्त हो कर पर से पर दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है) और (विद्वान् जब स्वयं प्रकाशकर्ता ईश ब्रह्मयोनि पुरुष को देखता है, तब वह विद्वान् पाप-पुण्य को नष्ट करके और निरञ्जन, निर्लेप, क्लेशरहित होकर परम साम्य ब्रह्म को प्राप्त करता है।) इसी प्रकार शाट्यायनी पढ़ते हैं कि (उस मृत विद्वान् के पुत्र-दाय-धन लेते हैं, मित्र पुण्य लेते हैं, शत्रु पाप लेते हैं) इति। इसी प्रकार कौषीतकी लोग पढ़ते है कि (ज्ञानी उस ज्ञान से सुकृत और दुष्कृत को त्यागता है, तो उसके प्रिय ज्ञाति सुकृत लेते हैं, और अप्रिय दुष्कृत लेते हैं) इत्यादि। इससे यहाँ कहीं तो सुकृत और दुष्कृत का हान सुना जाता है और कहीं उन दोनों का ही विभागपूर्वक प्रिय और अप्रिय से उपायन (ग्रहण) सुना जाता है, और कहीं हान और उपायन दोनों सुने जाते हैं। उनमें जहाँ दोनों सुने जाते हैं वहाँ तो कुछ वक्तव्य नहीं है; और जहाँ भी उपाय नहीं सुना जाता है, हान नहीं सुना जाता है, वहाँ भी अर्थात् (अर्थ से) ही हान प्राप्त होता है, जिससे जब अन्य से अपने सुकृत और दुष्कृत गृहीत होंगे, तब उनका त्याग आवश्यक है, अत्यक्त का दूसरों से ग्रहण नहीं हो सकता है। परन्तु जहाँ

हान ही सुना जाता है, उपायन नहीं सुना जाता है, वहाँ उपायन प्राप्त होगा वा नहीं प्राप्त होगा, ऐसा संशय होने पर, पूर्वपक्ष होता है कि अश्रुत होने से नहीं प्राप्त होगा। शाखान्तर के उपायन का श्रवण अन्य विद्याविषयक है इससे भी उसका ग्रहण नहीं होगा। यह भी बात है कि सुकृत-दुष्कृत का त्याग आत्मकर्तृक है, अपने से किया जाता है और उपायन तो अन्यकर्तृक है, हान और त्याग इन दोनों के आवश्यक भाव (नियत सम्बन्ध) नहीं रहने से हान से उपायन का आक्षेप कैसे होगा, इससे हानि में उपायन की प्राप्ति नहीं होती है॥

अस्यां प्राप्तौ पठति—हानौ त्विति। हानौ त्वेतस्यां केवलायामपि श्रूयमाणायामुपायनं संनिपतितुमर्हति, तच्छेषत्वात्। हानशब्दशेषो ह्युपायनशब्दः समधिगतः कौषीतकिरहस्ये। तस्मादन्यत्र केवलहानशब्दश्रवणेऽप्युपायनानुवृत्तिः। यदुक्तम्—अश्रवणाद्विद्यान्तरगोचरत्वादनावश्यकत्वाच्चासंनिपात—इति, तदुच्यते। भवेदेषा व्यवस्थोक्तिर्यद्यनुष्ठेयं किंचिदन्यत्र श्रुतमन्यत्र निनीष्येत, नत्विह हानमुपायनं वानुष्ठेयत्वेन संकीर्त्यते। विद्यास्तुत्यर्थं त्वनयोः संकीर्तनम्—इत्थं महाभागा विद्या यत्सामर्थ्यादस्य विदुषः सुकृतदुष्कृते संसारकारणभूते विधूयेते, ते चास्य सुहृद्द्विषत्सु निविशेते इति। स्तुत्यर्थे चास्मिन्संकीर्तने हानानन्तरभावित्वेनोपायनस्य क्वचिच्छ्रुतत्वादन्यत्रापि हानश्रुतावुपायनानुवृत्तिं मन्यते स्तुतिप्रकर्षलाभाय। प्रसिद्धा चार्थवादान्तरापेक्षाऽर्थवादान्तरप्रवृत्तिः—'एकविंशो वा इतोऽसावादित्य' (छा० २।१०।५) इत्येवमादिषु। कथं हीहैकविंशतादित्यस्याभिधीयेतानपेक्ष्यमाणेऽर्थवादान्तरे 'द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः' इत्येतस्मिन्। तथा 'त्रिष्टुभौ भवतः सेन्द्रियत्वाय' इत्येवमादिषु वादेष्वपि 'इन्द्रियं वै त्रिष्टुप्' इत्येवमाद्यर्थवादान्तरापेक्षा दृश्यते। विद्यास्तुत्यर्थत्वाच्चास्योपायनवादस्य कथमन्यदीये सुकृतदुष्कृते अन्यैरभ्युपेयेते इति नातीवाभिनिवेष्टव्यम्। उपायनशब्दशेषत्वादिति तु शब्दशब्दं समुच्चारयन्स्तुत्यर्थामेव हानावुपायनानुवृत्तिं सूचयति।

इस प्राप्ति पूर्वपक्ष के होने पर पढ़ते हैं कि हानौ तु इति। इस केवल हानि के भी श्रूयमाण होने (सुनने) पर उपायन प्राप्त होने के योग्य है। जिससे उपायन हान का शेष है, इसस शेषता से वह प्राप्त होता है। कौषीतकी रहस्य में हान शब्द का शेष रूप उपायन शब्द समधिगत (अनुभूत) हुआ है। इसस शेषत्व अपेक्षितत्व होने से अन्यत्र केवल हान शब्द के सुनने पर भी उपायन की अनुवृत्ति (सम्बन्ध) होता है, अश्व-रोम के दृष्टान्त से त्यक्त पुण्य पाप को अन्यत्र स्थिति की अपेक्षा होने से अन्य से उपादान वक्तव्य है। जो यह कहा था कि अश्रवण से, विद्यान्तरविषयक होने से और अनावश्यकता से उपायन की अप्राप्ति होती है, वहाँ कहा जाता है कि इस प्रकार यह व्यवस्था की उक्ति हो सकती कि यदि अनुष्ठेय (अनुष्ठान के योग्य) अन्यत्र श्रुत किसी कर्म को अन्यत्र ले जाने की इच्छा की जाय। यहाँ तो हान वा

उपायन अनुष्ठेय (कर्तव्य) रूप से नहीं कहा जाता है, किन्तु विद्या की स्तुति के लिए इन दोनों का कथन है कि ऐसी महाभाग्य वाली भाग्य देने वाली विद्या है कि जिसके सामर्थ्य से संसार के कारण रूप विद्वान् के पुण्य और पाप निवृत्त हो जाते हैं, और वे दोनों विद्वान् के मित्र और शत्रुओं में निविष्ट-प्रविष्ट होते हैं। इस संकीर्तन के स्तुति के लिए होने पर, हान के अनन्तरभावी (होने वाला) रूप से उपायन के कहीं श्रुतत्व से अन्यत्र भी हान के श्रवण होने पर स्तुति की प्रकर्षता के लाभ के लिए उपायन की अनुवृत्ति को सूत्रकार मानते हैं। यदि कहो कि अर्थवाद का विधि के साथ सम्बन्ध प्रसिद्ध है, दूसरे अर्थवाद के साथ नहीं, और यहाँ हान उपायन यदि दोनों अर्थवाद हैं, तो इनका सम्बन्ध कैसा ? तो कहा जाता है कि अर्थवादान्तर की अपेक्षा से किसी अन्य अर्थवाद की प्रवृत्ति प्रसिद्ध है, अपेक्षात्मक सम्बन्ध अर्थवाद का प्रसिद्ध है कि-(इस लोक से वह आदित्य इक्कीसवां है) अर्थवाद में अन्य अर्थवाद की अपेक्षा है। दूसरे अर्थवाद की अपेक्षा नहीं करने पर यहाँ आदित्य की एकविंशता कैसे कही जायगी। (बारह मास, हेमन्त-शिशिर की एकता से पाँच ऋतु, तीन ये लोक और वह आदित्य इक्कीसवाँ है) इसकी अपेक्षा के बिना केवल आदित्य को एकविंश नही कहा जा सकता है। इसी प्रकार (पुरुषरूप से कल्पित यज्ञ के सेन्द्रियत्व के लिए दो त्रिष्टुभ होते हैं) अर्थवाद में त्रिष्टुभ छन्द सेन्द्रियता के लिये कैसे होगा ऐसी आकांक्षा होने पर (इन्द्रियं वै त्रिष्टुप्) इत्यादि अन्य अर्थवाद की अपेक्षा आकांक्षा की निवृत्ति के लिए देखी जाती है। उपायनवाद के विद्या की स्तुति के लिए होने से अन्य के अमूर्त स्वरूप पुण्य और पाप अन्य लोगों से कैसे गृहीत होंगे, इस प्रकार अत्यन्त अभिनिवेश (आग्रह) नहीं करना चाहिये। अर्थात् ज्ञानी की सेवा और शत्रुता से पुण्य-पाप की उत्पत्ति में तात्पर्य है इत्यादि ॥ (उपायन शब्दशेषत्वात्) इस सूत्रांश में शब्द इस शब्द का उच्चारण करते हुए सूत्रकार हानि में उपायन की अनुवृत्ति को स्तुत्यर्थक सूचित करते हैं।

गुणोपसंहारविवक्षायां ह्युपायनार्थस्यैव हानानुवृत्तिं ब्रूयात्। तस्माद् गुणोपसंहारविचारप्रसङ्गेन स्तुत्युपसंहारप्रदर्शनार्थमिदं सूत्रम्। कुशाछन्दःस्तुत्युपगानवदित्युपमोपादानम्। तद्यथा भाल्लविनाम्—'कुशा वानस्पत्याः स्थ ता मा पात' इत्येतस्मिन्निगमे कुशानामविशेषेण वनस्पतियोनित्वेन श्रवणे शाट्यायनिनामौदुम्बराः कुशा इति विशेषवचनादौदुम्बर्यः कुशा आश्रीयन्ते। यथा च कचिद्देवासुरच्छन्दसामविशेषेण पौर्वापर्यप्रसङ्गे 'देवच्छन्दांसि पूर्वाणि' इति पैङ्ग्याम्नानात्प्रतीयते। यथा च षोडशिस्तोत्रे केषांचित्कालाविशेषप्राप्तौ 'समयाध्युषिते सूर्ये' इत्यार्चश्रुतेः कालविशेषप्रतिपत्तिः। यथैव चाविशेषेणोपगानं केचित्समामनन्ति विशेषेण भाल्लविनः। यथैतेषु कुशादिषु श्रुत्यन्तरगतविशेषान्वय एवं हानावप्युपायनान्वय इत्यर्थः। श्रुत्यन्तरकृतं हि विशेषं श्रुत्यन्तरेऽनभ्युपगच्छतः सर्वत्रैव विकल्पः स्यात्। स चान्याय्यः सत्यां गतौ। तदुक्तं

द्वादशलक्षण्याम्–'अपि तु वाक्यशेषत्वादितरपर्युदासः स्यात्प्रतिषेधे विकल्पः स्यात्' इति।

उपायन की विवक्षा होने पर उपायन का उपसंहार सूत्रकार कहते, और शब्द का उपसंहार कहते हैं इससे स्तुति का सूचन करते हैं इससे गुण के उपसंहार के प्रसंग से स्तुति के उपसंहार का प्रदर्शन के लिए यह सूत्र है। शाखान्तर में वर्तमान विशेष पदार्थ अन्य शाखा मे ग्राह्य होता है, इस अर्थ मे कुशा, छन्द और उपगान, वत्। यह उपमा (दृष्टान्त) का उपादान (ग्रहण) सूत्रकार ने किया है। उद्गाता के स्तोत्र की गिनती के लिए लकडी की बनी हुई शलाका को कुशा कहते हैं। वह उपमान इस प्रकार है कि (हे कुशार्ये! तुम वनस्पतिजन्य हो, तुम मेरी रक्षा करो) इस भाल्लवियो के निगम मे कुशानामविशेष द्वारा और वनस्पतियोनित्व द्वारा कुशा के श्रवण होने पर, शाट्यायनिया के (औदुम्बरा कुशा) गूलर के कुश होते हैं, इस विशेष वचन से उदुम्बर काष्ठ से रचित कुशाओ का आश्रयण किया जाता है। जिस प्रकार देवछन्द और असुरछन्द होते हैं, वहाँ नवाक्षरान्त असुरछन्द होते हैं। दशाक्षरादि वाले दैव छन्द होते हैं। वहाँ (छन्दोभिः स्तुवते) छन्दो से स्तुति करते हैं। इत्यादि वचन से स्तुति मे कहीं देव और असुरछन्दो के अविशेष रूप से पूर्वापर भाव के प्राप्त होने पर (देवछन्द पूर्व होते हैं) इस पैङ्गी वचन से विशेष प्रतीत होता है। जैसे षोडशी ग्रह के स्तोत्र मे किसी को काल की अविशेषता की प्राप्ति होने पर (सूर्योदय की प्राप्ति काल मे स्तुति करे) इस ऋचा अध्ययन वालो की श्रुति से काल विशेष का ज्ञान होता है। अथवा सूर्य के अर्द्धास्तमित काल को समयाध्युषित कहते हैं। जैसे ही कोई अविशेषरूप से उपगान करते हैं कि (ऋत्विज उपगायन्ति) ऋत्विक् सब उपगान करते हैं। भाल्लवी विशेषरूप मे उपगान करते हैं कि (नाध्वर्युरुपगायति) अध्वर्यु उपगान नही करता है। इससे अध्वर्यु भिन्न ऋत्विक् उपगान करते हैं यह विशेष ज्ञान होता है। जैसे इन कुशा आदिको मे श्रुत्यन्तरगत विशेष का अन्वय होता है, इसी प्रकार हानि मे उपायन का अन्वय है यह अर्थ है। जिससे श्रुत्यन्तर कृत विशेष को श्रुत्यन्तर मे नही मानने वाले को सर्वत्र ही विकल्प प्राप्त होगा, अर्थात् अविशेष श्रुति से कहीं अन्य काष्ठ की भी कुशार्ये होगी, कहीं विशेष श्रुति से उदुम्बर की होगी। सामान्य श्रुति मे कहीं अध्वर्यु भी उपगान करेगा, निषेध श्रुति से कही उपगान नही करेगा, इस प्रकार का विकल्प सर्वत्र एकवाक्यता बिना प्राप्त होगा और गति रहते एकवाक्यता रूप उपाय के रहते वह विकल्प अन्याय्य है, व्रीहि यव वाक्य मे तो गति के अभाव से विकल्प माना जाता है, यह द्वादशलक्षणी (द्वादश अध्याय वाली) पूर्व मीमांसा मे कहा है कि (दीक्षित हवन नहीं करता है, दान नहीं देता है, पाक नहीं करता है) इस प्रकार से दीक्षित के लिए हवनादि का प्रतिषेध है कि हवनादि नही करे (जब तक जीये तब तक अग्निहोत्र करे,

प्रतिदिन दान दे) इत्यादि से सदा दान-हवनादि का विधान है, वहाँ शास्त्र प्राप्त का निषेध सर्वथा नहीं हो सकता है। इससे निषेध मानने पर विकल्प की प्राप्ति होगी। इसलिए निषेधक वाक्य को विधिवाक्य का शेष अंग बना कर पर्युदास का आश्रयण किया जाता है कि दीक्षित से अन्य हवन-दानादि करता है इत्यादि 'सूत्र का भाव है ॥

अथ वैतास्वेव विधूननश्रुतिष्वेतेन सूत्रेणैतच्चिन्तयितव्यम्–किमनेन विधूननवचनेन सुकृतदुष्कृतयोर्हानमभिधीयते किंवाऽर्थान्तरमिति। तत्र चैवं प्रापयितव्यम्। न हानं विधूननमभिधीयते 'धूञ् कम्पने' इति स्मरणात्, दोधूयन्ते ध्वजाग्राणीति च वायुना चाल्यमानेषु ध्वजाग्रेषु प्रयोगदर्शनात्। तस्माच्चालनं विधूननमभिधीयते। चालनं तु सुकृतदुष्कृतयोः कंचित्कालं फलप्रतिबन्धनादित्येवं प्रापय्य प्रतिवक्तव्यम्।

अथवा इन ही विधूनन बोधक श्रुतियों में इस सूत्र के द्वारा यह विचार कर्तव्य है कि क्या इस विधूनन के कथन से सुकृत और दुष्कृत का हान (त्याग) कहा जाता है, अथवा कोई अन्य अर्थ कहा जाता है। ऐसा संशय होने पर वहाँ ऐसा पूर्वपक्ष को प्राप्त कराना चाहिए कि (धूञ् कम्पने) धूञ् धातु कम्पन अर्थ में है। इस स्मरण (पाणिनीय का वचन) से विधूनन हान (त्याग) नहीं कहा जाता है। ध्वजा के अग्रभाग बार-बार हिलते-डोलते हैं, इस प्रकार वायु से चाल्यमान (कम्पित) ध्वजाग्र विषयक प्रयोग के देखने से भी विधूनन का त्याग अर्थ नहीं है, इससे चालन को विधूनन कहा जाता है, यहाँ अमूर्त पुण्य-पाप का ध्वजाग्रादि के समान चालन के असम्भव से उनका चालन तो कुछ काल तक विद्या से फल का प्रतिबन्धन (निरोध) से कहा जाता है, अर्थात् विद्या के प्रभाव से उनकी फलदान शक्ति का प्रतिबन्ध ही उनका चालन है।

हानावेवैष विधूननशब्दो वर्तितुमर्हति, उपायनशब्दशेषत्वात्। नहि परपरिग्रहभूतयोः सुकृतदुष्कृतयोरप्रहीणयोः परैरुपायनं संभवति। यद्यपीदं परकीययोः सुकृतदुष्कृतयोः परैरुपायनं नाञ्जसं संभाव्यते तथापि तत्संकीर्तनात्तावत्तदानुगुण्येन हानमेव विधूननं नामेति निर्णेतुं शक्यते। क्वचिदपि चेदं विधूननसंनिधावुपायनं श्रूयमाणं कुशाच्छन्दःस्तुत्युपगानवद्विधूननश्रुत्या सर्वत्रापेक्ष्यमाणं सार्वत्रिकं निर्णयकारणं संपद्यते। नच चालनं ध्वजाग्रवत्सुकृतदुष्कृतयोर्मुख्यं संभवति, अद्रव्यत्वात्। अश्वश्च रोमाणि विधुन्वानस्त्यजन्रजः सहैव तेन रोमाण्यपि जीर्णानि शातयति 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' (छा० ८।१३।१) इति च ब्राह्मणम्। अनेकार्थत्वाभ्युपगमाच्च धातूनां न स्मरणविरोधः। तदुक्तमिति व्याख्यातम् ॥ २६ ॥

इस प्रकार पूर्वपक्ष को प्राप्त करके प्रतिषेध करना चाहिये कि हानि अर्थ में ही विधूनन शब्द वर्तने योग्य है, क्योंकि वह उपायन शब्द का शेष है। जहाँ उपायन शब्द

नहीं श्रुत है वहाँ भी एवत्र श्रुत उपायन की उपसहार मे प्राप्ति होती है। अन्य के परिग्रह (मूलधन) रूप, उससे अग्रहीन (अत्यक्त) पुण्य-पाप का अन्य लोगो से ग्रहण नही किया जा सकता है। अर्थात् अत्यक्त का ग्रहण असम्भव है, इससे विधूनन का त्याग ही अर्थ है। यद्यपि यह अन्य के पुण्य-पाप का किसी अन्य से ग्रहण होना तत्त्वत. सम्भावित (सिद्ध होने वाला) नही है, तथापि उस ग्रहण के कथन से उसके अनुसार से ही हान ही विधूनन इस शब्द से कहा जाता है ऐसा निर्णय कर सकते हैं। विधून के समीप मे कही भी श्रूयमाण (सुना गया) यह उपायन, कुशा, छन्द और स्तुति उपगान के समान, विधूनन श्रुति से सवत्र ही अपेक्ष्यमाण (अपेक्षित-उपसहृत) होकर सार्वत्रिक (सब स्थान म होने वाला) निर्णय का कारण सिद्ध होता है। सुकृत-दुष्कृत के अद्रव्य होने स ध्वजाग्र के समान उस के मुख्य चालन का सम्भव नही है, इससे लाक्षणिक हान अर्थका ग्रहण किया जाता है। यदि कहा जाय कि तो भी हान अर्थ मे ही क्यो लक्षणा होती है, किसी अन्यार्थ मे क्यो नही लक्षणा होती है, तो कहा जाता है कि दृष्टान्त के बल से हान अर्थ म लक्षणा होती है कि जैसे अश्व रोमो का विधूनन, कम्पन करता हुआ, धूलियो को त्यागता हुआ उसके साथ ही जीर्ण रोमो को भी गिराता-त्यागता है। वैसे अश्व के रोमो के समान ही पाप का विधूनन करके ज्ञानी उसका त्याग करता है, यह दृष्टान्तरूप ब्राह्मण ग्रथ है। वस्तुत लक्षणा की भी आवश्यकता नहीं है, धातुओ के अनेकार्थक होने से धातु का हान भी अर्थ है। (धूञ् कम्पने) इस स्मरण मे विरोध नही है, वह भी अर्थ है। यहाँ शाखान्तर मे स्थित उपायन विधूनन के हान अर्थ को निश्चय कराने वाला है, इस तात्पर्य को बोध कराने वाला जैमिनि सूत्र है वह कहा जा चुका है, यह व्याख्यान हो चुका है। इस प्रकार विधूनन का हानि अर्थ सिद्ध होने से केवल हानि के स्थान मे उपायन का उपसहार होता है॥ प्रियेषु स्वेषु सुकृत-मप्रियेषु च दुष्कृतम्। विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माऽभ्येति सनातनम्॥ २६॥

सांपरायाधिकरण ॥ १६ ॥

कर्मत्यागो मार्गमध्ये यदि वा मरणात्पुरा। उत्तीर्य विरजात्यागस्तथा कौषीतकिश्रुते।
कर्मप्राप्यफलाभावान्मध्ये साधनवर्जनात्। ताण्डिश्रुते पुरा त्यागो बाध्य कौषीतकिक्रम॥

पूर्वसूत्र से हानिपद की अनुवृत्ति और उसका प्रथमान्त रूप से विपरिणाम करने मे अर्थ है कि सापराय (परलोक प्राप्ति के लिए गमन काल मे ही) सुकृत-दुष्कृत की हानि (त्याग) होता है, क्योकि उस उपासक वा ज्ञानी को परलोक मे तर्तव्य किसी पदार्थ का अभाव रहता है, इसी प्रकार अन्य शाखा वाले कहते हैं। सशय है कि कर्म त्याग मार्ग म होता है, अथवा मरण मे प्रथम होता है। पूर्वपक्ष है कि विरजा नदी को तर कर सुकृतादि का त्याग करता है, क्योकि कौषीतकी श्रुति से ऐसा ही सिद्ध होता है। सिद्धान्त है कि मरण के बाद मार्ग म कर्म स प्राप्त करने योग्य फल के अभाव से, मध्यमार्ग म त्याग के लिये साधन के अभाव से और ताण्डि श्रुति रूप प्रमाण से प्रथम ही त्याग होता है। इसी से कौषीतकी का क्रम बाधित होता है।

वस्तुतः कामादि अरिवर्ग का समूह आरह्लद रूप से कल्पित है, और विगतं रजो यस्याः, वा विगता जरा यस्याः, सा विरजा, विजरा वा नदी, उपासनारूप क्रिया ही है, उससे उत्तीर्णता उसकी पूर्णता है वह मन से होता है इत्यादि कौषीकि का भाव है ॥ १–२ ॥

सांपराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥ २७ ॥

देवयानेन पथा पर्यङ्कस्थं ब्रह्माभिप्रस्थितस्य व्यध्वनि सुकृतदुष्कृतयोर्वियोगं कौषीतकिनः पर्यङ्कविद्यायामामनन्ति 'स एतं देवयानं पन्थानमासाद्याग्निलोकमागच्छति' (कौ० १।३) इत्युपक्रम्य 'स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधूनुते' (कौ० १।४) इति। तत्किं यथाश्रुतं व्यध्वन्येव वियोगवचनं प्रतिपत्तव्यमाहोस्विदादावेव देहादपसर्पण इति विचारणायां श्रुतिप्रामाण्याद्यथाश्रुति प्रतिपत्ति प्रसक्तौ पठति—सांपराय इति। सांपराये गमन एव देहादपसर्पण इदं विद्यासामर्थ्यात्सुकृतदुष्कृतहानं भवतीति प्रतिजानीते। हेतुं व्याचष्टे तर्तव्याभावादिति। नहि विदुषः संपरेतस्य विद्यया ब्रह्म संप्रेप्सतोऽन्तराले सुकृतदुष्कृताभ्यां किंचित्प्राप्तव्यमस्ति यदर्थं कतिचित्क्षणानक्षीणे ते कल्प्येयाताम्, विद्याविरुद्धफलत्वात्तु विद्यासामर्थ्येन तयोः क्षयः, स च यदैव विद्या फलाभिमुखी तदैव भवितुमर्हति। तस्मात्प्रागेव सन्नयं सुकृतदुष्कृतक्षयः पश्चात्पठ्यते। तथा ह्यन्येऽपि शाखिनस्ताण्डिनः शाट्यायनिनश्च प्रागवस्थायामेव सुकृतदुष्कृतहानिमामनन्ति 'अश्व इव रोमाणि विधूय पापम्' (छा० ८।१३।१) इति, 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति च ॥ २७ ॥

कौषीतकी शाखा वाले पर्यङ्क विद्या में देवयान मार्ग द्वारा पर्यङ्कस्थ ब्रह्म के प्रतिगमन करने वाले के व्यध्व (मध्यमार्ग) में सुकृत और दुष्कृत के वियोग का कथन करते हैं कि (वह सगुण ब्रह्मवेत्ता इस वक्ष्यमाण देवयान मार्ग में प्राप्त होकर अग्नि लोक में आता है, तेज के अभिमानी देव को प्राप्त करता है) इस प्रकार आरम्भ करके (वह विरजा—विरजा नदी को प्राप्त करता है। उसको साधनान्तर के विना मन से ही तर जाता है इससे सुकृत और दुष्कृत को त्यागता है। यहां क्या श्रुति के अनुसार मध्यमार्ग में ही वियोग वचन को समझना चाहिये, अथवा आदि में ही देह से गमन काल मे वियोग समझना चाहिए ऐसी विचारणा के होने पर) श्रुति की प्रमाणता से श्रुति के अनुसार प्रतिपत्ति (ज्ञान) के प्राप्त होने पर सूत्रकार पढ़ते हैं कि (सम्पराये) इत्यादि। साम्पराय—गमन ही काल में, देह से निकलने के समय, मरण से पूर्व ही विद्या के सामर्थ्य से यह सुकृत-दुष्कृत का हान (त्याग) होता है, यह प्रतिज्ञा करते हैं, और तर्तव्याभावात्, यह हेतु कहते हैं कि विद्या से ब्रह्म की प्राप्ति चाहने वाले मृत विद्वान् को मध्यमार्ग में कुछ भी सुकृत और दुष्कृत से प्राप्त करने योग्य नहीं है, कि जिसके लिए वे दोनों कुछ क्षण पर्यन्त अक्षीण (वर्तमान) कल्पित हों। विद्या से विरुद्ध फलवाले उन दोनों के होने से विद्या के सामर्थ्य से उन दोनों का क्षय होता

है और जब ही विद्या फल के लिये अभिमुख होती है, तभी वह क्षय होना योग्य है। इससे प्रथम ही होने वाला यह सुकृत-दुष्कृत का क्षय पीछे पढ़ा जाता है। अर्थात् (तत् सुकृत दुष्कृतते विधूनुते) इस वचनगत तत् शब्द हेतु अर्थ में नहीं है कि मरण काल अर्थ में है। भाव है कि केवल मन से ही विरजा नदी को क्या तरता है सुकृतादि द्वारा क्या नहीं तरता है तो उत्तर है कि सुकृतादि को जिस मरण काल में ही त्याग देता है इत्यादि। इसी प्रकार ही ताडी और शाट्यायनी अन्य शाखा वाले भी पूर्व अवस्था में ही सुकृत दुष्कृत की हानि कहते हैं कि (अश्व जैसे रोमों को त्यागते हैं वैसे पाप को नष्ट करके निर्मल होऊँगा) और (उसके पुत्र धन लेते हैं, मित्र पुण्य लेते हैं, शत्रु पाप लेते हैं) इत्यादि ॥ २७ ॥

छन्दत उभयाविरोधात् ॥ २८ ॥

यदि च देहादपसृप्तस्य देवयानेन पथा प्रस्थितस्यार्धपथे सुकृतदुष्कृतक्षयोऽभ्युपगम्येत ततः पतिते देहे यमनियमविद्याभ्यासस्य सुकृतदुष्कृतक्षयहेतोः पुरुषप्रयत्नस्येच्छातोऽनुष्ठानानुपपत्तेरनुपपत्तिरेव तद्धेतुकस्य सुकृतदुष्कृतक्षयस्य स्यात्, तस्मात्पूर्वमेव साधकावस्थायां छन्दतोऽनुष्ठानं तस्य स्यात्, तत्पूर्वकं च सुकृतदुष्कृतहानमिति द्रष्टव्यम्। एवं निमित्तनैमित्तिकयोरुपपत्तिस्ताण्डिशाट्यायनिश्रुत्योश्च संगतिरिति ॥ २८ ॥

यदि देह से निःसृत और देवयान मार्ग से प्रचलित के अर्धमार्ग में पुण्य पाप का क्षय माना जाय, तो देह के नष्ट होने पर यमनियमविद्याभ्यासादिरूप सुकृत-दुष्कृत के क्षय के हेतु पुरुष के प्रयत्न के इच्छा से अनुष्ठान की अनुपपत्ति के कारण तद्धेतुक (तज्जन्य) सुकृत-दुष्कृत का क्षय की अनुपपत्ति ही होगी। अर्थात् मरण से प्रथम पुण्य-पाप की निवृत्ति नहीं होने पर, मरने पर देह के बिना साधन के नहीं हो सकने से उनकी निवृत्ति ही नहीं होगी, तो विद्या और कर्मक्षय का परस्पर हेतु फल भाव विरुद्ध होगा। इससे प्रथम ही साधक अवस्था में इच्छा से पापादि की निवृत्ति के साधनों का अनुष्ठान होगा और अनुष्ठानपूर्वक सुकृत-दुष्कृत की हानी होगी इस प्रकार छन्दत प्रवृत्ति से हेतु भाव और फल भाव में अविरोध होता है यह द्रष्टव्य है क्योंकि इस प्रकार निमित्त नैमित्तिक (हेतु फल) दोनों की सिद्धि होती है, और ताण्डी शाट्यायनी श्रुतियों की संगति होती है॥ यदि शंका हो कि छान्दोग्य में तो पापमात्र ही निवृत्ति-श्रुत है उसकी क्या गति होगी तो कहते हैं कि छान्दोग्य में भी छन्द (तात्पर्य) में उभय का ग्रहण है। इससे उभय श्रुति से विरोध नहीं है इत्यादि ॥ २८ ॥

गतेरर्थवत्त्वाधिकरण ॥ १७ ॥

उपास्तिबोधयोर्मार्गः समो यद्वा व्यवस्थितः। सम एवोत्तरो मार्गः श्रुत्या कर्महानिवत् ॥
देशान्तरफलप्राप्त्यै युक्तो मार्ग उपास्तिषु। आरोग्यवद्बोधफलं तेन मार्गो व्यवस्थितः ॥

गति (गति का साधन) देवयान मार्ग की अर्थवत्ता दो प्रकार से है, अर्थात् व्यवस्थित है, जिससे अन्यथा विरोध होगा। संशय है कि उपासना और ज्ञान दोनों में

मार्ग तुल्य है वा व्यवस्थित भिन्न है। पूर्वपक्ष है कि कर्म की हानि के समान उत्तर-मार्ग भी दोनों के समान है। सिद्धान्त है कि देशान्तर के फल की प्राप्ति के लिये उपासनाओं में मार्ग युक्त है। बोध का फल आरोग्य के समान है जिससे मार्ग व्यवस्थित है। ते नल कहु कहवाँ गये, जिनहि दीन्ह गुरु घोटि। रामनाम निज जानि के, छाडहु वस्तुहि खोटि ॥ १-२ ॥

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥ २९ ॥

क्वचित्पुण्यपापहानसंनिधौ देवयानः पन्थाः श्रूयते क्वचिन्न। तत्र संशयः— किं हानावविशेपेणैव देवयानः पन्थाः संनिपतेदुत विभागेन क्वचित्संनिपतेत् क्वचिन्नेति। यथा तावद्धानावविशेपेणैवोपायनानुवृत्तिरुक्तैवं देवयानानुवृत्तिरपि भवितुमर्हतीत्यस्यां प्राप्तावाचक्ष्महे। गतेर्देवयानस्य पथोऽर्थवत्त्वमुभयथा विभागेन भवितुमर्हति, क्वचिदर्थवती गतिः क्वचिन्नेति। नाविशेपेण। अन्यथा ह्यविशेपेणैवैतस्यां गतावङ्गीक्रियमाणायां विरोधः स्यात्। 'पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मु० ३।१।३) इत्यस्यां श्रुतौ देशान्तरप्रापणी गतिर्विरुध्येत, कथं हि निरञ्जनोऽगन्ता देशान्तरं गच्छेत्, गन्तव्यं च परमं साम्यं न देशान्तरप्राप्त्यायत्तमित्यानर्थक्यमेवात्र गतेर्मन्यामहे ॥ २९ ॥

पुण्य-पाप की हानि के समीप में कहीं सगुणविद्या में देवयान मार्ग सुना जाता है, कहीं नहीं सुना जाता है, यहां संशय होता है कि हानि में अविशेप रूप से पूर्वोक्त उपायन के समान देवयान मार्ग प्राप्त होगा, अथवा विभागपूर्वक कहीं प्राप्त होगा कहीं नहीं प्राप्त होगा। यहाँ पूर्वपक्ष है कि जैसे हानि में अविशेप रूप से उपायन की अनुवृत्ति कही गई है। इसी प्रकार देवयान की अनुवृत्ति उपसंहार भी होने योग्य है। ऐसी प्राप्ति होने पर कहते हैं कि देवयानरूप गति (पथमार्ग) की अर्थवत्ता उभयथा अर्थात् विभाग से होने योग्य है कि कहीं गतिअर्थवती है, कहीं अर्थवती नहीं है, अविशेप रूप से अर्थवत्ता नहीं है। अन्यथा अविशेप रूप से इस गति को स्वीकार करने पर विरोध होगा (विद्वान् पुण्य-पाप को नष्ट करके निरञ्जन निर्लेप क्लेशरहित होकर परम समता को प्राप्त करता है) इस श्रुति में देशान्तर को प्राप्त कराने वाली गति विरुद्ध होगी। जिससे निरञ्जन अतएव गमनरहित देशान्तर में कैसे जायगा, परमसाम्य स्वरूप गन्तव्य (प्राप्य) वस्तु है, वह देशान्तर में प्राप्ति के अधीन नहीं है। इससे समता में गति की अनर्थकता को ही मानते हैं ॥ २९ ॥

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥ ३० ॥

उपपन्नश्चायमुभयथाभावः क्वचिदर्थवती गतिः क्वचिन्नेति, तल्लक्षणार्थोपलब्धेः। गतिकारणभूतो ह्यर्थः पर्यङ्कविद्यादिषु सगुणेषूपासनेषूपलभ्यते, तत्र हि पर्यङ्कारोहणं पर्यङ्कस्थेन ब्रह्मणा संवदनं विशिष्टगन्धादिप्राप्तिश्चेत्येवमादि बहुदेशान्तरप्राप्त्यायत्तं फलं श्रूयते, तत्रार्थवती गतिः, नहि सम्यग्दर्शने तल्ल-

क्षणार्थोपलब्धिरस्ति। न ह्यात्मैकत्वदर्शिनामाप्तकामानामिहैव दग्धाशेषक्लेशबीजानामारब्धभोगकर्माशयक्षपणव्यतिरेकेणापेक्षितव्यं किंचिदस्ति तत्रानर्थिका गतिः। लोकवच्चैष विभागो द्रष्टव्यो यथा लोके ग्रामप्राप्तौ देशान्तरप्रापणः पन्था अपेक्ष्यते नारोग्यप्राप्तावेवमिहापीति। भूयश्चैनं विभागं चतुर्थाध्याये निपुणतरमुपपादयिष्यामः ॥ ३० ॥

गति कहीं अर्थवती सफल है कहीं निर्गुण विद्या में अर्थवती नहीं है यह उभयथाभाव उपपन्न है क्योंकि उस गतिरूप लक्षण (हेतु कारण) वाला अर्थों की उपलब्धि से ऐसा सिद्ध होता है। जिसमें गति है कारण स्वरूप जिनका ऐसे अर्थ पर्यङ्क विद्या आदि रूप सगुण उपासनाओं में उपलब्ध होते हैं उस विद्या में भगवान् के पर्यङ्क पर आरोहण पर्यंक पर स्थित ब्रह्म (भगवान्) के साथ सम्वाद और विशिष्ट (श्रेष्ठ) गन्ध आदि की प्राप्ति इत्यादि बहुत देशान्तर में प्राप्ति के अधीन फल सुना जाता है, इससे वहाँ गति अर्थवती (साधक) है। सम्यग्दर्शन में गतिरूप कारण वाले अर्थों की उपलब्धि नहीं है। जिसमें आत्मा की एकता को जानने वाले आप्त (प्राप्त पूर्ण) काम (मनोरथ) वाले, दग्ध (विनष्ट) क्लेशात्मक बीज वाले ज्ञानियों को प्रारब्ध का भोग के द्वारा प्रारब्ध कर्माशय के नाश से अतिरिक्त रूप से कुछ भी आपेक्षितव्य (प्राप्तव्य) नहीं रहता है इससे वहाँ गतिअनर्थिका (निष्फल) है। यह विभाग लोक के समान समझना चाहिये कि जैसे लोक में किसी ग्राम की प्राप्ति में देशान्तर को प्राप्त कराने वाला मार्ग की अपेक्षा अनुसरण की जाती है, आरोग्य की प्राप्ति में मार्ग की अपेक्षा नहीं की जाती है। वैसे ही यहाँ भी मार्ग की अपेक्षा अनपेक्षा है फिर इस विभाग को चतुर्थ अध्याय में अतिसुन्दर रूप से सिद्ध करेंगे ॥ ३० ॥ इन दोनों सूत्रों का सिद्धान्त के अनुसार सुगम अर्थ प्रतीत होता है कि (उभयथा) भेदभाव के रहते उपास्य देवादि की प्राप्ति आदि के लिए गति को अर्थवत्त्व है अन्यथा नहीं जिससे अन्यथा भेदभाव की निवृत्ति होने पर गति को मानने पर (न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति, ब्रह्मैवसन् ब्रह्माप्येति) ज्ञानी के प्राण उत्क्रमण नहीं करते ज्ञानी तो जीते भी ब्रह्म होता हुआ अन्त में ब्रह्म में लीन होता है निर्वाण पद को पाता है जो गमनागमन से रहित है इत्यादि से विरोध होगा ॥ २९ ॥ (ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति) अकामो धीरो अमृत स्वयंभू। इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामा) इत्यादि श्रुति से गमनागमनरहित ब्रह्म के लक्षण रूप अर्थ की ज्ञानी में उपलब्धि से गमनागमनरहित ब्रह्मरूपत्व उत्पन्न होता है जैसे कि लोक में जिसमें जिसके लक्षण की उपलब्धि होती है उसको उस रूपता उत्पन्न होती है अर्थात् मिट्टी में कुछ दिन रहने से लोहा मिट्टी रूप होता है, लवण के पहाड़ पर अन्य वस्तु भी लवण रूप होती है उसमें लवण मिट्टी के लक्षणों को देखकर लोक में मिट्टी लवण कहा जाता है, वैसे ज्ञानी ब्रह्म कहा जाता है और ब्रह्म विभु है ॥ ३० ॥

अनियमाधिकरण ॥ १८ ॥

मार्गः श्रुतस्थलेष्वेव सर्वोपास्तिषु वा भवेत्। श्रुतेष्वेव प्रकरणाद् द्विःपाठोऽस्य वृथान्यथा ॥
प्रोक्तो विद्यान्तरे मार्गो ये चेम इति वाक्यतः। तेन बाध्यं प्रकरणं द्विःपाठश्चिन्तनाय हि ॥

सभी सगुण विद्या सम्बन्धी यह उत्तरायण मार्ग है, किसी विशेष विद्या के लिए नियम नहीं है और श्रुति-स्मृति द्वारा प्रकट विरोध का अभाव सिद्ध होता है ॥ यह उत्तरायण मार्ग जिन स्थानों में सुना गया है, वहाँ ही रहेगा, अथवा सब उपासनाओं में प्राप्त होगा, ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष है कि प्रकरण के बल से जहाँ सुना गया है। उन्हीं उपासनाओं में मार्ग का सम्बन्ध रहेगा, अन्यत्र उपसंहार नहीं होगा, अन्यथा एक स्थान में पाठ से ही सर्वत्र उपसंहार हो सकता था, एक ग्रन्थ में पञ्चाग्निविद्या और उपकोशलविद्या में इस मार्ग का दो बार पाठ व्यर्थ होगा ॥ सिद्धान्त है कि (ये चेमे) इस श्रुति वाक्य से विद्यान्तर में भी मार्ग कहा गया है, उसी से प्रकरण बाधित हो जाता है। मार्ग का चिन्तन के लिए दो स्थान में पाठ है, अन्य उपासनाओं में मार्ग चिन्तन की जरूरत नहीं है ॥ १–२ ॥

अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥ ३१ ॥

सगुणासु विद्यासु गतिरर्थवती न निर्गुणायां परमात्मविद्यायामित्युक्तम्। सगुणास्वपि विद्यासु कासुचिद्गतिः श्रूयते यथा पर्यङ्कविद्यायामुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां दहरविद्यायामिति, नान्यासु यथा मधुविद्यायां शाण्डिल्यविद्यायां षोडशकलविद्यायां वैश्वानरविद्यायामिति। तत्र संशयः—किं यास्वेवैषा गतिः श्रूयते तास्वेव नियम्येतोतानियमेन सर्वाभिरेवैवंजातीयकाभिर्विद्याभिरभिसम्बध्येतेति। किं तावत्प्राप्तं नियम इति। यत्रैव श्रूयते तत्रैव भवितुमर्हति, प्रकरणस्य नियामकत्वात्। यद्यन्यत्र श्रूयमाणापि गतिर्विद्यान्तरं गच्छेच्छ्रुत्यादीनां प्रामाण्यं हीयेत सर्वस्य सर्वार्थवत्त्वप्रसङ्गात्। अपिचार्चिरादिकैकैव गतिरुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां च तुल्यवत्पठ्यते, तत्सर्वार्थत्वेऽनर्थकं पुनर्वचनं स्यात्। तस्मान्नियम इति।

सगुण विद्याओं में गति सार्थक है, निर्गुण परमात्मविद्या में नहीं, यह कहा जा चुका है। सगुण विद्याओं में भी किन्हीं में गति सुनी जाती है, जैसे कि पर्यङ्कविद्या, उपकोशलविद्या, पञ्चाग्निविद्या और दहरविद्या में गति सुनी जाती है। अन्य में नहीं सुनी जाती है, जैसे कि मधुविद्या, शाण्डिल्यविद्या, षोडशकलविद्या और वैश्वानरविद्या में नहीं सुनी जाती है। यहाँ संशय होता है कि जिन विद्याओं में यह गति सुनी जाती है, उन्हीं में नियमित रहेगी, अथवा इस प्रकार वाली सभी सगुण विद्याओं में अनियम से सम्बद्ध होगी। प्रथम क्या प्राप्त है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि नियम प्राप्त होता है, जहाँ गति सुनी जाती है, वहाँ ही होने योग्य है, जिससे प्रकरण को नियामकत्व है, इससे प्रकरण ही नियम करेगा। यदि अन्यत्र श्रूयमाण (श्रुत) भी

गति विद्यान्तर म प्राप्त होगी तो श्रुति आदि की प्रमाणता बाधित होगी, सब गुणादि की सर्वाधिकत्व का प्रसङ्ग होगा और दूसरी बात है कि अर्चि आदि रूप एक ही गति (मार्ग) उपकोशलविद्या म और पञ्चाग्निविद्या म तुल्य स्वरूप वाली एव छान्दोग्य म पढी जाती है। गति के सर्वार्थत्व होन पर वह पुन वचन निरर्थक होगा, जिससे नियम है ॥

एव प्राप्ते पठति–अनियम इति। सर्वासामेवाभ्युदयप्राप्तिफलाना सगुणाना विद्यानामविशेषेणैषा देवयानाख्या गतिर्भवितुमर्हति। नन्वनियमाभ्युपगमे प्रकरणविरोध उक्त। नैषोऽस्ति विरोध, शब्दानुमानाभ्या श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थ। तथाहि श्रुति –'तद्य इत्थ विदु' (छा० ५।१०।१) इति पञ्चाग्निविद्यावता देवयान पन्थानमवतारयन्ती 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' (छा० ५।१०।१) इति विद्यान्तरशीलिनामपि पञ्चाग्निविद्याविद्भि समानमार्गता गमयति। कथ पुनरवगम्यते विद्यान्तरशीलिनामिय गतिश्रुतिरिति। ननु श्रद्धातप परायणानामेव स्यात्तन्मात्रश्रवणात्। नैष दोष, नहि केवलाभ्या श्रद्धातपोभ्यामन्तरेण विद्याबलमेषा गतिर्लभ्यते।

विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामा परागता।
न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वासस्तपस्विन ॥

इति श्रुत्यन्तरात्। तस्मादिह श्रद्धातपोभ्या विद्यान्तरोपलक्षणम्।

ऐसा प्राप्त होने पर पढते हैं कि अनियम है, अभ्युदय (ब्रह्मलोक) की प्राप्ति रूप फल वाली सगुण सभी विद्याओ के सम्बन्ध वाली यह देवयान नामक गति अविशेष (तुल्य) रूप स होने योग्य है, यदि कहा जाय कि अनियम मानने पर प्रकरण के साथ विरोध कहा जा चुका है, तो कहा जाता है कि शब्द और अनुमान से, अर्थात् श्रुति और स्मृति से यह विरोध नही है, अर्थात् सामान्य श्रुति आदि स प्रकरण का बाध दोष रूप नहीं है। जिसम इस प्रकार की सामान्य श्रुति है कि (उन विद्या के अधिकारियो म जो कोई ऐसा समझते हैं कि द्युलोकादिरूप अग्नियो द्वारा हम उत्पन्न हुए हैं इत्यादि) इस प्रकार पञ्चाग्निविद्या वालो के देवयान मार्ग का आरम्भ करती हुई श्रुति (और जो अरण्य म वासयुक्त वानप्रस्थ सन्यासी श्रद्धा तपोयुक्त ब्रह्म का ध्यान करत है वे अर्चि आदि को प्राप्त होते हैं) इस प्रकार विद्यान्तर का अनुशीलन (चिन्तन) करने वालो की भी पञ्चाग्निविद्या वालो के साथ समान मार्गता को समझाती है। शङ्का होती है कि इस श्रुति से भी श्रद्धा तप वालो को देवयान की प्राप्ति प्रतीत होती है, तो भी विद्यान्तर वालो की भी यह गति श्रुति कैसे समझी जाती है, तप और श्रद्धा म तत्पर की ही यह गति होगी जिससे तप और श्रद्धा मात्र का श्रवण है। उत्तर है कि यह दोष नही है, जिससे विद्याबल के बिना केवल तप और श्रद्धा मात्र से यह गति नही प्राप्त होती है। (विद्या से उस ब्रह्मलोक म प्राप्त होते हैं कि जहाँ ज्ञान से काम परागत परावृत्त निवृत्त हो जाते है, अर्थात् जहाँ कामादि

दोप नहीं हैं, दक्षिणा (केवल कर्मी) और अविद्वान् तपस्वी वहाँ नहीं जाते हैं। इस दूसरी श्रुति से तप आदि मात्र से ब्रह्मलोक की अप्राप्ति सिद्ध होती है। जिसमे यहाँ श्रद्धा और तप से साध्य विद्यान्तर का उपलक्षण (बोधन) होता है।

वाजसनेयिनस्तु पञ्चाग्निविद्याधिकारेऽधीयते 'ये एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते' (बृ० ६।२।१५) इति, तत्र श्रद्धालवो ये सत्यं ब्रह्मोपासत इति व्याख्येयम्, सत्यशब्दस्य ब्रह्मण्यसकृत्प्रयुक्तत्वात्। पञ्चाग्निविद्याविदां चेत्थंवित्तयैवोपात्तत्वाद्विद्यान्तरपरायणानामेवैतदुपादानं न्याय्यम्। 'अथ ये एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गा यदिदं दन्दशूकम्' (बृ० ६।२।१६) इति च मार्गद्वयभ्रष्टानां कष्टामधोगतिं गमयन्ती श्रुतिर्देवयानपितृयाणयोरेवैनानन्तर्भावयति। तत्रापि विद्याविशेषादेषां देवयानप्रतिपत्तिः। स्मृतिरपि—

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्तते पुनः ॥ (भ० गी० ८।२६) इति।

यत्पुनर्देवयानस्य पथोऽर्चिरादेर्द्विराम्नानमुपकोसलविद्यायां पञ्चाग्निविद्यायां च तदुभयत्राप्यनुचिन्तनार्थम्। तस्मादनियमः ॥ ३१ ॥

वाजसनेयी तो पञ्चाग्निविद्या के प्रकरण में अध्ययन करते हैं कि (जो इस पञ्चाग्निविद्या को इस प्रकार जानते हैं, और जंगल में श्रद्धा और सत्य की उपासना करते हैं सो अर्चि मार्ग को प्राप्त करते हैं) इति। वहाँ जो श्रद्धालु लोग सत्य ब्रह्म की उपासना करते हैं, ऐसा व्याख्यान कर्तव्य है और सत्य शब्द के ब्रह्म में अनेक वार प्रयुक्तत्व से यह व्याख्यान समझना चाहिये। पञ्चाग्निविद्यावेत्ताओं का (य एवमेतद्विदुः) इस वचन द्वारा इत्थंवेत्ता रूप से ही ग्रहण होने के कारण विद्यान्तर में परायण (तत्परों) का ही यह सत्य का उपासक रूप से उपादान (ग्रहण) न्याय्य है। (जो इन दोनों मार्गों को नहीं जानते है अर्थात् उत्तरायण वा दक्षिणायन मार्ग की प्राप्ति के लिए जो विद्या वा कर्मानुष्ठान नहीं करते हैं, वे लोग कीट, पतंग और यह जो दन्दशूक (सर्प) आदि हैं सो होते हैं) यह श्रुति दोनों मार्गों से भ्रष्टों की कष्टरूप अधोगति को समझाती हुई देवयान, पितृयान मार्गों में ही इन वैश्वानरादि उपासकों को अन्तर्भाव करती है, और उन दोनों मार्गों में भी विद्याविशेष से इन्हें देवयान की प्राप्ति होती है। स्मृति भी है कि (अर्चि आदि शुक्लगति और धूमादि कृष्ट गति जगत् के अधिकारियों की शाश्वत सम्मत स्वीकृत है, उनमे एक से अनावृत्ति को प्राप्त होता है, अन्य गनि से फिर लौट आता है) और जो अर्चि आदि रूप देवयान मार्ग का दो वार उपकोशल-विद्या और पञ्चाग्निविद्या में कथन है, वह दोनों स्थानों में अनुचिन्तन के लिए है, अन्य विद्या वालों को मार्ग के चिन्तन के विना ही मार्ग की प्राप्ति होती है, जहाँ मार्ग का वर्णन है वहाँ मार्ग के चिन्तन से मार्ग की प्राप्ति होती है, इससे प्रतीक भिन्न की उपासनाओं में अर्चि आदि की प्राप्ति होती है इससे अनियम है ॥ ३१ ॥

यावदधिकाराधिकरण ॥ १९ ॥

ब्रह्मतत्त्वविदां मुक्तिः पाक्षिकी नियताथवा। पाक्षिक्यपान्तरतमः प्रभृतेर्जन्मकीर्तनात् ॥१॥
नानादेहोपभोक्तव्यमीशोपास्तिफलं बुधाः। भुक्त्वाधिकारिपुरुषा मुच्यन्ते नियता ततः ॥२॥

ज्ञान और ज्ञानजन्य जीवन्मुक्ति के रहते भी त्रिदेवादि रूप तथा सप्तर्षि आदि रूप अधिकारियों, नियन्ताओं, उपदेशकों की अधिकार पर्यन्त संसार में स्थिति रहती है॥ संशय है कि ब्रह्मतत्त्ववेत्ताओं की मुक्ति पाक्षिक (वैकल्पिक) है, अथवा नियत है। पूर्वपक्ष है कि अपान्तरतमा आदि ज्ञानियों के जन्म के पुराणादि में कथन से मुक्ति पाक्षिकी है॥ सिद्धान्त है कि अधिकारी पुरुष रूप ज्ञानी नाना देह में उपभोग के योग्य ईश्वर की उपासना के फल को भोग कर मुक्त होवे हैं, इससे मुक्ति नियत है॥ १-२॥

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ ३२ ॥

विदुषो वर्तमानदेहपातानन्तरं देहान्तरमुत्पद्यते न वेति चिन्त्यते। ननु विद्यायाः साधनभूतायाः सम्पत्तौ कैवल्यनिर्वृत्तिः स्यान्न वेति, नेयं चिन्तोपपद्यते। नहि पाकसाधनसम्पत्तावोदनो भवेन्न वेति चिन्ता, सम्भवति। नापि भुञ्जानस्तृप्येन्न वेति चिन्त्यते। उपपन्ना त्वियं चिन्ता ब्रह्मविदामपि केषाञ्चिदितिहासपुराणयोर्देहान्तरोत्पत्तिदर्शनात्। तथाह्यपान्तरतमा नाम वेदाचार्यः पुराणर्षिर्विष्णुनियोगात्कलिद्वापरयोः सन्धौ कृष्णद्वैपायनः संबभूवेति स्मरन्ति। वसिष्ठश्च ब्रह्मणो मानसः पुत्रः सन्निमिशापादपगतपूर्वदेहः पुनर्ब्रह्मादेशान्मित्रावरुणाभ्यां संबभूवेति। भृग्वादीनामपि ब्रह्मण एव मानसपुत्राणां वारुणे यज्ञे पुनरुत्पत्तिः श्रूयते। सनत्कुमारोऽपि ब्रह्मण एव मानसः पुत्रः स्वयं रुद्राय वरप्रदानात्स्कन्दत्वेन प्रादुर्बभूव। एवमेव दक्षनारदप्रभृतीनां भूयसी देहान्तरोत्पत्तिः कथ्यते तेन तेन निमित्तेन स्मृतौ। श्रुतावपि मन्त्रार्थवादयोः प्रायेणोपलभ्यते। ते च केचित्पतिते पूर्वे देहे देहान्तरमाददते केचित्तु स्थित एव तस्मिन्योगैश्वर्यवशादनेकदेहादानन्यायेन। सर्वे चैते समधिगतसकलवेदार्थाः स्मर्यन्ते। तदेतेषां देहान्तरोत्पत्तिदर्शनात्प्राप्तं ब्रह्मविद्यायाः पाक्षिकं मोक्षहेतुत्वमहेतुत्वं वेति।

विद्वान् के वर्तमान देह के पात के अनन्तर फिर देहान्तर उत्पन्न होता है, अथवा नहीं होता है यह विचार किया जाता है। यहाँ शंका होती है कि कैवल्य के साधन रूप विद्या की सम्पत्ति (सिद्धि प्राप्ति) होने पर कैवल्य की सिद्धि होगी या नहीं होगी, यह चिन्ता, विचार, उपपन्न नहीं होती है, जिससे पाक के साधन की सम्पत्ति होने पर ओदन (भात) होगा या नहीं होगा ऐसी चिन्ता का सम्भव नहीं है और भोजन करता हुआ तृप्त होगा या नहीं, ऐसी भी चिन्ता नहीं की जाती है, अर्थात् पूर्ण साधन ज्ञान होने पर मोक्ष अवश्य होता है यहाँ चिन्ता का अवसर नहीं है॥ उत्तर है कि यह चिन्ता तो उपपन्न है, युक्त है, जिससे कितने ब्रह्मवेत्ताओं की भी इतिहास और पुराणों में

देहान्तर की उत्पत्ति कथा को देखने से चिन्ता होती है। इसी प्रकार का स्मरण कथन करते हैं कि अपान्तरतमा नाम से प्रसिद्ध वेदाचार्य पुराण ऋषि विष्णु की आज्ञा से कलि और द्वापर की सन्धि काल में कृष्ण द्वैपायन हुए। वसिष्ठ भी ब्रह्मा के मानस पुत्र होते हुए भी निमि नामक राजा के शाप से पूर्वदेह से रहित होकर फिर ब्रह्मा की आज्ञा से मित्रावरुण से देहधारी हुए। ब्रह्मा के ही मानसपुत्र भृगु आदि की वरुण के यज्ञ में फिर उत्पत्ति सुनी जाती है, ब्रह्मा के ही मानसपुत्र सनत्कुमार भी स्वयं रुद्र के प्रति वरप्रदान से स्कन्द रूप से प्रगट हुए। इसी प्रकार तत्तत् निमित्तों से दक्ष नारदादि की बहुत ही देहान्तर की उत्पत्ति स्मृति में कही जाती है। श्रुति में भी मन्त्र और अर्थवाद में प्रायः ज्ञानियों की देह की उत्पत्ति उपलब्ध होती है। उनमें वे कितने ज्ञानी तो पूर्व देह के पतित होने पर देहान्तर का ग्रहण करते हैं, और कोई तो उस पूर्व देह के स्थिर रहते ही योगैश्वर्य के बल से अनेक देह के ग्रहण न्याय से अन्य देह का ग्रहण करते हैं, और ये सब सम्पूर्ण वेदार्थ के ज्ञाता तत्त्वज्ञ स्मृतियों में कहे जाते हैं। तो भी इनकी देहों की उत्पत्ति की कथा को देखने से ब्रह्मविद्या को पाक्षिक मोक्ष-हेतुत्व वा अहेतुत्व प्राप्त होता है ॥

अत उत्तरमुच्यते । न, तेषामपान्तरतमःप्रभृतीनां वेदप्रवर्तनादिषु लोकस्थितिहेतुष्वधिकारेषु नियुक्तानामधिकारतन्त्रत्वात्स्थितेः । यथासौ भगवान्सविता सहस्रयुगपर्यन्तं जगतोऽधिकारं चरित्वा तदवसाने उदयास्तमयवर्जितं कैवल्यमनुभवति, 'अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता' (छा० ३।११।१) इति श्रुतेः । यथा च वर्तमाना ब्रह्मविदः प्रारब्धभोगक्षये कैवल्यमनुभवन्ति, 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६।१४।२) इति श्रुतेः । एवमपान्तरतमःप्रभृतयोऽपीश्वराः परमेश्वरेण तेषु तेष्वधिकारेषु नियुक्ताः सन्तः सत्यपि सम्यग्दर्शने कैवल्यहेतावक्षीणकर्माणो यावदधिकारमवतिष्ठन्ते, तदवसाने चापवृज्यन्त इत्यविरुद्धम् सकृत्प्रवृत्तमेव हि तेऽधिकारफलदानाय कर्माशयमतिवाहयन्तः स्वातन्त्र्येणैव गृहादिव गृहान्तरमन्यमन्यं देहं संचरन्तः स्वाधिकारनिर्वर्तनायापरिमुषितस्मृतय एव देहेन्द्रियप्रकृतिवशित्वान्निर्माय देहान्युगपत्क्रमेण वाधितिष्ठन्ति । न चैते जातिस्मरा इत्युच्यन्ते 'त एवैते' इति स्मृतिप्रसिद्धेः ।

अतः उत्तर कहा जाता है कि पाक्षिक हेतुत्व वा अहेतुत्व नहीं है। उन अपान्तरतमा आदि लोकस्थिति के हेतु वेद के प्रचारादि रूप अधिकारों (व्यापारों) में नियुक्तों की स्थिति के अधिकार रूप प्रतिबन्धक के अधीन होने से दोष का अभाव समझना चाहिए। जैसे यह भगवान् सूर्य हजार युग पर्यन्त जगत् के अधिकार (व्यवहार) को करके उसके अन्त में उदय-अस्तमय से रहित कैवल्य का अनुभव करते हैं (प्राणियों के प्रारब्ध समाप्त होने पर प्राणियों के ऊपर अनुग्रह के बाद में ऊर्ध्व अपने स्वरूप में

प्राप्त होकर सूर्य अपने मध्य (स्वरूप) में एक स्थिर रहेंगे न उदित होंगे न अस्त होंगे। इस श्रुति से सूर्य का कैवल्य सिद्ध होता है, एक (अद्वय) स्वरूप से स्थिति ही कैवल्य है (उस अविद्याबन्धनरहित आचार्यवान् पुरुष के सत्स्वरूप की सम्पत्ति को तभी तक विलम्ब है कि जब तक प्रारब्ध से नहीं विमुक्त होता है प्रारब्धान्त होने पर वह सत् स्वरूप में सम्पन्न होता है) इस श्रुति के अनुसार जैसे वर्तमान ब्रह्मवेत्ता प्रारब्ध भोग के क्षय होने पर कैवल्य का अनुभव करते हैं, इसी प्रकार परमेश्वर से तत्तत् अधिकार में नियुक्त अपान्तरतमा आदि ईश्वर (समर्थ) होते भी, तथा कैवल्य के हेतुरूप सम्यग् दर्शन (ब्रह्मात्मानुभव) के रहते भी प्रारब्ध कर्म के नहीं क्षीण होने से अक्षीण कर्म वाले वे लोग अधिकार पर्यन्त रहते हैं, उस प्रारब्ध के अवसान (समाप्त) होने पर मुक्त होते हैं। इससे विद्या की मोक्षहेतुता में विरोध नहीं है। जिससे उन अधिकारियों का कर्मान्तर से पुनर्जन्म नहीं होता है, किन्तु अधिकार रूप अधिकार-सम्बन्धी फल को देने के लिए सकृत् (एकबार) ही प्रवृत्त कर्माशय (धर्मादि) को (अनेक जन्म के लिए एक बार उद्बुद्ध प्रारब्ध को) भोगादि द्वारा नष्ट करते हुए, स्वतन्त्रतापूर्वक ही एक गृह से गृहान्तर में प्रवेश के समान अन्य-अन्य देहों में सचार (प्रवेश) करते हुए, अपने अधिकारों की सिद्धि के लिए अपरिलुप्त-स्मृतिवाले होते ही देह और इन्द्रियों की प्रकृति की वशिता से प्रकृति द्वारा देहों का निर्माण (सृष्टि) करके एक काल में या क्रम से उन देहों में अधिष्ठित (प्रविष्ट स्थिर) होते हैं, अर्थात् कर्मान्तराधीन ईश्वराधीन अज्ञानियों का जन्म होता है। इससे पूर्वापर की स्मृति लुप्त हो जाती है, और ज्ञानी अधिकारियों का दूसरा शरीर भी एक प्रारब्धाधीन होने से वह शरीर एक शरीर की अवस्थान्तर के समान रहता है, और स्वतन्त्रता से गृहीत रहता है, इससे स्मृति का लोप नहीं होता है। इसीसे वे अन्य शरीर में अज्ञानी आदि नहीं हो जाते हैं, इसीसे ये अधिकारी जातिस्मर हैं, ऐसा भी नहीं कहे जाते हैं, क्योंकि स्मृति कहती है कि (ये अधिकारी जो पूर्व थे वही अब हैं) अर्थात् कौमार युवा आदि अवस्था में जैसे वही पुरुष है ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है वैसे ही भिन्न देहों में भी अधिकारियों की प्रत्यभिज्ञा होती है, जाति स्मरों की प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है, स्वतन्त्रता नहीं रहती है, कर्मान्तराधीन पुनर्जन्म होता है, इत्यादि भेद है। (वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च। अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम्। मनु ४।१४८) इस स्मृति के अनुसार, सदा वेदाभ्यास शौच, तप और अद्रोह से पूर्वजाति का स्मरण करता है। उक्त स्मृति प्रसिद्धि से इस जातिस्मर से भिन्न अधिकारी विशिष्ट उपासना से ज्ञानयुक्त होते हैं।

यथाहि 'सुलभा नाम ब्रह्मवादिनी जनकेन विवदितुकामा व्युदस्य स्वं देहं जानकं देहमाविश्य व्युद्य तेन पश्चात्स्वमेव देहमाविवेश' इति स्मर्यते। यदि ह्युपयुक्ते सकृत्प्रवृत्ते कर्मणि कर्मान्तरं देहान्तरारम्भकारणमाविर्भवेत्ततोऽन्यदप्यदग्धबीजं कर्मान्तरं तद्वदेव प्रसज्येतेति ब्रह्मविद्यायाः पाक्षिकं मोक्षहेतुत्व-

महेतुत्वं वाऽऽशङ्क्येत, नत्वियमाशङ्का युक्ता, ज्ञानात्कर्मबीजदाहस्य श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धत्वात् । तथाहि श्रुतिः—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ (मुण्ड० २।२।८) इति ।

'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः' (छा० ७।२६।२) इति चैवमाद्या । स्मृतिरपि—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ! ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ (भ० गी० ४।३।३७) इति ।
बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः ।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संपद्यते पुनः ॥ इति चैवमाद्या ।

जैसे कि (सुलभा नाम वाली ब्रह्मवादिनी ने राजा जनक के साथ विशेष वाद की इच्छायुक्त होकर अपने देह को त्याग कर राजा जनक के देह में पैठ कर उस राजा के साथ विशेष वाद करके फिर अपनी ही देह में प्रवेश किया) ऐसा स्मरण किया जाता है । एक बार प्रवृत अधिकार के हेतु कर्म के उपयुक्त (उपभुक्त) होने पर, फिर यदि देहान्तर के आरम्भ के कारण कर्मान्तर आविर्भूत (प्रारब्धरूप) हो, तब तो अन्य भी अदग्ध बीज वाला कर्मान्तर प्राप्त हो, इससे ब्रह्मविद्या के पाक्षिक मोक्षहेतुत्व वा मोक्ष के अहेतुत्व की आशंका भी की जा सके, परन्तु ज्ञान से कर्मबीज के दाह की श्रुति और स्मृति में प्रसिद्धि से यह आशङ्का युक्त नहीं है । ऐसी ही श्रुति है कि (परावर स्वरूप उस परब्रह्म के अपरोक्ष होने पर इस जीव के कर्म नष्ट हो जाते हैं क्योंकि कर्मों के कारणरूप हृदय के ग्रंथिरूप रागादि नष्ट हो जाते हैं, सब संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं । आतम-स्मृति के लाभ करने पर सब ग्रन्थि छूट जाते हैं) इत्यादि । स्मृति भी है कि (हे अर्जुन ! जैसे सम्यक् दीप्त अग्नि लकड़ियों को सर्वथा भस्म करती है, इसी प्रकार ज्ञानाग्नि सब कर्मों को भस्म करती है) । अग्नि से दग्ध बीज जैसे फिर नहीं अंकुरित होते—जमते हैं । वैसे ही ज्ञान से दग्ध क्लेशों से फिर देहरूप आत्मा नहीं सिद्ध होता है, न उन क्लेशों के साथ सम्बन्ध वाला फिर यह जीवात्मा होता है ! इत्यादि ।

नचाविद्यादिक्लेशदाहे सति क्लेशबीजस्य कर्माशयस्यैकदेशदाह एकदेशप्ररोहश्चेत्युपपद्यते । नह्यग्निदग्धस्य शालिबीजस्यैकदेशप्ररोहो दृश्यते । प्रवृत्तफलस्य तु कर्माशयस्य मुक्तेषोरिव वेगक्षयान्निवृत्तिः । 'तस्य तावदेव चिरम्' (छा० ६।१४।२) इति शरीरपातावधिक्षेपकरणात । तस्मादुपपन्ना यावदधिकारमाधिकारिकाणामवस्थितिः । नच ज्ञानफलस्यानैकान्तिकता । तथाच श्रुतिरविशेषेणैव सर्वेषां ज्ञानान्मोक्षं दर्शयति 'तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तद्भवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्, (बृ० १।४।१०) इति । ज्ञानान्तरेषु

चैश्वर्यादिफलेष्वासक्ताः स्युर्महर्षय, ते पश्चादैश्वर्यक्षयदर्शनेन निर्विण्णाः परमात्मज्ञाने परिनिष्ठाः कैवल्यं प्रापुरित्युपपद्यते ।

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसंचरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥ इति स्मरणात् ।

अविद्यादिरूप क्लेशों का दाह होने पर क्लेशरूप बीज वाला कर्माशय के एकदेश का दाह हो और एकदेश का प्ररोह (अंकुर) हो यह उपपन्न नहीं हो सकता है। अग्नि से दग्ध शालि (धान) बीज के एकदेश का प्ररोह नहीं देखा जाता है। अविद्यादि के नष्ट होने पर भी प्रवृत्त फल वाला प्रारब्ध रूप कर्माशय की तो मुक्त बाण के समान वेग की निवृत्ति से निवृत्ति होती है। अर्थात् जैसे वेग के क्षय से बाण की गति की निवृत्ति होती है, वैसे भोग से ही प्रारब्ध कर्म की निवृत्ति होती है, भोग के बिना इसको दग्ध करने की शक्ति ज्ञान में नहीं है, जिसमें (उस ज्ञानी को तब तक विलम्ब है) इस श्रुति वचन के अनुसार शरीर के पात तक विक्षेप के कारण से विक्षेप होता है, इससे सिद्ध हुआ कि अधिकार पर्यंत अधिकारियों की स्थिति रहती है। ज्ञान के फल की अनैकान्तिकता (अनियतता) नहीं है और इसी प्रकार अविशेष रूप से ही ज्ञान से सबके मोक्ष को श्रुति दर्शाती है कि (उन देवताओं में जो-जो प्रतिबुद्ध ज्ञानी हुआ वह उस ब्रह्म का स्वरूप हुआ। इसी प्रकार ऋषियों में तथा मनुष्यों में जो प्रतिबुद्ध हुआ वह तद्रूप हुआ) ज्ञान से प्रथम ऐश्वर्यादिरूप फल वाले अन्य ज्ञानों (उपासनाओं) में महर्षि लोग प्रथम आसक्त होते हुए भी पीछे ऐश्वर्यों के क्षय देखने से विरक्त होकर उपासना के बल से परमात्मा के ज्ञान में निष्ठा वाले होकर वे मुक्ति पाये यह उपपन्न होता है। (प्रतिसंचर-महाप्रलय के सम्प्राप्त होने पर और हिरण्यगर्भ के अधिकार का अन्त होने पर ब्रह्मा के साथ वे सब कृतात्मा, शुद्धात्मा लोग परमपद पाते हैं) इस स्मृति से उक्तार्थ सिद्ध होता है।

प्रत्यक्षफलत्वाच्च ज्ञानस्य फलविरहाशङ्कानुपपत्तिः। कर्मफले हि स्वर्गादावनुभवानारूढे स्यादाशङ्का भवेद्वा न वेति, अनुभवारूढं तु ज्ञानफलम् 'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ० ३।४।१) इति श्रुतेः, 'तत्त्वमसि' [छा० ६।८।७] इति च सिद्धवदुपदेशात्। नहि 'तत्त्वमसि' इत्यस्य वाक्यस्यार्थस्तत्त्वं मृतो भविष्यसीत्येवं परिणेतुं शक्यः। 'तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च' [बृ० १।४।१०] इति च सम्यग्दर्शनकालमेव तत्फलं सर्वात्मत्वं दर्शयति। तस्मादैकान्तिकी विदुषः कैवल्यसिद्धिः ॥ ३२ ॥

ज्ञान के फल के प्रत्यक्ष होने से, फलाभाव की आशङ्का की अनुपपत्ति है, अनुभव में अनारूढ (अप्राप्त) कर्मफल स्वर्गादिविषयक आशङ्का हो सकती है कि वह फल होगा या नहीं होगा। (जो साक्षात् व्यवधानरहित अपरोक्ष अगौण ब्रह्म है वह आत्मा है) इस श्रुति से, और (वही तुम हो) इस सिद्धतुल्य उपदेश से ज्ञान का फल तो

अनुभव में आरूढ़ निज स्वरूप ही है, ज्ञानकृत ब्रह्मभावरूप फल कर्मफल के समान भावी नहीं है, जिससे (तत्त्वमसि) इस वाक्य का अर्थ, मृतक होकर तुम ब्रह्म होगे, इस प्रकार से परिणत नहीं किया जा सकता है। (उस ब्रह्म को इस आत्मस्वरूप में देखता हुआ वामदेव ऋषि ने सर्वात्म भाव को समझा कि मैं ही मनु और सूर्य हुआ था) यह श्रुति सम्यक् दर्शन काल में ही सर्वात्मता रूप उसके फल को दर्शाती है, जिससे विद्वान् को नियत कैवल्य की सिद्धि होती है ॥ ३२ ॥

अक्षरध्यधिकरण ॥ २० ॥

निषेधानामसंहारः संहारो वा न संहृतिः। आनन्दादिवदात्मत्वं नैषां संभाव्यते यतः ॥१॥
श्रुतानामश्रुतानां च निषेधानां समा यतः। आत्मलक्षणता तस्माद्दार्ढ्यायास्तूपसंहृतिः ॥२॥

अक्षरविद्या में पठित निषेधात्मक विशेषणों का सर्वत्र अवरोध उपसंहार सम्बन्ध होता है, क्योंकि धर्मो की समानता और उसी ब्रह्म की सर्वत्र सत्ता सम्बन्ध में हेतु उपसद के समान है, वह पूर्व मीमांसा मे कहा है ॥ संशय है कि निषेधों का आनन्दादि के समान उपसंहार होता है, अथवा नहीं होता है। पूर्वपक्ष है कि निषेधों का उपसंहार नहीं होता है जिससे आनन्दादि के समान इन निषेधों की आत्मता की सम्भावना नहीं की जाती है, अर्थात् आनन्दादि आत्मस्वरूप हैं, इससे उनका उपसंहार होता है, निषेध भावभूत ब्रह्मस्वरूप नहीं हो सकते, इससे इनका उपसंहार नहीं होता है ॥ सिद्धान्त है कि श्रुत वा अश्रुत सब निषेधों को आत्मा की लक्षणता तुल्य है, इससे दृढ़ता के लिए उपसंहार होता है ॥ १–२ ॥

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्या-मौपसदवत्तदुक्तम् ॥ ३३ ॥

वाजसनेयके श्रूयते—'एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहम्' (बृ० ३।८।८) इत्यादि। तथाथर्वणे श्रूयते—'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णम्' (मु०१।१।५) इत्यादि। तथैवान्यत्रापि विशेषनिराकरणद्वारेणाक्षरं परं ब्रह्म श्राव्यते। तत्र च क्वचित्केचिदतिरिक्ता विशेषाः प्रतिषिध्यन्ते। तासां विशेषप्रतिषेधबुद्धीनां किं सर्वासां सर्वत्र प्राप्तिरुत व्यवस्थेति संशये श्रुतिविभागाद्व्यवस्थाप्राप्तावुच्यते—अक्षरविषयास्तु विशेषप्रतिषेधबुद्धयः सर्वाः सर्वत्रावरोद्धव्याः सामान्यतद्भावाभ्याम्, समानो हि सर्वत्र विशेषनिराकरणरूपो ब्रह्मप्रतिपादनप्रकारः। तदेव च सर्वत्र प्रतिपाद्यं ब्रह्माभिन्नं प्रत्यभिज्ञायते, तत्र किमित्यन्यत्र कृता बुद्धयोऽन्यत्र न स्युः। तथाच 'आनन्दादयः प्रधानस्य' (ब्र० सू० ३।३।११) इत्यत्र व्याख्यातम्। तत्र विधिरूपाणि विशेषणानि चिन्तितानीह प्रतिषेधरूपाणीति विशेषः। प्रपञ्चार्थश्चायं चिन्ताभेदः। औपसदवदिति निदर्शनम्। यथा जामदग्न्येऽहीने पुरोडाशिनीषूपसत्सु चोदितासु पुरोडाशप्रदानमन्त्राणाम् 'अग्नेर्वेहोत्रं

वेरध्वरम्' इत्येवमादीनामुद्गातृवेदोत्पन्नानामप्यध्वर्युभिरभिसम्बन्धो भवति, अध्वर्युकर्तृकत्वात्पुरोडाशप्रदानस्य, प्रधानतन्त्रत्वाच्चाङ्गानाम्। एवमिहाप्यक्षरतन्त्रत्वात्तद्विशेषणानां यत्र क्वचिदप्युत्पन्नानामक्षरेण सर्वत्राभिसम्बन्ध इत्यर्थः। तदुक्तं प्रथमे काण्डे—'गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः' (जै० सू० ३।३।८) इत्यत्र ॥ ३३ ॥

वाजसनेयक म सुना जाता है कि (जिस आकाश के आश्रयविषयक प्रश्न किया है, हे गार्गी ! वह यह है कि जिसको ब्राह्मण लोग अक्षर कहते ह अर्थात् ब्रह्मवेत्ता जिसको अविनाशी कहते है, यदि कहो कि वह अक्षर क्या ह, तो कहा जाता है कि वह अस्थूल, अनणु अह्रस्व अदीर्घ, अलोहित, अस्नेह है। अर्थात् स्थूलादि स भिन्न है) इत्यादि। इसी प्रकार अथर्वण म सुना जाता है कि (अब यह पराविद्या कही जाती है कि जिससे वक्ष्यमाण अक्षर प्राप्त किया जाता है वह पराविद्या है। जो वह अदृश्य ज्ञानेन्द्रियो का अविषय और कर्मेन्द्रियो से अग्राह्य और गोत्ररहित वर्णरहित है) इत्यादि। इसी प्रकार अन्यत्र भी विशेषो के निराकरण (निषेध) द्वारा अक्षर परब्रह्म का श्रवण कराया जाता है, उनमे कही कोई अतिरिक्त (अधिक) विशेष प्रतिषिद्ध होते हैं, यहाँ उन सब विशेषो की—प्रतिषेध—बुद्धियो की सर्वत्र प्राप्ति होती है, अथवा व्यवस्था रहती है, ऐसा सशय के होने पर फिर श्रुतियों के विभाग से तत्तत् निषेधो की तत्तत् श्रुतियो मे व्यवस्थारूप पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर कहा जाता है कि, सामान्य और तद्भाव से अक्षरविषयक सब विशेष प्रतिषेधबुद्धि सर्वत्र उपरोद्धव्य हैं, अर्थात् निषेध की समता ब्रह्म की एकता से सर्वत्र सब निषेध का उपसहार होता है। जिससे विशेषो का निराकरण रूप ब्रह्म के प्रतिपादन का प्रकार सर्वत्र समान है और निषेधो द्वारा प्रति प्रतिपादन के योग्य प्रतिपाद्य वही अभिन्न ब्रह्म सर्वत्र प्रत्यभिज्ञात होता है, एक परब्रह्म की सर्वत्र प्रत्यभिज्ञा होती है। तो उस ब्रह्मविषयक अन्यत्र की गई बुद्धि किसी अन्य श्रुति म क्यो नहीं होगी। इसी प्रकार (आनन्दादय प्रधानस्य) इस सूत्र मे व्याख्यान किया जा चुका है। वहाँ विधिरूप विशेष चिंतित (विचारित) हुए हैं, यहाँ निषेध रूप वाले चिन्तित हुए हैं, यह भेद है और यह विचार का भेद विस्तार से समझने के लिए किया गया है। औपसद्वत्—यह दृष्टान्त है कि जैस यमदग्नि से कृत आचरित होने स यामदग्न्य नामक अहीन (चार दिनो म समाप्त होने वाले कई यज्ञ) म पुरोडाश से सिद्ध होने वाली कई एक इष्टियो की विधि होने पर (अग्नेर्वेहोत्रं वेरध्वरम्) वेर (देवगण के) होत्र और अध्वर हे अग्ने ! तुम से ही होते हैं। इत्यादि उद्गातृवेद (साम) म उत्पन्न पुरोडाश प्रदान मन्त्रो का अध्वर्युओ के साथ अभिसम्बन्ध होता है, क्योकि पुरोडाश का प्रदान अध्वर्युकर्तृक होता है, अध्वर्यु ही पुरोडाश का प्रदान करता है, इससे सामवेद म भी उत्पन्न मन्त्र का अध्वर्यु प्रयोग करता है, उद्गाता उसका उद्गान नहीं करता है क्योकि अङ्गो को प्रधानाधीनत्व होता है, मन्त्र

अङ्ग है, और पुरोडाश-प्रदान अङ्गी कर्म है। इसी प्रकार यहाँ भी अक्षर के विशेषणों के अक्षर के अधीन होने से जहाँ कहीं भी उत्पन्न विशेषणों को अक्षर के साथ सर्वत्र सम्बन्ध होगा यह सूत्रार्थ है। वह प्रथमकाण्ड में कहा है कि उत्पत्ति गौण होता है और विनियोग प्रधान होता है यहाँ गुण मुख्य के व्यतिक्रम विरोध होने पर गुण के मुख्यार्थक होने से बली मुख्य अध्वर्यु के साथ मन्त्रात्मक वेद का सम्बन्ध होता है, अर्थात् अध्वर्युकृत कर्म के साथ सम्बन्ध होता है, क्योंकि कर्म विनियोग सम्बन्ध के लिए ही उस वेद की उत्पत्ति हुई है इत्यादि ॥ ३३ ॥

इयदधिकरण ॥ २१ ॥

पिबन्तौ द्वा सुपर्णेति द्वे विद्ये अथवैकता। भोक्तारौ भोक्त्रभोक्तारावििति विद्ये उभे इमे॥
पिबन्तौ भोक्त्रभोक्तारावित्युक्तं हि समन्वये। इयत्ताप्रत्यभिज्ञानाद्विद्यैका मंत्रयोर्द्वयोः॥

(ऋतं पिबन्तौ द्वा सुपर्णा) इन दोनों श्रुतियों मे विद्या-उपदेश एक है। जिससे तुल्य संख्यायुक्त जीव और ईश्वर मात्र का दोनो में वर्णन है तथा आनन्दादि की विधि और स्थूलादि का निषेध इतने ही रूप से ब्रह्म चिन्तनीय है, कि जिस रूप का चिन्तन के लिये विधान है। सभय, विनाशी, मर्त्यादि स्वरूप वस्तु की भी ब्रह्म से भिन्न सत्ता नहीं है, परन्तु वे सब चिन्तनीय नहीं हैं मिथ्या हैं। यहां संशय है कि उक्त दोनों श्रुतियों में दो विद्या हैं कि विद्या की एकता है। पूर्वपक्ष है कि एक श्रुति में दो भोक्ता का वर्णन है, दूसरी में एक भोक्ता और एक अभोक्ता का वर्णन है, इससे ये दो विद्यायें है। सिद्धान्त है कि पिबन्तौ, इस श्रुति में भी द्वा सुपर्णा, के समान ही एक भोक्ता और दूसरा अभोक्ता ईश्वर का वर्णन है, यह समन्वयाध्याय में कहा जा चुका है और द्वित्व संख्यायुक्त जीवेश्वर मात्र का दोनों मन्त्रो में प्रत्यभिज्ञा होती है, इससे दोनों मन्त्र मे एक विद्या है ॥ १-२ ॥

इयदामननात् ॥ ३३ ॥

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

(मु० ३।१।१) इत्यध्यात्माधिकारे मन्त्रमाथर्वणिकाः श्वेताश्वतराश्च पठन्ति। तथा कठाः—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥

(क० ३।१) इति। किमत्र विद्यैकत्वमुत विद्यानानात्वमिति संशयः। किं तावत्प्राप्तम्? विद्यानानात्वमिति। कुतः? विशेषदर्शनात्। द्वा सुपर्णेत्यत्र ह्येकस्य भोक्तृत्वं दृश्यते। एकस्य चाभोक्तृत्वम्. ऋतं पिबन्तावित्यत्रोभयोरपि भोक्तृत्वमेव दृश्यते, तदेवं रूपं भिद्यमानं विद्यां भिन्द्यादिति।

(दो सुपर्ण पक्षी तुल्य, सदा संयुक्त समान ख्याति अभिव्यक्ति वाले जीव और ईश्वर समान एक संसार और शरीर रूप वृक्ष का आश्रयण करते हैं, इनमे से एक तो उस अश्वत्थ वृक्ष के स्वादु कर्मफल को भोगता है और एक साक्षीरूप सर्वथा प्रकाश करता है) इस मन्त्र को अध्यात्म प्रकरण म आथर्वणिक और श्वेताश्वतर पढ़ते है। इसी प्रकार कठ पढते हैं कि (सुकृत स्वयंकृत कर्म के कार्यात्मक लोकरूप इस संसार रूप शरीर म हृदयरूप गुहा म प्रविष्ट परम परार्द्ध—परमात्म स्थान म प्रविष्ट जीव और ईश्वर ऋत सत्य-अवश्यभावि कर्म फल को भोगते और भोगाते रहते हैं उनको ब्रह्म-वेत्ता लोग छाया और आतप के समान विलक्षण कहते हैं। और पञ्चाग्नि वाले तथा तीन बार नाचिकेताग्नि का चयन (संपादन) करनेवाले गृहस्थ भी इसी प्रकार कहते हैं) यहाँ संशय होता है कि विद्या की दोनो मन्त्रो मे एकता है। अथवा विद्या मे नानात्व (भेद) है। जिज्ञासा होती है कि प्रथम प्राप्त क्या होता है। पूर्व पक्ष है कि विद्या म नानात्व प्राप्त होता है। क्योंकि विशेष के दर्शन से नानात्व सिद्ध होता है। विशेष यह है कि, द्वा सुपर्णा, इस श्रुति म एक जीव को भोक्तृत्व का वर्णन देखा जाता है, एक ईश्वर के अभोक्तृत्व का वर्णन देखा जाता है। और (ऋत पिबन्तौ, इस श्रुति मे दोनो के भोक्तृत्व का ही वर्णन देखा जाता है, इससे प्रथम श्रुति मे जीवेश्वर का वर्णन है दूसरी मे जीव और बुद्धि का वर्णन है, जीव और बुद्धि में भोग का सम्भव है, उससे विद्या के रूपात्मक वेद्य वस्तु भिद्यमान (भिन्न) होती हुई विद्या को भी भिन्न करेगी।

एवं प्राप्ते ब्रवीति विद्यैकत्वमिति। कुतः ? यत उभयोरप्यनयोर्मन्त्रयोरियत्तापरिच्छिन्नं द्वित्वोपेतं वेद्यरूपमभिन्नमामनन्ति। ननु दर्शितो रूपभेदः, नेत्युच्यते, उभावप्येतौ मन्त्रौ जीवद्वितीयमीश्वरं प्रतिपादयतो नार्थान्तरम्। 'द्वा सुपर्णा' इत्यत्र तावत् 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इत्यशनायाद्यतीतः परमात्मा प्रतिपाद्यते। वाक्यशेषेऽपि च स एव प्रतिपाद्यमानो दृश्यते, 'जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानम्' (श्वे० ४।७) इति। 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यत्र तु जीवे पिबत्यशनायाद्यतीतः परमात्मापि तत्साहचर्याच्छत्रिन्यायेन पिबतीत्युपचर्यते। परमात्मप्रकरणं ह्येतत् 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २।१४) इत्युपक्रमात्, तद्विषय एव चात्रापि वाक्यशेषो भवति 'यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्' (क० ३।२) इति। 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि' (ब्र० सू० १।२।११) इत्यत्र चैतत्प्रपञ्चितम्। तस्मान्नास्ति वेद्यभेदस्तस्माच्च विद्यैकत्वम्। अपिच त्रिष्वप्येतेषु वेदान्तेषु पौर्वापर्यालोचने परमात्मविद्यैवावगम्यते तादात्म्यविवक्षयैव जीवोपादानं नार्थान्तरविवक्षया। नच परमात्मविद्याया भेदाभेदविचारावतारोऽस्तीत्युक्तम्। तस्मात्प्रपञ्चार्थ एवैष योगः। तस्माच्चाधिकधर्मोपसंहार इति ॥ ३४ ॥

इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर कहते हैं कि विद्या की एकता है। किस हेतु से

एकता है कि जिससे इन दोनों मन्त्रों में इयत्ता से परिच्छिन्न अर्थात् द्वित्वसंख्यायुक्त वेद्यात्मक विद्या का रूप अभिन्न कहते हैं। यदि कहा जाय कि रूप का भेद दर्शित कराया गया है, तो कहा जाता है कि रूप का भेद नहीं है, ये दोनों ही मन्त्र जीवात्मा रूप द्वितीय वाला (जीवसहित) ईश्वर का प्रतिपादन करते हैं, बुद्धि रूप अर्थान्तर का प्रतिपादन कोई मन्त्र नहीं करता है। 'द्वा सुपर्णा' इस मन्त्र में तो (अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति) इस मन्त्र भाग से भोगेच्छ रूप बुभुक्षा आदि से रहित परमात्मा का प्रतिपादन किया जाता है, और (अनेक योगादि से जुष्ट-सेवित अन्य असंसारी ईश्वर का और उसकी महिमा का जब जीव साक्षात्कार करता है तब शोकरहित होता है) इस वाक्य-शेष में भी वही परमात्मा प्रतिपाद्यमान (निरूपित) देखा जाता है और (ऋतं पिबन्तौ) यहाँ तो जीव के कर्म फल पान (भोग) करते रहने पर अशनाया भोगादि से रहित परमात्मा भी उस जीव के साहचर्य छत्रीन्याय से पीता है, भोगता है ऐसा उपचार-गौण व्यवहार किया जाता है, अर्थात् भोगयिता होने से भोक्ता कहा जाता है। जिससे (धर्म से पृथक् असंग स्वरूप है अधर्म से पृथक् है) इस उपक्रम से यह परमात्मा का प्रकरण है। और उस परमात्मा-विषयक ही वाक्यशेष भी है कि (जो यज्ञकर्ताओं को दुःखसागर से पार करने के लिये सेतु के समान है, जो अक्षर परब्रह्म है) (गुहां प्रविष्टौ) इत्यादि सूत्र में यह विस्तार से कहा गया है। जिससे वेद्य वस्तु का भेद नहीं है, उससे विद्या की एकता है। पूर्वापर के आलोचन करने पर मुण्डक, श्वेताश्वतर और कठ इन तीनों उपनिषदों में परमात्मविद्या ही अवगत (अनुभूत) होती है। परमात्मा के साथ तादात्म्य (अभेद) की विवक्षा से ही जीव का ग्रहण है, अर्थान्तर की विवक्षा से नहीं और परमात्मविद्या के अभेदविषयक होने से परमात्मविद्या में भेदाभेद-विचार का अवतार (सम्बन्ध) नहीं है, यह कहा जा चुका है। इससे यह सूत्र प्रपञ्चार्थक है। इसी से उन दोनों श्रुतियों में परस्पर अधिक धर्म का उपसंहार होता है ॥ ३४ ॥

अनन्तराधिकरण ॥ २२ ॥

विद्याभेदोऽथ विद्यैक्यं स्यादुपस्तकहोलयोः। समानस्य द्विराम्नानाद् द्विद्याभेदः प्रतीयते ॥
सर्वान्तरत्वमुभयोरस्ति विद्यैकता ततः। शंकाविशेषतुत्यै द्विःपाठस्तत्त्वमसीतिवत् ॥

आमननात् इस पद की पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति होती है, सूत्रार्थ है कि (यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म, य आत्मा सर्वान्तरः) इस प्रकार की श्रुति दो ब्राह्मण ग्रन्थ में पढ़ी है, वहाँ अभ्यास से कर्म-भेद के समान अभ्यास से विद्या का भेद नहीं है क्योंकि सर्वान्तरत्व के तुल्य आम्नान-आममन-कथन से विद्या की एकता सिद्ध होती है, जैसे कि (एको देवः सर्वभूतेषु गूढः) इत्यादि में एकात्मा कहा जाता है, वैसे ही यहाँ समझना चाहिये ॥ तथा अपने आत्मा के अन्तरा-मध्य में परमात्मा आनन्दादि स्वरूप से चिन्तनीय है, अभिन्न रूप से ज्ञेय है, जैसे कि भूतग्राम में विभुरूप से चिन्तनीय है, क्योंकि श्रुति ऐसी ही है

कि (अगुष्ठमात्र पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति) यहाँ सशय है कि उषस्त और कहोड ब्राह्मण म विद्या का भेद है अथवा एकता होगी। पूवपक्ष है कि तुल्य वाक्य का दो वार का कथन से अ यास द्वारा विद्या का भेद प्रतीत होता है। सिद्धान्त है कि सर्वान्तरत्व का प्रतिपादन दोना म है और वह सर्वा तर वस्तु एक ही हो सकती है दो नहा इससे रूप क अभेद से विद्या की एकता है परन्तु नवाविशेष की निवृत्ति क लिए दो बार पाठ है जैसे कि (तत्त्वमसि) का नौ बार पाठ है ॥ १२ ॥

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ॥ ३५ ॥

य साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तर' (बृ० ३।४।१–३।५।१) इत्येव द्विरुषस्तकहोलप्रश्नयोर्नैरन्तर्येण वाजसनेयिन समामनन्ति। तत्र सशय — विद्यैकत्व वा स्याद्विद्यानानात्व वेति। विद्यानानात्वमिति तावत्प्राप्तम् अभ्याससामर्थ्यात्। अन्यथा ह्यन्यूनानतिरिक्तार्थं द्विराम्नानमनर्थकमेव स्यात्। तस्माद्यथाभ्यासात्कर्मभेद एवमभ्यासाद्विद्याभेद इति।

एव प्राप्ते प्रत्याह—अन्तराम्नानाविशेषात्स्वात्मनो विद्यैकत्वमिति। सर्वान्तरा हि स्वात्मोभयत्राप्यविशिष्ट पृच्छ्यते च प्रत्युच्यते च। नहि द्वावात्मानावेकस्मिन्देहे सर्वान्तरौ सम्भवत, तत्र ह्येकस्याञ्जस सर्वान्तरत्वमवकल्पेत एकस्य तु भूतग्रामवन्नैव सर्वान्तरत्व स्यात्। यथाच पञ्चभूतसमवे देहे पृथिव्या आपोऽन्तरा अद्भ्यस्तेजोऽन्तरमिति सत्यप्यापेक्षिकेऽन्तरत्वे नैव मुख्य सर्वान्तरत्व भवति तथेहापीत्यर्थ। अथवा भूतग्रामवदिति श्रुत्यन्तर निदर्शयति, यथा—'एको देव सर्वभूतेषु गूढ सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' (श्वे० ६।११) इत्यस्मिन्मन्त्रे समस्तेषु भूतग्रामेष्वेक एव सर्वान्तर आत्माऽऽम्नायते एवमनयोरपि ब्राह्मणयोरित्यर्थ। तस्माद्वेद्यैक्याद्विद्यैकत्वमिति ॥३५॥

(जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है जो आत्मा है सर्वा तर है) इस प्रकार उषस्त और कहोड क प्रश्नो म निरन्तर पूर्वापर ब्राह्मण म दो बार वाजसनेयी पढ़ते है यहाँ सशय होता है कि विद्या की एकता होगी अथवा विद्या के नानात्व होगा। पूर्वपक्ष है कि अभ्यास के सामर्थ्य स विद्या के नानात्व ही प्राप्त होता है। अन्यथा न्यून अधिक अर्थ के नहीं रहने पर दो बार का कथन अनर्थक ही होगा। इससे (ईडो यजति) इत्यादि म यजति पद के अभ्यास स प्रयाज नामक कर्म के भेद क समान यहाँ भी अभ्यास स विद्या का भेद है॥ इस प्रकार प्राप्त होने पर प्रत्याख्यान करते है कि स्वात्मा के अन्तरा आम्नान मे कथन के अविशेष होने स विद्या की एकता है सर्वान्तर आत्मा तुल्य स्वरूप वाला ही दोनो स्थान म पूछा जाता है प्रश्न का विषय है और वही प्रत्युत्तर म कहा जाता है जिसमे एक देह म सर्वान्तर दो आत्माओं का सम्भव नहीं है दो अन्तरात्माओं के होने पर एक का तत्त्वत मुख्य सर्वान्तरत्व सिद्ध होगा। एक को तो भूतग्राम (भूतसमूह रूप देह) के समान सर्वान्तरत्व सर्वथा नहीं होगा।

जैसे कि पाँच भूतों के समूह रूप देह में पृथिवी के अन्दर जल है, जल के अन्दर तेज है इस प्रकार आपेक्षिक अन्तरत्व के रहते भी किसी भूत को मुख्य सर्वान्तरत्व नहीं होता है, वैसे ही यहाँ भी होगा यह अर्थ है। अथवा भूतग्रामवत् इस पद से अन्य श्रुति का निदर्शन कराते हैं कि (एक देव सब भूतों मे गूढ है, सब में व्यापक है, सब प्राणी का अन्तरात्मा है) इस मन्त्र मे समस्त भूतसमूहों में एक ही सर्वान्तर आत्मा कहा जाता है, इसी प्रकार इन दोनों ब्राह्मणों मे भी कहा जाता है, यह अर्थ है, इससे वेद्य की एकता से विद्या की एकता है ॥ ३५ ॥

अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३६ ॥

अथ यदुक्तमनभ्युपगम्यमाने विद्याभेद आम्नानभेदानुपपत्तिरिति तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—नायं दोषः । उपदेशान्तरवदुपपत्तेः । यथा ताण्डिनामुपनिषदि षष्ठे प्रपाठके—'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।७) इति नवकृत्वोऽप्युपदेशे न विद्याभेदो भवत्येवमिहापि भविष्यति । कथं च नवकृतोऽप्युपदेशे विद्याभेदो न भवति, उपक्रमोपसंहाराभ्यामेकार्थतावगमात् । 'भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु' (छा० ६।५।४) इति चैकस्यैवार्थस्य पुनः पुनः प्रतिपिपादयिषितव्यत्वेनोपक्षेपात् आशङ्कान्तरनिराकरणेन चासकृदुपदेशोपपत्तेः, एवमिहापि प्रश्नरूपाभेदात् । 'अतोऽन्यदार्तम्' (बृ० ३।४।२–३।५।१) इति च परिसमाप्त्यविशेषादुपक्रमोपसंहारौ तावदेकार्थविषयौ दृश्येते । 'यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म' (बृ० ३।५।१) इति द्वितीयेऽपि प्रश्ने एवकारं प्रयुञ्जानः पूर्वप्रश्नगतमेवार्थमुत्तरत्रानुकृष्यमाणं दर्शयति । पूर्वस्मिंश्च ब्राह्मणे कार्यकरणव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः कथ्यते । उत्तरस्मिंस्तु तस्यैवाशनायादिसंसारधर्मातीतत्वं कथ्यते इत्येकार्थतोपपत्तिः । तस्मादेका विद्येति ॥ ३६ ॥

जो यह कहा गया था कि विद्या के भेद नहीं मानने पर आम्नाय भेद (अभ्यास) की अनुपपत्ति (निरर्थकता) है, वह परिहार के योग्य है, इससे अब यहाँ कहा जाता है कि, उपदेशान्तर के समान उपपत्ति से यह दोष नहीं है । जैसे ताण्डियो के उपनिषद में षष्ठ प्रपाठक (छठे अध्याय) में (हे श्वेतकेतो ! वह आत्मा है और तुम वही हो) इस प्रकार नव वार उपदेश होने पर भी विद्या का भेद नहीं होता है, इसी प्रकार यहाँ भी भेद नहीं होगा । यदि कहो कि नौ वार उपदेश होने पर भी विद्या का भेद क्यों नहीं होता है, तो कहा जाता है कि उपक्रम और उपसंहार द्वारा एकार्थता के अवगम से विद्या का भेद नहीं होता है । (हे भगवन् , मुझे फिर भी समझाइये) इस प्रकार एक ही अर्थ के पुनः पुनः (वार-वार) प्रतिपादन की इच्छा के विषय रूप से उपक्षेप (उपस्थित) होने से और आशङ्कान्तर के निराकरण के द्वारा वार-वार उपदेश की उपपत्ति से विद्या का भेद नहीं है । इसी प्रकार यहाँ भी प्रश्न और रूप के अभेद से विद्या का भेद नहीं है, और (इस आत्मा से अन्य दुःखरूप

विनश्वर है) इस प्रकार परिसमाप्ति की तुलना में उपक्रम और उपसंहार दोनों ही एक अर्थविषयक देखे जाते हैं। (जो ही साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है) इस दूसरे प्रश्न में भी एवकार (एवशब्द) का प्रयोग करते हुए पूर्व प्रश्नगत अर्थ को ही आगे अनुकृष्यमाण (आकृष्ट सम्बद्ध) दर्शाते हैं। पूर्वब्राह्मण में कार्यकरण से भिन्न आत्मा का सद्भाव कहा जाता है और उत्तरब्राह्मण में तो उसी आत्मा की बुभुक्षा आदि संसार धर्म से अतीतता (असङ्गता) कही जाती है इससे एकार्थ की उपपत्ति होती है इससे विद्या एक है ॥ ३६ ॥

व्यतिहाराधिकरण ॥ २३ ॥

व्यतिहारे स्वात्मपरयोरेकधा धीरुत द्विधा । परस्यैश्वर्यादेरुत्कर्षस्य दार्ढ्याय व्यतिहारधीः ॥
ऐक्येऽपि व्यतिहारोऽस्याधीर्द्विधेशस्य जीवता । युक्तोपास्त्यै वाचनिकी मूर्तिवद्दार्ढ्यमार्थिकम् ॥

उपास्य और उपासक के विशेषण विशेष्य भाव, परस्परात्मकता का ध्यान व्यतिहार कहाता है वही उपासना का परम अवधि है वह उपासक के लिए इतर उपासनाओं के समान चिन्तनीय है जिससे उसी प्रकार विशेष रूप से श्रुति में पढ़ते हैं। (यहाँ जो सूर्यमण्डल में परमात्मा का स्वरूप है वह मैं हूँ और मैं हूँ वह वह है) इस प्रकार की विहित बुद्धि में एक प्रकार की बुद्धि करनी चाहिये कि मैं परमात्म स्वरूप हूँ अथवा दोनों प्रकार का मैं परमात्मा हूँ और परमात्मा मुझ स्वरूप जीव है ऐसा संशय होने पर पूर्वपक्ष है कि एक प्रकार की ही बुद्धि वस्तु की एकता से करना उचित है कि जिससे जीव में उत्कर्षता की सिद्धि होती है परस्पर की बुद्धि तो एकता की दृढ़ता के लिये है चिन्तन के लिये नहीं। सिद्धान्त है कि वस्तु की एकता रहने भी श्रुति के अनुसार दो प्रकार की बुद्धि कर्तव्य है ईश्वर की भी जीवता उपासना के लिए युक्त है वह वचन से प्राप्त है जैसे कि मूर्ति की उपासना वचन से प्राप्त होती है और एकता की दृढ़ता तो अर्थतः सिद्ध होती है ॥ १-२ ॥

व्यतिहारो विंशिषन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥

यथा—'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्' इत्यादित्यपुरुषं प्रकृत्य ऐतरेयिणः समामनन्ति, तथा जाबाला 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि' इति। तत्र संशयः—किमिह व्यतिहारेणोभयरूपा मतिः कर्तव्योत एकरूपैवेति (एकरूपैवेति तावत्प्राप्तं) । न ह्यत्रात्मन ईश्वरेणैकत्वं मुक्त्वान्यत्किंचिच्चिन्तयितव्यमस्ति। यदि चैवं चिन्तयितव्यो विशेषः परिकल्प्येत संसारिणश्चेश्वरात्मत्वमीश्वरस्य संसार्यात्मत्वमिति। तत्र संसारिणस्तावदीश्वरात्मत्वे उत्कर्षो भवतीश्वरस्य तु संसार्यात्मत्वे निकर्षः कृतः स्यात्, तस्मादैकरूप्यमेव मतेः। व्यतिहाराम्नायस्त्वेकत्वदृढीकारार्थ इति।

जिस प्रकार आदित्य पुरुष को प्रस्तुत करके ऐतरेयी पढ़ते हैं कि (जो वह आदित्य-

मण्डल में ब्रह्म है वह मैं हूँ और मैं हूँ वह वह है) इसी प्रकार जाबाल पढ़ते हैं कि (हे भगवन् देवते ! मैं तेरा स्वरूप हूँ तूँ मेरा स्वरूप है) इत्यादि । यहां संशय होता है कि क्या यहां व्यतिहार विशेष्य-विशेषण भाव द्वारा दो रूप वाली बुद्धि कर्तव्य है अथवा एक रूप वाली कर्तव्य है । यहां पूर्वपक्ष है कि एक रूप वाली ही बुद्धि कर्तव्य है, जिससे इस व्यतिहार में आत्माका ईश्वर के साथ एकता के विना उससे अन्य कुछ भी चिन्तन के योग्य नहीं है और यदि इस एकता के समान ही ऐसा भी विशेष चिन्तनीय कल्पित हो कि संसारी की ईश्वररूपता और ईश्वर की संसारीरूपता चिन्तनीय है, तो वहाँ संसारी को ईश्वररूपता में उत्कर्ष होगा और ईश्वर को तो जीवरूपता मे निकर्ष-अपकर्ष (हीनता) सिद्ध होगा । इससे मति की एकरूपता ही होती है, द्विरूपता नही होती है ।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—व्यतिहारोऽयमाध्यानायाम्नायते इतरवत् । यथेतरे गुणाः सर्वात्मत्वप्रभृतय आध्यानायाम्नायन्ते तद्वत् । तथाहि विशिंषन्ति समाम्नातार उभयोच्चारणेन 'त्वमहमस्म्यहं च त्वमसि' इति । तच्चोभयरूपायां मतौ कर्तव्यायामर्थवद्भवति, अन्यथा हीदं विशेषेणोभयाम्नानमनर्थकं स्यात्, एकेनैव कृतत्वात् । ननूभयाम्नानस्यार्थविशेषे परिकल्प्यमाने देवतायाः संसार्यात्मत्वापत्तेर्निकर्षः प्रसज्येतेत्युक्तम् । नैष दोषः । ऐकात्म्यस्यैवानेन प्रकारेणानुचिन्त्यमानत्वात् । नन्वेवंसति स एवैकत्वदृढीकार आपद्येत । न वयमेकत्वदृढीकारं वारयामः । किं तर्हि ? व्यतिहारेणेह द्विरूपा मतिः कर्तव्या वचनप्रामाण्यान्नैकरूपेत्येतावदुपपादयामः । फलतस्त्वेकत्वमपि दृढीभवति । यथाध्यानार्थेऽपि सत्यकामत्वादिगुणोपदेशे तद्गुण ईश्वरः प्रसिद्ध्यति तद्वत् । तस्मादयमाध्यातव्यो व्यतिहारः समाने च विषये उपसंहर्तव्यो भवतीति ॥३७॥

ऐसा प्राप्त होने पर प्रत्युत्तर कहते हैं कि यह व्यतिहार आध्यान के लिए अन्य के समान कहा जाता है । जैसे सर्वात्मत्वादि इतर गुण आध्यान के लिए कहे जाते हैं, उसी के समान यह व्यतिहार का कथन भी आध्यान के लिये है । जिससे वेदवक्ता लोग दोनों के उच्चारण द्वारा इसी प्रकार परस्पर विशेषण-विशेष्य भाव करते हैं कि (त्वमहमस्मि-अहं च त्वमसि—मैं तेरा स्वरूप हूँ, तुम मेरा स्वरूप हो) इति, वह कथन बुद्धि के उभय रूप कर्तव्य होने पर सार्थक होता है, अन्यथा नहीं, अन्यथा तो (अहं त्वमस्मि) एक इतने ही से एकमति सिद्ध होती है । इससे यह विशेष रूप से दोनों का कथन निरर्थक ही होगा, अर्थात् एक के उच्चारण से एकत्व-बुद्धि के सिद्ध होने से (अहं त्वमसि) इसका उच्चारण व्यर्थ होगा । यदि कहो कि दोनों वेद-वाक्यों को अर्थविशेष (भिन्न अर्थ) मानने पर देवता की संसारिरूपता की प्राप्ति से निकर्ष प्राप्त होगा यह प्रथम कहा जा चुका है । तो कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि इस प्रकार से भी एकात्मता ही अनुचिन्त्यमान होता है । अर्थात् ध्यान के

लिए आरोप मात्र में अपवर्तना नहीं प्राप्त होती है और एकता का चिन्तन होता है। यदि कहो कि एसे मानने पर तो जो मैंने एकत्व का दृढीकरण कहा था वही प्राप्त होता है, तो कहा जाता है कि हम एकत्व के दृढीकरण (निश्चय) का वरण नहीं करते हैं, किन्तु व्यतिहार द्वारा दो रूप वाली मति यहा वचन की प्रमाणता से कर्तव्य है एक रूप वाली नहीं कर्तव्य है, इतना ही उपपादन (सिद्ध) करते हैं। इस ध्यान रूप मतिद्वारा प्रमाणान्तर मे सिद्ध एकत्व भी फल रूप मे दृढ होता है। जैसे सत्यकामत्वादि रूप गुणोपदेश के ध्यानार्थक होने भी उन सत्यकामत्वादि गुणो वाला ईश्वर भी उस उपदेश से प्रसिद्ध (प्रतिपादित) होता है, वैसे ही यहा ध्यानार्थक उपदेश से एकत्व प्रसिद्ध होता है। इससे यह व्यतिहार आध्यान के योग्य है और समान विषय रूप अहंग्रह उपासनाओं में उपसंहार के योग्य होता है। यह हम कहते हैं ॥ ३७ ॥

सत्याद्यधिकरण ॥ २४ ॥

द्वे सत्यविद्ये एका वा यक्षरव्यादिवाक्ययोः। फलभेदादुभे लोकजयात्पापहते पृथक्। प्रकृताकर्षणादेका पापघातोऽङ्गजीफलम्। अर्थवादोऽथवा मुख्यो युक्तोधिकृतिकल्पक ॥

जो यक्ष (पूज्य) हिरण्यगर्भ वाक्य मे विद्या है, वही अग्रिम रविवाक्य मे भी विद्या है, इससे सत्यादि गुण उपसंहार के योग्य हैं। संशय है कि यक्ष-वाक्य और रवि आदि वाक्य मे सत्यविद्या दो है वा एक है, पूर्वपक्ष है कि लोकजय और पाप नाश रूप फल के भेद से दोनों सत्य विद्या पृथक् हैं। सिद्धान्त है कि दूसरे वाक्य मे भी (तद्यत्तत्सत्यम्) इस वचन मे पूर्व प्रकृत हिरण्यगर्भ का ही सम्बन्ध होने से उपास्य की एकता से विद्या की एकता है, हिरण्यगर्भ का ही दूसरे वाक्य मे सूर्य रूप से वर्णन है। पाप नाश रूप फल अहर् अहम् इन नामो के चिन्तन रूप अङ्ग का है। इससे अर्थवाद रूप है अथवा (स्वर्गकामो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत) इत्यादि के समान यहा मुख्य विधिवाक्य मे फल का श्रवण नहीं होने से अधिकारी का अश्रवण है, काम का अध्याहारपूर्वक (लोकजयकाम पापघातकामो वोपासीत) इस प्रकार से अधिकार का कल्पक होने से मुख्य ही युक्त है अर्थवाद नहीं है ॥ १–२ ॥

सैव हि सत्यादयः ॥ ३८ ॥

'स यो हैतत् महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्म' (बृ० ५।४।१) इत्यादिना वाजसनेयके सत्यविद्या सनामाक्षरोपासना विधायानन्तरमाम्नायते— 'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुष' (बृ० ५।५।२) इत्यादि। तत्र संशयः—किं द्वे एते सत्यविद्ये किं वैकैवेति। द्वे इति तावत्प्राप्तम्। भेदेन हि फलसंयोगो भवति 'जयतीमाँल्लोकान्' (बृ० ५।४।१) इति पुरस्तात्, 'हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद' (बृ० ५।५।३।४) इत्युपरिष्टात्। प्रकृताकर्षणं तूपास्यैकत्वादिति।

(वह जो कोई अधिकारी इस महान् यक्ष-पूज्य प्रथमोत्पन्न सत्य ब्रह्म हिरण्यगर्भ की उपासना करता है, उसको लोकजयरूप फल प्राप्त होता है) इत्यादि रूप से वाजसनेयक में सत्यनाम के अक्षरों की उपासना सहित सत्यविद्या का विधान करके फिर उसके बाद पढ़ा जाता है कि (वह जो सत्य है वह यह आदित्य है। जो इस सूर्यमण्डल में पुरुष है, और जो यह दक्षिण आंख में पुरुष है) इत्यादि। यहां संशय होता है कि क्या ये दो सत्यविद्यायें हैं अथवा एक ही विद्या है। दो हैं, यह प्रथम प्राप्त होता है, जिससे भेदपूर्वक फल का सम्बन्ध सुना जाता है। (इस लोक को जीतता है) यह फल प्रथम उपासना में सुना जाता है। (जो ऐसा जानता है वह पाप को नष्ट करता है और त्यागता है) यह फल दूसरी उपासना में सुना जाता है और (यत्तत्) इत्यादि से जो पूर्व प्रकृत का आकर्षण है, वह तो उपास्य की एकता से है, विद्या की एकता से नहीं।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—एकैवेयं सत्यविद्येति। कुतः? 'तद्यत्तत्सत्यम्' (बृ० ५।५।२)। इति प्रकृताकर्षणात्। ननु विद्याभेदेऽपि प्रकृताकर्षणमुपास्यैकत्वादुपपद्यत इत्युक्तम्। नैतदेवम्। यत्र तु विस्पष्टात्कारणान्तराद्विद्याभेदः प्रतीयते तत्रैतदेवं स्यात्। अत्र तूभयथा सम्भवे तद्यत्तत्सत्यमिति प्रकृताकर्षणात्पूर्वविद्यासम्बद्धमेव सत्यमुत्तरत्राकृष्यत इत्येकविद्यात्वनिश्चयः। यत्पुनरुक्तं फलान्तरश्रवणाद्विद्यान्तरमिति। अत्रोच्यते, तस्योपनिषदहरहमिति चाङ्गान्तरोपदेशस्य स्तावकमिदं फलान्तरश्रवणमित्यदोषः। अपि चार्थवादादेव फले कल्पयितव्ये सति विद्यैकत्वे चावयवेषु श्रूयमाणानि बहून्यपि फलान्यवयविन्यामेव विद्यायामुपसंहर्तव्यानि भवन्ति। तस्मात्सैवेयमेका सत्यविद्या तेन तेन विशेषेणोपेताऽऽम्नायत इत्यतः सर्व एव सत्यादयो गुणा एकस्मिन्नेव प्रयोगे उपसंहर्तव्याः।

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि यह सत्यविद्या एक ही है। क्योंकि (तद्यत्तत्सत्यम्) इस वाक्य द्वारा पूर्वप्रकृत का आकर्षण से एकता सिद्ध होती है। यदि कहो कि फल के भेद से विद्या के भेद होते भी उपास्य की एकता से प्रकृत का आकर्षण उपपन्न होता है, यह कहा जा चुका है। तो कहा जाता है कि यह आकर्षण उपास्य की एकता मात्र से नहीं है किन्तु विद्या की एकता से है। जहां विस्पष्ट कारणांन्तर प्रकरण भेदादि से विद्या का भेद प्रतीत होता हो, तहां यह उपास्य की एकता का ज्ञान ऐसा होता है, अर्थात् विद्या के भेद रहते उपास्यमात्र एक रहता है, जैसे कि दहर विद्या और शाण्डिल्य विद्या में विद्या के भेद होते भी एक ब्रह्म का प्रत्यभिज्ञा मात्र होता है। यहां तो उभयथा के सम्भव (एकत्व यहां नानात्व का संशय) होने पर, (तद्यत्तत्सत्यम्), इस वाक्य से प्रकृत के आकर्षण से पूर्व विद्या में सम्बन्ध वाला ही सत्य उत्तर विद्या में आकृष्ट होता है इससे एकविद्यात्व का निश्चय होता है, अर्थात् अपवाद के नहीं रहने

पर रूप की एकता से विद्या की एकता सामान्य रूप से सिद्ध होती है। जो यह कहा था कि फलान्तर के श्रवण रूप एकत्व के अपवाद से विद्यान्तर है। यहां कहा जाता है कि उसका उपनिषद् (रहस्य नाम) अहर् और (अहम्) है इस प्रकार जो उत्तर वाक्य में अङ्गान्तर का उपदेश है, उसकी स्तुति करने वाला वह फलान्तर का श्रवण है विद्या का दो फल इसमे नहीं है किन्तु लोकजय रूप एक ही फल है। जहां प्रधान मे फल के श्रवण से ही अङ्ग भी फलविषयक आकाक्षा स रहित रहते है, वहा अङ्ग सम्बन्धी फल श्रवण स्तावक ही होता है, इससे यहा अङ्ग म फल श्रवण स्तावक है, यह कहा गया है। वस्तुत प्रधान विधि रूप वाक्यो म (दर्शपूर्णमासाभ्या यजेत स्वर्गकाम) इत्यादि के समान (लोकजयकाम उपासीत) इत्यादि रीति से काम पद के अभाव मे अर्थवाद से ही फल के कल्पयितव्य (कल्पनायोग्य) होने से और विद्या के एकत्व होने से अवयवो म श्रूयमाण बहुत भी फल अवयवी विद्या म ही उपसहार के योग्य होते है, अर्थात् प्रधान वाक्य म एव कामादि अधिकारी के विशेषण के बिना प्रधान वाक्य म वा अङ्ग वाक्य म जो फल सुने जाते हैं, वह सब अविशेष रूप से श्रुत होने से प्रधान के ही एक फल रूप मे कल्पित होते हैं, इसमे फल भेद का अभाव है। उसमे वही एक सत्यविद्या तत्तत् विशेषणो से युक्त रूप से कही जाती है। इसम सत्यादि सभी गुण एक ही प्रयोग (उपासना) मे उपसहार के योग्य हैं ॥ ३७ ॥

केचित्पुनरस्मिन्सूत्रे इदं वाजसनेयकमक्ष्यादित्यपुरुषविषयं वाक्यं, छान्दोग्ये च—'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते' (छा० १।६।६) 'अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते' [छा० ४।१५।१] इत्युदाहृत्य सैवेयमक्ष्यादित्यपुरुषविषया विद्योभयत्रैकैवेति कृत्वा सत्यादीन्गुणान्वाजसनेयिभ्यश्छन्दोगानामुपसंहार्यान्मन्यन्ते। तन्न साधु लक्ष्यते। छान्दोग्ये हि ज्योतिष्टोमकर्मसम्बन्धिनीयमुद्गीथव्यपाश्रया विद्या विज्ञायते। तत्र ह्यादिमध्यावसानेषु हि कर्मसम्बन्धिचिह्नानि भवन्ति 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १।६।१) इत्युपक्रमे, 'तस्यर्क्च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथ' (छा० १।६।८) इति मध्ये, 'य एवं विद्वान्साम गायति' (छा० १।७।९) इत्युपसंहारे, नैवं वाजसनेयके किंचित्कर्मसम्बन्धि चिह्नमस्ति। तत्र प्रक्रमभेदाद्विद्याभेदे सति गुणव्यवस्थैव युक्तेति ॥ ३८ ॥

अन्य कई एक व्याख्यानकर्ता इस सूत्र मे इस वाजसनेय के अक्षि और आदित्य पुरुष-विषयक वाक्य को, और छान्दोग्य म वर्तमान (जो यह आदित्य के अन्दर हिरण्मय पुरुष दीखता है। जो यह आंख क अन्दर पुरुष दीखता है) इस वाक्य को उदाहरण म देकर अक्षि और आदित्य पुरुष-विषयक वही विद्या दोनों स्थान में एक ही है। ऐसा निश्चय करके वाजसनेयियो मे से सत्यादि गुणो का उपसहार छन्दोगो को करना चाहिये। ऐसा मानते हैं, वह सुन्दर नहीं दीखता है। जिससे छान्दोग्य मे ज्योतिष्टोम-

कर्मसम्बन्धिनी उद्गीथ आश्रित यह विद्या विज्ञात होती है। वहां आदि, मध्य तथा अवसान में कर्म के चिह्न भी हैं कि (यह पृथिवी ही ऋक् है, अग्नि ही साम है) यह उपक्रम में है। (उसके ऋक् और साम पर्व हैं—इससे उद्गीथ है) यह मध्य में है और (जो इस प्रकार जानने वाला सामगाता है) यह उपसंहार में है। वाजसनेयक में इस प्रकार का कर्मसम्बन्धी कोई चिह्न नहीं है। वहां प्रक्रम (उपक्रम) के भेद से विद्या के भेद होने पर व्यवस्था ही युक्त है ॥ ३८ ॥

कामाद्यधिकाराधिकरण ॥ २५ ॥

असंहृतिः संहृतिर्वा व्योम्नोर्दहरहार्दयोः । उपास्यज्ञेयभेदेन तद्गुणानामसंहृतिः ॥ १ ॥
उपास्त्यै क्वचिदन्यत्र स्तुतये चास्तु संहृतिः । दहराकाश आत्मैव हृदाकाशोपि नेतरः ॥ २ ॥

छान्दोग्य में सगुण दहर विद्या है, जिसमें सत्य कामादि गुण श्रुत हैं। बृहदारण्यक में हार्दविद्या निर्गुणविद्या है, उसमें वशित्वादि गुण श्रुत हैं, वहां छान्दोग्य श्रुत कामादि का इतरत्र बृहदारण्यक में सम्बन्ध होता है और उस छान्दोग्य में वशित्वादि का सम्बन्ध होता है, क्योंकि आयतनादि की तुल्यता से दोनों विद्या का सम्बन्ध है। यहां संशय है कि दहर और हार्द आकाश के गुणों का परस्पर उपसंहार होता है अथवा नहीं होता है। पूर्वपक्ष है कि दहराकाश उपास्य है और हार्द (हृदयवृत्ति) आकाश (आत्मा) ज्ञेय है, इससे उपास्य और ज्ञेय के भेद से उनके गुणों का उपसंहार नहीं होगा ॥ १ ॥ सिद्धांत है कि कहीं सगुणविद्या मे उपासना के लिये अन्य गुणों का उपसंहार होना चाहिये, और निर्गुणविद्या में स्तुति के लिए गुण का उपसंहार होना चाहिये। जिससे विद्या के सगुण-निर्गुण भेद होते भी जैसे दहराकाश आत्मा ही है, वैसे ही हृदयाकाश भी आत्मा से भिन्न नहीं है, इससे आत्मा की एकता से परस्पर गुणोपसंहार होता है और विद्या की एकता है ॥ १–२ ॥

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ ३९ ॥

'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' (छा० ८।१।१) इति प्रस्तुत्य छन्दोगा अधीयते—'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।१।५) इत्यादि। तथा वाजसनेयिनः—'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी' (बृ० ४।४।२२) इत्यादि। तत्र विद्यैकत्वं परस्परगुणयोगश्च किं वा नेति संशये विद्यैकत्वमिति। तत्रेदमुच्यते—कामादीति। सत्यकामादीत्यर्थः। यथा देवदत्तो दत्तः सत्यभामा भामेति। यदेतच्छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य सत्यकामत्वादिगुणजातमुपलभ्यते तदितरत्र वाजसनेयके 'स वा एष महानज आत्मा' इत्यत्र सम्बध्येत। यच्च वाजसनेयके वशित्वाद्युपलभ्यते तदपीतरत्र छान्दोग्ये 'एष

आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।१।५) इत्यत्र सम्बध्येत। कुत ? आयतनादिसामान्यात्। समान ह्युभयत्रापि हृदयमायतन समानश्च वेद्य ईश्वर समान च तस्य सेतुत्व लोकासम्भेदप्रयोजनमित्येवमादि बहुतर सामान्य दृश्यते। ननु विशेषोऽपि दृश्यते छान्दोग्ये हृदयाकाशस्य गुणयोगो वाजसनेयके त्वाकाशाश्रयस्य ब्रह्मण इति। न। 'दहर उत्तरेभ्य' (ब्र० सू० १।३।१४) इत्यत्र छान्दोग्येऽप्याकाशशब्द ब्रह्मैवेति प्रतिष्ठापितत्वात्। अय त्वत्र विद्यते विशेष — सगुणा हि ब्रह्मविद्या छान्दोग्य उपदिश्यते 'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताश्च सत्यान्कामान्' (छा० ८।१।६) इत्यात्मवत्कामानामपि वेद्यत्वश्रवणात्। वाजसनेयके तु निर्गुणमेव पर ब्रह्मोपदिश्यमान दृश्यते 'अत ऊर्ध्व विमोक्षाय ब्रूहि' (बृ० ४।३।१४) 'असङ्गो ह्यय पुरुष' (बृ० ४।३।१५) इत्यादिप्रश्नप्रतिवचनसमन्वयात्। वशित्वादि तु तत्स्तुत्यर्थमेव गुणजात वाजसनेयके सङ्कीर्त्यते। तथा चोपरिष्टात् 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६) इत्यादिना निर्गुणमेव ब्रह्मोपसहरति। गुणवतस्तु ब्रह्मण एकत्वाद्विभूतिप्रदर्शनायाय गुणोपसहार सूत्रितो नोपासनायेति द्रष्टव्यम् ॥ ३९ ॥

(अथ जो यह इस ब्रह्मपुर शरीर म दहर अल्प पुण्डरीक तुल्य वेश्म गृह है उसके अन्दर म दहर अल्पतर आकाश है अत्यन्त सूक्ष्म ब्रह्म है) ऐसा आरम्भ करके छान्दोग्य अध्ययन करते हैं कि (यह आत्मा है, और विगलित पाप वाला जरारहित, मृत्यु से रहित, शोकरहित, भूख पिपासा से रहित सत्यकाम वाला और सत्यसङ्कल्प वाला है) इत्यादि। इसी प्रकार वाजसनेयी अध्ययन करते हैं कि (वह जो महान अज आत्मा है—जो यह प्राणो म विज्ञानमय है, जो यह हृदय का आकाश है उसम शयन करता है, सबको वश म रखता है) इत्यादि। वहाँ विद्या की एकता है परस्पर गुणोपसहार होता है अथवा विद्या के भेद से गुणो का परस्पर योग (सम्बन्ध) नहीं होता है। ऐसा सशय होने पर सिद्धान्त है कि विद्या की एकता है वहाँ यह कहा जाता है कि कामादि का उपसहार होता है। कामादि का सत्यकामादि अर्थ है जैसे देवदत्त के स्थान म दत्त और सत्यभामा के स्थान म भामा यह प्रयोग (नामार्थे नामर्द्ध प्रयोग) नाम के अर्थ म नाम के अर्द्धभाग का प्रयोग होता है इस न्याय म किया जाता है वैसे ही सूत्र म कामादि यह प्रयोग किया गया है। छान्दोग्य म *हृदयाकाश का जो यह सत्यकामत्वादिगुणसमूह उपलब्ध होता है, वह इतरत्र वाजसनेयक* म (वह यह आत्मा महान् और अज है) यहाँ सम्बद्ध होगा। जो वाजसनेयक म वशित्वादि उपलब्ध होता है, वह इतरत्र छान्दोग्य म (यह आत्मा अपहतपाप्मा है) यहाँ सम्बद्ध होगा। ऐसा किस हेतु स होगा कि आयतनादि की तुल्यता से होगा। जिसम दोनो स्थान म हृदय रूप आयतन तुल्य है और वेद्य ईश्वर भी दोनो स्थान म समान (एक) है और लोक का असम्भेदन (अमिश्रण) रूप प्रयोजन वाला उस ईश्वर का सेतुत्व रूप धर्म दोनो स्थान म तुल्य है इस प्रकार अति अधिक समानता

दीख पड़ती है। यदि कहा जाय कि यह विशेष (भेद) भी दीखता है, कि छान्दोग्य में हृदयाकाश को गुणों के साथ सम्बन्ध है, और वाजसनेयक में तो आकाश आश्रय वाला ब्रह्म को गुणों के साथ सम्बन्ध है, तो कहा जाता है कि यह विशेष नहीं है, जिससे (दहर उत्तरेभ्यः) इस सूत्र में छान्दोग्य में भी आकाश शब्द का वाच्य ब्रह्म ही है यह प्रतिष्ठापित (निश्चित) हो चुका है। परन्तु यह यहां विशेष है कि सगुण ब्रह्मविद्या छान्दोग्य में उपदिष्ट होती है (अथ जो यहाँ आत्मा को जानकर और इन सत्य कामों को जानकर गमन प्रयाण करते हैं उनको सब लोकों में कामचार होता है) इस प्रकार आत्मा के समान कामों के भी वेद्यत्व के श्रवण से सगुणत्व का ज्ञान होता है। वाजसनेयक में तो निर्गुण ही परब्रह्म उपदिश्यमान (उपदिष्ट) दीखता है। सो (इसके आगे विमोक्ष के लिए ही कहिये)। यह पुरुष असंग ही है। इत्यादि प्रश्न और प्रतिवचन के समन्वय से सिद्ध होता है, और वशित्वादि गुण समूह तो उस निर्गुण की स्तुति के ही लिए वाजसनेयक में कहा जाता है, वेद्यत्व ध्येयत्व के लिए नहीं इस प्रकार आगे (सो यह आत्मा निर्देश्य विषय रूप नहीं है) इत्यादि वचनों से निर्गुण ब्रह्मविषयक ही उपसंहार करते हैं। इस प्रकार सगुण-निर्गुण ब्रह्मरूप विषय के भेद से सगुण-निर्गुण विद्या के भेद होते भी गुणवाला ब्रह्म के एक होने से (निर्गुण ब्रह्म से भिन्न नहीं होने से) विभूति के प्रदर्शन के लिए दोनों स्थानों में गुण का उपसंहार सूत्र से कहा गया है उपासना के लिए नहीं, अर्थात् सगुणविद्या में ध्येय भी गुण-निर्गुण विद्या में उपसंहृत होने पर वहाँ विद्या की स्तुति के लिए ही सत्यकामादि होते हैं, इसी प्रकार वशित्वादि सगुण विद्या में उपसंहृत होकर सगुण की स्तुति के लिए होते हैं इत्यादि ॥३९॥

आदराधिकरण ॥ २६ ॥

न लुप्यते लुप्यते वा प्राणाहुतिरभोजने। न लुप्यतेऽतिथेः पूर्वं भुञ्जीतेत्यादरोक्तितः ॥१॥
भुज्यर्थान्नोपजीवित्वात्तल्लोपे लोप इष्यते। भुक्तिपक्षे पूर्वभुक्तावादरोऽप्युपपद्यते ॥२॥

वैश्वानरविद्या के प्रकरण में प्राण अपानादि में अग्निदृष्टिपूर्वक उपासक के लिये विधि है कि (तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्) इत्यादि, जो भोजन के लिए प्रथम भात आवे वह होम के साधन रूप द्रव्य है, उसके द्वारा (प्राणाय स्वाहा) इत्यादि मन्त्रपूर्वक हवन करे, यहां किसी कारण से भोजन के लोप (अभाव) होने पर भी जल आदि के द्वारा प्राणाहुति करना ही चाहिए क्योंकि उस उपासक के लिये अतिथि से प्रथम भोजन का विधान रूप आदर से उसका अलोप सिद्ध होता है। यह पूर्वपक्ष सूत्र है। संशय है कि अभोजन काल में प्राणाहुति नहीं लुप्त होती है, वा लुप्त होती है। पूर्वपक्ष है कि अतिथि से प्रथम भोजन करे, इस प्रकार की आदरोक्ति से लुप्त नही होती है ॥ १ ॥ सिद्धान्त है भोजनार्थक अन्न का उपजीवी (कार्य) प्राणाहुति के होने से भोजन के अभाव से आहुति का अभाव होता है, और भोजन पक्ष में प्रथम भोजन होने से आदर भी उपपन्न होता है ॥ १-२ ॥

आदरादलोपः ॥ ४० ॥

छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यां प्रकृत्य श्रूयते—'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयं स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहा' (छा० ५।१९।१) इत्यादि तत्र पञ्च प्राणाहुतयो विहिताः। तासु च परस्तादग्निहोत्रशब्दः प्रयुक्तः 'य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति' (छा० ५।२४।२) इति।

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते।
एवं सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासते ॥ (छा० ५।२४।५) इति च ॥

तत्रेदं विचार्यते—किं भोजनलोपे लोपः प्राणाग्निहोत्रस्योतालोप इति। तद्यद्भक्तमिति भक्तागमनसंयोगश्रवणाद्भक्तागमनस्य च भोजनार्थत्वाद्भोजनलोपे लोपः प्राणाग्निहोत्रस्येति। एवं प्राप्ते न लुप्येतेति तावदाह। कस्मात्? आदरात्, तथाहि वैश्वानरविद्यायामेव जाबालानां श्रुतिः 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्, यथा ह वै स्वयमहुत्वाऽग्निहोत्रं परस्य जुहुयादेवं तत्' इत्यतिथिभोजनस्य प्राथम्यं निन्दित्वा स्वामिभोजनं प्रथमं प्रापयन्ती प्राणाग्निहोत्रे आदरं करोति। या हि न प्राथम्यलोपं सहते नतरां सा प्राथम्यवतोऽग्निहोत्रस्य लोपं सहेतेति मन्यते। ननु भोजनार्थभक्तागमनसंयोगाद्भोजनलोपे लोपः प्रापितः। न। तस्य द्रव्यविशेषविधानार्थत्वात्। प्राकृते ह्यग्निहोत्रे पयःप्रभृतीनां द्रव्याणां नियतत्वादिहाप्यग्निहोत्रशब्दात्कौण्डपायिनामयनवत्तद्धर्मप्राप्तौ सत्यां भक्तद्रव्यकतागुणविशेषविधानार्थमिदं वाक्यं 'तद्यद्भक्तम्' इति। अतो गुणलोपे न मुख्यस्येत्येवं प्राप्तम्। भोजनलोपेऽप्यद्भिर्वाऽन्येन वा द्रव्येणाविरुद्धेन प्रतिनिधानन्यायेन प्राणाग्निहोत्रस्यानुष्ठानमिति ॥ ४० ॥

छान्दोग्य में वैश्वानरविद्या का आरम्भ करके सुना जाता है कि (वहाँ मुख के आहवनीय अग्निरूप कल्पित होने पर जो भक्त भातादि अन्न भोजन काल में प्रथम भोजन के लिए आवे वह होम का साधनरूप द्रव्य है। वहाँ वह भोक्ता जो प्रथम आहुति करे, वह (प्राणाय स्वाहा इस मन्त्र से करे, मुख में अन्न डाले) इत्यादि। वहा पाच प्राणहुतियाँ विहित हैं, और उनमें आगे अग्निहोत्र शब्द प्रयुक्त है, उन्हें अग्निहोत्र कहा गया है कि (जो इसको इस प्रकार जानने वाला विद्वान् अग्निहोत्र करता है) इति। और (जैसे इस लोक में भूखे बालक माता की उपासना करते हैं, कि कब माता अन्न देगी, इसी प्रकार सब प्राणी इस अग्निहोत्र की उपासना करते हैं, विद्वान के भोजन से सब तृप्ति चाहते हैं) इति। यहाँ यह विचार किया जाता है कि भोजन के लोप (अभाव) होने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप होता है, अथवा नहीं लोप होता है। वहा सिद्धान्त के अनुसार, 'तद्यद्भक्तम्' इस वचन से भक्त के आगमन के संयोग के श्रवण से और भक्तागमन के भोजनार्थक होने से भोजन के लोप होने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप

होता है, ऐसा प्राप्त होने पर पूर्वपक्षी प्रथम कहता है कि भोजन के लोप होने पर भी प्राणाग्निहोत्र नहीं लुप्त होता है, किस हेतु से नहीं लुप्त होता है, ऐसा पूछने पर कहता है कि आदर रूप हेतु से नहीं लुप्त होता है, जिससे इसी प्रकार आदर का सूचक वैश्वानर विद्या में ही जावालों की श्रुति है कि (उपासक अतिथियों से प्रथम भोजन करे) यद्यपि अन्य के लिये प्रथम भोजन करना निषिद्ध है, तथापि जो वैश्वानरोपासक होकर प्रथम अतिथि को भोजन कराकर पीछे आप भोजन करता है (उसका वह भोजन ऐसा होता है कि (जैसे स्वयं अपना अग्निहोत्र हवन नही करके अन्य के अग्निहोत्र करे) यह श्रुति अतिथि भोजन की प्रथमता की निन्दा करके स्वामी (गृहस्वामी) के भोजन को प्रथम प्राप्त कराती हुई प्राणाग्निहोत्र विषयक आदर करती है। जो श्रुति प्राणाग्निहोत्र की प्रथमता के लोप को नहीं सहती है, वह प्रथमता वाले अग्निहोत्र के लोप को तो अत्यन्त ही नहीं सह सकती है, ऐसा समझा जाता है। यदि कहा जाय कि भोजनार्थ भक्त के आगमन के संयोग से भोजन के लोप मे अग्निहोत्र का लोप प्रथम प्राप्त (सिद्ध) किया गया है। अर्थात् भोजनार्थक द्रव्य का अग्निहोत्र के साथ सम्बन्ध है, इससे भोजन के लोप से उसका लोप प्राप्त होता है यह कहा जा चुका है। तो कहा जाता है कि (तद्यद् भक्तम्) इत्यादि रूप उस वचन के अग्निहोत्र सम्बन्धी द्रव्यविशेष के विधान के लिये होने से, उस वचन से भोजन के लोप से आग्निहोत्र का लोप नहीं सिद्ध हो सकता है। जिससे प्राकृत (मुख्य) अग्निहोत्र में पय-घृतादि द्रव्यों के नियतत्व होने से, यहाँ भी अग्निहोत्र शब्द के होने से जैसे कौण्डपायियों को अयनयागविशेष मे मासाग्निहोत्र में अग्निहोत्र शब्द के रहने से नित्य मुख्य अग्निहोत्र के धर्मरूप पय-घृतादि द्रव्यों की उसमें प्राप्ति होती है, वैसे ही मुख्याग्निहोत्र के धर्मरूप पय-घृतादि के प्राणाग्निहोत्र में भी प्राप्त होने पर उस उत्सर्ग (सामान्य द्रव्य) का बोध के लिए, भक्त द्रव्य की एकतारूप गुणविशेष के विधान के लिए यह वाक्य है कि (यत्तद् भक्तम्) इससे भोजन भक्तादि गुण के लोप होने पर भी मुख्य अग्निहोत्र का नहीं लोप होगा (गुणालोपे न मुख्यस्य) इस जैमिनिसूत्र से ऐसा प्राप्त हुआ। इसमे भोजन के लोप होने पर जल से वा अन्य अविरुद्ध द्रव्य से प्रतिनिधान न्याय से प्राणाग्निहोत्र का अनुष्ठान होता है। अर्थात् आरब्ध नित्यादि कर्म मे श्रुत द्रव्य के नही मिलने पर प्रतिनिहित अन्य द्रव्य से वह कर्म किया जाता है, वैसे ही यहाँ कर्तव्य है ॥ ४० ॥

अत उत्तरं पठति—

इसके बाद उत्तर पढते है कि—

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४१ ॥

उपस्थिते भोजनेऽतस्तस्मादेव भोजनद्रव्यात्प्रथमोपनिपतितात्प्राणाग्निहोत्रं निर्वर्तयितव्यम्। कस्मात्? तद्वचनात्। तथाहि—'तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम्' (छा० ५।१९।१) इति सिद्धवद्भक्तोपनिपातपरामर्शेन परार्थद्रव्य-

साधयता प्राणाहुतीनां विदधाति । ताः अप्रयोजकलक्षणापन्नाः सत्यः कथं भोजनलोपे द्रव्यान्तरं प्रतिनिधापयेयुः । न चात्र प्राकृताग्निहोत्रधर्मप्राप्तिरस्ति, कुण्डपायिनामयने हि 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' इति विध्युद्देशगतोऽग्निहोत्रशब्दस्तद्वद्भावं विधापयतीति युक्ता तद्धर्मप्राप्तिः । इह पुनरर्थवादगतोऽग्निहोत्रशब्दो न तद्वद्भावं विधापयितुमर्हति । तद्धर्मप्राप्तौ चाभ्युपगम्यमानायामग्न्युद्धरणादयोऽपि प्राप्येरन् । नचास्ति सम्भवः, अग्न्युद्धरणं तावद्धोमाधिकरणभावाय, नचायमग्नौ होमो भोजनार्थताव्याघातप्रसङ्गात्, भोजनोपनीतद्रव्यसम्बन्धाच्चास्य एवैष होमः । तथाच जाबालश्रुतिः 'पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्नीयात्' इत्यास्याधारामेवमा होमनिवृत्तिं दर्शयति । अतएव चेहापि सम्पादयन्नन्यान्यग्निहोत्राङ्गानि दर्शयति—'उर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः' (छा० ५।१८।२) इति । वेदिश्रुतिश्चात्र स्थण्डिलमात्रोपलक्षणार्था द्रष्टव्या, मुख्याग्निहोत्रे वेद्यभावात्, तदङ्गानां चेह सम्पिपादयिषितत्वात् । भोजनेनैव च कृतकालेन संयोगान्नाग्निहोत्रकालावरोधसम्भवः । एवमन्येऽप्युपस्थानादयो धर्माः केचित्कथंचिद्विरुध्यन्ते । तस्माद्भोजनपक्ष एवैते मन्त्रद्रव्यदेवतासंयोगात्पञ्च होमा निर्वर्तयितव्याः । यत्त्वादरदर्शनवचनं तद्भोजनपक्षे प्राथम्यविधानार्थम् । नह्यस्ति वचनस्यातिभारः । नत्वनेनास्य नित्यता शक्यते दर्शयितुम् । तस्माद् भोजनलोपे लोप एव प्राणाग्निहोत्रस्येति ॥ ४१ ॥

भोजन के उपस्थित (प्राप्त) होने पर—अतः इसी प्रथमप्राप्त भोजन द्रव्य से प्राणाग्निहोत्र सिद्ध करना चाहिये। किस हेतु से ऐसा करना चाहिए इस प्रश्न का उत्तर है कि उस भोजन का विधायक वचन से ऐसा करना चाहिये जिससे इस प्रकार का वचन है कि (जो वह भात प्रथम आवे सो होम का साधनरूप द्रव्य है) इस वचन में सिद्ध द्रव्य के समान भक्तोपनिपात (प्रकृतभक्तागमन) का तत् शब्द से परामर्श करके प्राणाहुति की परार्थ द्रव्य (भोजनार्थ द्रव्य) साध्यता का श्रुति विधान करती है, इससे भोजनार्थक द्रव्य इन आहुतियों का प्रयोजक है जैसे क्रतु विशेष गोदोहनादि का प्रयोजक होता है यहाँ क्रतु के लोप में गोदोहनादि का लोप होता है, वैसे ही यहाँ भोजनार्थ द्रव्य रूप प्रयोजक (हेतु) के लोप से प्राणाहुतियों का लोप होता है, क्योंकि भोजन के लोप में अप्रयोजक (प्रयोजकरहित) लक्षण (स्वरूप) को आपन्न (प्राप्त) हुई वे आहुतियाँ भोजन के लोप के रहते द्रव्यान्तर का प्रतिनिधि रूप से कैसे प्राप्त करेंगी। यहाँ अग्निहोत्र शब्द से प्राकृत मुख्य अग्निहोत्र के धर्म पय घृतादि की प्राप्ति नहीं है कि जिसका यह भक्त विधि अपवाद हो। जिससे कुण्डपायियों के अयन में तो (एक मास तक अग्निहोत्र करे) इस विधि उद्देश (विधिवाक्य) गत अग्निहोत्र शब्द, तद्वद्भाव (नित्याग्निहोत्र सदृशता) का विधान कर सकता है इससे वहाँ नित्याग्निहोत्र के धर्मों की प्राप्ति युक्त है और इस प्राणाग्निहोत्र में तो अर्थवादगत अग्निहोत्र शब्द है, वह तद्वद्भाव का विधान करवाने योग्य नहीं है। इससे

नित्याग्निहोत्र के धर्मों की प्राप्ति मानने पर, अग्नि उद्धरणादि भी प्राप्त होंगे, और उनका सम्भव नहीं है, क्योंकि अग्नि का उद्धरण (आहवनीय कुण्ड में स्थापन) होम की अधिकरणता के लिये होती है। भोजनार्थता के व्याघात (विरोध) के प्रसंग से यह होम अग्नि में नहीं होता है। भोजन के लिए उपस्थित द्रव्य के सम्बन्ध से मुख में यह होम होता है और (अतिथियों से प्रथम भोजन करे) इस प्रकार की जाबाल-श्रुति मुख में ही इस होम की सिद्धि को दर्शाती है, यहां मुख्याग्निहोत्र धर्मों की अप्राप्ति से ही यहां पर भी (सांपादिक) काल्पनिक ही अग्निहोत्र के अङ्गों को श्रुति दर्शाती है कि (इस वैश्वानररूप भोक्ता का उर ही वेदि है, लोम कुश है, हृदय गार्हपत्याग्नि है, मन अन्वाहार्यपचन अग्नि है, मुख आहवनीय अग्नि है) मुख्य अग्निहोत्र में वेदि के अभाव से वेदि श्रुति यहाँ स्थण्डिल (संस्कृत भूमि) मात्र का उपलक्षणार्थक है, ऐसा समझना चाहिये। जिससे मुख्याग्निहोत्र के अङ्गों को ही यहां सम्पादन की इच्छा के विषयत्व है। निश्चित काल वाला भोजन ही के साथ सम्बन्ध से अग्निहोत्र के सायं प्रातःकाल के अवरोध (अनुसरण-प्राप्ति) का सम्भव नहीं है। इसी प्रकार अन्य भी उपस्थानादि मुख्याग्नि होत्र के कोई धर्म किसी प्रकार प्राणाग्निहोत्र में विरुद्ध होते हैं। इससे भोजन पक्ष में ही मन्त्र, द्रव्य और देवता (प्राण) के संयोग से ये पांच होम सिद्ध करने योग्य हैं। जो आदर दर्शन रूप वचन है, वह भोजन पक्ष मे प्रथमता के विधान के लिये है। यद्यपि स्वामी का भोजन श्रुति आदि मे अतिथि आदि से उत्तरकाल में विहित है, तथापि विशेष उपासक के लिए प्रथम भोजन विधान में वचन को अतिभार नहीं है। परन्तु इस भोजन की प्रथमता मात्र से इस प्राणाग्निहोत्र की नित्यता को नही दर्शा सकते हैं, इससे भोजन के लोप होने पर प्राणाग्निहोत्र का लोप ही होता है ॥ ४१ ॥

तन्निर्धारणाधिकरण ॥ २७ ॥

नित्या अङ्गावबद्धाः स्युः कर्मस्वनियता उत। पर्णवत्क्रतुसम्बन्धो वाक्यान्नित्यास्ततो मताः ॥
पृथक्फलश्रुतेर्नैता नित्या गोदोहनादिवत्। उभौ कुरुत इत्युक्तं कर्मोपास्त्यनुपासिनोः ॥

जो कर्म के अंग उद्गीथादि हैं, उनका जो रसतमत्वादि रूप से कर्मों में निर्धारण (उपासना) किया जाता है, उसका नियम नहीं है, जिससे वह अनियम श्रुति ही में देखा जाता है कि (उभौ कुरुतः) और जिससे उपासनाओं के पृथक् फल सुने जाते हैं। उससे कर्मफल का इनके विना भी प्रतिबन्ध नहीं होता है। इत्यादि ॥ सू० ॥ कर्माङ्ग उद्गीथादि सम्बन्धी उपासनायें कर्मों में नित्य होंगी, अथवा अनियत होंगी यह संशय है। पूर्वपक्ष है कि यद्यपि ये उपासनायें आरभ्याधीत नहीं हैं, अर्थात् किसी कर्म के प्रकरण में नहीं पठित हैं। तथापि (यस्य पर्णमयीजुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति) इस श्रुति से विहित अनारभ्याधीत वर्णता का नित्ययज्ञ सम्बन्धी जुहू द्वारा वाक्य प्रमाण से क्रतु के साथ सम्बन्ध होता है, इसी प्रकार (य एवं विद्वान् साम गायति)

इत्यादि से ऋतु सम्बन्धी सामादि द्वारा उपासनाओं की यज्ञ के साथ नित्य सम्बन्ध होता है। सिद्धान्त है कि पृथक् फल के श्रवण से गोदोहन के समान ये नित्य नहीं हैं, अर्थात् (चमसेनाप: प्रणयेत्। गोदोहनेन पशुकामस्य) चमस में जल का प्रणयन करना चाहिए, पशु की इच्छा वाले के जल प्रणयन गोदोहन पात्र से करे, यहाँ गोदोहन में नित्यता नहीं है परन्तु निमित्तक जल प्रणयन के अभाव दशा में गोदोहन पात्र का भी अभाव होता है। इसी प्रकार कर्म फल में अतिशय की इच्छा के अभाव काल में उपासना की निवृत्ति होती है। इसी से (उभौ कुरुतः) इस श्रुति में उपासक अनुपासक दोनों का कर्म कहा गया है ॥ १—२ ॥

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्ध्यप्रतिबन्धः फलम् ॥ ४२ ॥

सन्ति कर्माङ्गव्यपाश्रयाणि विज्ञानानि—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) इत्येवमादीनि। किं तानि नित्यान्येव स्युः कर्मसु पर्णमयीत्वादिवदुतानित्यानि गोदोहनादिवदिति विचारयामः। किं तावत्प्राप्तम्—नित्यानीति। कुतः ? प्रयोगवचनपरिग्रहात्। अनारभ्याधीतान्यपि ह्येतान्युद्गीथादिद्वारेण क्रतुसम्बन्धात्क्रतुप्रयोगवचनेनाङ्गान्तरवत्संस्पृश्यन्ते। यत्त्वेषां स्ववाक्येषु फलश्रवणम् 'आपयिता ह वै कामानां भवति' (छा० १।१।७) इत्यादि, तद्वर्तमानापदेशरूपत्वादर्थवादमात्रमेवापापश्लोकश्रवणादिवन्न फलप्रधानम्। तस्माद्यथा 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति' इत्येवमादीनामप्रकरणपठितानामपि जुह्वादिद्वारेण क्रतुप्रवेशात्प्रकरणपठितवन्नित्यत्वमेवमुद्गीथाद्युपासनानामपीति।

(ओम् इस अक्षररूप उद्गीथ का अवयव की उपासना करे) इत्यादि कर्माङ्ग आश्रित उपासनायें हैं। यहाँ विचार करते हैं कि क्या ये पर्णमयीत्वादि के समान कर्मों में नित्य होंगे, अथवा गोदोहनादि के समान अनित्य होंगे। प्रथम क्या प्राप्त होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष होता है कि नित्य हैं क्योंकि प्रयोग वचन से परिगृहीत हैं। अंग और प्रधान के सम्बन्ध के बोध होने पर प्रयोग के प्राशुभाव (विलम्बाभाव शीघ्रता) के बोधक वचन को प्रयोगवचन कहते हैं। पर्णता के समान अनारभ्याधीत भी ये विज्ञान, पर्णता जैसे जुहू द्वारा क्रतु सम्बद्ध होता है, वैसे ये विज्ञान उद्गीथादि कर्माङ्ग के द्वारा क्रतु (याग) से सम्बद्ध होते हैं, फिर कल्पित प्रयोग वचन से ही ये विज्ञान अन्य अङ्गों के समान क्रतु के साथ साक्षात् संस्पृष्ट हो जाते हैं कि (विज्ञानैरुपकार सम्पाद्य क्रतुमिष्टं साधयेत्) विज्ञानों द्वारा क्रतु में उपकार साहाय्य सिद्ध करके क्रतु से स्वर्गादि इष्ट को सिद्ध करे। इस प्रकार क्रतु में उपकारक भी इन विज्ञानों के जो स्वविधायक वाक्य में स्वतन्त्र फल का श्रवण है कि (जो विद्वान् इस आकार अक्षर का ही आप्ति आदि गुण वाला उद्गीथ रूप से उपासना करता है वह यजमानों के कामों को पूर्ण प्राप्त कराने वाला होता है) इत्यादि, वह वर्तमान अपदेश

(वर्तमान काल का कथन) रूप होने से अपापश्लोक श्रवणादि के समान अर्थवाद (स्तुति) मात्र ही है, फल को प्रधान रूप से बोध कराने वाला नहीं है। इसमे (जिसकी पर्णमयी जुहू होती है, वह पापश्लोक अपशब्द को नहीं सुनता है) इत्यादि क्रतु प्रकरण में अपठितो को भी जुहू द्वारा क्रतु में प्रवेश (सम्बन्ध) से जैसे प्रकरण पठितों के समान नित्यता होती है, पर्णता (पालासमयता) जैसे क्रतु का नित्य अंग होता है। इसी प्रकार उद्गीथादि द्वारा क्रतु सम्बद्ध उद्गीथादि उपासनाओं को भी नित्य अङ्गत्व होगा।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तन्निर्धारणानियम इति। यान्येतान्युद्गीथादिकर्मगुणयाथात्म्यनिर्धारणानि 'रसतम आप्तिः समृद्धिर्मुख्यप्राण आदित्य' इत्येवमादीनि नैतानि नित्यवत्कर्मसु नियम्येरन्। कुतः? तद्दृष्टेः। तथाह्यनियतत्वमेवंजातीयकानां दर्शयति श्रुतिः—'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद (छा० १।१।१०) इत्यविदुषोऽपि क्रियाभ्यनुज्ञानात्। प्रस्तावादिदेवताविज्ञानविहीनानामपि प्रस्तोत्रादीनां याजनाध्यवसानदर्शनात् 'प्रस्तोतुर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि' (छा० १।१०।९) 'तां चेदविद्वानुद्गास्यसि' (छा० १।१०।१०) 'तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि' (छा० १।१०।११) इति च। अपि चैवंजातीयकस्य कर्मव्यपाश्रयस्य विज्ञानस्य पृथगेव कर्मणः फलमुपलभ्यते कर्मफलसिद्ध्यप्रतिबन्धस्तत्समृद्धिरतिशयविशेषः कश्चित् 'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद, नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१०) इति। तत्र नाना त्विति विद्वदविद्वत्प्रयोगयोः पृथक्करणाद्वीर्यवत्तरमिति च तरप्प्रत्ययप्रयोगाद्विद्याविहीनमपि कर्म वीर्यवदिति गम्यते। तच्चानित्यत्वे विद्याया उपपद्यते, नित्यत्वे तु कथं तद्विहीनं कर्म वीर्यवदित्यनुज्ञायेत। सर्वाङ्गोपसंहारे हि वीर्यवत्कर्मेति स्थितिः। तथा लोकसामादिषु प्रतिनियतानि प्रत्युपासनं फलानि शिष्यन्ते 'कल्पन्ते ह्यस्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च' (छा० २।२।३) इत्येवमादीनि। न चेदं फलश्रवणमर्थवादमात्रं युक्तं प्रतिपत्तुम्, तथाहि गुणवाद आपद्येत। फलोपदेशे तु मुख्यवादोपपत्तिः, प्रयाजादिषु त्वितिकर्तव्यताकाङ्क्षस्य क्रतोः प्रकृतत्वात्तादर्थ्ये सति युक्तं फलश्रुतेरर्थवादत्वम्। तथानारभ्याधीतेष्वपि पर्णमयीत्वादिषु, नहि पर्णमयीत्वादीनामक्रियात्मकानामाश्रयमन्तरेण फलसम्बन्धोऽवकल्पते। गोदोहनादीनां हि प्रकृताप्प्रणयनाद्याश्रयलाभादुपपन्नः फलविधिः। तथा बैल्वादीनामपि प्रकृतयूपाद्याश्रयलाभादुपपन्नः फलविधिः, नतु पर्णमयीत्वादिष्वेवंविधः कश्चिदाश्रयः प्रकृतोऽस्ति। वाक्येनैव तु जुह्वाद्याश्रयतां विवक्षित्वा फलेऽपि विधिं विवक्षतो वाक्यभेदः स्यात्। उपासनानां तु क्रियात्मकत्वाद्विशिष्टविधानोपपत्तेरुद्गीथाद्याश्रयाणां फले विधानं न विरुध्यते। तस्माद्यथा क्रत्वाश्रयाण्यपि

गोदोहनादीनि फलसंयोगादनित्यान्येवमुद्गीथाद्युपासनान्यपीति द्रष्टव्यम्। अत एव च कल्पसूत्रकारा नैवंजातीयकान्युपासनानि क्रतुषु कल्पयांचक्रुः ॥ ४२ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि (तन्निर्धारणा नियम) इत्यादि। उन उद्गीथादिकों की निर्धारणा (उपासना) का कर्मों में अनियम है। जो ये उद्गीथादि कर्मों के गुण (अङ्ग) रूप हैं, और उनका जो याथात्म्य (तात्त्विक स्वरूप) रसतम, फलाप्ति, कर्मसमृद्धि, मुख्य प्राण, आदित्य, स्वरूप हैं। उनका जो निर्धारण (चिंतन उपासनाएँ) हैं, वह नित्य अंगों के समान कर्मों में नियमित नहीं किये जा सकते हैं। किस हेतु से नहीं किये जा सकते, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि उस अनियम के देखने से नियमित नहीं किये जा सकते। जिससे इस प्रकार की उपासनाओं के अनियतत्त्व को श्रुति दर्शाती है कि (उस ओंकार अक्षर के द्वारा दोनों कर्म करते हैं कि जो इस अक्षर के रसतमादि स्वरूप को जानते हैं, और जो कर्ममात्र को जानने वाले रसतमत्वादि को नहीं जानते हैं) इस प्रकार अविद्वान के भी कर्म विषयक अनुज्ञा-अनुमति से अनियतत्व दर्शित होता है। प्रस्तावादि के देवताओं के विज्ञानों से रहित भी प्रस्तोता आदि के याजन (यज्ञ कराने) का अध्यवसाय (निश्चय) के देखने से भी अनियम की सिद्धि होती है (हे प्रस्तोतः। जो देवता प्रस्ताव भक्ति में अनुगत है, उस प्रस्ताव भक्ति की देवता को जाने बिना यदि मेरे सामने प्रस्ताव स्तुति करोगे तो तेरा सिर गिर जायगा। उस देवता को जाने बिना यदि उद्गान करोगे, उस देवता को जाने बिना यदि प्रतिहरण करोगे) इत्यादि वचनों से चाक्रायण ऋषि ने ऋत्विजों का आक्षेप किया है, इससे उपासना रहितों की भी कर्म में प्रवृत्ति सिद्ध होती है। दूसरी बात है कि इस प्रकार के कर्मांग सम्बन्धी उपासनाओं के कर्म फल से पृथक् ही जिससे फल उपलब्ध होता है, इससे इन्हें कर्माङ्गत्व नहीं है, इनका पृथक् यह फल है कि कर्म फल की सिद्धि में अप्रतिबन्ध (प्रतिबन्धक का अभाव) होना, अर्थात् कर्म की समृद्धि कोई अतिशय विशेष कर्म फल में होना उपासना का फल है। इससे उपासना के बिना भी सामान्य कर्म फल होता है। सो श्रुति कहती है कि (उस ओंकार से दोनों कर्म करते हैं कि जो इसको इस प्रकार जानते हैं, और जो इसको इस प्रकार नहीं जानते हैं। परन्तु विद्या और अविद्या नाना (भिन्न) हैं, जो विद्या श्रद्धा और उपनिषद्-उपासना से युक्त होकर कर्म करता है उसका वही कर्म अतिवीर्य होता है। यहाँ (नानातु) इस कथन से विद्वान और अविद्वान के प्रयोगों (कर्मों) को पृथक् करने से और वीर्यवत्तरम्, यह तरप् प्रत्यय के प्रयोग से विद्यारहित भी कर्म वीर्यवान् होता है। यह समझा जाता है। सो विद्या के अनित्यत्व होने पर उपपन्न होता है। विद्या के नित्यत्व होने पर तो विद्यारहित कर्म वीर्यवत्-बली होता है, ऐसी अनुज्ञा (अनुमति) कैसे की जाती। जिससे सब अंगों के उपसंहार (सम्बन्ध) होने पर कर्म बली होता है, ऐसी स्थिति (मर्यादा) है। ऐसी प्रकार लोकादि दृष्टि से सामादि की उपासनाओं

में प्रत्येक उपासनाओ मे प्रतिनियत (भिन्न-भिन्न) फल उपदिष्ट होते हैं कि (इस विद्वान् के लिए भूमि से ऊपर और आवृत्त नीचे के लोक सब भोग देने के लिए समर्थ होते है) इत्यादि। यह फलश्रवण अर्थवाद मात्र है, ऐसा समझना युक्त नही है, जिससे उस प्रकार से अर्थवाद मानने पर गुणवाद (गौणवचन) प्राप्त होगा और फल का उपदेश रूप होने पर तो मुख्य (प्रधान) वाद की उपपत्ति (सिद्धि) होती है। प्रयाजादि मे तो इतिकर्तव्यता (कर्मप्रकार) की आकाक्षायुक्त क्रतु के प्रकृतत्व (प्रकरण) होने से क्रत्वर्थता के सिद्ध होने पर उनके फल श्रुति को अर्थवादत्वयुक्त है.। अर्थात् (दर्शपूर्णमासाभ्या स्वर्गकामोयजेत) स्वर्ग की इच्छा वाला दर्शपूर्णमास से इष्ट को सिद्ध करे) इस अधिकार विधि से ऐसा बोध होने पर, कैसे करे ऐसी आकाक्षा होने पर प्रयाजादि मे उपकार को सिद्ध करके दर्शादि से इष्ट को सिद्ध करे, इस प्रकार प्रयाजादि को प्रकरण से दर्शादि के अङ्गत्व सिद्ध होने पर फल श्रवण स्तुतिमात्र का बोधक होता है। इसी प्रकार अनारभ्याधीत पर्णमयीत्वादि मे भी फल का श्रवण स्तुतिमात्र है, जिससे अक्रियात्मक पर्णमयीत्वादि को कोई आश्रय के बिना क्रिया के साथ सम्बन्ध के बिना फल का सम्बन्ध नही सिद्ध हो सकता है, जुहू द्वारा कर्माङ्गत्व की सिद्धि से फल श्रुति को अर्थवादत्व है। गोदोहनादि को तो प्रकृत अप का प्रणयनादि रूप आश्रय के लाभ से फलविधि उपपन्न होता है। इसी प्रकार बैल्वादि को भी प्रकृत यूपादि आश्रय के लाभ से फलविधि उपपन्न है (बैल्वमन्नाद्यकामस्य) इत्यादि फलविधि सार्थक है। पर्णमयीत्वादि मे इस प्रकार का कोई प्रकृत आश्रय नहीं है, कि जो निराकाक्ष हो। किन्तु सेपरोपी का साथ मे उच्चारण रूप वाक्य से ही पर्णता की जुहू आदि आश्रयता की विवक्षा करके फल विषयक भी विधि की विवक्षा करने वाले को वाक्यभेद होगा। अर्थात् एक वाक्य मे पर्ण को प्रकृति रूप से जुहू के साथ सम्बन्ध और फल के साथ सम्बन्ध के विधान मे वाक्य भेद होगा, इससे फल श्रवण स्तुतिमात्र है, फलविधि नही है। उपासनाओं के तो क्रियात्मक होने से, फल विशिष्ट के विधान की उपपत्ति से, उद्गीथादि के आश्रित उपासनाओ के फल विषयक विधान (विधि) विरुद्ध नहीं होता है। इससे जैसे क्रतु के आश्रित भी गोदोहनादि स्वतन्त्र फल के संयोग से अनित्य हैं, इसी प्रकार फलवाली उद्गीथादि उपासनाएँ भी अनित्य हैं, ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार अनित्य होने से क्रतु के अङ्गत्व के अभाव से ही कल्पसूत्रकारो ने इस प्रकार की उपासनाओं की क्रतुओ मे कल्पना नही की है ॥ ४२ ॥

प्रदानाधिकरण ॥ २८ ॥

एकीकृत्य पृथग्वा स्याद्वायुप्राणानुचिन्तनम्। नरराभेदात्तयोरेकीकरणेनानुचिन्तनम् ॥ १ ॥
अवस्थाभेदतोऽध्यात्ममधिदैवं पृथक्श्रुतेः। प्रयोगभेदो राजादिगुणेन्द्रप्रदानवत् ॥ २ ॥

जैसे इन्द्र देवता के एक होते भी राज-अधिराजादि गुण के भेद से गुण विशिष्ट देवता के भेद को मान कर, पुरोडाश के प्रदान का भेद होता है। वैसे ही वायु और

प्राण के स्वरूप के एक होने भी अवस्थाकृत भेद से एक उपासना में भी पृथक् रूप से चिन्तन होता है। वह कहते हैं कि (नाना वा देवता पृथग्ज्ञानात्) राजादि गुण के भेद से पृथक् ज्ञान होने से देवता नाना ही है)। यहाँ संशय है कि संवर्ग विद्या में वायु और प्राण का एक करके चिन्तन करना चाहिये अथवा पृथक् चिन्तन करना चाहिये पूर्वपक्ष है कि उन दोनों के स्वरूप के अभिन्न होने से एक करके चिन्तन करना चाहिये। सिद्धान्त है कि अवस्था के भेद से अध्यात्म और अधिदैवत के पृथक् श्रवण होने से उपासना के एक होने भी प्रयोगचिन्तन का भेद होता है, जैसे कि राजा आदि गुण वाले एक इन्द्र के लिए पुरोडाश के प्रदान में भेद होता है॥ १-२॥

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४३ ॥

वाजसनेयके—'वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे' (बृ० १।५।२१) इत्यत्राध्यात्मं वागादीनां प्राणं श्रेष्ठमवधारितोऽधिदैवतमग्न्यादीनां वायुः। तथा छान्दोग्ये—'वायुर्वाव संवर्गः' (छा० ४।३।१) इत्यत्राधिदैवतमग्न्यादीनां वायुः संवर्गोऽवधारित 'प्राणो वाव संवर्गः' (छा० ४।३।३) इत्यत्राध्यात्मं वागादीनां प्राणः। तत्र संशयः—किं पृथगेवेमौ वायुप्राणावुपगन्तव्यौ स्यातामपृथग्वेति। अपृथगेवेति तावत्प्राप्तं तत्त्वाभेदात्। न ह्यभिन्ने तत्त्वे पृथगनुचिन्तनं न्याय्यम्। दर्शयति च श्रुतिरध्यात्ममधिदैवतं च तत्त्वाभेदम्—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' (ऐ० २।४) इत्यारभ्य तथा 'त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः' (बृ० १।५।१३) इत्याध्यात्मिकानां प्राणानामाधिदैविकीं विभूतिमात्मभूतां दर्शयति तथान्यत्रापि तत्र तत्राध्यात्ममधिदैवतं च बहुधा तत्त्वाभेददर्शनं भवति। क्वचिच्च 'यः प्राणः स वायुः' इति स्पष्टमेव वायुं प्राणं चैकं करोति। तथोदाहृतेऽपि वाजसनेयिब्राह्मणे 'यतश्चोदेति सूर्यः' (बृ० १।५।२३) इत्यस्मिन्नुपसंहारश्लोके 'प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति' (बृ० १।५।२३) इति प्राणेनैवोपसंहरन्नेकत्वं दर्शयति। 'तस्मादेकमेव व्रतं चरेत् प्राण्याच्चैवापान्याच्च' (बृ० १।५।२३) इति च प्राणव्रतेनैवोपसंहरन्नेतदेव द्रढयति। तथा छान्दोग्येऽपि परस्तात् 'महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपाः' (छा० ४।३।६) इत्येकमेव संवर्गं गमयति न ब्रवीत्येक एषां चतुर्णां संवर्गोऽपरोऽपरेषामिति। तस्मादपृथक्त्वमुपगमनस्येति।

वाजसनेयक में (मैं सदा बोलूँगी ही ऐसा व्रत को वाक् ने धारण किया) यहाँ अध्यात्म वाक् आदि में श्रेष्ठ प्राण अवधारित (निश्चित) हुआ है। अधिदैवत अग्नि आदि में वायु श्रेष्ठ अवधारित हुआ है। इसी प्रकार छान्दोग्य में (वायु ही सबका सबको संग्रहण संग्रसन करने वाला होने से संवर्ग है) यहाँ अधिदैवत अग्नि आदि में वायु संवर्ग अवधारित हुआ है और (प्राण ही संवर्ग है) यहाँ अध्यात्म वाक् आदि में प्राण संवर्ग अवधारित हुआ है, यहाँ संशय होता है कि इस वायु और प्राण को श्रेष्ठ और

संवर्ग रूप से पृथक अनुचिन्तनीय समझना चाहिए। अर्थात् पृथक् ये दोनों उपास्य होंगे अथवा अपृथक् रूप से उपास्य होंगे। यहां पूर्वपक्ष होता है कि तत्त्व के अभेद से अपृथक् ही उपास्य होंगे ऐसा प्राप्त होता है। जिससे अभिन्न तत्त्वविषयक पृथक् अनुचिन्तन न्याय्य नहीं है। श्रुति भी अध्यात्म और अधिदैवत तत्त्व के अभेद को दर्शाती है कि (वाक् के अभिमानी अग्नि देवता ने वाक् ही होकर मुख मे प्रवेश किया) यहाँ से आरम्भ करके (वायु प्राण होकर नासिका मे पैठा) इस प्रकार से अभेद दर्शाती है। इसी प्रकार (ये वाक्, मन और प्राण ये सभी तुल्य व्यापक है, इसीसे अनन्त है संसार के रहते इनका अभाव नहीं होता है) यह श्रुति अधिदैविक विभूति को आध्यात्मिक प्राणो के आत्मस्वरूप दर्शाती है, इसी प्रकार अन्यत्र भी तत्तत् स्थानों में अध्यात्म और अधिदैवत के तत्त्व के अभेद का दर्शन बहुधा होता है। कहीं (जो प्राण है सो वायु है) इस प्रकार विस्पष्ट ही वायु और प्राण को श्रुति एक करके उपदेश करती है। इसी प्रकार प्रथम उदाहृत वाजसनेयि ब्राह्मण में भी (जिस वायु से सूर्य उदित होता है) इस उपसंहार रूप श्लोक में (प्राण ही से यह सूर्य उदित होता है प्राण में अस्त होता है) इस प्रकार प्राण द्वारा उपसंहार करता हुआ वेद एकता को दर्शाता है। (इससे एक ही व्रत करे, प्राण का व्यापार करे और अपान का व्यापार करे) इस प्रकार एक प्राणव्रत से उपसंहार करता हुआ भी इसी प्राण और वायु के एकत्व को दृढ़ करते है। इसी प्रकार छान्दोग्य में भी आगे (अग्नि, सूर्य, चन्द्र,—और जल, तथा वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मन, इन चार चार महात्माओं को एक (क— प्रजापति जगार (निगल गया) संहार किया, वही भुवनो का रक्षक है) यह वचन ऐसा नहीं कहता है कि, अग्नि आदि एक चारों का एक संवर्ग है और वाक् आदि दूसरे चारों का अन्य संवर्ग है। इससे अनुगमन (ध्यान-चिन्तन) को पृथक्त्व नहीं है।

एवं प्राप्तेः—पृथगेव वायुप्राणावुपगन्तव्याविति। कस्मात्? पृथगुपदेशात्। आध्यानार्थो ह्ययमध्यात्माधिदैवविभागोपदेशः सोऽसत्याध्यानपृथक्त्वेऽनर्थक एव स्यात्। ननूक्तं न पृथगनुचिन्तनं तत्त्वाभेदादिति। नैष दोषः। तत्त्वाभेदेऽप्यवस्थाभेदादुपदेशभेदवशेनानुचिन्तनभेदोपपत्तेः। श्लोकोपन्यासस्य च तत्त्वाभेदाभिप्रायेणाप्युपपद्यमानस्य पूर्वोदितध्येयभेदनिराकरणसामर्थ्याभावात्। स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां वायुः' (बृ० १।५।२२) इति चोपमानोपमेयकरणात्। एतेन व्रतोपदेशो व्याख्यातः। 'एकमेव व्रतम्' (बृ० १।५।२३) इति चैवकारो वागादिव्रतनिवर्तनेन प्राणव्रतप्रतिपत्त्यर्थः। भग्नव्रतानि हि वागादीन्युक्तानि 'तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे' (बृ० १।५।२१) इति श्रुतेः, न वायुव्रतनिवृत्त्यर्थः 'अथातो व्रतमीमांसा' (बृ० १।५।२१) इति प्रस्तुत्य तुल्यवद्वायुप्राणयोरभग्नव्रतत्वस्य निर्धारितत्वात्। 'एकमेव व्रतं चरेत्' (बृ० १।५।२३) इति चोक्त्वा 'तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति'

(बृ० १।५।२३) इति वायुप्राप्तिं फलं व्रतस्यानुव्रतमनिवर्तितं दर्शयति । देवतेत्यत्र वायुः स्यादपरिच्छिन्नात्मकः)स्य प्रेप्सितत्वात्, पुरस्तात्प्रयोगाच्च 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' (बृ० १।५।२२) इति । तथा 'तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु' (छा० ४।३।४) इति भेदेन व्यपदिशति । 'ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्तस्तत्कृतम्' (छा० ४।३।८) इति च भेदेनैवोपसंहरति । तस्मात्पृथगेवोपगमनम् प्रदानवत्, यथा 'इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालमिन्द्रायाधिराजायेन्द्राय स्वराज्ञे' इत्यस्यां त्रिपुरोडाशिन्यामिष्टौ 'सर्वेषामभिगमयन्नवद्यत्यच्छम्बट्कारम्' इति अतो वचनादिन्द्राभेदाच्च सहप्रदानाशङ्कायां,—राजादिगुणभेदाद्याज्यानुवाक्याव्यत्यासविधानाच्च यथान्यासमेव देवतापृथक्त्वात्प्रदानपृथक्त्वं भवति । एवं तत्त्वाभेदेऽप्याध्येयांशपृथक्त्वादाध्यानपृथक्त्वमित्यर्थः । तदुक्तं सङ्कर्षे 'नाना वा देवता पृथग्ज्ञानात्' (जै० सू०) इति । तत्र तु द्रव्यदेवताभेदाद्यागभेदो विद्यते नैवमिह विद्याभेदोऽस्ति । उपक्रमोपसंहाराभ्यामध्यात्माधिदैवोपदेशेष्वेकविद्याविधानप्रतीतेः । विद्यैक्येऽपि त्वध्यात्माधिदैवभेदात्प्रवृत्तिभेदो भवति, अग्निहोत्र इव सायंप्रातःकालभेदात् । इत्येतावदभिप्रेत्य प्रदानवदित्युक्तम् ॥ ४३ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते है कि वायु से वायु और प्राण को पृथक् ही ध्येय समझना चाहिये । क्योंकि पृथक् उपदेश में ऐसा ही सिद्ध होता है, जिससे आध्यानचिन्तन के लिये ही अध्यात्म और अधिदैव के विभाग का उपदेश है, आध्यान के पृथक् नही होने पर यह उपदेश अनर्थक ही होगा । यदि कहो कि तत्त्व के अभेद होने से पृथक् अनुचिन्तन नही होता है, यह कहा जा चुका है । तो कहा जाता है कि भेद के चिन्तन में तत्त्व का अभेद होना, यह कोई दोष नही है । तत्त्व के अभेद होने भी अवस्था के भेद से उपदेश भेद के वश (बल) द्वारा अनुचिन्तन के भेद की उपपत्ति से दोष का अभाव है । भाव है कि तत्त्व एक है, वह उपास्य नही है, विशिष्ट वस्तु उपास्य है वह भिन्न ही है, इससे चिन्तन का भेद होता है । और (यतश्चोदेति सूर्यः) इस श्लोक मे भी प्राण मे सूर्य के उदय और अस्त का कथन तत्त्व के अभेद के अभिप्राय से सिद्ध होने से अवस्था भेदकृत पूर्वकथित ध्येय के भेद के निराकरण में उसके सामर्थ्य के अभाव से दोष नहीं है । (जैसे इन वाक् आदि प्राणो मे मृत्यु से अप्राप्त मध्यम प्राण है, इसी प्रकार इन अग्नि आदि देवताओ मे वायु मृत्यु से अप्राप्त है) इस प्रकार उपमान और उपमेय के करने से ध्येय का भेद है । इस श्लोक उपन्यास से ही तत्त्व के अभेद के अभिप्राय से व्रत का उपदेश भी व्याख्यात हो गया और (एकमेव व्रतम्) इस वचन में भी एवकार शब्द वाक् आदि के व्रतो की निवृत्ति के द्वारा प्राणव्रत की प्रतिपत्ति के लिये है, जिससे वाक् आदि भग्न (नष्ट) व्रत वाले कहे गये है कि (मृत्यु ने श्रमरूप हो कर उन का संग्रहण किया) इस श्रुति से इन्द्रियव्रत की निवृत्ति सिद्ध होती है, इससे वायु व्रत की निवृत्ति के लिए एवकार नही है क्योंकि (इसके अनन्तर व्रत की

मीमांसा प्रवृत्त होती है) इस प्रकार आरम्भ करके वायु और प्राण के तुल्यतायुक्त अभग्न व्रतत्व को निर्धारितत्व हुआ है। (एक ही व्रत करे) ऐसा कह कर (उस व्रत के द्वारा इस वायु देवता के ही सायुज्य सरूपता को और सलोकता को प्राप्त करता है) यह वचन वायु की प्राप्तिरूप फल को कहता हुआ वायुव्रत को अनिवर्तित दर्शाता है, इस वचन में देवता इस पद में वायु अर्थ है, जिससे अपरिच्छिन्न स्वरूपता को प्रेप्सितत्व (प्राप्ति की इच्छा के विषयत्व) है। प्रथम प्रयोग भी है कि (सो यह अस्तरहित देवता है कि जो वायु है) इसी प्रकार (पूर्वोक्त ये दोनों ही संवर्ग हैं, वायु ही अग्नि आदि देवों में संवर्ग हैं, प्राण ही वाक् आदि प्राणों इन्द्रियों में संवर्ग है) इस प्रकार वायु और प्राण को यह वचन भेदपूर्वक निर्देश करता है। (जो अग्नि आदि वायु से ग्रसित होते है, जो वायु उनका ग्रास करता है ये पांच वाक् आदि से अन्य हैं। इसी प्रकार इनसे भिन्न वाक् आदि और प्राण ये पांच हैं, और दोनों मिलकर दश होकर कृत कहाते हैं) यह वचन भेद से ही उपसंहार करता है। इससे प्रदान के समान प्राण और वायु का पृथक् अनुचिन्तन होता है। जैसे कि (इन्द्र राजा के लिए एकादश कपाल में सिद्ध पुरोडाश होता है, अधिराजा इन्द्र के लिये होता है, और स्वराजा इन्द्र के लिए होता है) इस तीन पुरोडाश वाली इष्टि में, साथ पुरोडाश का प्रदान होता है, वा भेद से होता है, ऐसा संशय होने पर, पूर्वपक्ष है कि (अच्छंवट् कारं) हवि की अव्यर्थता के लिए सब देवों के लिए साथ ही हवि का अवदान करना चाहिए) इस वचन से और इन्द्रत्व के अभेद से साथ ही हवि का प्रदान होना चाहिए, ऐसी आशंका होने पर सिद्धान्त है कि यद्यपि इन्द्र एक देव है, तथापि राज, अधिराज स्वराजरूप गुण भेद से विशिष्ट देवता के भेद होने से, और याज्या तथा अनुवाक्या मन्त्रों के व्यत्यास के विधान से वचन के अनुसार ही देवता की पृथकता से प्रदान को पृथकता होती है। यज, ऐसा कहने पर जो मन्त्र पढ़ा जाता है, उसे (याज्या) कहते है, अनुब्रूहि, ऐसा कहने पर पढ़ा जाता है वह पुरोऽनुवाक्या कहाता है। यहाँ इस इष्टि में जो प्रथम पुरोडाश प्रदान में, (याज्या) रहता है, वह दूसरे प्रदान में, (परोनुवाक्या) होता है। जो प्रथम अनुवाक्या रहता है, वह फिर याज्या होता है, वह (व्यत्यासमन्वाह) इस श्रुति से विहित होता है। यदि एक वार तीनों पुरोडाश का प्रक्षेप हो तो यह व्यत्यास विधान निरर्थक होगा, इससे पृथक् प्रदान होता है। इसी प्रकार वायु प्राण तत्त्व के अभेद होते भी आध्येय अंश के पृथक् होने से आध्यान में पृथक्त्व होता है यह अर्थ है। वह संकर्पकाण्ड (देवकाण्ड) में कहा है कि (राजादि गुण के भेद से भेद जाने होने से देवता नाना ही है) परन्तु इतना भेद है कि वहां द्रव्य और देवता के भेद से याग का भेद है, इस प्रकार यहाँ विद्या का भेद नहीं है। उपक्रम और उपसंहार से अध्यात्म अधिदैव उपदेशों में एक विद्या विधान की प्रतीति से विद्या की एकता है, और विद्या की एकता होते भी अध्यात्म अधिदैव के भेद से प्रयोग चिन्तनरूप प्रवृत्ति का भेद होता

है, जैसे कि सायंप्रातःकाल के भेद से अग्निहोत्र का भेद होता है। अवस्थाभेद से केवल भेद होता है तथा प्रयोग भेद होता है इतना ही अंश के अभिप्राय से प्रदानवत्, यह दृष्टान्त कहा गया है ॥ ४३ ॥

लिङ्गभूयस्त्वाधिकरण ॥ २९ ॥

कर्मशेषा स्वतन्त्रा वा मनश्चिमुखाग्नयः । कर्मशेषः प्रकरणाल्लिङ्गं त्वन्यार्थदर्शनम् ॥१॥
उन्नेयविधितो लिङ्गाद् श्रुत्या च वाक्यतः । बाध्यं प्रकरणं तस्मात्स्वतन्त्रवह्निचिन्तनम् ॥२॥

यद्यपि मनश्चिदादि नामक काल्पनिक अग्नियाँ कर्म प्रकरण में पढ़ी हुई हैं, तथापि लिङ्ग की अधिकता से स्वतन्त्र हैं, कर्माङ्ग नहीं हैं, जिससे प्रकरण में लिङ्ग बलीय होता है, वह पूर्वकाण्ड में कहा है। यहाँ संशय है कि मनश्चिदादि अग्नियाँ अग्निचयन प्रकरण में होने से कर्म के अङ्ग हैं या स्वतन्त्र हैं। पूर्वपक्ष है कि प्रकरण से कर्माङ्ग हैं, यद्यपि स्वतन्त्रता का लिङ्ग है, वह प्रकरण से बली होता है, तथापि विधि वाक्यादिगत शब्द-सामर्थ्य रूप लिङ्ग बली होता है, और अर्थवादगत अन्यार्थदर्शन रूप लिङ्ग बली नहीं होता है, वह अन्य की स्तुतिमात्र के लिए रहता है, स्वतन्त्र नहीं, इससे उस लिङ्ग से प्रकरण का बाध नहीं होता है। सिद्धान्त है कि जहाँ प्रत्यक्ष विधिवाक्य नहीं रहता है, वहाँ अर्थवाद से ही विधि उन्नय (अनुमेय) होता है। यहाँ भी लिङ् लोट आदि विधि का श्रवण नहीं है, इससे अर्थवाद से विधि की कल्पना होने से अर्थवाद विधि स्थानापन्न हो जाता है, इससे विधिगत लिङ्ग से ही, तथा (ते हैते विद्याचित एव) इस श्रुति से और वाक्य से प्रकरण बाधित हो जाता है। इससे स्वतन्त्र वह्नि का चिन्तन कर्तव्य है ॥ १–२ ॥

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥ ४४ ॥

वाजसनेयिनोऽग्निरहस्ये—'नैव वा इदमग्रे सदासीत्' इत्येतस्मिन् ब्राह्मणे मनोऽधिकृत्याधीयते 'तत्षट्त्रिंशतं सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्मनोमयान्मनश्चित' इत्यादि । तथैव 'वाक्चित प्राणचितश्चक्षुश्चित श्रोत्रचित कर्मचितोऽग्निचित' इति पृथगग्नीनामनन्ति साम्पादिकान्। तेषु संशय—किमेते मनश्चिदादयः क्रियानुप्रवेशिनस्तच्छेषभूता उत स्वतन्त्राः केवलविद्यात्मका—इति ।

वाजसनेयियों के अग्निरहस्य ग्रन्थ में (यह सब सत् प्रथम नहीं था न असत् ही था) इस ब्राह्मण ग्रन्थ में मन की सृष्टि को कहकर, फिर वह मन आत्मा को देखा, इस प्रकार दर्शनपूर्वक मन ही ने अग्नियों को देखा इस प्रकार मन को प्रस्तुत आरम्भ करके पढते हैं कि (मन ने मन से सम्पादित मनश्चित् अतएव मनोमय मनोवृत्ति से सम्पादित अर्क-पूज्य छत्तीस हजार अपने सम्बन्धी अग्नियों को देखा) यहाँ मनुष्य के सौ वर्ष की आयु सम्बन्धी छत्तीस हजार दिन होते हैं, यद्यपि उन दिनों में मन की अनन्त

वृत्तियां होती हैं, तथापि दिन से परिमित वृत्तियों को छत्तीस हजार मान कर उनमे अग्निरूपता का दर्शन कहा गया है, इत्यादि। इसी प्रकार, वाक् ने वाक्चित् अग्नियों को देखा, प्राण (घ्राण) ने प्राणचित् को देखा। चक्षु ने चक्षुचित् को देखा, श्रोत्र ने श्रोत्रचित् को देखा, कर्मेन्द्रियों ने कर्मचित् को देखा। अग्नि (त्वक्) ने त्वक्चित् को देखा। इस प्रकार साम्पादिक (सम्पादन से सिद्ध) पृथक् अग्नियों का कथन करते हैं। वहाँ संशय है कि क्या ये अग्निचिदादि क्रिया में अनुप्रवेश वाले क्रतु के लिये और क्रतु (याग) के अङ्ग स्वरूप हैं, अथवा क्रियाङ्गता के विना स्वतन्त्र केवल विद्यात्मक हैं।

तत्र प्रकरणात्क्रियानुप्रवेशे प्राप्ते स्वातन्त्र्यं तावत्प्रतिजानीते लिङ्गभूयस्त्वादिति। भूयांसि हि लिङ्गान्यस्मिन्ब्राह्मणे केवलविद्यात्मकत्वमेषामुपोद्बलयन्ति दृश्यन्ते 'तद्यत्किंचेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः' इति, 'तान्हैतानेवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति चैवंजातीयकानि। तद्धि लिङ्गं प्रकरणाद्बलीयः। तदप्युक्तं पूर्वस्मिन्काण्डे—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (जै०सू० ३।३।१३) इति ॥ ४४ ॥

वहाँ प्रकरण से क्रिया में अनुप्रवेश प्राप्त होने पर प्रथम स्वतन्त्रता की प्रतिज्ञा करते हैं कि लिङ्ग की अधिकता से ये स्वतन्त्र हैं। इस ब्राह्मण में बहुत ही लिङ्ग इनके केवल विद्यात्मकत्व को व्यक्त-सिद्ध करते हुए देखे जाते हैं। (वहाँ सब प्राणियों की मनोवृत्ति द्वारा मेरी ही अग्नियाँ सदा सम्पादित होती हैं। ऐसा ध्यान के दृढ़ होने पर सब प्राणी जो कुछ मन में संकल्प करते है, वह उन अग्नियों की ही कृति-करण है) एक लिंग यह है, क्योंकि क्रियांग की प्राणी के सङ्कल्प से सिद्धि नहीं देखी जाती है। (ऐसी उपासना वाला सोया हो वा जागा हो उसके इन अग्नियों का सम्पादन सदा सब प्राणी करते हैं) यह दूसरा लिंग है, जिससे नियतकालिक क्रियांग का सदा सबसे अनुष्ठेयत्व का असम्भव है। इस प्रकार के अन्य भी लिंग हैं, और वे लिंग प्रकरण से अति बली हैं, अतः पूर्वकांड में कहा है कि (श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या के समवाये में अर्थ की विप्रकर्षता से पर में दुर्बलता होती है) ॥ ४४ ॥

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रिया मानसवत् ॥ ४५ ॥

नैतद्युक्तं—स्वतन्त्रा एतेऽग्नयोऽनन्यशेषभूता—इति, पूर्वस्य क्रियामयस्याग्नेः प्रकरणात्तद्विषय एवायं विकल्पविशेषोपदेशः स्यान्न स्वतन्त्रः। ननु प्रकरणाल्लिङ्गं बलीयः। सत्यमेवमेतत्। लिङ्गमपि त्वेवंजातीयकं न प्रकरणाद्बलीयो भवति, अन्यार्थदर्शनं ह्येतत्, सांपादिकाग्निप्रशंसारूपत्वात्। अन्यार्थदर्शनं चासत्यामन्यस्यां प्राप्तौ गुणवादेनाप्युपपद्यमानं न प्रकरणं बाधितुमुत्सहते। तस्मात्सांपादिका अप्येतेऽग्नयः प्रकरणात्क्रियानुप्रवेशिन एव स्युः। मानसवत्, यथा दशरात्रस्य दशमेऽहन्यविवाक्ये पृथिव्या पात्रेण समुद्रस्य सोमस्य प्रजा-

पतये देवतायै गृह्यमाणस्य ग्रहणासादनहवनाहरणोपह्वानभक्षणानि मानसान्येवाम्नायन्ते । स च मानसोऽपि ग्रहकल्प क्रियाकरणात्क्रियाशेष एव भवत्येवमयमप्यग्निकल्प इत्यर्थ ॥ ४५ ॥

ये मनश्चिदादि अग्नियाँ स्वतन्त्र है अन्य के अङ्ग स्वरूप नही है, ऐसा जो कहा गया है वह युक्त नही है, जिससे (इष्टकाभिरग्निं चिनुते) ईंटों से अग्निचयन करे। इस प्रकार पूर्व क्रियामय अग्नि के प्रकरण होने से उस क्रियाविषयक ही यह विकल्प विशेष का उपदेश (सकल्पमयनामक प्रकारविशेष का उपदेश) होगा, स्वतन्त्र नही हो सकता है । यदि कहो कि प्रकरण से लिङ्ग बलीय होता है । तो यह कहना सत्य है कि विधि वाक्यगत लिंग बलीय होता है । परन्तु इस प्रकार का लिङ्ग भी प्रकरण से बली नही होता है, जिससे यह अन्यार्थक लिङ्गदर्शन है । क्योंकि साम्पादिक (कल्पित) अग्नियों के प्रशसारूपत्व इन लिङ्गो को है । अन्यार्थक दर्शन अन्य क्रियारूप प्राप्ति के नही रहने पर गुणवाद (प्रशसा) रूप से भी उपपन्न होता हुआ प्रकरण को बाधने के लिए उत्साह नही करता है (समर्थ नही होता है) जिससे साम्पादिक भी ये अग्नियाँ प्रकरण से क्रिया में अनुप्रवेश (सम्बन्ध) वाली होंगी ही जैसे कि मानसग्रहादि क्रियानुप्रवेशी होते हैं । जैसे दशरात्र क्रतु कर्म के दशम दिन में अविवाक्य (विविध वाक्यरहित दशमाह्न) में पृथिवी रूप पात्र द्वारा प्रजापति रूप देवता के लिए गृह्यमाण (गृहीत) समुद्र रूप सोमरस के पात्र का ग्रहण, और गृहीत पात्र के स्थान में स्थापन रूप आसादन, सोमरस का हवन, हुत में शेष का ग्रहण रूप आहरण, उस शेष का भक्षण के लिए अनुज्ञा-अनुमति रूप आह्वान और भक्षण ये सब मानस कहे जाते हैं । वह मानस भी ग्रह (सोमपात्र) का कल्प (प्रकार) ग्रहणादि, क्रिया के प्रकरण से क्रिया का अग होता है । इसी प्रकार यह भी अग्नि का प्रकार विशेष प्रकरण से कर्म का अग है, यह सूत्रार्थ है । मानस ग्रह की विधायक श्रुति है कि (अनया त्वा पात्रेण समुद्रं प्राजापत्यं मनोग्रहं गृह्णाति) इस भूमि रूप पात्र से तुम समुद्र रूप प्रजापति देवता वाला मन से कल्पित ग्रह सोमरस को अध्वर्यु ग्रहण करता है ॥ ४५ ॥

अतिदेशाच्च ॥ ४६ ॥

अतिदेशश्चैषामग्नीना क्रियानुप्रवेशमुपोद्बलयति—'षट्त्रिंशत्सहस्राण्यग्नयोऽर्कास्तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्व' इति । सति हि सामान्येऽतिदेश प्रवर्तते । ततश्च पूर्वेणेष्टकाचितेन क्रियानुप्रवेशिनाऽग्नि साम्पादिकानग्नीनतिदिशन्क्रियानुप्रवेशमेषा द्योतयति ॥ ४६ ॥

अतिदेश भी इन मानस अग्नियों के क्रिया में अनुप्रवेश को व्यक्त सिद्ध करता है (छत्तीस हजार पूज्य अग्नियाँ है उन में एक-एक उतनी शक्ति वाली हैं कि जितनी शक्तिवाली पूर्व अग्नि है) यह अतिदेश है । समानता के रहते अतिदेश प्रवृत्त होता है। इससे ईंटो से चित (सम्पादित) क्रियानुप्रवेशी (कर्मसम्बन्धी) पूर्व अग्नि के साथ

साम्पादिक अग्नियों का अतिदेश करता हुआ (सादृश्य बोध कराता हुआ) वचन, इन साम्पादिकों का क्रिया में अनुप्रदेश को ही द्योतन (प्रकाशन) करता है ॥ ४६ ॥

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ ४७ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । विद्यात्मका एवैते स्वतन्त्रा मनश्चिदादयोऽग्नयः स्युर्न क्रियाशेपभूताः । तथाहि निर्धारयति—'ते हैते विद्याचित एव', इति, विद्यया हैवैतं एवंविदश्चिता भवन्ति, इति च ॥ ४७ ॥

तु शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है कि ये मनश्चिदादि रूप अग्नियां विद्यात्मक स्वतन्त्र ही हो सकती हैं, क्रिया के अङ्गरूप नहीं हो सकती हैं। जिससे इसी प्रकार श्रुति निर्धारण (निश्चय) कराती है कि वे अग्नियाँ इस प्रसिद्ध विद्याचित रूप ही है) इति (इस प्रकार उपासना करने वाले की विद्या से ही ये अग्नियाँ सम्पादित होती हैं) ॥ ४७ ॥

दर्शनाच्च ॥ ४८ ॥

दृश्यते चैषां स्वातन्त्र्ये लिङ्गम्, तत्पुरस्ताद्दर्शितम् 'लिङ्गभूयस्त्वात्' (ब्र० सू० ३।३।४४) इत्यत्र ॥ ४८ ॥

इनकी स्वतन्त्रता मे लिग दीखता है, यह प्रथम दर्शित कराया गया है (लिङ्गभूयस्त्वात्) इस सूत्र में। इससे श्रुति, लिङ्ग और वाक्य से प्रकरण वाधित होता है ॥ ४८ ॥

ननु लिङ्गमप्यसत्यामन्यस्यां प्राप्तावसाधकं कस्यचिदर्थस्येत्यपास्य तत्प्रकरणसामर्थ्यात्क्रियाशेपत्वमध्यवसितमिति, अत उत्तरं पठति—

यहाँ शंका होती है कि अन्य प्राप्ति के नहीं रहने पर लिङ्ग भी किसी अर्थ का साधक नहीं होता है, इससे उस लिङ्ग को त्याग कर प्रकरण के सामर्थ्य से प्रथम उक्त अग्नियों के क्रियाशेपत्व अध्यवसित (निश्चित) किया जा चुका है। इससे उत्तर पढ़ते हैं कि—

श्रुत्यादिवलीयस्त्वाच्च न वाधः ॥ ४९ ॥

नैवं प्रकरणसामर्थ्यात्क्रियाशेपत्वमध्यवसाय स्वातन्त्र्यपक्षो वाधितव्यः, श्रुत्यादेर्वलीयस्त्वात । बलीयांसि हि प्रकरणाच्छ्रुतिलिङ्गवाक्यानीति स्थितं श्रुतिलिङ्गसूत्रे। तानि चेह स्वातन्त्र्यपक्षं साधयन्ति दृश्यते। कथम्? श्रुतिस्तावत् 'ते हैते विद्याचित एव' इति। तथा लिङ्गम् 'सर्वदा सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' इति। तथा वाक्यमपि 'विद्यया हैवैत एवंविदश्चिता भवन्ति' इति। 'विद्याचिते एव' इति हि सावधारणेयं श्रुतिः क्रियानुप्रवेशेऽमीषामभ्युपगम्यमाने पीडिता स्यात्। नन्ववाह्यसाधनत्वाभिप्रायमिदमवधारणं भविष्यति। नेत्युच्यते। तदभिप्रायतायां हि विद्याचित इतीयता स्वरूपसंकीर्तनेनैव कृतत्वादनर्थकमवधारणं भवेत्, स्वरूपमेव ह्येषामवाह्यसाधनमिति।

अबाह्यसाधनत्वेऽपि तु मानसग्रहवत्क्रियानुप्रवेशशङ्कायां तन्निवृत्तिफलमवधारणमर्थवद्भविष्यति। तथा 'स्वपते जाग्रते चैवंविदे सर्वदा सर्वाणि भूतान्येतानग्नींश्चिन्वन्ति' इति सातत्यदर्शनमेषां स्वातन्त्र्येऽवकल्पते। यथा साङ्पादिके वाक्प्राणमयेऽग्निहोत्रे 'प्राणं तदा वाचि जुहोति—वाचं तदा प्राणे जुहोति' (कौ० २।५) इति चोक्त्वोच्यते—'एते अनन्ते अमृते आहुती जाग्रच्च स्वपंश्च सततं जुहोति' (कौषी० २।५) इति, तद्वत्। क्रियानुप्रवेशे तु क्रियाप्रयोगस्याल्पकालत्वेन न सातत्येनैषां प्रयोगः कल्पेत। न चेदमर्थवादमात्रमिति न्याय्यम्। यत्र हि विस्पष्टो विधायको लिङादिरुपलभ्यते युक्तं तत्र संकीर्तनमात्रस्यार्थवादत्वम्। इह तु विस्पष्टविध्यन्तरानुपलब्धेः सङ्कीर्तनादेवैषां विज्ञानविधानं कल्पनीयम्, तच्च यथासङ्कीर्तनमेव कल्पयितुं शक्यत इति सातत्यदर्शनात्तथाभूतमेव कल्पते। ततश्च सामर्थ्यादेषां स्वातन्त्र्यसिद्धिः। एतेन 'तद्यत्किंचेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेव सा कृतिः' इत्यादि व्याख्यातम्। तथा वाक्यमपि 'एवंविदे' इति पुरुषविशेषसम्बन्धमेवैषामाचक्षाणं न क्रतुसम्बन्धं मृष्यते। तस्मात्स्वातन्त्र्यपक्ष एव ज्यायानिति॥ ४९॥

श्रुति आदि के अधिक बली होने से इस प्रकार प्रकरण-सामर्थ्य से क्रियाशेषत्व का निश्चय करके स्वतन्त्रतावाद बाध के योग्य नहीं है। जिससे श्रुति, लिङ्ग, और वाक्य प्रकरण से अधिक बल वाले है, यह श्रुति-लिङ्गादि सूत्र में स्थित (निश्चित) किया गया है। और ये श्रुति आदि प्रमाण यहाँ स्वतन्त्रता पक्ष को सिद्ध करते हुए दीखते हैं। कैसे दीखते हैं, यह कहा जाता है कि प्रथम तो श्रुति है कि (सो ये अग्नियाँ विद्याचित ही हैं) इसी प्रकार लिङ्ग है कि (सोते हुए उपासक के भी इन अग्नियों का चयन सदा सब प्राणी करते हैं) इसी प्रकार वाक्य भी है कि (ऐसे उपासक के ये अग्नियाँ विद्या से ही चित होती हैं) और (विद्याचित ही होती है) यह अवधारण सहित श्रुति इनके क्रिया में अनुप्रवेश मानने पर पीडित (बाधित) होगी। यदि कहा जाय कि यह अवधारण अबाह्य साधनत्व के अभिप्राय से हो सकता है कि बाह्य साधनों के विना मन से ही इन अग्नियों का चयन होता है। तो कहा जाता है कि ऐसा नहीं हो सकता है। जिससे अबाह्य-साधनत्व मात्र की अभिप्रायता होने पर, एवकार रहित विद्याचित, इतना स्वरूप संकीर्तन से ही अबाह्य-साधनत्व के कृतत्व (सिद्धत्व) होने से अवधारण (एवकार) व्यर्थ ही होगा। जिससे इन अग्नियों का स्वरूप ही बाह्यसाधन रहित है। परन्तु बाह्य साधनरहित होने भी मानसग्रह के समान क्रिया में अनुप्रवेश की शंका होने पर उसकी निवृत्ति रूप फलवाला अवधारण सार्थक होगा। इसी प्रकार (सोते जागते सब अवस्था में ऐसे विद्वान् के लिए सदा सब प्राणी इन अग्नियों का चयन करते हैं) यह सातत्य (सदावर्तमानत्व) का दर्शन इन अग्नियों की स्वतन्त्रता में युक्त सिद्ध होता है। जैसे कि वाक्प्राणमय अग्निहोत्र में (उस ध्यान-काल में प्राण को वाक् में हवन करता है, और ध्यान काल में वाक् को प्राण में हवन करता है) और ऐसा कहकर

कहा जाता है कि (ये दोनों आहुतियां अनन्त और अमृत हैं, जागता हुआ और सोता हुआ सदा हवन करता है) इसी के समान मनश्चिदादि को सातत्य और स्वतन्त्रता है। क्रिया मे अनुप्रवेश होने पर तो क्रिया प्रयोग (अनुष्ठान) के अल्पकालिकत्व से इनका सातत्य (निरन्तरत्व) से प्रयोग नहीं सिद्ध हो सकता है। यह लिंग अर्थवादमात्र है, ऐसा कहना न्याय्य नहीं है। जिससे जहां विस्पष्ट-विधायक लिङ्, लोट् आदि उपलब्ध होते हैं, वहा संकीर्तन मात्र को अर्थवादत्व युक्त है। यहां तो विस्पष्ट अन्य विधि की उपलब्धि नहीं होने से संकीर्तन से ही इन अग्नियों के विज्ञान (उपासना) का विधान (विधि) कल्पनीय है। वह विधान संकीर्तन के अनुसार ही कल्पित हो सकता है. इस कारण से सातत्य (नित्यता) के दर्शन से वैसी ही विधि की कल्पना की जाती है, और उस सातत्य विधि के सामर्थ्य से इन अग्नियों की स्वतन्त्रता की सिद्धि होती है और इस विधित्व से ही (ये प्राणी जो कुछ मन से संकल्प करते हैं, वह उन अग्नियों की ही कृति है) इत्यादि वचन भी व्याख्यात हो गये, अर्थात् ये भी विधि के कल्पक हैं (सदा सब प्राणी मेरे लिए अग्नि का चयन करें, मनन करें, कृति करें, इत्यादि विधि का स्वरूप होता है)। इसी प्रकार वाक्य भी (एवंविदे) यह, इन अग्नियों का पुरुष के साथ सम्बन्ध को ही कहता हुआ क्रतु के साथ सम्बन्ध को नहीं सहता है। इससे स्वतन्त्रतापक्ष ही अतिश्रेष्ठ है ॥ ४९ ॥

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् ॥५०॥

इतश्च प्रकरणमुपमृद्य स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनां प्रतिपत्तव्यम्, यत्क्रियावयवान्मनआदिव्यापारेष्वनुबध्नाति 'ते मनसैवाधीयन्त मनसाचीयन्त मनसैव ग्रहा अगृह्यन्त मनसाऽस्तुवन्मनसाऽशंसन्यत्किञ्च यज्ञे कर्म क्रियेत यत्किञ्च यज्ञियं कर्म मनसैव तेषु तन्मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमेव क्रियते' इत्यादिना। संपत्फलो ह्ययमनुबन्धः, नच प्रत्यक्षाः क्रियावयवाः सन्तः सम्पदा लिप्सितव्याः। चात्रोद्गीथाद्युपासनवत्क्रियाङ्गसम्बन्धात्तदनुप्रवेशित्वमाशङ्कितव्यं श्रुतिवैरूप्यात्। नह्यत्र क्रियाङ्गं किञ्चिदादाय तस्मिन्नदो नामाध्यवसितव्यमिति वदति। षट्त्रिंशत्सहस्राणि तु मनोवृत्तिभेदानादाय तेष्वग्नित्वं ग्रहादींश्च कल्पयति पुरुषयज्ञादिवत्। संख्या चेयं पुरुषायुषस्याहःसु दृष्टा सती तत्सम्बन्धिनीषु मनोवृत्तिष्वारोप्यत इति द्रष्टव्यम्। एवमनुबन्धात्स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनाम्। आदिशब्दादतिदेशाद्यपि यथासम्भवं योजयितव्यम्। तथाहि—'तेषामेकैक एव तावान्यावानसौ पूर्वः' इति क्रियामयस्याग्नेर्माहात्म्यं ज्ञानमयानामेकैकस्यातिदिशन्क्रियायामनादरं दर्शयति। नच सत्येव क्रियासम्बन्धे विकल्पः पूर्वेणोत्तरेषामिति शक्यं वक्तुम्। नहि येन व्यापारेणाहवनीयधारणादिना पूर्वः क्रियायामुपकरोति तेनोत्तरे उपकर्तुं शक्नुवन्ति। यत्तु—पूर्वपक्षेऽप्यतिदेश उपोद्बलक इत्युक्तं सति हि सामान्येऽतिदेशः प्रवर्तत—इति, तदसमत्पक्षेऽप्य-

गिनत्वसामान्येनातिदेशसम्भवात्प्रयुक्तम् । अस्ति हि साम्पादिकानामप्यमी-नामग्नित्वमिति । श्रुत्यादीनि च कारणानि दर्शितानि । एवमनुबन्धादिभ्य कारणेभ्य स्वातन्त्र्य मनश्चिदादीनाम् , प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत् । यथा प्रज्ञान्त-राणि शाण्डिल्यविद्याप्रभृतीनि स्वेन स्वेनानुबध्यमानानि पृथगेव कर्मभ्य प्रज्ञान्तरेभ्यश्च स्वतन्त्राणि भवन्त्येवमिति । दृष्टश्चावेष्टे राजसूयप्रकरणपठि-ताया प्रकरणादुत्कर्षो वर्णत्रयानुबन्धाद्राजयज्ञत्वाश्च राजसूयस्य । तदुक्त प्रथमे काण्डे—'क्रत्वर्थायामिति चेन्न वर्णत्रयसयोगात्' (जै० सू० ११।४।७) इति ॥ ५० ॥

सम्पत् उपासना के लिये मन की वृत्तियो मे क्रिया के अङ्गो की योजना (सम्बन्ध-चिन्तन) को यहाँ अनुबन्ध कहते हैं, उस अनुबन्ध मे और पूर्वोक्त हेतुओ से अन्य विद्याओ की पृथक्ता के समान मनश्चिदादि को स्वतन्त्रता है । जैसे कि अवेष्टि का प्रकरण से उत्कर्ष (विभाग) देखा गया है वैसे ही इन अग्नियो का प्रकरण से विभाग होता है । वह पूर्व मीमासा मे कहा है । यह सक्षिप्त सूत्राक्षरार्थ है ।

इस वक्ष्यमाण हेतु से भी प्रकरण बुद्धि को नष्ट करके (प्रकरण की प्रधानता को त्याग कर) मनश्चिदादि की स्वतन्त्रता को समझना चाहिये । कि जिससे क्रिया के अवयवो को मन आदि के व्यापारो (वृत्तियो) म श्रुति अनुबन्ध (सम्बन्ध) करती है कि (उन अग्नियो का मन से ही आधान किया जाता है या करे) मन से ही ईंटो का चयन होता है या कत्तव्य है । मन से ही ग्रह (पात्र) गृहीत होते है । उद्गाता मन स स्तुति करते है, होता मन से ही शसन-कथन करते हैं । अन्य भी जो कुछ यज्ञ म कर्म किया जाता है, और जो यज्ञीय—यज्ञ का स्वरूप को सिद्ध करने वाला कर्म है वह सब उन मनोमय मनश्चितो म मन से ही मनोमय ही किये जाते हैं) इत्यादि वचनो स श्रुति अनुबन्ध करती है । यह अनुबन्ध सम्पत् फल वाला (उपासनार्थक) है, कर्मावयवों का मनोवृत्ति म सम्पादन कल्पना करके चिन्तन के लिये है । यहा क्रिया मे सम्बन्ध होने पर प्रत्यक्ष क्रिया के अवयवो के रहते, वे क्रिया के अवयव सम्पत् के द्वारा कल्पना मे लाभ की इच्छा के विषय नही हो सकते है । यदि कहा जाय कि मन की वृत्तियो मे अग्नि के ध्यान को क्रिया के अङ्गत्व नही होने पर भी उद्गीथ के ध्यान के समान क्रिया के अङ्गरूप मन के आश्रितत्व होगा, तो कहा जाता है कि उद्गीथादि उपासना के समान क्रियाङ्ग के साथ सम्बन्ध से उस क्रिया मे अनुप्रवेशित्व की आशका श्रुति की विकल्पना से नही करने योग्य है । जिसमे मन खास क्रिया का अग नही है, और किसी उसके समान विशेष क्रिया के अङ्ग को ग्रहण करके उसम अमुक नाम वाले का अध्यवसाय (निश्चय) करना । इस प्रकार यहा श्रुति नही कहती है, किन्तु क्रिया के अनङ्गरूप छत्तीस हजार मन की वृत्ति भेदो का ग्रहण कर के, उन मे अग्नित्व की और ग्रह आदि की कल्पना करती है । जैसे कि यज्ञ से भिन्न पुरुष मे यज्ञत्व की

स्वतन्त्र कल्पना होती है, वैसे ही यह स्वतन्त्र कल्पना है। पुरुष की आयु सम्बन्धी दिनों में देखी गई हुई यह संख्या उन दिनो के सम्बन्धी मन की वृत्तियों में आरोपित की जाती है ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार अनुबन्ध से मनश्चिदादि को स्वतंत्रता है। सूत्रगत आदि शब्द से अतिदेशादि की भी सम्भव के अनुसार योजना करनी चाहिये। जिससे (उन मनश्चिदादि अग्नियों मे एक एक की उतनी महिमा है, कि जितनी पूर्व अग्नि की है) इस प्रकार क्रियामय अग्नि की महिमा का ज्ञानमय अग्नियों के एक-एक में अतिदेश करता हुआ वचन क्रिया में अनादर को दर्शाता है। यदि कहो कि अनादर का प्रदर्शन के लिए अतिदेश नहीं है किन्तु विकल्प के लिए है, तो कहा जाता है कि यहां विकल्प हो नहीं सकता है, तुल्योपकारक यव और व्रीहि में विकल्प होता है। यहाँ आहवनीय वस्तु के धारणादिरूप जिस व्यापार द्वारा ईंटों से चित पूर्व अग्नि क्रिया में उपकार करती है, उस व्यापार के द्वारा उत्तर के मनश्चिदादि अग्नियाँ क्रिया में उपकार कर नहीं सकती हैं, इससे मनश्चिदादि का क्रिया में संबन्ध होने और रहने पर भी पूर्व अग्नि के साथ उत्तर अग्नियों का विकल्प नहीं कहा जा सकता है। अर्थात् एक साध्य में निरपेक्ष दो साधन को यव और व्रीहि के समान विकल्प होता हैं। यहाँ क्रिया रूप अग्नि और ध्यान रूप अग्नियों के साध्य (कार्य) के भेद होने से विकल्प नहीं हो सकता है। जो यह कहा था कि पूर्वपक्ष में अतिदेश उद्बोधक है, जिससे समानता के रहने पर अतिदेश प्रवृत्त होता है, इससे साम्पादिक अग्नियों में क्रियाङ्गत्व रूप सामान्यता से अतिदेश है। सो हमारे पक्ष मे भी अग्नित्वरूप समानता से अतिदेश के सम्भव होने से प्रत्युक्त (निराकृत) है जिससे साम्पादिक अग्नियों का भी अग्नित्व सामान्य है। अपने पक्ष में श्रुति आदि रूप कारण (प्रमाण) दर्शाये गये हैं। इस प्रकार अनुबन्धादि (अनुबन्ध, श्रुति, लिङ्ग, और वाक्य) रूप कारणों से, प्रज्ञान्तर (ज्ञानान्तर) की पृथक्ता के समान मनश्चिदादि को भी स्वतन्त्रता है। जैसे प्रज्ञान्तररूप शाण्डिल्य विद्या आदि अपने-अपने अनुबन्ध (मुख्य विषय) मे अनुबध्यमान (सम्बद्ध निरूपित) होकर कर्मो से और प्रज्ञान्तरो से पृथक् स्वतन्त्र ही होते है, इसी प्रकार अग्निचिदादि कर्म से पृथक् स्वतन्त्र हैं। इस अवस्था में मनश्चिदादि का कर्म प्रकरण से उत्कर्ष (उद्धार-विभाग) होगा। राजसूय प्रकरण मे पठित, अवेष्टि नामक इष्टि का प्रकरण से उत्कर्ष देखा गया है। जिससे अवेष्टि का तीनों वर्ण के साथ सम्बन्ध है, और राजसूय को राजयज्ञत्व है, इससे अवेष्टि का उद्धार करना पड़ता है। यह प्रथमकाण्ड में कहा है कि (अवेष्टि का अनुष्ठान कहाँ होना चाहिये यदि कहा जाय कि राजसूय के प्रकरण में पढ़ी हुई है, इसलिए क्रनुरूपेराजसूय के अन्तर्गत इष्टि में ही इसका अनुष्ठान होना चाहिए तो यह नहीं हो सकता है, क्योंकि अवेष्टि में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णों का सम्बन्ध है। इससे राजसूय से बाह्य अन्नादि की इच्छा वाले तीन वर्णकर्तृक अवेष्टि समझना चाहिये) यह (एतयाऽन्नाद्यकामं याजयेत्) इत्यादि वचन से विहित है ॥ ५० ॥

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्नहि लोकापत्तिः ॥ ५१ ॥

यदुक्तं मानसग्रहवदिति तत्प्रत्युच्यते। न मानसग्रहसामान्यादपि मनश्चिदादीनां क्रियाशेषत्वं कल्प्यम्। पूर्वोक्तेभ्यः श्रुत्यादिहेतुभ्यः केवलपुरुषार्थत्वोपलब्धेः। नहि किंचित्कस्यचित्केनचित्सामान्यं न संभवति। नच तावता यथास्वं वैषम्यं निवर्तते मृत्युवत्। यथा 'स वा एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः' इति 'अग्निर्वै मृत्युः' (बृ० ३।२।१०) इति चाग्न्यादित्यपुरुषयोः समानेऽपि मृत्युशब्दप्रयोगे नात्यन्तसाम्यापत्तिः। यथा च 'असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समित्' (छा० ५।४।१) इत्यत्र न समिदादिसामान्याल्लोकस्याग्निभावापत्तिस्तद्वत् ॥ ५१ ॥

जो यह भी कहा था कि मानसग्रह के समान मनश्चिदादि को मानसत्व होते क्रत्वर्थत्व होगा, उसके प्रति कहा जाता है कि मानस ग्रह की समानता से भी मनश्चिदादि में क्रियाशेषत्व कल्पना के योग्य नहीं है, जिससे पूर्वोक्त श्रुति आदि रूप हेतुओं से केवल पुरुषार्थत्व की उपलब्धि होती है, इससे मनश्चिदादि क्रतु के शेष (अङ्ग) हो नहीं सकते हैं। किसी को किसी के साथ कुछ भी सामान्य (तुल्यता) नहीं हो, ऐसा सम्भव नहीं है। सबको सबके साथ कुछ न कुछ समता रहती ही है, परन्तु उस समता से स्वस्वरूप के अनुसार मृत्यु के समान विषमता नहीं निवृत्त होती है। जैसे (वह यही मृत्यु है, जो यह इस मण्डल में पुरुष है) यह, और (अग्नि ही मृत्यु है) यह, वचनों से अग्नि आदित्य पुरुष में मृत्यु शब्द के प्रयोग के तुल्य होते भी, अत्यन्त तुल्यता की प्राप्ति नहीं होती है। जैसे (हे गौतम ! वह द्युलोक ही अग्नि है, और उसके आदित्य ही समित् हैं) यहाँ समिदादि की समानता से लोक को अग्निभाव (अग्निरूपता) की प्राप्ति नहीं होती है, वैसे ही ग्रह और मनश्चिदादि अग्नियों में मानसत्व के तुल्य होते भी कर्म-सम्बन्धित्व और असम्बन्धित्व रूप विषमता नहीं निवृत्त होती है ॥ क्रतु अर्थत्व, पुरुष अर्थत्व रूप विषमता रहते भी मानसत्व दोनों में तुल्य है, यह भाव है ॥ ५१ ॥

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥ ५२ ॥

परस्तादपि 'अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः' इत्येतस्मिन्ननन्तरे ब्राह्मणे ताद्विध्यं केवलविद्याविधित्वं शब्दस्य प्रयोजनं लक्ष्यते न शुद्धकर्माङ्गविधित्वम्। तत्र हि—

> विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः।
> न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः ॥

इत्यनेन श्लोकेन केवलं कर्म निन्दन्विद्यां च प्रशंसन्निदं गमयति तथा पुरस्तादपि 'यदेतन्मण्डलं तपति' इत्यस्मिन्ब्राह्मणे विद्याप्रधानत्वमेव लक्ष्यते 'सोऽमृतो भवति मृत्युर्ह्यस्यात्मा भवति' इति विद्याफलेनैवोपसंहारान्न

कर्मप्रधानता तत्सामान्यादिहापि तथात्वम्। भूयांसस्त्वग्न्यवयवाः संपादयितव्या विद्यायामित्येतस्मात्कारणादग्निनानुबध्यते विद्या न कर्माङ्गत्वात्। अस्मान्मनश्चिदादीनां केवलविद्यात्मकत्वसिद्धिः ॥ ५२ ॥

पूर्व और उत्तर ब्राह्मण मे स्वतन्त्र विद्या के विधान से मध्यगत इस अग्निचिद् ब्राह्मण में भी स्वतन्त्र विद्याका विधान है, इस आशय से कहते हैं कि परस्तात्, आगे भी (यही लोक यह अग्निश्चित–साम्पादिताग्नि है) इस अनन्तर ब्राह्मण में केवल विद्या का विधित्व रूप तद्विधिता शब्द का प्रयोजन लक्षित (दृष्टिगत) होता है, और शुद्ध कर्म का अंग-विधित्व (उपासना रहित कर्माङ्ग-विधित्व) नहीं लक्षित होता है, जिससे वहाँ पर (जहाँ काम परागत-परावृत्त होते हैं। काम-क्रोधादि दोष जहाँ नहीं हैं, उस ब्रह्मलोक रूप स्थान को विद्या से प्राप्त करते हैं और वहाँ केवल कर्मी वा विद्या रहित तपस्वी नहीं जाते हैं) इस श्लोक से केवल कर्म की निन्दा करके विद्या की प्रशंसा करता हुआ यह ब्राह्मण विद्या की प्रधानता को समझाता है। इसी प्रकार पूर्व में भी (जो यह मण्डल तपता है) इस ब्राह्मण में विद्या की ही प्रधानता लक्षित होती है (वह अमृत होता है मृत्यु जिसका आत्मा होता है) इस प्रकार विद्या के फल द्वारा ही उपसंहार से कर्म-प्रधानता नहीं है, उस पूर्वोत्तर ब्राह्मण की समानता से इस मध्यगत ब्राह्मण में भी कर्म की प्रधानता नहीं है। किन्तु विद्या की प्रधानता है। इस प्रकार विद्या की प्रधानता होते भी इसका क्रियाग्नि के साथ पाठ में यह कारण है कि अग्नि के बहुत अवयव विद्या में सम्पादनीय (कल्पनीय) होते हैं, इस कारण से विद्या अग्नि के साथ अनुबद्ध (सम्बद्ध-पठित) होती है। कर्माङ्गत्व से नहीं। इससे मनश्चिदादि को केवल विद्यात्मकत्व की सिद्धि होती है ॥ ५२ ॥

ऐकात्म्याधिकरणम् ॥ ३० ॥

आत्मा देहस्तदन्यो वा चैतन्यं मदशक्तिवत्। भूतमेलनजं देहे नान्यत्रात्मा वपुस्ततः॥
भूतोपलब्धिर्भूतेभ्यो विभिन्ना विषयित्वतः। सैवात्मा भौतिकाद्देहादन्योऽसौ परलोकभाक्॥

(एके)–एक चार्वाकानुयायी कहते हैं कि (शरीरे सति) शरीर के रहते, (आत्मनः, जीवात्मनः चैतन्यस्य) जीवात्मा रूप चेतनता के, (भावात्) सत्त्व से–रहने से शरीर आत्मा है, शरीर से अतिरिक्त स्वर्गापवर्ग के भागी जीवात्मा नहीं है, इससे स्वर्गापवर्गार्थक कर्म विद्या का विचार व्यर्थ है॥ यहाँ संशय है कि देह आत्मा है वा इससे अन्य है, पूर्वपक्ष है कि गुड-महुआ आदि के मिलने से मदशक्ति के समान भूतों के संमेलन से जन्य देह में चैतन्य होता है, जिससे देह से अन्य आत्मा नहीं है, किन्तु वपु (देह) आत्मा है। सिद्धान्त है कि विषयी (प्रकाशक) होने के कारण भूतात्मक देह की उपलब्धि (ज्ञान) देह से पृथक् है, घट से भिन्न दीपक घट को प्रकाशता है, घट ही घट को नहीं प्रकाशता है, वैसे ही देह ही देह को नहीं जानता

है किन्तु देह से भिन्न आत्मा देह को जानता है और दीप के समान स्वयं प्रकाश है, इससे वही आत्मा भौतिक देह में अन्य है, वह परलोक का भागी है, इससे कर्मादि का विचार ठीक सार्थक है ॥ १७ ॥

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ५३ ॥

इह देहव्यतिरिक्तस्यात्मन सद्भाव समर्थ्यते बन्धमोक्षाधिकारसिद्धये। नह्यसति देहव्यतिरिक्तात्मनि परलोकफलाश्चोदना उपपद्येरन्कस्य वा ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्येत। ननु शास्त्रप्रमुख एव प्रथमे पादे शास्त्रफलोपभोगयोग्यस्य देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वमुक्तम्। सत्यमुक्तं भाष्यकृता नतु तत्रात्मास्तित्वे सूत्रमस्ति। इह तु स्वयमेव सूत्रकृता तदस्तित्वमाक्षेपपुरःसरं प्रतिष्ठापितम्। इत एव चाकृष्याचार्येण शबरस्वामिना प्रमाणलक्षणे वर्णितम्। अत एव च भगवतोपवर्षेण प्रथमे तन्त्रे आत्मास्तित्वाभिधानप्रसक्तौ शारीरके वक्ष्याम इत्युद्धारः कृतः। इह चेदं चोदनालक्षणेषूपासनेषु विचार्यमाणेष्वात्मास्तित्वं विचार्यते कृत्स्नशास्त्रशेषत्वप्रदर्शनाय। अपि च पूर्वस्मिन्नधिकरणे प्रकरणोत्कर्षाभ्युपगमेन मनश्चिदादीनां पुरुषार्थत्वं वर्णितं, कोऽसौ पुरुषो यदर्था एते मनश्चिदादय इत्यस्यां प्रसक्ताविदं देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वमुच्यते। तदस्तित्वाक्षेपार्थं चेदमादिमं सूत्रम्। आक्षेपपूर्विका हि परिहारोक्तिर्विवक्षितेऽर्थे स्थूणानिखननन्यायेन दृढां बुद्धिमुत्पादयेदिति। अत्रैके। देहमात्रात्मदर्शिनो लोकायतिका देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽभावं मन्यमानाः समस्तव्यस्तेषु बाह्येषु पृथिव्यादिष्वदृष्टमपि चैतन्यं शरीराकारपरिणतेषु भूतेषु स्यादिति संभावयन्तस्तेभ्यश्चैतन्यं मदशक्तिवद्विज्ञानं चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुष इति चाहुः। न स्वर्गगमनायापवर्गगमनाय वा समर्थो देहव्यतिरिक्त आत्मास्ति यत्कृतं चैतन्यं देहे स्यात्, देह एव तु चेतनश्चात्मा चेति प्रतिजानते, हेतुं चाचक्षते शरीरे भावादिति। यद्धि यस्मिन्सति भवत्यसति च न भवति तत्तद्धर्मत्वेनाध्यवसीयते यथाऽग्निधर्मावौष्ण्यप्रकाशौ। प्राणचेष्टाचैतन्यस्मृत्यादयश्चात्मधर्मत्वेनाभिमता आत्मवादिनां, तेऽप्यन्तरेव देह उपलभ्यमाना बहिश्चानुपलभ्यमाना असिद्धे देहव्यतिरिक्ते धर्मिणि देहधर्मा एव भवितुमर्हन्ति। तस्मादव्यतिरेको देहादात्मन इति ॥ ५३ ॥

यहाँ इस अधिकरण में बन्ध और मोक्ष के अधिकार (कर्मोपासनादि) की सिद्धि के लिए देह से अतिरिक्त (भिन्न) आत्मा के सद्भाव (सत्ता) का समर्थन (प्रतिपादन) किया जाता है। जिससे देह से भिन्न आत्मा के नहीं रहने पर परलोक रूप फलवाली विधि सब नहीं उपपन्न हो सकती है, अथवा देह भिन्न आत्मा के नहीं रहने पर किसको ब्रह्मात्मत्व (ब्रह्मस्वरूपता) का उपदेश दिया जायगा। यहाँ पुनरुक्ति की

शंका होती है कि पूर्वमीमांसा शास्त्र के आरम्भ में ही प्रथम पाद में शास्त्रोक्त फलों के उपभोग के योग्य देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व (सत्त्व) कहा गया है । उत्तर है कि सत्य ही कहा गया है, परन्तु भाष्यकार ने देह से अतिरिक्त आत्मा का कथन किया है, आत्मा के अस्तित्व-विषयक (अस्तित्व का प्रतिपादक) सूत्र वहाँ नहीं है । यहाँ तो स्वयं सूत्रकार ने ही उस देह से अतिरिक्त आत्मा का आक्षेपपूर्वक उसके अस्ति का प्रस्थापन (निरूपण) किया है । यहाँ ही से आकर्षण करके आचार्य शबर-स्वामी (भाष्यकार) ने प्रमाण लक्षण (अध्याय) में देहातिरिक्त आत्मा के अस्तित्व का वर्णन किया है । अतएव, वहाँ सूत्र के अभाव से, और यहाँ सूत्रकार ने निरूपण किया है इसीसे पूर्वमीमांसा में आत्मा के अस्तित्व के कथन के प्रसंग के आने पर, भगवान उपवर्ष ने कहा है कि इस विषय को शारीरक में कहेंगे, और ऐसा कह कर उद्धार (उपरमनिवृत्ति) किया । यहाँ आत्मास्तित्व में सम्पूर्ण शास्त्र के शेषत्व का प्रदर्शन के लिए चोदना (विधि) रूप लक्षण (प्रमाण चिह्न) वाले उपासनो के विचारित होने पर आत्मास्तित्व का विचार किया जाता है । दूसरी बात है कि पूर्व अधिकरण में ऋतु प्रकरण से उपासना का उत्कर्ष को मान कर मनश्चिदादि का पुरुषार्थत्व वर्णित हुआ है । वहाँ कौन वह पुरुष हैं कि जिसके लिए ये मनश्चिदादि हैं, ऐसी प्रसक्ति आकांक्षा होने पर, यह देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व कहा जाता है । उस अस्तित्व का आक्षेप के लिए यह प्रथम सूत्र है । यह इसलिए है कि आक्षेपपूर्वक परिहार कथन, स्थूणानिखनन न्याय से विवक्षित अर्थविषयक दृढ़ बुद्धि को उत्पन्न करेगा ॥ यहाँ कोई देहमात्र को आत्मा समझने वाले लोकायतिक (चार्वाक) देह से भिन्न आत्मा के अभाव को मानते हुए समस्त वा व्यस्त पृथ्वी आदि बाह्य पदार्थों में अदृष्ट चैतन्य की भी शरीराकार से परिणत भूतों में चैतन्य हो सकता है, ऐसी सम्भावना करते हुए और मदशक्ति के समान उन भूतों से ही संघातजन्य चैतन्य रूप विज्ञान होता है, और चैतन्ययुक्त काय (देह) पुरुष (आत्मा) है इस प्रकार कहते है । स्वर्ग में गमन के लिए वा अपवर्ग की गति-प्राप्ति के लिए समर्थ देह से भिन्न आत्मा नही है कि जिसका किया हुआ देह में चैतन्य होगा, देह ही तो चेतन है और आत्मा है, ऐसी प्रतिज्ञा वे लोग करते है । उस प्रतिज्ञा में, शरीरे भावात्, यह हेतु कहते हैं, जिससे जो जिसके रहते रहता है, जिसके नहीं रहने पर जिसका अभाव होता है, वह उसका धर्म रूप से अध्यवसित (निश्चित) किया जाता है । जैसे कि अग्नि के धर्म रूप उष्णता और प्रकाश निश्चित होते है । आत्मवादियों के आत्मा के धर्म रूप से माने गये जो प्राण, चेष्टा, चैतन्य, स्मृति आदि हैं, वे भी देह के अन्दर ही उपलभ्यमान (प्रत्यक्ष अनुभूत) होते हुए और बाहर अनुपलभ्यमान होते हुए, देह से भिन्न धर्मी के असिद्ध रहते देह के धर्म ही होने के योग्य हैं । जिससे देह से आत्मा को अव्यतिरेक (अभेद) है, अर्थात् देह ही आत्मा है ॥ ५३ ॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः —

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥ ५४ ॥

न त्वेतदस्ति यदुक्तमव्यतिरेको देहादात्मन इति । व्यतिरेक एवास्य देहाद्भवितुमर्हति तद्भावाभावित्वात् । यदि देहभावे भावाद्देहधर्मत्वमात्मधर्माणां मन्येत ततो देहभावेऽप्यभावादतद्धर्मत्वमेवैषां किं न मन्येत, देहधर्मवैलक्षण्यात् । ये हि देहधर्मा रूपादयस्ते यावद्देहं भवन्ति । प्राणचेष्टादयस्तु सत्यपि देहे मृतावस्थायां न भवन्ति । देहधर्माश्च रूपादयः परैरप्युपलभ्यन्ते न त्वात्मधर्माश्चैतन्यस्मृत्यादयः । अपि च सति हि तावद्देहे जीवदवस्थायामेषां भावः शक्यते निश्चेतुं न त्वसत्यभावः, पतितेऽपि कदाचिदस्मिन्देहे देहान्तरसंचारेणात्मधर्मा अनुवर्तेरन् । संशयमात्रेणापि परपक्षः प्रतिषिध्यते, किमात्मकं च पुनरिदं चैतन्यं मन्यते यस्य भूतेभ्य उत्पत्तिमिच्छतीति परः पर्यनुयोक्तव्यः । नहि भूतचतुष्टयव्यतिरेकेण लोकायतिकः किंचित्तत्त्वं प्रत्येति । यदनुभवनं भूतभौतिकानां तच्चैतन्यमिति चेत् । तर्हि विषयत्वात्तेषां न तद्धर्मत्वमश्नुवीत स्वात्मनि क्रियाविरोधात्, नह्यग्निरुष्णः सन् स्वात्मानं दहति, नहि नटः शिक्षितः सन्स्वस्कन्धमधिरोक्ष्यति, नहि भूतभौतिकधर्मेण सता चैतन्येन भूतभौतिकानि विषयीक्रियेरन्, नहि रूपादिभिः स्वरूपं पररूपं वा विषयीक्रियते । विषयीक्रियन्ते तु बाह्याध्यात्मिकानि भूतभौतिकानि चैतन्येन । अतश्च यथैवास्या भूतभौतिकविषयाया उपलब्धेर्भावोऽभ्युपगम्यते एवं व्यतिरेकोऽप्यस्यास्तेभ्योऽभ्युपगन्तव्यः । 'उपलब्धिस्वरूप एव च न आत्मे' त्यात्मनो देहव्यतिरिक्तत्वम्, नित्यत्वं चोपलब्धेरैकरूप्यात्, अहमिदमद्राक्षमिति चावस्थान्तरयोगेऽप्युपलब्धृत्वेन प्रत्यभिज्ञानात्, स्मृत्याद्युपपत्तेश्च । यत्तूक्तं—शरीरे भावाच्छरीरधर्म उपलब्धिः—इति, तद्वर्णितेन प्रकारेण प्रत्युक्तम् । अपि च सत्सु प्रदीपादिषूपकरणेषूपलब्धिर्भवत्यसत्सु न भवति । न चैतावता प्रदीपादिधर्म एवोपलब्धिर्भवति । एवं सति देह उपलब्धिर्भवत्यसति च न भवतीति न देहधर्मो भवितुमर्हति, उपकरणत्वमात्रेणापि प्रदीपादिवद् देहोपयोगोपपत्तेः । न चात्यन्तं देहस्योपलब्धावुपयोगोऽपि दृश्यते निश्चेष्टेऽप्यस्मिन्देहे स्वप्ने नानाविधोपलब्धिदर्शनात् । तस्मादनवद्यं देहव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वम् ॥ ५४ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं—

अन्वय और व्यतिरेक से चैतन्य को देह का धर्म मानकर देह से आत्मा को पूर्वपक्षी ने अभिन्न कहा है वहाँ अन्वय और व्यतिरेक की असिद्धि को दर्शाते हुए, देह से आत्मभेद को दर्शाते हुए देह की उपलब्धि (ज्ञान) के समान अन्य ज्ञानादि में भी देहधर्मत्व के अभाव को कहते हैं कि जो देह से अव्यतिरेक (अभेद) को कहा है, वह तो नहीं है इस आत्मा का देह से व्यतिरेक (भेद) ही होने योग्य है क्योंकि

उस देह के भाव (सत्ता) रहते भी आत्मा के चैतन्यादि धर्मों का मृतक दशा में अभाव रहता है, इसमें अन्वय का अभाव है । यदि जीवन काल में देह के रहते चैतन्यादि के रहने से चैतन्यादि देह के धर्म माने जायँ, उन्हें तुम देह के धर्म मानो। तो देह के रहते भी उन चैतन्यादि के अभाव से, इन चैतन्यादि को देह-धर्मत्व का अभाव क्यों नहीं माना जायगा, वा तुम क्यों नहीं मानोगे। देहधर्म-विलक्षणता से ऐसा मानना होगा। जिससे जो रूपगन्धादि देह के धर्मविशेष हैं, वह जबतक देह रहती है तबतक रहते हैं। प्राण-चेष्टादि तो मृतक अवस्था में देह के रहते भी नहीं रहते हैं। देह के धर्मरूपादि अन्य से भी उपलब्ध होते हैं, अन्य लोग भी देह के धर्मों को जानते हैं। और आत्मा के चैतन्य-स्मृति आदि अन्य से नहीं उपलब्ध होते हैं। दूसरी बात है कि जीवन अवस्था में देह के रहते इन चैतन्यादि के भाव का निश्चय कर सकते हैं, परन्तु देह के अभाव दशा में उनके अभाव का निश्चय नहीं कर सकते हैं। कभी सामने इस देह के पतित-नष्ट होने पर भी देहान्तर में संचार (गमन) के द्वारा आत्मा के धर्म अनुवर्तमान रहेंगे, अर्थात् व्यतिरेक सन्दिग्ध है, मरने पर अज्ञ की अनुपलब्धि से आत्मा का वा उसके धर्मों के अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है। संशय मात्र से भी परपक्ष का प्रतिषेध किया जाता है, अर्थात् संचार द्वारा आत्म-धर्म की वर्तमानता का निश्चय नहीं होते भी व्यतिरेक का निश्चय भी नहीं हो सकता है। वह देहात्मवादी किमात्मक किस स्वरूप वाला इस चैतन्य को मानता है। अर्थात् भूतों से अतिरिक्त मानता है, वा भूतों के गुण मानता है, कि जिसकी भूतों से उत्पत्ति चाहता है और मानता है, इस प्रकार वह वादी प्रर्यनुयोक्तव्य (प्रश्नार्ह) है । यहाँ चार भूत से अतिरिक्त रूप से किसी तत्त्व को तो लोकायतिक मानता नहीं है। यदि कहें कि जो भूत भौतिक पदार्थों का अनुभव है वह चैतन्य है, तो उन भूत भौतिकों को चैतन्य (अनुभव) के विषय होने से, उन भूतात्मक देह के धर्मत्व को वह चैतन्य नहीं प्राप्त कर सकता है, जिससे स्वात्मा में स्वक्रियाविषयत्व का विरोध होता है। अर्थात् भूतात्मक देह ही जानने वाला विषयी प्रकाशक हो, और वही विषय हो प्रकाशा जाय, यह विरुद्ध है। जिससे अग्नि उष्ण होती हुई अपने को नहीं जलाती है। नट शिक्षित होता हुआ भी अपने काँधे पर नहीं चढ़ता है। इसी प्रकार भूत भौतिक के धर्म होते हुए चैतन्य से भूत भौतिक विषय (प्रकाशित) नहीं किये जा सकेंगे। जिससे भूत भौतिक के धर्म रूपादि से अपना रूप वा अन्य का रूप विषय नहीं किया जाता है। चैतन्य से तो बाह्य और आध्यात्मिक भूत भौतिक विषय विषय किये जाते हैं। इससे ही जैसे इस भूत भौतिक विषय वाली उपलब्धि का भाव (सत्त्व) माना जाता है, इसी प्रकार इसका भूत भौतिकों से व्यतिरेक (भेद) भी मानना चाहिये। उपलब्धि स्वरूप ही हमारा अभीष्ट आत्मा है, इससे आत्मा को देह से भिन्नता है, और सर्वत्र एक स्फुरण-रूपता से उपलब्धि को नित्यता है । मैंने इसको देखा था, इस प्रकार देह के अवस्थान्तर के योग होने पर भी उपलब्धा

(ज्ञाता) रूप से प्रत्यभिज्ञा होने से, और स्मृति आदि की उत्पत्ति से भी देह से भिन्न उपलब्धि रूप आत्मा की नित्यता सिद्ध होती है। जो यह कहा था कि शरीर के होने से शरीर के रहते होने से शरीर का धर्म उपलब्धि है, वह वर्णित रीति से प्रयुक्त (निराकृत) हुआ और दीपक आदि उपकरण (साधन) के रहते उपलब्धि होती है, नहीं रहते नहीं होती है परन्तु इससे प्रदीपादि का धर्म ही उपलब्धि नहीं होती है, इसी प्रकार उपकरण मात्र से भी प्रदीपादि के समान देह के उपयोग (फल) की उपपत्ति से देह के रहते उपलब्धि होती है, देह के नहीं रहने पर नहीं होती है। इससे देह का धर्म नहीं होने योग्य है। देह के चेष्टारहित होते भी स्वप्न में नाना प्रकार की उपलब्धि को देखने से देह का उपलब्धि में अत्यन्त उपयोग भी नहीं देखा जाता है। जिससे देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व निर्दोष है ॥ ५४ ॥

अङ्गावबद्धाधिकरणम् ॥ ३१ ॥

उक्थादिधी स्वशाखाङ्गेष्वेवान्यत्रापि वा भवेत्। सांनिध्यात्स्वस्वशाखाङ्गेष्वेवासीद्व्यवस्थितिः॥
उक्थोद्गीथादिसामान्यमस्तच्छब्दैः प्रतीयते। श्रुत्या च सनिधेर्बाधस्ततोऽन्यत्रापि याप्यसौ॥

कर्माङ्ग रूप उक्थ उद्गीथ आदि के आश्रित उपासनायें प्रत्येक वेद में अपनी अपनी शाखा में वर्तमान उद्गीथादिविषयक ही नहीं होती हैं, किन्तु शाखान्तरवर्ती उक्थादि-विषयक भी होती है। जिससे 'उद्गीथमुपासीत' इत्यादि श्रुति सामान्य अर्थ को बोध कराती है। हि शब्द श्रुतिरूप हेतु का बोधक है, और तु शब्द सान्निध्यनिमित्तक पूर्वपक्ष का वारक है। संशय है कि उक्थादि की बुद्धि (उपासना) अपनी शाखा के अङ्ग अवयव रूप उक्थादिविषयक ही होगी अथवा अन्यत्र (अन्यविषयक) भी होगी। पूर्वपक्ष है कि अपने लिये अपनी शाखागत उक्थादि सन्निहित होते हैं, अन्य शाखागत दूर होते हैं, इससे सान्निध्य (समीपता) से वह उपासना अपनी-अपनी शाखाओं के अङ्गों में (अङ्गविषयक) ही व्यवस्थित है सिद्धान्त है कि (उक्थमुपासीत) इत्यादि विधि आदि गत उक्थादि तत्तत् शब्दों से शाखादि कृत भेदरहित उक्थादि सामान्य अर्थ प्रतीत होते हैं। श्रुति सन्निधि रूप स्थान का बाध होता है, इससे वह बुद्धि अन्यत्र भी प्राप्त होती है ॥ १–२ ॥

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥ ५५ ॥

समाप्ता प्रासङ्गिकी कथा, सम्प्रति तु प्रकृतामेवानुवर्तामहे—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २।२।१), 'उक्थमुक्थमिति वै प्रजा वदन्ति तदिदमेवोक्थम्', 'इयमेव पृथिवी', 'अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चित ' इत्येवमाद्या य उद्गीथादिकर्माङ्गावबद्धा प्रत्ययाः प्रतिवेदं शाखाभेदेषु विहितास्ते तत्तच्छाखागतेष्वेवोद्गीथादिषु भवेयुरथवा सर्वशाखागतेष्विति विशयः ॥ प्रतिशाखं च स्वरादिभेदादुद्गीथादिभेदानुपादायायमुपन्यासः। किं तावत्प्राप्तम्। स्वशाखागतेष्वेवोद्गीथादिषु विधीयेरन्निति। कुतः ? संनिधानात्। 'उद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) इति

हि सामान्यविहितानां विशेषाकाङ्क्षायां संनिकृष्टेनैव स्वशाखागतेन विशेषेणाकाङ्क्षादिनिवृत्तेः; तदतिलङ्घनेन शाखान्तरविहितविशेषोपादाने कारणं नास्ति, तस्मात्प्रतिशाखं व्यवस्थेति ।

प्रासङ्गिकी कथा समाप्त हो गई । अब इस समय प्रकृत अंगोपसंहार कथा का ही अनुसरण करते हैं कि (ओम् इस अक्षररूप उद्गीथ के अवयव की उपासना करे) और (पृथिवी आदि रूप लोकों में हिंकारादि रूप पांच प्रकार के साम की उपासना करे) हिंकारादि को पृथिवी आदि रूप से चिन्तन करे । (उक्थ उक्थ प्रजाएँ कहती हैं, वह उक्थ यही है, जो यह पृथिवी है वही उक्थ है) अर्थात् उक्थ नामक शास्त्र में पृथिवी दृष्टि करे । और (यह ईंटों से चित जो अग्नि है, यही लोक है, इष्टकाचित्त अग्नि में लोक दृष्टि करे) इत्यादि जो उद्गीथादि कर्माङ्गों के साथ सम्बन्ध वाले उपासनायें प्रत्येक वेद के शाखा-भेदों में विहित हैं, वे उपासानायें तत्तत् शाखागत उक्थादिविषयक होंगी, अथवा सर्व शाखागत-विषयक होंगी । यह संशय है । यदि कहा जाय कि उक्थादि की सर्वत्र एकता से उपासना की एकता सिद्ध है, इससे यहाँ संशय कैसे हो सकता है, तो कहा जाता है कि प्रत्येक शाखाओं में स्वरादि के भेद से उद्गीथादि के भेदों को मानकर यह संशय का उपन्यास-कथन है । प्रथम क्या प्राप्त होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि स्वशाखागत उद्गीथादि विषयक ही विद्याओं की विधि श्रुतियाँ करेंगी । यदि कहा जाय कि किस हेतु से ऐसा होगा, तो कहा जाता है कि सन्निधि से ऐसा होगा । जिससे (उद्गीथ की उपासना करे) इस प्रकार सामान्य उद्गीथविषयक विहित उपासनाओं को विशेष की आकांक्षा होने पर सन्निकृष्ट स्वशाखागत विशेष से ही आकांक्षा की निवृत्ति हो जाने से उसका उल्लंघन त्याग कर के शाखान्तर में विहित विशेष के ग्रहण में कारण नहीं है, इससे प्रत्येक शाखा में उपासना की व्यवस्था है ।

एवं प्राप्ते ब्रवीत्यङ्गावबद्धास्त्विति । तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैते प्रतिवेदं स्वशाखास्वेव व्यवतिष्ठेरन्, अपितु सर्वशाखास्वनुवर्तेरन् । कुतः ? उद्गीथादिश्रुत्यविशेषात् । स्वशाखाव्यवस्थायां ह्युद्गीथमुपासीतेति सामान्यश्रुतिरविशेषप्रवृत्ता सती संनिधानवशेन विशेषे व्यवस्थाप्यमाना पीडिता स्यात् । नचैतन्न्याय्यम् । संनिधानाद्धि श्रुतिर्बलीयसी । नच सामान्याश्रयः प्रत्ययो नोपपद्यते । तस्मात्स्वरादिभेदे सत्यप्युद्गीथत्वाद्यविशेषात्सर्वशाखागतेष्वेवोद्गीथादिष्वेवंजातीयकाः प्रत्ययाः स्युः ॥ ५५ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि (अङ्गावबद्धास्तु) इत्यादि । तु शब्द पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है कि ये प्रत्यय (विद्यायें) प्रत्येक वेदों में स्वशाखा में ही व्यवस्थित नहीं रहेंगे । किन्तु सब शाखाओं में अनुवृत्त होंगे । ऐसे क्यों होंगे कि उद्गीथादि श्रुति के अविशेष (सामान्य) होने से ऐसे होंगे । जिससे अपनी शाखा में व्यवस्था होने पर अविशेष रूप से प्रवृत्त होती हुई उद्गीथ की उपासना करे यह सामान्य श्रुति सन्निधानवश से

विशेष म व्यवस्थित करन पर बाधित होगी। यह श्रुति का सांनिधि स बाध न्याय्य नहीं है। जिसमे सन्निधान से श्रुति अधिक बलवती है। यह भी नहीं है कि सामान्य आश्रय (विषय) वाला प्रत्यय (उपासना) उपपन्न नहीं होता हो कि जिसस विशेष का आश्रयण करना पडे। इसमे स्वर आदि के भेद रहते भी उद्गीथ आदि के अविशेष होने म सवशाखागत उद्गीथादिविषयक इस प्रकार के प्रत्यय (विज्ञान चिन्तन) होंगे ॥ ५५ ॥

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥ ५६ ॥

अथवा नैवात्र विरोध शङ्कितव्य, कथमन्यशाखागतेषूद्गीथादिष्वन्य-शाखाविहिता प्रत्यया भवेयुरिति, मन्त्रादिवदविरोधोपपत्ते। तथाहि मन्त्राणा कर्मणा गुणाना च शाखान्तरो पन्नानामपि शाखान्तर उपसंग्रहो दृश्यते, येषा-मपि हि शाखिना 'कुक्कुटोऽसी'त्यश्मादानमन्त्रो नाम्नातस्तेषामप्यसौ विनियोगो दृश्यते 'कुक्कुटोऽसी'त्यश्मानमादत्ते 'कुटरुरसी'ति वेति। येषामपि च समि-दादय प्रयाजा नाम्नातास्तेषामपि तेषु गुणविधिराम्नायते—'ऋतवो वै प्रयाजा समानत्र होतव्या' इति। तथा येषामपि 'अजोऽग्नीषोमीय' इति जातिविशेषो पदेशो नास्ति तेषामपि तद्विषयो मन्त्रवर्ण उपलभ्यते—'छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि' इति।

प्रथम सन्निहित व्यक्तिपरक उद्गीथादि शब्द के हो सकते सामान्यपरता म विरोध को मानकर सामान्यविषयता म अनुपपत्ति के अभाव से श्रुति बल स सामान्य सम्बन्ध कहा गया है, अब कहते हैं कि अथवा सामान्य सम्बन्ध म यहा विरोध की शङ्का करने के योग्य नहीं है कि अन्यशाखागत उद्गीथादिविषयक, किसी अन्य शाखा म विहित प्रत्यय विज्ञान कैसे होंगे। क्योंकि मन्त्रादि के समान अविरोध की उपपत्ति होती है, जिस प्रकार शाखान्तर म उत्पन्न भी मन्त्र, कर्म और गुणो का किसी शाखान्तर म उपसंग्रह सम्बन्ध देखा जाता है, वैसे ही शाखान्तर म विहित भी प्रत्यय शाखान्तर म सम्बद्ध होंगे। जिससे जिस यजुर्वेदी शाखाविशेष वालो की शाखा म (कुक्कुटोऽसि) ऐसा मन्त्र (अश्मादान) पत्थर का ग्रहण के लिए है, परन्तु (कुटरुरसि) यह अश्मा-दानमन्त्र पठित नहीं है, उसकी शाखा म भी उस मन्त्र रूप विनियोग (सम्बन्ध) दीखता है कि तण्डुल को पीसने के लिये पत्थर के ग्रहण म (कुक्कुटोऽसि) इस मन्त्र को पढकर पत्थर का ग्रहण करते हैं, अथवा (कुटरुरसि) इसको पढकर ग्रहण करते हैं। इसी प्रकार जिनके शाखा म (समिधो यजति) इत्यादि वचन विहित समिध आदि नामक प्रयाज कर्म पठित नहीं हैं उनके शाखा म भी उन प्रयाजो म गुण पढा जाता है कि (हेमन्त शिशिर की एकता मे पाँच ऋतु हैं और पाँच ही प्रयाज होते हैं इससे ऋतु ही प्रयाज है, सो समानदेश, तुल्य कर्मस्थान मे होतव्य है। यहा पाच संख्या रूप गुण विधान से शाखान्तगत पञ्च प्रयाज का संग्रह होता है। इसी प्रकार जिनकी शाखा म (अज-

बकरा, अग्नि और सोमदेवता वाला होता है) इस प्रकार जातिविशेष का उपदेश नहीं है किन्तु सामान्य पशु का उपदेश है, उन शाखाओं में उस जाति-विशेष विषयक मन्त्र-वर्ण उपलब्ध होता है कि (अज की वपा मेद के होम के लिए अनुमति दो)।

तथा वेदान्तरोत्पन्नानामपि 'अग्नेर्वैर्होत्रं वेरध्वरम्' इत्येवमादिमन्त्राणां वेदान्तरे परिग्रहो दृष्टः। तथा बृहवृचपठितस्य सूक्तस्य 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्' (ऋ० सं० २।६।७) इत्यस्य 'अध्वर्यवे सजनीयं शस्यम्' इत्यत्र परिग्रहो दृष्टः। तस्माद्यथाश्रयाणां कर्माङ्गानां सर्वत्रानुवृत्तिरेवमाश्रितानामपि प्रत्ययानामित्यविरोधः ॥ ५६ ॥

इसी प्रकार वेदान्तर मे उत्पन्न भी (देवो के होत्र और देवों के अध्वर अग्नि से ही होते हैं) इत्यादि मन्त्रो का किसी वेदान्तर मे परिग्रह देखा गया है। इसी प्रकार (जो उत्पन्न होता ही गुणो से प्रथम श्रेष्ठ और मनस्वान् मनस्वी विवेकी हुआ, हे जनो! वह इन्द्र है) इस बहृवचपठित सूक्त का (सजनीय-सजनास इन्द्र, इस मन्त्र भाग से युक्त, शस्य—शंसनस्तुति आध्वर्यव—अध्वर्युकृत कर्म प्रयोग मे दृष्ट है) यहाँ परिग्रह देखा गया है। इससे जिस प्रकार विद्या के आश्रय (विषय) कर्माङ्गो की सर्वत्र अनुवृत्ति होती है, इसी प्रकार तदाश्रित प्रत्ययों की भी अनुवृत्ति होती है, इससे अविरोध है ॥ ५६ ॥

भूमज्यायस्त्वाधिकरणम् ॥ ३२ ॥

ध्येयो वैश्वानरांशोपि ध्यातव्यः कृत्स्न एव वा। अंशेपूपास्तिफलयोरुक्तेरस्त्यंशधीरपि ॥
उपक्रमावसानाभ्यां समस्तस्यैव चिन्तनम्। अंशोपास्तिफले स्तुत्यै प्रत्येकोपास्तिनिन्दनात्॥

उपमन्यु का पुत्र प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, और बुडिल नाम वाले विद्वान् लोग विचार करने लगे कि हम लोगों की आत्मा क्या वस्तु है, और उपदेश लेने के लिए पाँचो उद्दालक ऋषि के पास गये, उद्दालक जी स्वयं उपदेश नहीं देकर सबको कैकेय राजा के पास ले गये। राजा ने समस्त साङ्गवैश्वानर का उपदेश दिया और ये लोग प्रथम से ही द्युलोक, सूर्य, वायु, आकाश, जल और पृथिवी को वैश्वानर समझ कर भिन्न-भिन्न उपासना करते थे, उनके फलों को राजा ने कहा, और प्रत्येक उपासनाओं की निन्दा भी किया, इससे एक-एक अङ्ग की उपासना से भूमा, साङ्ग वैश्वानर की उपासना को ज्यायस्त्व श्रेष्ठत्व विधेयत्व है, वह साङ्ग क्रतु के समान समझना चाहिये और उस ज्यायस्त्व को निन्दा आदि द्वारा श्रुति स्वयं दर्शाती है, यह संक्षिप्त सूत्रार्थ है। संशय है कि वैश्वानर के अंशरूप द्युलोक आदित्यादि भी ध्येय हैं, अथवा संपूर्ण वैश्वानर ही ध्येय है। पूर्वपक्ष है कि अङ्ग-विषयक भी उपासनों के और उस उपासना के फल के कथन से अंश और अंशी दोनों ध्येय हैं ॥ १ ॥ सिद्धान्त है कि उपक्रम और उपसंहार से समस्त का ही चिन्तन विधेय है, अंश की उपासना और फल का वर्णन समस्तोपासना की स्तुति के लिये है, यह प्रत्येकोपासना की निन्दा से सिद्ध होता है ॥ १–२ ॥

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथाहि दर्शयति ॥ ५७ ॥

'प्राचीनशाल औपमन्यव' (छा० ५।११।१) इत्यस्यामाख्यायिकायां व्यस्तस्य समस्तस्य च वैश्वानरस्योपासनं श्रूयते। व्यस्तोपासनं तावत् 'औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स' इति, 'दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से' (छा० ५।१२।१) इत्यादि। तथा समस्तोपासनमपि 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा सन्देहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ' (छा० ५।१८।२) इत्यादि। तत्र संशयः—किमिहोभयथाप्युपासनं स्याद् व्यस्तस्य समस्तस्य चोत समस्तस्यैवेति। किं तावत्प्राप्तम्। प्रत्यवयवं सुतेजःप्रभृतिषूपास्स इति क्रियापदश्रवणात्, 'तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते' (छा० ५।१२।१) इत्यादिफलभेदश्रवणाच्च व्यस्तान्यप्युपासनानि स्युरिति प्राप्तम्।

(प्राचीन शाल नामक उपमन्यु का पुत्र) इत्यादि रूप इस आख्यायिका (कथा) में व्यस्त (अंग) समस्त (अंगयुक्त अंगी) वैश्वानर की उपासना सुनी जाती है। प्रथम व्यस्त का वर्णन है। वहाँ कैकेय राजा का प्रश्न है कि (हे औपमन्यव ! किस आत्मा की उपासना करते हो ? उसने कहा कि हे भगवन् राजन् ! दिव (स्वर्ग) रूप ही वैश्वानर की मैं उपासना करता हूँ। राजा ने कहा कि यह तो सुतेजा नामवाला वैश्वानर आत्मा है जिस आत्मा की तुम उपासना करते हो) इत्यादि। इसी प्रकार समस्तोपासना वर्णित है कि (उस ही इस वैश्वानर आत्मा का सुन्दर तेजवाला स्वर्ग मूर्धा-शिर है। विश्वरूप सूर्य आँख है, पृथग्वर्त्मात्मा-वायु प्राण है, बहुल-आकाश, सदेह-धड-मध्यभाग है, बस्ति ही धन है। पृथिवी ही पाद है) इत्यादि। यहाँ संशय होता है कि व्यस्त और समस्त के दोनों प्रकार की उपासना विधेय-होगी कर्तव्य होगी, अथवा समस्त की ही होगी। प्रथम प्राप्त क्या होता है ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि वैश्वानर के प्रत्येक अवयवरूप सुतेजा आदि विषयक, उपास्से, तू उपासना करता है, इस क्रिया पद के श्रवण से, और (उस सुतेजा की उपासना से तेरे कुल में सुत प्रसुत-आसुत (सोमरस) दीखते हैं। इत्यादि फलभेद के श्रवण से व्यस्त उपासनाएँ भी कर्तव्य होंगी ऐसा प्राप्त होता है।

ततोऽभिधीयते—भूम्नः पदार्थोपचयात्मकस्य समस्तस्य वैश्वानरोपासनस्य ज्यायस्त्वं प्राधान्येनास्मिन्वाक्ये विवक्षितं भवितुमर्हति, न प्रत्येकमवयवोपासनानामपि, क्रतुवत्। यथा क्रतुषु दर्शपूर्णमासप्रभृतिषु साकल्येन साङ्गप्रधानप्रयोग एवैको विवक्ष्यते न व्यस्तानामपि प्रयोगः प्रयाजादीनाम्। नाप्येकदेशाङ्गयुक्तस्य प्रधानस्य तद्वत्। कुत एतद् भूमैव ज्यायानिति। तथाहि श्रुतिर्भूम्नो ज्यायस्त्वं दर्शयति एकवाक्यतावगमात्। एकं हीदं वाक्यं वैश्वानरविद्याविषयं पौर्वापर्यालोचनात्प्रतीयते।

इससे कहते हैं कि भूमा-अङ्गात्मक पदार्थों का उपचय (समूह-संग्रह) रूप समस्त वैश्वानरोपासना को इस वाक्य में प्रधानरूप से ज्यायस्त्व श्रेष्ठत्व विवक्षित होने योग्य है। प्रत्येक अवयव उपासनाओं को ज्यायस्त्व विवक्षित नहीं है, क्रतु के समान। जैसे दर्श पूर्णमासादि क्रतुओं में समस्तरूप से अङ्गसहित प्रधान का प्रयोग (अनुष्ठान) ही एक विवक्षित होता है। व्यस्त प्रयाजादि का प्रयोग भी विवक्षित नहीं होता है। न एकदेशरूप अङ्गयुक्त प्रधान का प्रयोग ही विवक्षित होता है, उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये। परन्तु भूमा ही ज्यायान् (प्रधान) है, यह किस प्रमाण से यहां समझा जाता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है कि एकवाक्यता के अवगम से इस प्रकार श्रुति ही भूमा के ज्यायस्त्व को दर्शाती है। पूर्वापर के आलोचन से यह एक ही वैश्वानर विद्याविषयक वाक्य प्रतीत होता है।

तथाहि—प्राचीनशालप्रभृतय उद्दालकावसानाः षडृषयो वैश्वानरविद्यायां परिनिष्ठामप्रतिपद्यमाना अश्वपतिं कैकेयं राजानमभ्याजग्मुः' इत्युपक्रम्यैकैकस्यर्षेरुपास्यं द्युप्रभृतीनामेकैकं श्रावयित्वा 'मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच' (छा० ५।१२।२) इत्यादिना मूर्धादिभावं तेषां विदधाति। 'मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मा नागमिष्यः' (छा० ५।१२।२) इत्यादिना च व्यस्तोपासनमपवदति। पुनश्च व्यस्तोपासनं व्यावर्त्य समस्तोपासनमेवानुवर्त्य 'स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति' (छा० ५।१८।१) इति भूमाश्रयमेव फलं दर्शयति। यत्तु प्रत्येकं सुतेजःप्रभृतिषु फलभेदश्रवणं तदेवंसत्यङ्गफलानि प्रधान एवाभ्युपगतानीति द्रष्टव्यम्। तथोपास्स इत्यपि प्रत्यवयवमाख्यातश्रवणं पराभिप्रायानुवादार्थं न व्यस्तोपासनविधानार्थम्। तस्मात्समस्तोपासनपक्ष एव श्रेयानिति।

इस प्रकार प्रतीत होता है कि प्राचीनशाल आदि उद्दालकपर्यन्त छः ऋषि वैश्वानर विद्या में परिनिष्ठा (पूर्णता-स्थिति) को नहीं प्राप्त होते हुए, परिनिष्ठा के लिए अश्वपति कैकेय राजा के पास मे गये, इस प्रकार आरम्भ करके, फिर एक-एक ऋषि के उपास्य द्युलोकादि एक-एक का श्रवण कराकर (यह सुतेजा तो वैश्वानर आत्मा का मूर्धा है) इत्यादि वचन से श्रुति उन द्युलोकादिरूप उपास्यों के मूर्धादिभाव का विधान करती है। और (यदि तुम मेरे पास नहीं आते तो तेरा शिर गिर जाता) इत्यादि वचन से व्यस्त उपासना की श्रुति निन्दा करती है। फिर भी व्यस्त उपासना की व्यावृत्ति (निवृत्ति) करके और समस्त उपासना की ही अनुवृत्ति (सम्बन्ध) करके (वह वैश्वानर का उपासक सब लोक सब भूत सब आत्मा में अन्न खाता है) इस प्रकार भूमा आश्रय वाला ही फल को दर्शाती है। इस प्रकार भूमा के मुख्यत्व सिद्ध होने पर जो प्रत्येक सुतेजा आदि अङ्गों में फलभेद की श्रुति है, सो अङ्गों के फलप्रधान में ही उपगत हैं, इस आशय से समझना चाहिए। इसी प्रकार उपास्से (तुम उपासना

करते हों) यह भी प्रत्येक अवयव में जो क्रिया का श्रवण है वह दूसरे उपकोशलादि के अभिप्राय के अनुवादार्थक है, व्यस्त उपासना का विधान के लिए नहीं है। इससे समस्त की उपासना वाला पक्ष ही श्रेयान् है—अधिक श्रेष्ठ है।

केचित्त्वत्र समस्तोपासनपक्षं ज्यायांसं प्रतिष्ठाप्य ज्यायस्त्ववचनादेव किल व्यस्तोपासनापक्षमपि सूत्रकारोऽनुमन्यते इति कथयन्ति। तदयुक्तम्। एकवाक्यतावगतौ सत्यां वाक्यभेदकल्पनस्यान्याय्यत्वात्। 'मूर्धा ते व्यपतिष्यत्' (छा० ५।१२।२) इति चैवमादिनिन्दावचनविरोधात्। स्पष्टे चोपसंहारस्थे समस्तोपासनावगमे तदभावस्य पूर्वपक्षे वक्तुमशक्यत्वात्। सौत्रस्य च ज्यायस्त्ववचनस्य प्रमाणवत्त्वाभिप्रायेणाप्युपपद्यमानत्वात् ॥ ५७ ॥

कोई तो यहाँ समस्त उपासना पक्ष का अधिक श्रेष्ठ प्रतिष्ठित (सिद्ध) करके ज्यायस्त्व वचन से ही व्यस्तोपासनापक्ष को भी सूत्रकार स्वीकार करते हैं। इस प्रकार कहते हैं, अर्थात् समस्तोपासना अधिक श्रेष्ठ है इस सूत्रकार के वचन से व्यस्त उपासना में भी श्रेष्ठत्व की प्रतीति होती है इससे उस विषयक अनुमति की सिद्धि होती है ऐसा कहते हैं, यह कहना अयुक्त है। जिसमें एकवाक्यता की अवगति होने पर वाक्यभेद की कल्पना को अयुक्तत्व है, और अनुमति मानने पर (तेरा शिर गिर जाता) इस प्रकार के निन्दावचन से विरोध है। उपसंहारस्थ समस्त उपासना के स्पष्ट अवगम रहते पूर्वपक्ष में उसका अभाव कहना अशक्य है। अर्थात् जब समस्त और व्यस्त दोनों उपासना सिद्धान्त पक्ष होगा, तब व्यस्त या समस्त एक एक उपासना ही पूर्वपक्ष होगा। वहाँ व्यस्त उपासना को पूर्वपक्ष में मान कर समस्त उपासना का प्रतिषेध नहीं हो सकता है, क्योंकि उपसंहार में उसी का स्पष्ट अवगम होता है। सूत्रस्थ ज्यायस्त्व वचन को प्रमाणवत्त्व (प्रमाणतात्पर्य-विषयत्व) के अभिप्राय से भी उपपन्न होने से, उक्त कथन अयुक्त सिद्ध होता है ॥ ५७ ॥

शब्दादिभेदाधिकरणम् ॥ ३३ ॥

न भिन्ना उत भिद्यन्ते शाण्डिल्यदहरादयः। समस्तोपासनश्रैष्ठ्याद्ब्रह्मैक्यादप्यभिन्नता ॥
कृत्स्नोपास्तेरशक्यत्वाद् गुणैर्ब्रह्म पृथक्कृतम्। दहरादीनि भिद्यन्ते पृथक्पृथगुपक्रमात् ॥

दहर शाण्डिल्यादि विद्या ब्रह्मवस्तु के एक होने भी उसके गुणादि के भेद से भिन्न है। संशय है कि शाण्डिल्य दहर आदि विद्याएँ पूर्वोक्त व्यस्त विद्या के समान भिन्न नहीं हैं, अथवा भिन्न हैं। पूर्वपक्ष है कि पूर्व अधिकरण के समान समस्त उपासना के श्रेष्ठ होने से और विद्या का विषयरूप ब्रह्म के एक होने से भी विद्याओं में अभिन्नता है। सिद्धान्त है कि अनेक प्रकार से विहित अनेक उपासना के अनुष्ठान के एक पुरुष से एक काल में अशक्यस्वरूप होने से तथा पृथक्-पृथक् उपक्रम से दहरादि उपासनाएँ भिन्न हैं, और गुणों के द्वारा ब्रह्म भी पृथक् किया गया है, इससे वेद्यरूप की एकता से भी विद्या एक नहीं है ॥ १-२ ॥

नाना शब्दादिभेदात् ॥ ५८ ॥

पूर्वस्मिन्नधिकरणे सत्यामपि सुतेजःप्रभृतीनां फलभेदश्रुतौ समस्तोपासनं ज्याय इत्युक्तम्, अतः प्राप्ता बुद्धिरन्यान्यपि च भिन्नश्रुतीन्युपासनानि समस्योपासिष्यन्ते इति। अपिच नैव वेद्याभेदे विद्याभेदो विज्ञातुं शक्यते। वेद्यं हि रूपं विद्यायाः द्रव्यदैवतमिव यागस्य, वेद्यश्चैक एवेश्वरः श्रुतिनानात्वेऽप्यवगम्यते 'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३।१४।२) 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म (छा० ४।१५) 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' (छा० ८।१।५) इत्येवमादिषु। तथा 'एक एव प्राणः' प्राणो वाव संवर्गः (छा० ४।३।३) 'प्राणो वावज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च' (छा० ५।१।१) 'प्राणो ह पिता प्राणो माता' (छा० ७।१५।१) इत्येवमादिषु, वेद्यैकत्वाच्च विद्यैकत्वं श्रुतम्। श्रुतिनानात्वमप्यस्मिन्पक्षे गुणान्तरपरत्वान्नानर्थकम्। तस्मात्स्वपरशाखाविहितमेकवेद्यव्यपाश्रयं गुणजातमुपसंहर्तव्यं विद्याकार्त्स्न्यायेति।

पूर्व अधिकरण में सुतेजा आदि के फलभेदविषयक श्रुति के रहते भी समस्त की उपासना श्रेष्ठ है, यह कहा गया है, इससे ऐसी बुद्धि प्राप्त होती है कि भिन्न श्रुति वाली अन्य भी उपासनाएँ मिलकर 'समस्तरूप से उपासित होगीं; की जायगीं। और भी वेद्यवस्तु के अभेद रहते विद्या का भेद नहीं समझा जा सकता है, जिससे वेद्यवस्तु ही विद्या का रूप होता है, जैसे द्रव्य और देवता याग का रूप होता है और श्रुतियों के नाना होते भी वेद्य एक ही ईश्वर अवगत होता है कि (मनोमय प्राणरूप शरीर वाला आत्मा है। सुखस्वरूप ब्रह्म है, विभु आकाशतुल्य ब्रह्म है। सत्य शुद्ध काम वाला, सत्य संकल्प वाला परमात्मा है) इत्यादि में एक ईश्वर अवगत होता है। और इसी प्रकार (एक ही प्राण है। प्राण ही संवर्ग है) प्राण ही कालकृत ज्येष्ठ बड़ा है और गुणकृत श्रेष्ठ है। प्राण ही पिता है प्राण ही माता है। इत्यादि में वेद्य के एकत्व से विद्या का एकत्व श्रुत है और इस पक्ष में भी गुणान्तर परत्व से श्रुतिगत नानात्व भी अनर्थक नहीं है इससे स्वशाखा और परशाखा मे विहित एक वेद्य के आश्रित गुणसमूह विद्या की पूर्णता के लिए उपसंहार के योग्य हैं।

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते नानेति। वेद्याभेदेऽप्येवज्जातीयका विद्या भिन्ना भवितुमर्हति। कुतः? शब्दादिभेदात्। भवति हि शब्दभेदः 'वेद' 'उपासीत' 'स क्रतुं कुर्वीत' (छा० ३।१४।१) इत्येवमादिः। शब्दभेदश्च कर्मभेदहेतुः समधिगतः पुरस्तात् 'शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वादिति'। आदिग्रहणाद् गुणादयोऽपि यथासम्भवं भेदहेतवो योजयितव्याः।

ऐसा प्राप्त होने पर प्रतिपादन किया जाता है कि विद्या नाना है। वेद्य के अभेद रहते भी इस प्रकार की विद्याएँ भिन्न होने योग्य हैं, किस हेतु से भिन्न होने योग्य है, तो कहा जाता है, शब्दादि के भेद से भिन्न हैं। जिससे, वेद (जानता है) उपासीत

(उपासना करे) स क्रतुं कुर्वीत (वह सङ्कल्प करे) इत्यादि शब्द भेद है। पूर्व-मीमांसा में शब्द का भेद कर्मभेद का हेतु रूप समधिगत हुआ है कि (यजति, जुहोति, ददाति इत्यादि भिन्नार्थविषयक शब्दान्तर के होने पर कृतानुबन्धित्व स्वीकृत भावना-भेद विधिभेद से कर्म का भेद होता है) सूत्र में आदि शब्द के ग्रहण से भेद के हेतु गुणादि भी सम्भव के अनुसार योजना (सम्बन्ध) के योग्य है।

ननु वेदेत्यादिषु शब्दभेद एवावगम्यते न यजतीत्यादिवदर्थभेदः सर्वेषा-मेवेषां मनोवृत्त्यर्थत्वाभेदात्, अर्थान्तरासम्भवाच्च। तत्कथं शब्दभेदाद्विद्याभेद इति। नैष दोषः। मनोवृत्त्यर्थत्वाभेदेऽप्यनुबन्धभेदाद्वेद्यभेदे सति विद्याभेदोप-पत्तेः। एकस्यापि हीश्वरस्योपास्यत्वेन प्रतिप्रकरणं व्यावृत्ता गुणाः शिष्यन्ते। तथैकस्यापि प्राणस्य तत्र तत्रोपास्यस्याभेदेऽप्यन्यादृग्गुणोऽन्यत्रोपासितव्योऽ-न्यादृग्गुणश्चान्यत्रेत्येवमनुबन्धभेदाद्, वेद्यभेदे सति विद्याभेदो विज्ञायते। नचात्रैको विद्याविधिरितरे गुणविधय इति शक्यं वक्तुम्। विनिगमनाया हेत्व-भावात्। अनेकत्वाच्च प्रतिप्रकरणं गुणानां प्राप्तविद्यानुवादेन गुणविधा-नानुपपत्तेः। नचास्मिन्पक्षे समानाः सन्तः सत्यकामादयो गुणा असकृच्छ्रा-वयितव्याः।

यहाँ शंका होती है कि वेद, उपासीत, इत्यादि में शब्दों का ही भेद अवगत होता है, यजति, जुहोति, आदि के समान अर्थ का भेद नहीं अवगत होता है जिसमें उन में धात्वर्थ का भेद रहता है, और यहाँ तो सबका मनोवृत्तिमात्र अर्थ है और अर्थान्तर का असम्भव है। तो उस वेदादि शब्दभेद से विद्या का भेद कैसे होगा? उत्तर है कि यह दोष नहीं है, मनोवृत्तिरूप अर्थ के अभेद रहते भी उपास्य गुणादिरूप अनुबन्ध के भेद से वेद्य के भेद होने पर विद्याभेद की उपपत्ति होती है। अर्थात् ये उपासनायें वस्तु-निष्ठ नहीं है, इसमें गुणादिकल्पित धर्मकृत भेद से भी भिन्न होती है जिससे उपास्य एक ईश्वर के भी प्रत्येक प्रकरण में व्यावृत्त (भिन्न भिन्न) गुण उपदिष्ट होते हैं। इसी प्रकार तत्तत् स्थानों में उपास्य प्राण के एक होते भी, अन्य प्रकार के गुणवाला अन्यत्र उपास्य होता है, इससे अन्य प्रकार के गुणवाला कहीं अन्यत्र उपास्य होता है और इस प्रकार अनुबन्ध के भेद से वेद्य के भेद होने पर विद्या का भेद समझा जाता है। यहाँ एक विद्याविधि है, अन्य गुणविधि है ऐसा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इन में कौन विद्याविधि है कौन गुणविधि है, इस विशेष अर्थ की विनिगमना (विभाग) में हेतु (प्रमाण) का अभाव है। प्रत्येक प्रकरणों में गुणों के अनेक होने से प्राप्त विद्या के अनुवाद द्वारा गुण विधान की अनुपपत्ति है, क्योंकि इस प्रकार अनेकवाक्यता की प्राप्ति होगी। इस एक विधिपक्ष में पुनरुक्ति होने से समान स्वरूप होते हुए सत्यकामादि गुण अनेक वार सुनाने योग्य नहीं होंगे, इस पक्ष में प्रत्यभिज्ञा के लिए भी पुनरुक्ति नहीं कही जा सकती है, जिसमें ब्रह्म की एकता में ही इस पक्ष में प्रत्यभिज्ञा होगी।

प्रतिप्रकरणं चेदंकामेनेदमुपासितव्यमिदङ्कामेन चेदमिति नैराकाङ्क्ष्यावगमान्नैकवाक्यतापत्तिः। नचात्र वैश्वानरविद्यायामिव समस्तचोदनाऽपराऽस्ति यद्बलेन प्रतिप्रकरणवर्त्तीन्यवयवोपासनानि भूत्वैकवाक्यतामीयुः। वेद्यैकत्वनिमित्ते च विद्यैकत्वे सर्वत्र निरङ्कुशे प्रतिज्ञायमाने समस्तगुणोपसंहारोऽशक्यः प्रतिज्ञायेत। तस्मात्सुष्ठूच्यते नाना शब्दादिभेदादिति। स्थिते चैतस्मिन्नधिकरणे सर्ववेदान्तप्रत्ययमित्यादि द्रष्टव्यम् ॥ ५८ ॥

प्रत्येक प्रकरण में इस फल की इच्छा वाले से ऐसा ब्रह्म उपासनीय है, अमुक फल की इच्छा वाले से अमुक स्वरूप वाला उपासनीय है, इस प्रकार उन वाक्यों में निराकांक्षता के अवगम से आकांक्षा के विना उनकी एकवाक्यता की प्राप्ति नहीं हो सकती है। वैश्वानर विद्या में जैसे अवयव विधि से अन्य समस्त विधि है, वैसे यहाँ शाण्डिल्य दहरादि विधि से भिन्न समस्तविषयक विधि नहीं है कि जिसके बल से प्रत्येक प्रकरणवर्ती अवयवरूप उपासना होकर एकवाक्यता को प्राप्त हों। वेद्य ब्रह्म की एकतानिमित्तक सब स्थान में निरंकुश (स्वतन्त्र) विद्या की एकता की प्रतिज्ञा करने पर, अशक्य समस्त गुणोपसंहार की भी प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी। इससे सुन्दर कहा जाता है कि (नानाशब्दादिभेदात्) यहाँ शब्द का ग्रहण समुच्चयमात्र है गुणादि के भेद विद्याभेद के कारण हैं। इस अधिकरण के स्थिर होने पर (सर्ववेदान्तप्रत्ययम्) इत्यादि अधिकरण को समझना चाहिये, अर्थात् इस अधिकरण को पाद के आदि में होना उचित है, यहां प्रासङ्गिक सम्बन्ध है ॥ ५८ ॥

विकल्पाधिकरणम् ॥ ३४ ॥

अहंग्रहेष्वनियमो विकल्पनियमोऽथवा। नियामकस्याभावेन याथाकाम्यं प्रतीयताम् ॥
ईशसाक्षात्कृतेस्त्वेकविद्ययैव प्रसिद्धितः। अन्यानर्थक्यविक्षेपौ विकल्पस्य नियामकौ ॥

अहंग्रह, तटस्थ और कर्माङ्गाश्रित भेद से सगुण विद्या तीन प्रकार की होती है, यहाँ अहंग्रहरूप विद्या सबको ईश्वर का साक्षात्काररूप अविशिष्ट (तुल्य-एक) फल होता है, इससे किसी एक विद्या से ईश्वर के साक्षात्कार होने पर अन्य की जरूरत नहीं रहती है, इसीसे इनका विकल्प है। यहां संशय है कि अहंग्रह उपासनाओं में अनियम है कि जो जितनी चाहे उतनी उपासना करे, अथवा विकल्प का नियम है कि इनमें से कोई एक ही उपासना करे। पूर्वपक्ष है कि नियामक हेतु के अभाव से इच्छा के अनुसार कर्तव्य समझना चाहिए, दो-चार जितनी की इच्छा हो, उतनी उपासना करे। सिद्धान्त है कि अहंग्रह उपासना ईश्वरविषयक साक्षात्कार के लिए की जाती है, यहाँ एक विद्या से ही ईश्वरविषयक साक्षात्कार की सिद्धि से विकल्प का नियम है और विकल्प का नियामक अन्य की अनर्थकता और विक्षेप है। एक से ही ईश्वर के साक्षात्कार होने पर अन्य निरर्थक है, और दो विद्या के एकबार अभ्यास में चित्त के परिवर्तन से विक्षेप होता है, इससे एक का अभ्यास ही उचित है ॥ १-२ ॥

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ५९ ॥

स्थिते विद्याभेदे विचार्यते किमासामिच्छया समुच्चयो विकल्पो वा स्यात्, अथवा विकल्प एव नियमेनेति। तत्र स्थितत्वात्तावद्विद्याभेदस्य न समुच्चयनियमे किंचित्कारणमस्ति। ननु भिन्नानामप्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां समुच्चयनियमो दृश्यते। नैष दोषः। नित्यताश्रुतिर्हि तत्र कारणम्, नैवं विद्यानां काचिन्नित्यताश्रुतिरस्ति, तस्मान्न समुच्चयनियमः। नापि विकल्पनियमः, विद्यान्तराधिकृतस्य विद्यान्तराप्रतिषेधात्। पारिशेष्याद्यथाकाम्यमापद्यते।

विद्याभेद के स्थिर होने पर अहंग्रह विद्याविषयक विचार किया जाता है कि क्या इन विद्याओं का उपासक की इच्छा के अनुसार समुच्चय (साथ अनुष्ठान) या विकल्प होगा। अथवा नियम से विकल्प ही होगा। यहाँ पूर्वपक्षी का कथन है कि प्रथम विद्याभेद के स्थित होने से समुच्चय (सहानुष्ठान) नियम में कोई कारण नहीं है, यदि कहा जाय कि भिन्न भी अग्निहोत्र दर्शपूर्णमासादि के समुच्चय का नियम देखा जाता है, वैसे यहाँ भी समुच्चय का नियम होगा, तो कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, अर्थात् उसके समान यहाँ समुच्चय नियम की प्राप्ति नहीं है, जिससे अग्निहोत्र-विषयक नित्य श्रुति वहाँ समुच्चय में कारण है। इस प्रकार विद्याओं की कोई नित्यता श्रुति नहीं है। इससे समुच्चय का नियम नहीं है। विकल्प का भी नियम नहीं है, जिससे विद्यान्तर में अधिकृत के अधिकार का किसी अन्य विद्या में प्रतिषेध नहीं है, अर्थात् एक विद्या के अधिकारी के लिए दूसरी विद्या का प्रतिषेध नहीं है कि जिससे विकल्प का नियम हो। इसलिए परिशेषता से यथेष्ट पक्ष प्राप्त होता है कि इच्छा के अनुसार समुच्चित या विकल्पित उपासना करे।

नन्वविशिष्टफलत्वादासां विकल्पो न्याय्यः, तथाहि—'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३।१४।२) 'कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४।१०।५) 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।१।५) इत्येवमाद्यास्तुल्यवदीश्वरप्राप्तिफला लक्ष्यन्ते। नैष दोषः। समानफलेष्वपि स्वर्गादिसाधनेषु कर्मसु यथाकाम्यदर्शनात्। तस्माद्यथाकाम्यप्राप्तावुच्यते विकल्प एवासां भवितुमर्हति न समुच्चयः। कस्मात्? अविशिष्टफलत्वात्। अविशिष्टं ह्यासां फलमुपास्यविषयसाक्षात्करणम्, एकेन चोपासनेन साक्षात्कृते उपास्ये विषय ईश्वरादौ द्वितीयमनर्थकम्।

शंका होती है कि अविशिष्ट (समान) फलवत्ता से इनका विकल्प होना उचित है, जैसे (मनोमय प्राण शरीर वाला है। सुखस्वरूप आकाशतुल्य ब्रह्म है। सत्यकाम वाला सत्यसंकल्प वाला है) इत्यादि तुल्यरीति वाली ईश्वर की प्राप्तिरूप फलवाली विद्या इस प्रकार उपलब्ध होती है, पूर्वपक्षी का उत्तर है कि यथाकाम पक्ष में यह समानफलता दोष नहीं है, जिससे समानफलवाले भी स्वर्गादि के साधनरूप कर्म-

दानादि कर्मों में यथेष्ट प्रवृत्ति देखी जाती है। इससे यथेष्टतापक्ष के प्राप्त होने पर सिद्धान्त कहा जाता है कि इन विद्याओं का विकल्प ही होना युक्त है, समुच्चययुक्त नहीं है, क्योंकि एक पुरोडाशफलत्व से जैसे व्रीहि और यव का विकल्प होता है, वैसे ही अविशिष्ट (एक) फलत्व से विकल्प होगा। जिससे उपास्यविषयक साक्षात्कार-रूप इन उपासनाओं का अविशिष्ट फल है। एक उपासना से उपास्य विषयरूप ईश्वरादि के साक्षात्कृत (प्रत्यक्ष) होने पर यह उपासना निरर्थक है।

अपि चासंभव एव साक्षात्करणस्य, समुच्चयपक्षे चित्तविक्षेपहेतुत्वात्। साक्षात्करणसाध्यं च विद्याफलं दर्शयन्ति श्रुतयः—'यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्ति' (छा० ३।१४।४) इति 'देवो भूत्वा देवानप्येति' (बृ० ४।१।२) इति चैवमाद्याः। स्मृतयश्च 'सदा तद्भावभाविताः' इत्येवमाद्याः। तस्मादविशिष्टफलानां विद्यानामन्यतमामादाय तत्परः स्याद्यावदुपास्यविषयसाक्षात्करणेन तत्फलं प्राप्तमिति ॥ ५९ ॥

फल की अधिकता के लिए काम्य-कर्मादि का समुच्चय होता है, और उपासना का साक्षात्काररूप फल न्यून-अधिक भाव से रहित तुल्य होता है, इससे फलाधिक्य के लिये भी समुच्चयन ही हो सकता है, और उलटा समुच्चयपक्ष मे द्वैविध्य से समुच्चय के विक्षेप के हेतुत्व से उस पक्ष में साक्षात्कार का असम्भव ही होगा। साक्षात्कार से ही साध्य विद्या के फल को श्रुतिया दर्शाती है कि (जिस उपासक को अद्धा सत्य साक्षात्कार होता है, प्राप्ति-अप्राप्ति का संशय नहीं रहता है, उसी को ब्रह्म की प्राप्तिरूप फल होता है। जीते ही अवस्था में साक्षात्कार से सर्वात्मदेव भाव का अनुभव करके देव होकर देहपात के बाद भी देव को प्राप्त करता है, तथा अन्य देवों की भी भावना से जीवन काल मे अनुभव करके फिर उन देवो को प्राप्त करता है) इत्यादि। (सदा तत्तत् भावना से भावित चित्त वाला होकर उसी को प्राप्त होता है कि जिस-जिस को स्मरण करता हुआ अन्त मे शरीर को त्यागता है) इत्यादि स्मृतियाँ भी साक्षात्कार मे साध्य फल को दर्शाती है। इससे अविशिष्ट (एक) फलवाली अनेक विद्याओं मे से किसी एक का ग्रहण करके, जब तक उपास्यविषयक साक्षात्कार के द्वारा उस विद्या का फल प्राप्त हो तब तक उसी एक ही विद्या में तत्पर (सावधान) रहे ॥ ५९ ॥

काम्याधिकरणम् ॥ ३५ ॥

प्रतीकेषु विकल्पः स्याद्यथाकाम्येन वा मतिः। अहंग्रहेष्विवैतेषु साक्षात्कृत्यै विकल्पनम् ॥
देवो भूत्वेतिवन्नात्र काचित्साक्षात्कृतौ मितिः॥ याथाकाम्यमतोऽमीषां समुच्चयविकल्पयोः॥

पूर्वोक्त फल की अविशिष्टतारूप हेतु के अभाव से तटस्थ उपासनाएँ यथेष्ट समुच्चित या विकल्पितरूप से की जा सकती है। संशय है कि प्रतीक (तटस्थ) उपासनाओ मे विकल्प होगा, वा इच्छा के अनुसार समुच्चय विकल्परूप मति (उपासना) होगी। पूर्वपक्ष है कि अहंग्रहों के समान साक्षात्कार के लिए इनमे भी विकल्प होगा। सिद्धान्त है कि अहंग्रहोपासना मे साक्षात्कार की मिति (प्रमाण) रूप जैसे (देवो भूत्वा

दवानप्येति) यह श्रुति है वैसे यहा कोई प्रमाण नही है, इससे इनके समुच्चय और विकल्प म यथेष्टता है ॥ २ ॥

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ॥६०॥

'अविशिष्टफलत्वादि' त्यस्य प्रत्युदाहरणम्। यासु पुन काम्यासु विद्यासु 'स य एतमेव वायु दिशा वत्स वेद न पुत्ररोद रोदिति' (छा० ३।१५।२) 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गत तत्रास्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७।१५) इति चेवमादासु क्रियावददृष्टेनात्मनात्मीय तत्तत् फल साधयन्तीषु साक्षात्करणापेक्षा नास्ति। ता यथाकाम समुच्चीयेरन्न वा समुच्चीयेरन्पूर्वहेत्वभावात्। पूर्वस्याविशिष्टफलत्वादित्यस्य विकल्पहेतोरभावात् ॥६०॥

अविशिष्ट (समान) फलत्वात् इसका यह सूत्र प्रत्युदाहरण है कि (वह जो कोई पुत्र क दीर्घजीवनार्थी इस वायु को ही गो अगम्य म कल्पित दिशाओ का वत्सरूप स उपासना करता है वह पुत्र मरणनिमित्तक रोदन नही करता है। अर्थात् उसका पुत्र नहा मरता है) और (जो कोई नाम को ब्रह्मरूप स उपासना करता है उसका जहाँ तक नाम का विषय है वहाँ तक यथेष्ट सचार होता है जैसे राजा का अपने देश म सचार होता है) इत्यादिक जिन सकाम और क्रिया के समान अदृष्टरूप म अपने तत्तत् फलो को सिद्ध करने वाली विद्याओ म उपास्य साक्षात्कार की अपेक्षा नहा है इन म अविशिष्ट फलरूप पूर्व हेतु के अभाव स व उपासनाए इच्छा क अनुसार समुच्चित होगी अथवा नही समुच्चित होगी। अर्थात् (अविशिष्टफलत्वात्) यह जो पूर्वकथित विकल्प का हेतु है उसके अभाव स समुच्चय वा विकल्प यथेष्ट होगा ॥ ६० ॥

यथाश्रयभावाधिकरणम् ॥ ३६ ॥

समुच्चयोऽङ्गबद्धेषु याथाकाम्यम वा मति। समुच्चितत्वादङ्गानां तद्बद्धेषु समुच्चय ॥
ग्रह गृहीत्वा स्तोत्रस्यारम्भ इत्यादिवन्न हि। श्रूयते सहभावोऽत्र याथाकाम्य ततो भवेत् ॥

कर्माङ्ग उद्गीथादि आश्रित उपासनाओ म उनके आश्रय अङ्गो के समान उन उपासनाओ का भी समुच्चय होगा, यह पूर्व पक्ष सूत्र है। सशय है कि कर्माङ्ग आश्रित उपासनाओ म समुच्चय होगा, अथवा इच्छा के अनुसार मति होगी। पूर्वपक्ष है कि अङ्गो क समुच्चित होने से उनके आश्रित होने वाली उपासनाओ का भी समुच्चय होगा। सिद्धान्त है कि ग्रह (पात्र) का ग्रहण करके स्तोत्र आरम्भ होता है, इत्यादि सहभाव वचन अङ्गो के समुच्चय का हेतु है वैसे तदाश्रित विद्याओ को समुच्चय का हेतु सहभाव यहाँ नही सुना जाता है, इससे इच्छानुसार होगा ॥ १ २ ॥

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ६१ ॥

कर्माङ्गेषूद्गीथादिषु य आश्रिता प्रत्यया वेदत्रयविहिता किं ते समुच्चयेरन्किंवा यथाकाम स्युरिति सशये यथाश्रयभाव इत्याह। यथैवेषामाश्रया स्तोत्रादय सम्भूय भवन्त्येव प्रत्यया अपि, आश्रयतन्त्रत्वात्प्रत्ययानाम ॥ ६१ ॥

कर्माङ्ग उद्गीथादि के आश्रित तीन वेद से विहित जो प्रत्यय हैं, क्या वे समुच्चित होगे वा इच्छा के अनुसार होगे। ऐसा संशय होने पर यथाश्रयभाव होगा यह कहते हैं। जैसे इन प्रत्ययो के आश्रय स्तोत्रादि सम्मिलित होकर रहते है, कर्माङ्ग होते हैं, इसी प्रकार इनके आश्रित प्रत्यय भी मिल कर समुच्चित रहते है। जिससे प्रत्ययों को आश्रयाधीनत्व है, इससे इनको प्रयोगविधि से अङ्गों के साथ समुच्चित अनुष्ठान होता है ॥ ६१ ॥

शिष्टेश्च ॥ ६२ ॥

यथा चाश्रयाः स्तोत्रादयस्त्रिपु शिष्यन्त एवमाश्रिता अपि प्रत्ययाः। नोपदेशकृतोऽपि कश्चिद्विशेषोऽङ्गानां तदाश्रयाणां च प्रत्ययानामित्यर्थः ॥६२॥

प्रत्ययों के आश्रय स्तोत्रादि जैसे तीनों वेद में उपदिष्ट होते हैं, उसी प्रकार उनके आश्रित प्रत्यय भी उपदिष्ट होते हैं, इससे अङ्गो को और तदाश्रित प्रत्ययों को उपदेशकृत भी कोई विशेष (भेद) नही है इससे अङ्ग के समान शासन-विधान के अविशेष होने से अङ्गों के समान समुच्चय होगा, यह अर्थ है ॥ ६२ ॥

समाहारात् ॥ ६३ ॥

'होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति' (छा० १।५।५) इति च प्रणवोद्गीथैकत्वविज्ञानमाहात्म्यादुद्गाता स्वकर्मण्युत्पन्नं क्षतं हौत्रात्कर्मणः प्रतिसमादधातीति ब्रुवन्वेदान्तरोदितस्य प्रत्ययस्य वेदान्तरोदितपदार्थसम्बन्धसामान्यात्सर्ववेदोदितप्रत्ययोपसंहारं सूचयतीति लिङ्गदर्शनम् ॥ ६३ ॥

समाहार-समाहरण-क्षत का संधान से भी समुच्चय प्रतीत होता है। यहां ऋग्वेदी का जो प्रणव है वह सामवेदी का उद्गीथ है, इत्यादि प्रणव और उद्गीथ की एकतादृष्टि से उपासना का फल है कि (होता के स्थान में स्थितिपूर्वक सम्यक् प्रयुक्त कृत होता के कर्म से, जो उद्गाता दुष्ट उद्गान किया रहता है, अपने कर्म में त्रुटि किया रहता है, उसको वह उपासक होता अपने कर्म और उपासना के वल से अनुसंधानपूर्ण कर देता है) इस प्रणव और उद्गीथ के एकत्व-विज्ञान के माहात्म्य से उद्गाता स्वकर्म में उत्पन्न क्षत-न्यूनता को होताकृत कर्म से समाधानपूर्णता करता है, इस प्रकार कहता हुआ, वेदान्तर में कथित प्रत्यय का भी वेदान्तर में कथित पदार्थ के साथ सम्वन्ध सामान्य से सव वेद में कथित प्रत्ययों के उपसंहार को सूचित करता है, इससे सामवेद में उत्पन्न उद्गीथ ध्यान को जो ऋग् वेदोक्त प्रणव के साथ सम्वन्ध देखा गया है, वही अङ्गो के सव वेदों में विहित उपासनाओं के समुच्चय मे लिङ्ग है इत्यादि ॥ ६३ ॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ६४ ॥

विद्यागुणं च विद्याश्रयं सन्तमोङ्कारं वेदत्रयसाधारणं श्रावयति, तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते, 'ओमित्याश्रावयत्योमिति शंसत्योमित्युद्गायति' (छा० १।१।९) इति च। ततश्चाश्रयसाधारण्यादाश्रितसाधारण्यमिति लिङ्गदर्शनमेव। अथवा

गुणसाधारण्यश्रुतेश्चेति। यदीमे कर्मगुणा उद्गीथादयः सर्वे सर्वप्रयोगसाधारणा न स्युर्न स्यात्ततस्तदाश्रयाणां प्रत्ययानां सहभावः। ते तूद्गीथादयः सर्वाङ्ग-ग्राहिणा प्रयोगवचनेन सर्वे सर्वप्रयोगसाधारणाः श्राव्यन्ते, ततश्चाश्रयसहभावा-त्प्रत्ययसहभाव इति ॥ ६४ ॥

विद्या का गुण (विषय) अथवा विद्यारूप गुण वाला अर्थात् विद्या का आश्रय होता हुआ ओंकार को वेदत्रय में साधारणरूप से श्रुति श्रवण कराती है कि (इस ओंकार से वेदत्रय विहित कर्मादि प्रवृत्त होते हैं, ओंकार से तीन वेद उत्पन्न होते हैं) ओम् इस का उच्चारण करके अध्वर्यु आश्रवण कराता है, ओम् का उच्चारणपूर्वक होता स्तुति करता है ओंकार का उच्चारणपूर्वक उद्गाता उद्गान करता है) इति। इससे ओंकाररूप आश्रय की साधारणता से उसके आश्रित रहने वाली विद्याओं में भी साधारणता है और यह भी लिङ्ग का दर्शन ही है। अथवा गुणसाधारण्यश्रुतेश्च, इसका यह अर्थ है कि यदि ये कर्म के गुण (अङ्ग) रूप उद्गीथादि सब, कर्म के सब प्रयोगों में साधारण नहीं हों, तब तो उनके आश्रित रहने वाले प्रत्ययों का भी सब प्रयोगों में सहभाव नहीं हो। परन्तु वे उद्गीथादि सब तो सब अङ्गों का ग्राहक प्रयोग-वचन से सब प्रयोग में साधारणरूप से सुनाये जाते हैं, इसमें आश्रयरूप उद्गीथादि का सब प्रयोगों में सहभाव से आश्रित उपासनाओं का सर्वत्र सहभाव होता है ॥६४॥

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥ ६५ ॥

न वेति पक्षव्यावर्तनम्। न यथाश्रयभाव आश्रितानामुपासनानां भवि-तुमर्हति। कुतः? तत्सहभावाश्रुतेः। यथा हि त्रिवेदीविहितानामङ्गानां स्तोत्रा-दीनां सहभावः श्रूयते—'ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं वोन्नीय स्तोत्रमुपाकरोति स्तो-त्रमनुशंसति प्रस्तोतः साम गाय होतरेतद्यज' इत्यादिना, नैवमुपासनानां सह-भावश्रुतिरस्ति।

फलेच्छा और रुचि के अनुसार उपासना की जाती है, नियम से नहीं, इसमें सिद्धान्त सूत्रगत नवा, यह पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति करता है कि अङ्गाश्रित उपासनाओं का यथाश्रय भाव (आश्रयतुल्य समुच्चय) होने योग्य नहीं है, क्या नहीं है कि उनके सहभाव के अश्रवण से समुच्चय नहीं है। जिसमें तीनों वेदों में विहित अङ्गरूप स्तोत्रादि का जैसे सहभाव सुना जाता है कि (ग्रहपात्र का ग्रहण करके या चमस को ऊपर उठा कर स्तोता स्तोत्र का आरम्भ करता है, स्तोत्र का अनुशासन करता है कि, हे प्रस्तोता! साम गाओ, हे होता! इसका यजन करो) इत्यादि वचनों से सहभाव सुना जाता है, इस प्रकार उपासनाओं का सहभाव की श्रुति नहीं है।

ननु प्रयोगवचन एषामपि सहभावं प्रापयेत्। नेति ब्रूमः पुरुषार्थत्वादुपास-नानाम्। प्रयोगवचनो हि क्रत्वर्थानामुद्गीथादीनां सहभावं प्रापयेत्। उद्गीथा-द्युपासनानि क्रत्वर्थाश्रयाण्यपि गोदोहनादिवत्पुरुषार्थानीत्यवोचाम 'पृथग्घ्य-

प्रतिबन्धः फलम्' (ब्र० सू० ३।३।४२) इत्यत्र । अयमेव चोपदेशाश्रयो विशेषोऽङ्गानां तदालम्बनानां चोपासनानां यदेकेषां क्रत्वर्थत्वमेकेषां पुरुषार्थत्वमिति । परं च लिङ्गद्वयमकारणमुपासनसहभावस्य श्रुतिन्यायाभावात् । नच प्रतिप्रयोगमाश्रयकात्स्न्येनोपसंहारादाश्रितानामपि तथात्वं विज्ञातुं शक्यम्, अतत्प्रयुक्तत्वादुपासनानाम् । आश्रयतन्त्राण्यपि ह्युपासनानि काममाश्रयाभावे मा भूवन्न त्वाश्रयसहभावे सद्भावनियममर्हन्ति तत्सहभावाश्रुतेरेव । तस्माद्यथाकाममेवोपासनान्यनुष्ठीयेरन् ॥ ६५ ॥

यदि कहा जाय कि प्रयोग-विधि ही इन उपासनाओं के सहभाव को प्राप्त करायेगी, तो कहते है कि प्रयोग-विधि इनके सहभाव को नहीं प्राप्त करा सकती है, क्योंकि अङ्ग और प्रधान के सम्बन्धों का बोधक प्रयोग-विधि होती है, उपासनायें कर्माङ्ग नहीं हैं, उपासनाओं को पुरुषार्थत्व है, पुरुष का प्रयोजनविशेष के लिए उपासना होती है । इससे प्रयोग-वचन क्रत्वर्थक उद्गीथादि के आश्रित होते भी गोदोहनादि के समान पुरुषार्थक ही है, वह (पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्) इस सूत्र में हमने कहा है । उपदेशाश्रय (उपदेश से समझने योग्य) अङ्ग और उनके आश्रित उपासनाओं का यही विशेष (भेद है, कि इनमें एक को क्रत्वर्थत्व है, और एक को पुरुषार्थत्व है । (समाहारात्) इत्यादि दो सूत्र से कथित अन्य दो लिङ्ग भी श्रुति और न्याय के अभाव से उपासनाओं के सहभाव का कारण नही है । अर्थात् लिङ्ग के अर्थवादगत होने से मानान्तर से प्राप्त का वह द्योतक होता है, स्वयं अर्थ का साधक नहीं होता है और यहां मानान्तर नही है । प्रत्येक कर्म प्रयोग में अङ्गरूप आश्रयों के सम्पूर्णरूप से उपसंहार होने से आश्रित उपासनाओं का भी उन अङ्गों के समान ही समाहार को नहीं समझ सकते है, क्योकि उपासनाओं को अतत्प्रयुक्तत्व है, अर्थात् उपासना अङ्गप्रयुक्त नहीं है, किन्तु फल काम से प्रयुक्त हैं । इससे आश्रय के अधीन भी उपासनायें, आश्रय के नहीं रहने पर (कामं) यथेष्ट भले न हों, परन्तु आश्रय के समान उपासनाओ के सहभाव रहने पर उपासनायें सहभाव का नियम के योग्य नहीं हो सकती हैं । इससे इच्छा के अनुसार उपासनायें अनुष्ठित होंगी, की जायगीं, इससे उपासना अङ्गों के व्याप्य हैं व्यापक नहीं है ॥ ६५ ॥

दर्शनाच्च ॥ ६६ ॥

दर्शयति च श्रुतिरसहभावं प्रत्ययानाम्—'एवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति' (छा० ४।१७।१०) इति । सर्वप्रत्ययोपसंहारे हि 'सर्वे सर्वविदः' इति न विज्ञानवता ब्रह्मणा परिपाल्यत्वमितरेषां संकीर्त्येत । तस्माद्यथाकाममुपासनानां समुच्चयो विकल्पो वेति ॥ ६६ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पूज्यपादकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

प्रयया के असद्भाव को श्रुति दर्शाती है कि (इस प्रकार व्याहृति आदि को जानने वाला ब्रह्मा यज्ञ, यजमान, और सब ऋत्विकों की रक्षा करता है) इति। जिससे सब प्रयया के उपसंहार होने पर सब ऋत्विगादि सर्ववेत्ता होंगे, इससे विज्ञान वाला ब्रह्मा से इतर की परिपाल्यता नहीं सकीर्तित हो सकेगी। इससे इच्छा के अनुसार उपासनाओं का समुच्चय वा विकल्प होता है ॥ ६६ ॥

गुणागुणात्मकविश्व ह्यगुण ब्रह्म निर्भयम्। अन्यद् भयात्मक सर्व ह्यशुद्ध च विनश्वरम् ॥१॥
गुणेषु सात्त्विक शुद्ध कार्यं कल्याणकारकम्। कारक दोषसघानामघाना हारक तथा ॥२॥
कार्यं ब्रह्मविशुद्धैर्हि सात्त्विकै सद्गुणैर्युतम्। ध्यान ज्ञान सुविज्ञात ददाति गुणमुत्तमम् ॥३॥
उत्तमगुणलाभेन शान्तिदान्त्यादिलाभत। भावत सद्गुरौ देवे मुच्यते ज्ञानलाभत ॥४॥
राजस तामस भाव यत्नेन वर्जयेज्जन। काम क्रोध तथा लोभ मान मोह च मत्सरम् ॥५॥
नरकद्वारमेतद्धि कामादि कटुपातकम्। एतैर्युक्तो न शक्नोति गुण शुद्ध सुसेवितुम् ॥६॥
विशुद्धगुणसेवार्थमन्यत्यागार्थमेव च। पादोऽय मुनिना गीत सुबोधाय कृपालुना ॥७॥

इति ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये तृतीयाध्यायस्य तृतीय पाद समाप्त।

तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः

[अत्र निर्गुणविद्याया अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनविचारः ।]

पुरुषार्थाधिकरणम् ॥ १ ॥

क्रत्वर्थमात्मविज्ञानं स्वतन्त्रं वात्मनो यतः । देहातिरेकमज्ञात्वा न कुर्यात्क्रतुगं ततः ॥
नाद्वैतधीः कर्म हेतुर्हन्ति प्रत्युत कर्म सा । आचारो लोकसंग्राही स्वतन्त्रा ब्रह्मधीस्ततः ॥

पूर्वोक्त उपासनादि से और वक्ष्यमाण साधनों से जन्य इस आत्मज्ञान से परमपुरुषार्थ (मोक्ष) होता है, इस प्रकार बादरायण आचार्य कहते हैं जिससे (यइत्तद्विदुस्तेऽमृतत्वमानशुः । ऋग् २।३।१८।२३) ये-इत्-ये एव । जो लोग उस ब्रह्म को समझ पाये, सो अमृतत्व को प्राप्त किये, इत्यादि श्रुति से ज्ञान से ही मोक्ष सिद्ध होता है ॥ यहां संशय होता है कि आत्मविज्ञान क्रत्वर्थक है वा स्वतन्त्र है । पूर्वपक्ष है कि जिससे आत्मा का देह से अतिरेक (भेद) को समझे विना पारलौकिक फल के हेतु कर्मों को मनुष्य नहीं कर सकता है, इससे आत्मतत्त्व विज्ञान क्रतुगत (कर्माङ्ग) रूप कर्ता द्वारा है । सिद्धान्त है कि सामान्य रूप से देहातिरिक्त परोक्ष आत्मा का ज्ञान कर्माङ्ग हो सकता है परन्तु औपनिषद अपरोक्ष अद्वैत आत्मविज्ञान कर्म का हेतु नहीं है, प्रत्युत भेद रागादि की निवृत्ति द्वारा आत्मज्ञान कर्म को नष्ट करता है । ज्ञानी में सदाचार लोकसंग्रहार्थक रहता है, इससे ब्रह्म ज्ञानस्वतन्त्र मोक्षार्थक है ॥ १-२ ॥

पुरुषार्थोऽतःशब्दादिति बादरायणः ॥ १ ॥

अथेदानीमौपनिषदमात्मज्ञानं किमधिकारिद्वारेण कर्मण्येवानुप्रविशत्याहोस्वित्स्वतन्त्रमेव पुरुषार्थसाधनं भवतीति मीमांसमानः सिद्धान्तेनैव तावदुपक्रमते पुरुषार्थोऽत इति । अतः अस्माद्वेदान्तविहितादात्मज्ञानात्स्वतन्त्रात्पुरुषार्थः सिद्ध्यतीति बादरायण आचार्यो मन्यते । कुत एतदवगम्यते ? शब्दादित्याह । तथाहि—'तरति शोकमात्मवित्' (छा० ७।१।३) 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मु० ३।२।९) 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१।१) 'आचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' (छा० ६।१४।२) इति । 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्युपक्रम्य 'स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति' (छा० ८।७।१) इति । आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः (बृ० ४।५।६) इत्युपक्रम्य 'एतावदरे खल्वमृतत्वम्' (बृ० ४।५।१५) इत्येवंजातीयका श्रुतिः केवलाया विद्यायाः पुरुषार्थहेतुत्वं श्रावयति ॥ १ ॥

पूर्वोक्त गुणोपसंहार ज्ञान साधन उपासनादि विचार के बाद अब इस समय

उपनिषद्-जन्य आत्मज्ञान कर्माधिकारी के द्वारा क्या कर्म ही मे प्रवेश करता है, अथवा स्वतन्त्र ही पुरुषार्थ का साधन होता है, इस मीमांसा विचार को करते हुए सूत्रकार प्रथम सिद्धान्त द्वारा ही विचार का आरम्भ करते हैं कि (पुरुषार्थोऽत इति) अत, इस वेदान्त मे विहित स्वतन्त्र आत्मज्ञान से पुरुषार्थ सिद्ध होता है। इस प्रकार बादरायण आचार्य मानते हैं। यह किस प्रमाण से ज्ञात सिद्ध होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर, शब्द से यह अवगत होता है, ऐसा कहते है, जिससे इस प्रकार की श्रुतियाँ हैं कि (आत्मज्ञानी शोकसागर ससार को तरता है। इससे जो कोई उस पर ब्रह्म को जानता है, वह ब्रह्म ही होता है। ब्रह्मज्ञानी परब्रह्म को प्राप्त करता है। आचार्यवाला पुरुष जानता है, और उसको सत्यात्म सम्पत्ति म तभी तक देर है कि जब तक प्रारब्ध कर्म से नहीं विमुक्त हुआ है, प्रारब्धान्त मे वह सत् मे सम्पन्न लीन होता है। इति। जो आत्मा है वह सब पापो स रहित है। ऐसा आरम्भ करके (जो उस आत्मा को शास्त्रादि के द्वारा अन्वेषण-विचार करके जानता है, वह सब लोक और सब काम को प्राप्त करता है) इति। और (अरे मैत्रेयि ! आत्मा दर्शन के योग्य है) ऐसा आरम्भ करके (अरे मैत्रेयि ! एतावत् इस अद्वैत आत्मा का दर्शन मात्र ही अमृतत्व है) इस प्रकार की श्रुतियाँ केवल आत्मविद्या के पुरुषार्थहेतुत्व का श्रवण कराती हैं ॥ १ ॥

अथात्र पर. प्रत्यवतिष्ठते—

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ॥ २ ॥

कर्तृत्वेनात्मन कर्मशेषत्वात्तद्विज्ञानमपि व्रीहिप्रोक्षणादिवद्विषयद्वारेण कर्मसम्बन्ध्येवेत्यतस्तस्मिन्नवगतप्रयोजने आत्मज्ञाने या फलश्रुति साऽर्थवाद इति जैमिनिराचार्यो मन्यते। यथान्येषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति, यदाङ्क्ते चक्षुरेव भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते, यत्प्रयाजानुयाजा इज्यन्ते वर्म वा एतद्यज्ञस्य क्रियते वर्म यजमानस्य भ्रातृव्याभिभूत्यै' इत्येवंजातीयका फलश्रुतिरर्थवाद , तद्वत्।

इस सिद्धान्त के बाद इस पर अन्य शङ्का करते है—पक्षान्तर को सिद्ध करते है कि—कर्तारूप मे आत्मा के कर्म के शेष (अङ्ग) होने से उसके विज्ञान भी विषयरूप आत्मा द्वारा कर्म का ही सम्बन्धी है, जैसे व्रीहि के प्रोक्षणादि व्रीहि द्वारा कर्मसम्बन्धी होता है, इससे कर्म मे उपकाररूप ज्ञात प्रयोजन वाला आत्मज्ञान के होते जो पुरुषार्थवादरूप (तरति शोकमात्मवित्) इत्यादि फलश्रुति है वह अर्थवाद मात्र है, इस प्रकार जैमिनि आचार्य मानते है। जैसे कि अन्य द्रव्य, संस्कार और कर्म मे फल का श्रवण है कि (जिसकी पर्णमयी जुहू होती है वह अपशब्द नहीं सुनता है) यहाँ पर्णमय द्रव्य का फल श्रवण है। (जो अपने नेत्रो मे यजमान अजन करता है उससे शत्रु का नेत्र को ही नष्ट करता है) यह संस्कार का फल श्रवण है। (जो प्रयाज और अनुयाज किये जाते हैं, वह यज्ञ का वर्म-कवच ही किया जाता है, और यजमान के शत्रुओ का अभिभव के लिये

धर्म होता है) इत्यादि फलश्रुति जैसे अर्थवाद हैं, इसी प्रकार ज्ञानविषयक फलश्रुति अर्थवाद है।

कथं पुनरस्यानारभ्याधीतस्यात्मज्ञानस्य प्रकरणादीनामन्यतमेनापि हेतुना विना क्रतुप्रवेश आशङ्क्यते। कर्तृद्वारेण वाक्यात्तद्विज्ञानस्य क्रतुसम्बन्ध इति चेन्। न वाक्याद्विनियोगानुपपत्तेः। अव्यभिचारिणा हि केनचिद्द्वारेणानारभ्याधीतानामपि वाक्यनिमित्तः क्रतुसम्बन्धोऽवकल्पते। कर्ता तु व्यभिचारि द्वारं लौकिकवैदिककर्मसाधारण्यात्, तस्मान्न तद्द्वारेणात्मज्ञानस्य क्रतुसम्बन्धसिद्धिरिति। न। व्यतिरेकविज्ञानस्य वैदिकेभ्यः कर्मभ्योऽन्यत्रानुपयोगात्। नहि देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानं लौकिकेषु कर्मसूपयुज्यते, सर्वथा दृष्टार्थप्रवृत्त्युपपत्तेः। वैदिकेषु तु देहपातोत्तरकालफलेषु देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानमन्तरेण प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इत्युपयुज्यते व्यतिरेकविज्ञानम्।

यहां सिद्धान्ती कहते हैं कि कर्म के आरम्भ के विना पठित आत्मज्ञान का प्रकरणादि में किसी एक भी हेतु के विना क्रतु में प्रवेश कैसे आशङ्कित हो सकता है। यदि कहो कि वाक्य से कर्ता के द्वारा उसके विज्ञान को क्रतु के साथ सम्बन्ध होगा, जैसे कि जुहू को क्रतु के साथ सम्बन्ध है, और पर्णता को जुहू द्वारा कर्म से सम्बन्ध होता है, वैसे कर्ता को कर्म से सम्बन्ध है, इससे कर्ता द्वारा उसके विज्ञान को कर्म के साथ सम्बन्ध होगा, तो कहा जाता है कि वाक्य से विनियोग (सम्बन्ध) की अनुपपत्ति से ऐसा नहीं हो सकता है। जिससे किसी अव्यभिचारी (नित्यक्रतु सम्बन्धी क्रतुव्याप्य) द्वारा अनारभ्याधीत का भी वाक्यनिमित्तकक्रतु के साथ सम्बन्ध सिद्ध हो सकता है, जैसे कि क्रतु व्याप्य जुहू द्वारा पर्णता को कर्म के साथ सम्बन्ध होता है, और लौकिक वैदिक कर्म साधारणता से कर्ता तो व्यभिचारी द्वार रूप है, क्रतु से व्याप्य नहीं है, जिससे कर्ता द्वारा उसके ज्ञान को कर्म के साथ सम्बन्ध की सिद्धि नहीं हो सकती है। फिर पूर्वपक्षी कहते हैं, कि यद्यपि कर्तृत्व रूप से कर्ता क्रतुव्याप्य नही है, तथापि देह से भिन्न रूप से ज्ञात कर्ता क्रतु से व्याप्य है, इससे व्यभिचार रूप दोष नहीं है, जिससे देह से आत्मा के व्यतिरेक ज्ञान का वैदिक कर्मो से अन्यत्र उपयोग नहीं है, देह से भिन्न आत्मा का ज्ञान लौकिक कर्मो में उपयुक्त नहीं होता है, जिससे देहात्मत्व रूप से वा भिन्न रूप से किसी प्रकार भी आत्मा का ज्ञान रहे दृष्टार्थक प्रवृत्ति की सर्वथा सिद्धि होती है। परन्तु देहपात के उत्तर काल में फल वाले वैदिक कर्मो में तो देह व्यतिरिक्त आत्मज्ञान के विना प्रवृत्ति नहीं सिद्ध हो सकती है, इससे व्यतिरिक्त आत्मा का ज्ञान कर्म में उपयुक्त (सफल) होता है।

नन्वपहतपाप्मत्वादिविशेषणादसंसार्यात्मविषयमौपनिषदं दर्शनं न प्रवृत्त्यङ्गं स्यात्। न। प्रियादिसंसूचितस्य संसारिण एवात्मनो द्रष्टव्यत्वेनोपदेशात्। अपहतपाप्मत्वादिविशेषणं तु स्तुत्यर्थं भविष्यति। ननु तत्र तत्र प्रसाधितमे-

तदधिकमसंसारि ब्रह्म जगत्कारणं तदेव च संसारिण आत्मनः पारमार्थिकं स्वरूपमुपनिषत्सूपदिश्यत इति । सत्यं प्रसाधितं तस्यैव तु स्थूणानिखननवत्फलद्वारेणाक्षेपसमाधाने क्रियेते दार्ढ्याय ॥ २ ॥

यदि कहो कि देह से भिन्न आत्मा के ज्ञान कर्म में उपयोग होते भी अपहतपाप्मत्वादि विशेषण से युक्त असंसारी आत्मा विषयक उपनिषद्जन्य ज्ञान प्रवृत्ति का अंग, कर्म का साधन नहीं हो सकता है, तो कहा जाता है कि असंसारी आत्मा नहीं है। क्योंकि जिसके लिए जाया आदि प्रिय होते हैं उसी प्रिय आदि से समुचित संसारी आत्मा का ही द्रष्टव्य रूप से उपदेश होने से संसारी ही आत्मा है। अपहतपाप्मादि आत्मा के विशेषण तो स्तुत्यर्थक होंगे। यहाँ शंका होती है कि जन्मादि सूत्र से आरम्भ करके तत्तत् स्थानों में यह प्रसाधित (पूर्णरूप से सिद्ध) किया गया है कि अधिक (संसारी से भिन्न) अतएव असंसारी ब्रह्म जगत् का कारण है और वही संसारी आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप उपनिषदों में उपदिष्ट होता है, फिर उसका यहाँ अभाव कैसे कहा जाता है। उत्तर है कि प्रसाधित हुआ है सो सत्य ही है, उसका यहाँ निषेध नहीं किया जाता है किन्तु स्थूणानिखनन के समान उसी की दृढता के लिए फल द्वारा आक्षेप और समाधान किये जाते हैं ॥ २ ॥

आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥

'जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे' (बृ० ३।१।१) 'यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि' (छा० ५।११।५) इत्येवमादीनि ब्रह्मविदामप्यन्यपरेषु वाक्येषु कर्मसम्बन्धदर्शनानि भवन्ति । तथोद्दालकादीनामपि पुत्रानुशासनादिदर्शनाद्गार्हस्थ्यसम्बन्धोऽवगम्यते । केवलाच्चेज्ज्ञानात्पुरुषार्थसिद्धिः स्यात्किमर्थमनेकायाससमन्वितानि कर्माणि ते कुर्युः 'अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्' इति न्यायात् ॥ ३ ॥

(विदेह निमि वंश के राजा जनक ने बहुत दक्षिणायुक्त यज्ञ के द्वारा यजन किया। हे भगवन्त ऋषिगण मैं यज्ञ करने वाला हूँ आप लोग यहाँ बसें) यह ज्ञानी कैकेय राजा ने कहा था। इत्यादि, अन्यपर (विद्याविधिपरक कर्मविधिभिन्न) वाक्यों में ब्रह्मवेत्ताओं के कर्म सम्बन्ध के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार उद्दालकादि के भी पुत्र के प्रति उपदेशादि के दर्शन से, उनका गृहस्थ धर्म यज्ञादि के साथ सम्बन्ध उपलब्ध अवगत होता है, केवल ज्ञान से यदि पुरुषार्थ की सिद्धि होती तो अनेक आयास (परिश्रम) से युक्त कर्मों को वे ज्ञानी लोग क्या करते, अर्क (अकवन) पास में गृह कोण में मधु मिल जाय, तो मध्यवर्ती पर्वत पर क्या और किस फल के लिए जायगा। इस न्याय से केवल अनायास साम्यज्ञान से मोक्ष की सिद्धि हो तो कोई ज्ञानी कर्म नहीं करे, और ज्ञानी के कर्माचार का दर्शन होता है, इससे ज्ञान कर्माङ्ग है, अर्थात् कर्म समुच्चित ज्ञान से मोक्ष होता है ॥ ३ ॥

तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥

'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१०) इति च कर्मशेषत्वश्रवणाद्विद्याया न केवलायाः पुरुषार्थहेतुत्वम् ॥४॥

(विद्या, श्रद्धा और उपनिषद् (ध्यान) से युक्त होकर जिस कर्म को करता है, वही कर्म अतिवीर्ययुक्त होता है, अज्ञ के कर्मों से अधिक फलप्रद होता है) इस प्रकार विद्या के कर्म शेषत्व के तृतीया विभक्ति से श्रवण होने से केवल विद्या को पुरुषार्थ का हेतुत्व नहीं है ॥ ४ ॥

समन्वारम्भणात् ॥ ५ ॥

'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' (बृ० ४।४।२) इति च विद्याकर्मणोः फलारम्भे सहकारित्वदर्शनान्न स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥ ५ ॥

(मरण के बाद परलोक में जाते हुए उस जीवात्मा के साथ शुभाशुभ विद्या और कर्म अनुगमन करते हैं, साथ वासनाएँ जाती हैं। इस प्रकार विद्या और कर्म को फलों के आरम्भ में परस्पर सहकारित्व (साहित्य) के दर्शन से फलारम्भ (पुरुषार्थ) में विद्या को स्वतन्त्रता नहीं है, किन्तु विद्या कर्म का अंग है।

तद्वतो विधानात् ॥ ६ ॥

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः (छा० ८।१५।१) इति चैवंजातीयका श्रुतिः समस्तवेदार्थविज्ञानवतः कर्माधिकारं दर्शयति, तस्मादपि न विज्ञानस्य स्वातन्त्र्येण फलहेतुत्वम्। नन्वत्राधीत्येत्यध्ययनमात्रं वेदस्य श्रूयते नार्थविज्ञानम्। नैष दोषः। दृष्टार्थत्वाद्वेदाध्ययनमर्थावबोधपर्यन्तमिति स्थितम् ॥ ६ ॥

(गुरु की सेवा-शुश्रूषा आदि कर्मों से अतिरिक्त काल में विधि के अनुसार अर्थ सहित वेदों का अध्ययन करके फिर गुरुकुल-गुरुगृह से अर्थात् ब्रह्मचर्य से अभितः विधिपूर्वक समावर्तन करके, कुटुम्ब में, गार्हस्थ्य में स्थिर होकर प्रतिदिन शुचिदेश में वेद का अध्ययन तथा अन्य नित्यादि कर्मों को करता हुआ ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है) इत्यादि प्रकार वाली श्रुति समस्त वेद और वेदार्थ के ज्ञानवालों के कर्म विषयक अधिकार को दर्शाती है। इससे भी विज्ञान को स्वतन्त्रता पूर्वक फल का हेतुत्व नहीं है। यदि शंका हो कि श्रुति में (अधीत्य) अध्ययन करके, इस प्रकार वेद का अध्ययन मात्र सुना जाता है। अर्थ का विज्ञान नहीं सुना जाता है, तो उत्तर है कि यह अर्थ का अश्रवण रूप दोष नहीं है, जिससे व्रीहि अवघातादि के समान वेदाऽध्ययन के दृष्टार्थक होने से अर्थ के अवबोधपर्यन्त वेदाध्ययन कहा जाता है, क्योंकि अर्थावबोध रूप दृष्टफल के सम्भव रहते, अदृष्टार्थक अध्ययन को मानना अयुक्त है, ब्रह्म भी वेदार्थ है, इससे ब्रह्मज्ञान वाले के लिए कर्म का विधान होने से ज्ञान कर्म का अंग है, यह स्थित हुआ ॥ ६ ॥

नियमाच्च ॥ ७ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ (ईशा० २) इति ।
तथा 'एतद्वै जरामर्यं सत्रं यदग्निहोत्रं जरया वा ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वा' इत्येवंजातीयकान्नियमादपि कर्मशेषत्वमेव विद्याया इति ॥ ७ ॥

(इस मानव देह में अग्निहोत्रादि विहित कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे क्योंकि शतायु मनुष्य कहा जाता है । इस प्रकार कर्म करते हुए जीने वाले फलेच्छारहित तुम नरमात्राभिमानी में भी कर्म नहीं लिप्त होगा । इससे अन्यथा कर्मालेप का साधन नहीं है) इति । इसी प्रकार (यह जो अग्निहोत्र है सो जरा अवस्था और मरणपर्यन्त कर्तव्य सत्र-याग रूप है इससे जरा अवस्था से वा मृत्यु से ही मनुष्य इस अग्निहोत्र कर्म से मुक्त (रहित) होता है । इस प्रकार के नियमों से भी विद्या को कर्मशेषत्व ही है ॥ (द्वितीय सूत्रगत शेषत्वात् यह पञ्चम्यन्त पद प्रथमान्त रूप से यहाँ तक आया है) ॥ ७ ॥

एवं प्राप्ते प्रतिविधत्ते—

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥

तुशब्दात्पक्षो विपरिवर्तते । यदुक्तम्—'शेषत्वात्पुरुषार्थवादः' (ब्र० सू० ३।४।२) इति, तन्नोपपद्यते । कस्मात् ? अधिकोपदेशात् । यदि संसार्येवात्मा शारीरः कर्ता भोक्ता च शरीरमात्रव्यतिरेकेण वेदान्तेषूपदिष्टः स्यात्ततो वर्णितेन प्रकारेण फलश्रुतेरर्थवादत्वं स्यात् । अधिकस्तावच्छारीरादात्मनोऽसंसारीश्वरः कर्तृत्वादिसंसारिधर्मरहितोऽपहतपाप्मत्वादिविशेषणः परमात्मा वेद्यत्वेनोपदिश्यते वेदान्तेषु ।

इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर उसका निषेधपूर्वक सिद्धान्त का विधान करते हैं कि—

असंसारी से अधिक (श्रेष्ठ भिन्न) तत्त्व का श्रुति में उपदेश होने से तो प्रथम सूत्रोक्त बादरायण आचार्य का ही मत स्थित है निश्चय योग्य है जिससे इसी प्रकार उस अधिक तत्त्व का श्रुतियों में दर्शन होता है । इसमें सूत्रगत तु शब्द से पूर्वपक्ष परावृत्त (निवृत्त) होता है कि जो कहा गया है कि (शेषत्वात्पुरुषार्थवाद) इत्यादि । वह उपपन्न नहीं होता है, किस हेतु से नहीं उपपन्न होता है तो अधिक उपदेश से नहीं उपपन्न होता है । यदि कर्ता भोक्ता संसारी ही शारीर आत्मा शरीर मात्र से भिन्न रूप से वेदान्तों में उपदिष्ट होता, तब तो पूर्ववर्णित रीति से फलश्रुति को अर्थवादत्व होता । शारीर (जीव) आत्मा से अधिक (भिन्न) ही असंसारी ईश्वर कर्तृत्वादिसंसारिधर्मरहित, अपहतपाप्मत्वादि विशेषण वाला परमात्मा वेद्यत्व रूप से वेदान्तों में उपदिष्ट होता है ।

न च तद्विज्ञानं कर्मणां प्रवर्तकं भवति प्रत्युत कर्माण्युच्छिनत्तीति वक्ष्यति 'उपमर्दं च' (ब्र० सू० ३।४।१६) इत्यत्र। तस्मात् 'पुरुषार्थोऽतः शब्दात्' (ब्र० सू० ३।४।१) इति यन्मतं भगवतो बादरायणस्य तत्तथैव तिष्ठति न शेषत्वप्रभृतिभिर्हेत्वाभासैश्चालयितुं शक्यते। तथाहि तमधिकं शारीरादीश्वरमात्मानां दर्शयन्ति श्रुतयः—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' (मुण्ड० १।१।६) 'भीषाऽस्माद्वातः पवते' भीषोदेति सूर्यः (तै० २।८।१) 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' (कठ० ६।२) 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि' (बृ० ३।८।९) 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत' (छा० ६।२।३) इत्येवमाद्याः। यत्तु प्रियादिसंसूचितस्य संसारिण एवात्मनो वेद्यतयाऽनुकर्षणम् 'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' (बृ० २।४।५) 'यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ० ३।४।१) 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' (छा० ८।७।४) इत्युपक्रम्य 'एतं त्वेव ते भूयोनुव्याख्यास्यामि' (छा० ८।९।३) इति चैवमादि, तदपि 'अस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः' (बृ० २।४।१०) 'योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति' (बृ० ३।५।१) 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' (छा० ८।१२।३) इत्येवमादिभिर्वाक्यशेषैः सत्यामेवाधिकोपदिदिक्षायामत्यन्ताभेदाभिप्रायमित्यविरोधः। पारमेश्वरमेव हि शारीरस्य पारमार्थिकं स्वरूपम्, उपाधिकृतं तु शारीरत्वम् 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ' (बृ० ३।८।११) इत्यादिश्रुतिभ्यः। सर्वं चैतद्विस्तरेणास्माभिः पुरस्तात्तत्र तत्र वर्णितम्॥

उस परमात्मा का विज्ञान कर्मों का प्रवर्तक (साधक) नहीं होता है। प्रत्युत (उल्टा) कर्मों का उच्छेद करता है, जो (उपमर्दं च) इस सूत्र मे कहेंगे। जिससे (पुरुषार्थोऽतः शब्दात्) यह जो भगवान् बादरायण का मत है, वह वैसा ही वर्तमान है, शेषत्वादि हेत्वाभासों से वह विचलित नहीं किया जा सकता है। अर्थात् (ज्ञानं कर्माङ्गम्, अफलत्वे सति कर्मशेषाश्रयत्वात्) ज्ञान कर्म का अंग है, फलरहित होते कर्मशेष कर्ता विषयक होने से यह हेतु असिद्ध है, जिससे मोक्षफल वाला ईश्वर का ज्ञान होता है, जिससे इसी प्रकार शरीर से अधिक उस ईश्वर रूप आत्मा को श्रुतियां दर्शाती हैं कि (जो परमात्मा सामान्य रूप से सबको जानने वाला सर्वज्ञ और विशेष रूप से जानने वाला सर्ववेत्ता है) इस परमात्मा के भय से ही वायु सब को शुद्ध करता और बहाता है। (इसके भय से ही सूर्य उदित होता है)। उद्यत वज्र के समान ब्रह्म महान् भय का हेतु है। हे गार्गि! इसी अक्षर अविनाशी के प्रशासन में सूर्य और चन्द्र विधृत नियमित होकर स्थिर रहते हैं। उस सत् ने विचार किया कि बहुत होऊं। बहुत रूप से उत्पन्न होऊं, फिर उसने तेज को रचा, इत्यादि श्रुतियाँ कहती हैं। जो भी प्रियादि संसूचित संसारी आत्मा ही का वेद्यरूप से अनुकर्षण सम्बन्ध है कि (अपने काम के लिए सब प्रिय होता है। अरे मैत्रेयि! आत्मा ही समझने

योग्य है। जो मुख नासिका सचारी प्राण के द्वारा प्राण की चेष्टा करता है वह तेरा विज्ञानमय आत्मा सर्वान्तर है) और (जो यह आँख में पुरुष दीखता है) इस प्रकार उपक्रम करके (इस उक्त आत्मा ही का मैं फिर व्याख्यान करूँगा) इत्यादि जीवात्मा का अनुकर्षण है। वह भी (इस महान् स्वरूप का यह निश्वसित है जो ऋग्वेद है। जो भूख पिपासा शोक मोह जरा और मृत्यु का उल्लंघन करता है जो परज्योति को प्राप्त करके अपने स्वरूप से निष्पन्न सिद्ध होता है वह उत्तम पुरुष है) इत्यादि वाक्यशेषो से अधिक (भिन्नब्रह्म) के उपदेश की इच्छा के रहते ही अभेद में अभिप्राय वाले अनुकर्षण है इसमे अविरोध है जीव का पारमार्थिक स्वरूप पारमेश्वर (परमेश्वर भिन्न) ही है, शारीरत्व (शरीरभवत्व) तो उपाधिकृत है जो (तत्त्वमसि नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ) वह तुम हो इससे अन्य द्रष्टा नहीं है इत्यादि श्रुतियो से सिद्ध होता है। यह सब तत्त्व तत्तत् स्थानो में विस्तारपूर्वक पूर्व हम से वर्णित हुआ है यह भाष्यकार का कथन है ॥ ८ ॥

तुल्यं तु दर्शनम् ॥ ९ ॥

यत्तूक्तमाचारदर्शनात्कर्मशेषो विद्येति। अत्र ब्रूमः—तु यमाचारदर्शनमकर्मशेषत्वेऽपि विद्यायाः। तथाहि श्रुतिर्भवति—'एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे, एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवाञ्चक्रिरे' 'एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' (बृ० ३।५।१) इत्येवञ्जातीयका। याज्ञवल्क्यादीनामपि ब्रह्मविदामकर्मनिष्ठत्वं दृश्यते—'एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः। अपिच 'यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मि' (छा० ५।११।५) इत्येतल्लिङ्गदर्शनं वैश्वानरविद्याविषयम्। सम्भवति च सोपाधिकाया ब्रह्मविद्यायाः कर्मसाहित्यदर्शनम्, न त्वत्रापि कर्माङ्गत्वमस्ति प्रकरणाद्यभावात् ॥ ९ ॥

और जो यह कहा था कि आचार के दर्शन से विद्या कर्म का शेष (अङ्ग) है। यहां कहते हैं कि विद्या की अकर्मशेषता (स्वतन्त्रता) में भी आचार का दर्शन तुल्य है जिससे इस प्रकार की श्रुति है कि (इस प्रसिद्ध आत्मतत्त्व का उस ब्रह्मस्वरूप जानने वाले कावषेय ऋषि कहते हैं कि हम किस लिए अध्ययन करेंगे। किस लिए यजन करेंगे। इसी वाक् और प्राण के परस्पर होम रूप अग्निहोत्र को जाननेवाले पूर्व के विद्वानो ने अग्निहोत्र नहीं किया। मृत्यु आदि से रहित उस आत्मा को इस निजस्वरूप जानकर ब्रह्मनिष्ठ लोग) पुत्रार्थक, वित्तार्थक और लोकार्थक इच्छाओ से व्युत्थित उपरत होकर फिर भिक्षाचरण करते हैं। इत्यादि श्रुति है। ब्रह्मवेत्ता याज्ञवल्क्यादि के भी अकर्मनिष्ठत्व (कर्मरहितत्व) देखा जाता है कि (अरे मैत्रेयि! अद्वैत आत्मदर्शन-

मात्र ही अमृतत्व है, ऐसा कह कर याज्ञवल्क्य ने त्याग किया) इत्यादि श्रुतियों से याज्ञवल्क्यादि के कर्मरहितत्व ज्ञात होता है। दूसरी बात है कि (हे भगवन्त मैं यज्ञ करने वाला हूँ उसे देखने के लिए आप यहाँ ठहरें) यह लिङ्गदर्शन वैश्वानर विद्या-विषयक है। सोपाधिक ब्रह्मविद्या में कर्मसाहित्य का दर्शन सम्भव है। परन्तु इस वैश्वानरविद्या में भी कर्म का अङ्गत्व नहीं है, जिससे कर्म के प्रकरणादि के अभाव से अङ्गत्व नहीं सिद्ध हो सकता है। लोकसंग्रह के लिए ज्ञानीकृत कर्म वस्तुतः कर्म नहीं होता है ॥ ९ ॥

यत्पुनरुक्तम्—'तच्छ्रुतेः' (ब्र० सू० ३।४।४) इति, अत्र ब्रूमः—

असार्वत्रिकी ॥ १० ॥

'यदेव विद्यया करोति' (छा० १।१।१०) इत्येषा श्रुतिर्न सर्वविद्याविषया प्रकृतविद्याभिसंबन्धात्, प्रकृता चोद्गीथविद्या 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) इत्यत्र ॥ १० ॥

जो यह भी कहा था कि (तच्छ्रुतेः) कर्मांगत्व की श्रुति से विद्या कर्माङ्ग है। इति। इस विषय में कहते हैं कि—

(जो विद्यायुक्त होकर कर्म करता है) यह श्रुति, प्रकृत विद्या के साथ अभि-सम्बन्ध से सर्वविद्याविषयक नहीं है और (ओम् इस अक्षर रूप उद्गीथ के अवयव की उपासना करे) यहाँ यह उद्गीथ विद्या प्रकृत है। इससे आत्मविद्या कर्म का शेष नहीं है ॥ १० ॥

विभागः शतवत् ॥ ११ ॥

यदप्युक्तम्—'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' (बृ० ४।४।२) इत्येतत्समन्वा-रम्भवचनमस्वातंत्र्ये विद्याया लिङ्गम्—इति तत्प्रत्युच्यते। विभागोऽत्र द्रष्टव्यो विद्यान्यं पुरुषमन्वारभते कर्मान्यमिति। शतवत्, यथा शतमाभ्यां दीयतामि-त्युक्ते विभज्य दीयते पञ्चाशदेकस्मै पञ्चाशदपरस्मै तद्वत्। नचेदं समन्वारम्भ-वचनं मुमुक्षुविषयम् 'इति नु कामयमानः' (बृ० ४।४।६) इति संसारिविषय-त्वोपसंहारात्, 'अथाकामयमानः' (बृ० ४।४।६) इति च मुमुक्षोः पृथगुप-क्रमात्। तत्र संसारिविषये विद्या विहिता प्रतिषिद्धा च परिगृह्यते विशेषाभा-वात्। कर्मापि विहितं प्रतिषिद्धं च यथाप्राप्तानुवादित्वात्। एवं सत्यविभागेना-पीदं समन्वारम्भवचनमवकल्पते ॥ ११ ॥

और जो यह भी कहा था कि (उस परलोक में जाने वाले के साथ विद्या और कर्म अनुगमन करते हैं) यह समन्वारम्भ (साथ गमन) वचन विद्या की अस्वतन्त्रता में लिङ्ग (हेतु) है। उसका प्रत्युत्तर-प्रत्याख्यान कहा जाता है कि यहाँ विभाग समझना चाहिये कि विद्या अन्य पुरुष के साथ अनुगमन करती है, मुमुक्षु को मुक्त करती है। कर्म अन्य के साथ अनुगमन करता है। शत के समान इस विभाग को

समझना चाहिये। जैसे कि इन दोनों को सौ रुपये दो, ऐसा कहने पर विभाग करके दिया जाता है। पचास एक को और पचास अन्य को दिया जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी विभागपूर्वक विद्या और कर्म का सहगमन होता है। वस्तुतः यह सहगमन वचन मुमुक्षु विषयक नहीं है, और विद्या शब्द का आत्मज्ञान अर्थ नहीं है, जिससे (इस प्रकार कामना करने वाला कर्म करता है, और जन्मता मरता है) इस प्रकार संसारी विषयक उपसंहार से, यह सहगमन संसारी विषयक ही सिद्ध होता है। (जिससे काम रहित मुक्त होता है) इस प्रकार मुमुक्षु का पृथक् उपक्रम से भी मुमुक्षुविषयक उक्त वचन नहीं है। उस समन्वारम्भ वचन में संसार विषयक उस वाक्य में विद्या शब्द से विहित उद्गीथादि विद्या और निषिद्ध नग्न स्त्री दर्शनादि दोनों परिगृहीत होते हैं, क्योंकि विशेष वचन का अभाव है और कर्म शब्द के भी यथा प्राप्त के अनुवादित्व होने से विहित प्रतिषिद्ध दोनों ही कर्म कर्म शब्द से गृहीत होते हैं। ऐसा होने पर अविभाग से भी समन्वारम्भ वचन सिद्ध होता है ॥ ११ ॥

यच्चेतत् 'तद्वतो विधानात्' (ब्र० सू० ३।४।६) इति, अत उत्तरं पठति—

अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य' (छा० ८।१५।१) इत्यत्राध्ययनमात्रस्य श्रवणादध्ययनमात्रवत एव कर्मविधिरित्यध्यवस्यामः। नन्वेवं सत्यविद्वत्त्वादनधिकारः कर्मसु प्रसज्यते। नैष दोषः। न वयमध्ययनप्रभवं कर्मावबोधनमधिकारकारणं वारयामः, किं तर्ह्यौपनिषदमात्मज्ञानं स्वातन्त्र्येणैव प्रयोजनवत्प्रतीयमानं न कर्माधिकारकारणतां प्रतिपद्यत इत्येतावत्प्रतिपादयामः। यथा च न क्रत्वन्तरज्ञानं क्रत्वन्तराधिकार(णा)पेक्ष्यत एवमेतदपि द्रष्टव्यमिति ॥ १२ ॥

जो यह कहा था कि (तद्वतो विधानात्) वेदार्थज्ञान वाले के लिये कर्म के विधान से ज्ञान कर्माङ्ग है। इसमें उसका उत्तर पढ़ते हैं कि—

(वेद का अध्ययन करके आचार्य कुल से समावर्तनपूर्वक गृहस्थ हो) यहाँ अध्ययन मात्र के श्रवण से अध्ययन मात्र वाले ही के लिये कर्मविधि है, ऐसा निश्चय करते हैं। यदि कहो कि ऐसा होने पर अविद्वत्ता—वेदोक्तार्थ के ज्ञान से शून्यता के कारण कर्मों में अनधिकार की प्राप्ति होगी, अर्थात् अर्थ के ज्ञान से रहित केवल वेद के अक्षरों को जानने वाला कर्म का अधिकारी नहीं होगा, वैदिक कर्म नहीं कर सकेगा, तो कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, जिससे अध्ययनजन्य कर्म के अधिकार के कारणरूप कर्म ज्ञान का हम मात्र पद से वारण नहीं करते हैं। किन्तु क्या करते हैं कि उपनिषद्जन्य स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोजन वाला (सफल) प्रतीत होता हुआ आत्मज्ञान कर्माधिकार की कारणता को नहीं प्राप्त होता है, इतना ही प्रतिपादन करते हैं। अर्थात् आत्मज्ञानरहित वेदज्ञ कर्माधिकारी होते हैं, आत्मज्ञ नहीं। और जैसे क्रत्वन्तर का ज्ञान किसी अन्य क्रतु के अधिकार में अपेक्षित नहीं होता है, इसी प्रकार

इस आत्मज्ञान को भी समझना चाहिए कि यह किसी क्रतु में अपेक्षित नहीं होता है, क्रतु का ज्ञान क्रतु मे अपेक्षित होता है ॥ १२ ॥

यदप्युक्तं 'नियमाच्च' (ब्र० सू० ३।४।७) इति, अत्राभिधीयते—

नाविशेषात् ॥ १३ ॥

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत्' (ईशा० २) इत्येवमादिषु नियमश्रवणेषु न विदुष इति विशेषोऽस्ति, अविशेषेण नियमविधानात् ॥ १३ ॥

जो यह भी कहा था कि (नियमाच्च) जीवन काल मे सदा कर्म के नियम से ज्ञान कर्माङ्ग है, इस विषय में कहा जाता है कि—

(इस मानव देह मे कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे) इत्यादि नियम विषयक श्रुतियों में, अविशेष (सामान्य) रूप से नियम के विधान से विद्वान् को कर्म करते जीवन की इच्छा करनी चाहिये ऐसा विशेष नियम नहीं है। इससे अविद्वान् आत्मज्ञानरहित विषयक वह नियम है ॥ १३ ॥

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' (ईशा० २) इत्यत्रापरो विशेष आख्यायते। यद्यप्यत्र प्रकरणसामर्थ्याद्विद्वानेव कुर्वन्निति सम्बध्यते तथापि विद्यास्तुतये कर्मानुज्ञानमेतद्द्रष्टव्यम्। 'न कर्म लिप्यते नरे' (ईशा० २) इति हि वक्ष्यति। एतदुक्तं भवति। यावज्जीवं कर्म कुर्वत्यपि विदुषि पुरुषे न कर्म लेपाय भवति विद्यासामर्थ्यादिति। तदेवं विद्या स्तूयते ॥ १४ ॥

(कर्म करते हुए जीने की इच्छा करे) यहां अन्य विशेष कहा जाता है कि यद्यपि (कुर्वन्) इस श्रुति मे प्रकरण के सामर्थ्य से विद्वान् ही कुर्वन इस पद मे सम्बन्ध वाला होता है कि विद्वान् कर्म करता हुआ सौ वर्ष जीने की इच्छा करे, तो भी विद्या की स्तुति के लिए यह कर्म का अनुज्ञान (कर्म विषयक अनुमति) समझना चाहिये, जिससे कहेंगे कि (नर में कर्म लिप्त नही होता है) इससे यह रहस्य उक्त होता है कि—जीवनपर्यन्त कर्म करते रहने पर भी विद्वान् पुरुषों में विद्या के सामर्थ्य से कर्मलेप (अदृष्ट वासना) के लिये नही होता है। इससे अन्यथा ज्ञान के विना अलेप का सम्भव नही है। इसलिये इस प्रकार विद्या की स्तुति की जाती है कि इस आत्मज्ञान के बाद इससे अन्यथा (ब्रह्मभाव से अन्यरूपता) तुममें नही होता है, क्योकि कर्म का लेप नहीं होता है इत्यादि ॥ १४ ॥

कामकारेण चैके ॥ १५ ॥

अपि चैके विद्वांसः प्रत्यक्षीकृतविद्याफलाः सन्तस्तदवष्टम्भात्फलान्तरसाधनेषु प्रजादिषु प्रयोजनाभावं परामृशन्ति कामकारेणेति। श्रुतिर्भवति वाजसनेयिनाम् 'एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' (बृ० ४।४।२२) इति। अनुभवारूढमेव च

विद्याफलं न क्रियाफलवत्कालान्तरभावीत्यसकृदवोचाम । अतोऽपि न विद्यायाः कर्मशेषत्वं, नापि तद्विषयायाः फलश्रुतेरयथार्थत्वं शक्यमाश्रयितुम् ॥ १५ ॥

और भी विद्या की स्वतन्त्रता में यह लिङ्ग है कि विद्या के फल को प्रत्यक्ष किये हुए एक शाखा वाले विद्वान् उस विद्या के अवलम्बन से फलान्तर के साधन प्रजा (पुत्र) आदि में कामकार (इच्छा के अनुसार—स्वेच्छा) में प्रयोजन के अभाव का परामर्श (कथन) करते हैं। वाजसनेयियों की श्रुति है कि (जिस हमारे को यह कर्मफलादि से रहित आत्मा ही आत्मफल पुरुषार्थ है) सो हम प्रजा से किस फल को प्राप्त करेंगे) इस प्रकार समफल वाले पूर्व के विद्वान् आत्मज्ञानी प्रजा की कामना नहीं करते हैं (लोक के साधनरूप पुत्र कर्मविद्या का अनुष्ठान नहीं करते हैं) और विद्या का फल वर्तमान काल में अनुभवारूढ (प्रत्यक्ष) होता है, क्रियाफल के समान कालान्तर में होने वाला नहीं होता है यह अनेक बार कह चुके हैं। इस पूर्व रीति से स्वयं स्वतन्त्र फलान्तर वाला होने से भी विद्या का कर्माङ्गत्व नहीं है। उस विद्या-विषयक फलश्रुति के अयथार्थत्व (मिथ्यात्व) का भी आश्रयण (स्वीकार) प्रत्यक्षता से ही नहीं कर सकते हैं। इससे विद्या की स्वतन्त्रता है ॥ १५ ॥

उपमर्दं च ॥ १६ ॥

अपि च कर्माधिकारहेतोः क्रियाकारकफललक्षणस्य समस्तस्य प्रपञ्चस्याविद्याकृतस्य विद्यासामर्थ्यात्स्वरूपोपमर्दमामनन्ति—'यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिना। वेदान्तोदितात्मज्ञानपूर्विकां तु कर्माधिकारसिद्धिं प्रत्याशासानस्य कर्माधिकारोच्छित्तिरेव प्रसज्येत, तस्मादपि स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥ १६ ॥

कर्म के अधिकार के हेतुरूप क्रिया कारक और फलस्वरूप समस्त अविद्याकृत प्रपञ्च के स्वरूप का उपमर्दन (निवृत्ति) को विद्या के सामर्थ्य से कहते हैं कि (जिस ज्ञानावस्था में इस ज्ञानी का सब आत्मा ही हो गया उस अवस्था में किससे किसको देखे और किससे किसको सूँघे) इत्यादि वचनों से क्रिया आदि सब स्वरूप का अभाव कहा जाता है। इससे तो वेदान्त में वर्णित आत्मज्ञानपूर्वक कर्माधिकार की सिद्धि के लिए आशा करने वाले को कर्माधिकार के उच्छेद (नाश) की ही प्राप्ति होगी, इससे भी विद्या की स्वतन्त्रता है ॥ १६ ॥

ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वरेतःसु चाश्रमेषु विद्या श्रूयते, न च तत्र कर्माङ्गत्वं विद्याया उपपद्यते, कर्माभावात्, नह्यग्निहोत्रादीनि वैदिकानि कर्माणि तेषां सन्ति। स्यादेतत्। ऊर्ध्वरेतस आश्रमा न श्रूयन्ते वेद इति, तदपि नास्ति। तेऽपि हि वैदिकेषु शब्देष्ववगम्यन्ते 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २।२३।१) 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप

इत्युपासते' (छा० ५।१०।१) 'तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये' (मु० १।२।११) 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ० ४।४।२२) 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (जा० ४) इत्येवमादिषु। प्रतिपन्नाप्रतिपन्नगार्हस्थ्यानामपाकृतानपाकृतर्णत्रयाणां चोर्ध्वरेतस्त्वं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम्। तस्मादपि स्वातन्त्र्यं विद्यायाः ॥ १७ ॥

चतुर्थाश्रमी ऊर्ध्वरेतसों वद्धवीर्यों में आत्मविद्या सुनी जाती है और कर्म के अभाव से उनमे विद्या को कर्माङ्गत्व नहीं हो सकता है, जिससे अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों का उनको अभाव है। यदि कहो कि यह कर्माङ्गत्व विद्या को होगा ही, जिससे वेद में ऊर्ध्वरेतस आश्रम नहीं सुने जाते हैं, इससे वह कर्माङ्गत्व के अनुपपन्नत्व भी नहीं है। तो कहा जाता है कि, वह ऊर्ध्वरेतस का अश्रवण भी वेद में नहीं है, जिससे तेऽपि (ऊर्ध्वरेतस भी) (शब्दे) वैदिक शब्दों में अवगत होते हैं कि (धर्म के स्कन्ध-प्रविभाग तीन हैं, अर्थात् कर्म प्रधान आश्रम तीन हैं। चतुर्थ ब्रह्मसंस्थ है) जो ये जंगल में वानप्रस्थ और संन्यासी श्रद्धा और तप का सेवन करते हैं। ज्ञानयुक्त जो वानप्रस्थ और संन्यासी स्वधर्मरूप तप और विद्यात्मक श्रद्धा का जंगल में रहकर सेवन करते है। प्रव्रजनशील सब इस आत्मस्वरूप लोक को ही चाहते हुए त्याग करते है ब्रह्मचर्य से ही त्याग करें। इत्यादि शब्दों मे चतुर्थाश्रम अवगत होता है। यह भी नियम नहीं है कि (ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्योयज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणः) इत्यादि श्रुति आदि के अनुसार गृहस्थ और ऋषिऋण, देवऋण, पितृऋण से रहित हो करके ही त्याग करना चाहिये। किन्तु (ब्रह्मचर्यादेव) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार गृहस्थाश्रम को प्राप्त हों वा नहीं प्राप्त हो, तीन ऋणों का अपाकरण किये हों या नही किये हों, उन सब विरक्तो का ऊर्ध्वरेतस्त्व (त्याग) श्रुति स्मृति में प्रसिद्ध है। अविरक्तों के लिये गार्हस्थ्य ऋणापकरण है। इस संन्यासनिष्ठत्व से भी विद्या को स्वतन्त्रता है ॥ १७ ॥

परामर्शाधिकरणम् ॥ २ ॥

नास्त्यूर्ध्वरेताः किं वास्ति नास्त्यसावविधानतः।
वीरघातो विधेः क्लृप्तावन्धपंग्वादिगा स्मृतिः॥
अस्त्यपूर्वविधेः क्लृप्तिर्वीरहानग्निको गृही।
अन्धादेः पृथगुक्तत्वात्त्वस्थानां श्रूयते विधिः॥
लोककाम्याश्रमी ब्रह्मनिष्ठामर्हति वा न वा।
यथावकाशं ब्रह्मैव ज्ञातुमर्हत्यवारणात्॥
अनन्यचित्तता ब्रह्मनिष्ठासौ कर्मठे कथम्।
कर्मत्यागी ततो ब्रह्मनिष्ठामर्हति नेतरः॥

जैमिनि आचार्य उक्त धर्मस्कन्धबोधक शब्द मे ऊर्ध्वरेता का परामर्श (कथन-अनुवाद) मानते हैं, जिससे वहां लिङ्लोट आदि चोदना (विधि) नहीं है। कर्मत्यागी का श्रुति अपवाद (निन्दा) भी करती है। इससे त्यागाश्रम नहीं है कि जहां विद्या

कर्म का अंग नहीं हो। यहाँ संशय है कि ऊर्ध्वरेता नहीं होता है, अथवा होता है। पूर्वपक्ष है कि विधि के अभाव से ऊर्ध्वरेता नहीं होता है। अपूर्व अर्थ होने आदि से यदि विधि की कल्पना (कल्पना) करें, तो भी (वीरहा वा एष देवानाम्) इस वचन से वीरघात रूप दोष प्राप्त होता है। सन्यासविषयक जो स्मृति है, वह कर्म के अनधिकारी अन्ध पङ्गु आदि विषयक है। इससे कर्माधिकारी स्वस्थ के लिए चतुर्थाश्रम नहीं है। सिद्धान्त है कि चतुर्थ आश्रम है जिसमें अपूर्व विधि की कल्पना सिद्ध होती है। अग्निरहित गृहस्थ वीरहा होता है। अन्धादि अनधिकृत के सन्यास पृथक् उक्त होने से स्वस्थों के सन्यास की विधि सुनी जाती है। पुण्यलोक की कामना वाले तीन आश्रमी क्या ब्रह्मनिष्ठा के योग्य होते हैं अथवा नहीं होते हैं ? पूर्वपक्ष है कि लोकार्थक कर्मादि से अवकाश ले समय अवकाश के अनुसार वे भी ब्रह्म को ही जान सकते हैं, अर्थात् ब्रह्मनिष्ठा के लिये विचारादि कर सकते हैं, क्योंकि किसी वचन में उनका वारण (निषेध) नहीं किया गया है कि लोकार्थी ब्रह्मविचारादि नहीं करे इत्यादि। सिद्धान्त है कि अनन्यचित्तता केवल ब्रह्मपरता ब्रह्मनिष्ठा कहाती है, वह कर्मठ (कर्मपरायण) में कैसे हो सकती है। इससे कर्मविषयक आसक्ति लोककामादि के त्यागी ब्रह्मनिष्ठा के योग्य होता है, अन्य नहीं होता है इत्यादि ॥ १–४ ॥

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥ १८ ॥

'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २।२३।१) इत्यादयो ये शब्दा ऊर्ध्वरेतसामाश्रमाणां सद्भावायोदाहृता न ते तत्प्रतिपादनाय प्रभवन्ति। यत परामर्शमेषु शब्देष्वाश्रमान्तराणां जैमिनिराचार्यो मन्यते न विधिम्। कुत ? नह्यत्र लिङादीनामन्यतमश्चोदनाशब्दोऽस्ति। अर्थान्तरपरत्वं चैषु प्रत्येकमुपलभ्यते। त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यत्र तावद्यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्तीति परामर्शपूर्वकमाश्रमाणामनात्यन्तिकफलत्वं सङ्कीर्त्यात्यन्तिकफलतया ब्रह्मसंस्थता स्तूयते—'ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति' (छा० २।२३।१) इति।

(तीन धर्म के स्कन्ध हैं) इत्यादि जो शब्द, ऊर्ध्वरेता आश्रमों (कुटीचर, बहूदक, हंस और परमहंसों) का सद्भाव (अस्तित्व) के लिए उदाहृत हुए हैं कहे गये हैं। वे शब्द उन आश्रमों का प्रतिपादन के लिये समर्थ नहीं होते हैं। जिसमें इन शब्दों में अन्य आश्रमों के परामर्श (अनुवाद) जैमिनि आचार्य मानते हैं, विधि नहीं मानते हैं। क्यों ऐसा मानते हैं कि जिसमें इन शब्दों में लिङादि में से कोई विधिवाचक शब्द नहीं है। इनमें प्रत्येक का अर्थान्तरपरत्व (अन्यार्थ में तात्पर्य) उपलब्ध (ज्ञात) होता है। जैसे कि तीन धर्म के स्कन्ध (आश्रम) हैं। यहाँ आदि में यज्ञ, अध्ययन और दान ये तीनों मिलकर एक प्रथम धर्मस्कन्ध कहा गया है। तप ही द्वितीय

धर्मस्कन्ध कहा गया है। आचार्यगृह में बसने वाला और आचार्यकुल में ही अपनी आत्मा-देह को अत्यन्त जीवनपर्यन्त क्षीण करता हुआ नैष्ठिक ब्रह्मचारी तृतीय धर्मस्कन्ध कहा गया है। ये सब पुण्यलोक वाले होते है, इस प्रकार पूर्वकथित का परामर्श (कथन-अनुवाद) पूर्वक आश्रमो के अनात्यन्तिक (अनित्य) फलवत्व का संकीर्तन करके आत्यन्तिक (नित्य) फलवत्तारूप से ब्रह्मसंस्थता (ब्रह्मनिष्ठता) की स्तुति की जाती है कि (ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् पुण्यलोक से भिन्न अविनाशीफल को प्राप्त करता है) इस प्रकार स्तुति के लिए अनुवाद होने से आश्रमों की विधि नहीं है।

ननु परामर्शेऽप्याश्रमा गम्यन्ते एव। सत्यं गम्यन्ते, स्मृत्याचाराभ्यां तु तेषां प्रसिद्धिर्न प्रत्यक्षश्रुतेः। अतश्च प्रत्यक्षश्रुतिविरोधे सत्यनादरणीयास्ते भविष्यन्ति, अनधिकृतविषया वा। ननु गार्हस्थ्यमपि सहैवोर्ध्वरेतोभिः परामृष्टं यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथम इति। सत्यमेवम्, तथापि तु गृहस्थं प्रत्येवाग्निहोत्रादीनां कर्मणां विधानाच्छ्रुतिप्रसिद्धमेव हि तदस्तित्वम्। तस्मात्स्तुत्यर्थ एवायं परामर्शो न चोदनार्थः। अपि चापवदति हि प्रत्यक्षा श्रुतिराश्रमान्तरम् 'वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते', 'आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' (तै० १।११।१) 'नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत्सर्वे पशवो विदुः' इत्येवमाद्या। तथा 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' (छा० ५।१०।१) 'तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये' (मु० १।२।४४) इति च देवयानोपदेशो नाश्रमान्तरापदेशः। सन्दिग्धं चाश्रमान्तराभिधानम् 'तप एव द्वितीयः' (छा० २।२३।१) इत्येवमादिषु। तथा 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ० ४।४।२२) इति लोकसंस्तवोऽयं न पारिव्राज्यविधिः। ननु ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदिति विस्पष्टमिदं प्रत्यक्षं पारिव्राज्यविधानं जाबालानाम्। सत्यमेवमेतत्। अनपेक्ष्य त्वेतां श्रुतिमयं विचार इति द्रष्टव्यम्॥ १८॥

यदि कहा जाय कि परामर्श होते भी आश्रम तो अवगत होते ही है, तो कहा जाता है कि अवगत तो सत्य ही होते हैं, परन्तु स्मृति आचार से उन आश्रमों की प्रसिद्धि है, प्रत्यक्ष श्रुति से संन्यासाश्रम की प्रसिद्धि नहीं है। इससे जीवन पर्यन्त अग्निहोत्रादिविधायक प्रत्यक्षश्रुति से विरोध होने पर वे अग्नि आदि रहित आश्रम सर्वथा अनादरणीय होंगे, अथवा कर्म में अनधिकृत अन्धादि विषयक होंगे। यदि कहा जाय कि ऊर्ध्वरेता आश्रमो के साथ ही गृहस्थता भी (यज्ञ, अध्ययन और दान यह प्रथम है) इस प्रकार परामृष्ट (कथित-अनूदित) है, इससे अन्य आश्रमों के अनादरणीय होने पर साथ में अनुवादित गार्हस्थ्य भी अनादरणीय होगा, जिससे आश्रम और आश्रमधर्मादि का लोप ही प्राप्त होगा। तो कहा जाता है कि अन्य आश्रमों के साथ गार्हस्थ्य का अनुवाद तो इस प्रकार सत्य ही है, तथापि गृहस्थ के प्रति ही अग्निहोत्रादि कर्मों के विधान से उस गार्हस्थ्य का अस्तित्व श्रुति से ही प्रसिद्ध है। इससे यह गृहस्थ से अन्य ऊर्ध्वरेता का परामर्श स्तुति के ही लिए है, विधि के लिए

नहीं है। दूसरी बात है कि प्रत्यक्ष ही श्रुति अन्य आश्रम का निषेध अपवाद (निन्दा) करती है कि (जो अग्नि का उद्वासन विहनन करता है वह देवों का वीरहा-पुत्रघातक होता है) आचार्य के लिए प्रिय धन देकर प्रजातन्तु-सन्तति का उच्छेद नहीं करो। पुत्ररहित को लोक नहीं प्राप्त होता है यह सब पशु जानते हैं। इत्यादि श्रुति है। इसी प्रकार (जो ये जंगल में श्रद्धा और तप का सेवन करते हैं। जंगल में बसते हुए जो तप और श्रद्धा का सेवन नहीं करते हैं) ये वचन भी देवयान मार्ग के उपदेशरूप हैं, आश्रमान्तर के उपदेशरूप नहीं हैं, क्योंकि (तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति) इत्यादि वाक्यशेष है। आश्रमवाचक शब्द के नहीं रहने से दान-तप शब्द के आश्रमवाचक नहीं होने से (तप ही द्वितीय है) इत्यादि में अन्य आश्रम का कथन संदिग्ध है। इसी प्रकार (इस आत्मस्वरूप लोक को चाहने वाले प्रव्रजनशील त्याग करते हैं) यह वचन आत्मस्वरूप लोक की स्तुतिरूप है, पारिव्राज्य (त्याग) की विधि रूप नहीं है। यदि कहा जाय कि ब्रह्मचर्य से ही त्याग करे, यह जाबाला का प्रत्यक्ष विस्पष्ट ही त्याग विधान है, तो भाष्यकार कहते हैं कि इस जाबाल श्रुति की अपेक्षा नहीं करके इसकी सत्ता को नहीं मानकर यह विचार है, ऐसा समझना चाहिए ॥ १८ ॥

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥ १९ ॥

अनुष्ठेयमाश्रमान्तरं बादरायण आचार्यो मन्यते। वेदे श्रवणात्। अग्निहोत्रादीनां चावश्यानुष्ठेयत्वात्तद्विरोधादनधिकृतानुष्ठेयमाश्रमान्तरमितीमां मतिं निराकरोति गार्हस्थ्यवदाश्रमान्तरमप्यनिच्छता प्रतिपत्तव्यमिति मन्यमानः। कुतः ? साम्यश्रुतेः। समाना हि गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्य परामर्शश्रुतिर्दृश्यते 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २।२३।१) इत्याद्या। यथेह श्रुत्यन्तरविहितमेव गार्हस्थ्यं परामृष्टमेवमाश्रमान्तरमपीति प्रतिपत्तव्यम्। यथा च शास्त्रान्तरप्राप्तयोरेव निवीतप्राचीनावीतयोः परामर्श उपवीतविधिपरे वाक्ये, तस्मात्तुल्यमनुष्ठेयत्वं गार्हस्थ्येनाश्रमान्तरस्य। तथा 'एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति' (बृ० ४।४।२२) इत्यस्य वेदानुवचनादिभिः समभिव्याहारः। 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' (छा० ५।१०।१) इत्यस्य च पञ्चाग्निविद्यया। यदुक्तम्—'तप एव द्वितीयः' (छा० २।२३।१) इत्यादिष्वाश्रमान्तराभिधानं संदिग्धम्—इति। नैष दोषः। निश्चयकारणसद्भावात्। 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' (छा० २।२३।१) इति हि धर्मस्कन्धत्रित्वं प्रतिज्ञातम्। न च यज्ञादयो भूयांसो धर्मा उत्पत्तिभिन्ना सन्तोऽन्यत्राश्रमसम्बन्धाद्भिन्नेऽन्तर्भावयितुं शक्यन्ते। तत्र यज्ञादिलिङ्गो गृहाश्रम एको धर्मस्कन्धो निर्दिष्टो, ब्रह्मचारीति च स्पष्ट आश्रमनिर्देशस्तप इत्यपि कोऽन्यस्तपःप्रधानादाश्रमाद्धर्मस्कन्धोऽभ्युपगम्यते। 'ये चेमेऽरण्ये' (छा० ५।१०।१) इति चारण्यलिङ्गाच्छ्रद्धातपोभ्यामाश्रमगृहीतिः। तस्मात्परामर्शेऽप्यनुष्ठेयमाश्रमान्तरम् ॥ १९ ॥

कहीं भी किसी प्रकार भी विधि के नहीं रहने पर अनुवाद नहीं हो सकता है, इससे अनुवाद में भी विधि को समझकर आश्रमान्तर अनुष्ठान के योग्य है इस प्रकार बादरायण आचार्य मानते हैं, जिससे वेद में आश्रमान्तर का श्रवण है, इससे वह अनुष्ठान के योग्य है। आश्रमान्तर की इच्छा नहीं करने वाले को भी गार्हस्थ्य के समान ही आश्रमान्तर का भी स्वीकार करना चाहिए, ऐसा मानते हुए बादरायण आचार्य, अग्निहोत्रादि के अवश्य अनुष्ठेय (अनुष्ठान योग्य) होने से और आश्रमान्तर में उस अग्निहोत्रादि के विरोध से अग्निहोत्रादि में अनधिकृतों से ही आश्रमान्तर अनुष्ठेय है, इस मति का निराकरण करते हैं। क्यों निराकरण करते हैं, उत्तर है कि समता की श्रुति से निराकरण करते हैं। जिससे (तीन धर्म के स्कन्ध हैं) इत्यादि रूप परामर्श श्रुति गार्हस्थ्य के समान ही आश्रमान्तर की देखी जाती है। जैसे इस परामर्श श्रुति में श्रुत्यन्तर में विहित ही गार्हस्थ्य परामृष्ट (अनुवादित) होता है, इसी प्रकार अन्य श्रुति में विहित ही आश्रमान्तर भी यहाँ परामृष्ट होता है। जैसे (निवीतं मनुष्याणां, प्राचीनावीतं पितॄणामुपवीतं देवानामुपव्ययते देवलक्ष्ममेवतत्कुरुते) इस उपवीत विधि परक वाक्य में शास्त्रान्तर से प्राप्त ही निवीत और प्राचीनावीत का परामर्श किया जाता है। वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए। (उद्धृते दक्षिणे पाणावुपवीत्युच्यते द्विजः। सव्ये प्राचीन आवीती निवीती कण्ठसज्जने) इस मनुवचन के अनुसार देवकार्यादि में उपवीती आदि का लक्षण ज्ञेय है। इससे गार्हस्थ्य के तुल्य ही आश्रमान्तर को भी अनुष्ठेयत्व है। इसी प्रकार (इस आत्मस्वरूप लोक की ही इच्छा से त्यागी त्याग करते हैं) इस वचन में इस संन्यास का अनुष्ठेय वेदानुवचनादि के साथ कथन है, इससे यह अनुष्ठेय विधेय है। (जो ये जंगल में श्रद्धातप की उपासना करते हैं) इस वानप्रस्थ का पञ्चाग्नि विद्या के साथ कथन है, इससे विधेय पञ्चाग्नि विद्या के समान वानप्रस्थ भी विधेय है। जो यह कहा था कि (तप ही द्वितीय स्कन्ध है) इत्यादि वचनों में आश्रम वाचक शब्द के नहीं होने से आश्रमान्तर का विधान सन्दिग्ध है, वहाँ निश्चय कारण के उद्भाव (सत्ता) से यह दोष नहीं है। जिससे (धर्म के तीन स्कन्ध हैं) इस प्रकार धर्म स्कन्ध के त्रित्व (तीन संख्या) प्रतिज्ञात (प्रतिज्ञा का विषय) हुआ है। यजेत, अध्येतव्यः, दद्यात्, इत्यादि कर्म स्वरूप बोधक उत्पत्ति विधि से भिन्न उत्पत्ति वाले (पृथक् उत्पन्न) होते हुए यज्ञ, अध्ययन, दान, श्रद्धा, तप आदि बहुत धर्म आश्रम के साथ सम्बन्ध के विना त्रित्व (तीन संख्या) के अन्तर्भाव करने के योग्य नहीं हो सकते हैं। वहाँ यज्ञादि चिह्नवाला एक गृहाश्रम रूप धर्मस्कन्ध निर्दिष्ट है। ब्रह्मचारी इस शब्द से स्पष्ट आश्रम का निर्देश है। तप इस शब्द से भी तपःप्रधान वानप्रस्थाश्रम से अन्य कौन धर्मस्कन्ध अभ्युपगत होगा, अर्थात् तप इससे वानप्रस्थ आश्रम ही निर्दिष्ट है। (जो ये अरण्य में श्रद्धा तप का सेवन करते हैं) इस श्रुति में भी अरण्यलिङ्ग से और श्रद्धा तप से आश्रम का ग्रहण (ज्ञान) होता है। जिससे परामर्श होते भी आश्रमान्तर अनुष्ठान योग्य है॥ १९॥

विधिर्वा धारणवत् ॥ २० ॥

विधिर्वाऽयमाश्रमान्तरस्य न परामर्शमात्रम्। ननु विधित्वाभ्युपगमे एकवाक्यताप्रतीतिरुपरुध्येत प्रतीयते चात्रैकवाक्यता पुण्यलोकफलास्त्रयो धर्मस्कन्धा ब्रह्मसंस्थता त्वमृतत्वफलेति। सत्यमेतत्। सतीमप्येकवाक्यताप्रतीतिं परित्यज्य विधिरेवाभ्युपगन्तव्योऽपूर्वत्वात् विध्यन्तरस्यादर्शनात्, विस्पष्टाच्चाश्रमान्तरप्रत्ययाद्गुणवादकल्पनयैकवाक्यतायोजनानुपपत्तेः। धारणवत्। यथा 'अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति' इत्यत्र सत्यामप्यधोधारणेनैकवाक्यताप्रतीतौ विधीयत एवोपरिधारणमपूर्वत्वात्।

प्रथम स्कन्ध श्रुति को अनुवादक मानकर विध्यन्तर की कल्पना द्वारा आश्रमों का अनुष्ठान कहा गया है, अब उस स्कन्ध श्रुति को ही विधि रूप कहते हैं कि अथवा यही आश्रमान्तर की विधि रूप है, परामर्शमात्र नहीं है। शंका होती है कि अनुवादपूर्वक स्तुति मानने से एकवाक्यता होती है और आश्रम की विधि मानने पर एकवाक्यता की प्रतीति उपरुद्ध बाधित होगी। एकवाक्यता की प्रतीति होती है कि तीन धर्मस्कन्ध पुण्यलोकरूप फलवाले होते हैं और ब्रह्मनिष्ठता तो अमृतत्व फलवाली है। उत्तर है कि यह कथन सत्य है कि एकवाक्यता प्रतीत होती है, परन्तु विध्यन्तर में प्राप्ति के अभाव से और प्राप्ति के बिना अनुवाद के असम्भव होने से और परामर्श के नहीं रहने पर स्तुति के भी नहीं हो सकने से वर्तमान भी एकवाक्यता प्रतीति को परित्याग करके अपूर्वता से विधि ही स्वीकार के योग्य है। तथा विध्यन्तर के अदर्शन से विधि स्वीकार के योग्य है। विस्पष्ट आश्रमान्तर की प्रतीति होने से गुणवाद (स्तुतिवाद) की कल्पना द्वारा एकवाक्यत्व की योजना की अनुपपत्ति से विधि स्वीकार के योग्य है। वह भी धारण के समान एकवाक्यता को त्याग कर स्वीकार के योग्य है। जैसे पिण्डपितृ महायज्ञ में विधि है कि (आहवनीय अग्नि में हवनकाल में हवि से पूर्ण स्रुग (पात्रविशेष) के नीचे समिध का धारण करता हुआ अनुद्रवण करे और देवताओं के लिए तो हवि से ऊपर समिध का धारण करता है) यहाँ सत् पाठ और धारयति में विधि के अभाव से उपरि धारण को अनुवाद मानने पर अधोधारण के साथ ऊपर धारण की एकवाक्यता की प्रतीति होते भी धारयति में पञ्चम लकार मानकर अपूर्वता से उपरि धारण का विधान ही किया जाता है।

तथाचोक्तं शेषलक्षणे—'विधिस्तु धारणेऽपूर्वत्वात्' इति। तद्वदिहाप्याश्रमपरामर्शश्रुतिर्विधिरेवेति कल्प्यते। यदापि परामर्श एवायमाश्रमान्तराणां तदापि ब्रह्मसंस्थता तावत्स्तुतिसामर्थ्याद्विधेयाऽभ्युपगन्तव्या। सा च किं चतुर्ष्वाश्रमेषु यस्य कस्यचिदाहोस्वित्परिव्राजकस्यैवेति विवेक्तव्यम्। यदि च ब्रह्मचर्यान्तेष्वाश्रमेषु परामृश्यमानेषु परिव्राजकोऽपि परामृष्टस्ततश्चतुर्णामप्याश्रमाणां परामृष्टत्वाविशेषादनाश्रमित्वानुपपत्तेश्च यः कश्चिच्चतुर्ष्वाश्रमेषु

ब्रह्मसंस्थो भविष्यति । अथ न परामृष्टस्ततः परिशिष्यमाणः परिव्राडेव ब्रह्मसंस्थ इति सेत्स्यति ।

इसी प्रकार पूर्वमीमांसा के शेषाध्यायों में कहा है कि (अपूर्वता से स्रुग् के ऊपर समिध का धारण मे विधि है)। उसी के समान यहाँ भी आश्रमविषयक परामर्श श्रुतिविधि ही है ऐसी कल्पना की जाती है और जब भी यह आश्रमान्तर का परामर्श-रूप ही है तब भी ब्रह्मसंस्थता तो संस्तव (स्तुति) सामर्थ्य से अवश्य ही विधेय अभ्युगन्तव्य (स्वीकारार्ह) है। इस प्रकार विधेय होने पर भी वह ब्रह्मसंस्थता चारों आश्रमों मे जिस किसी का धर्म है अथवा परिव्राजक का ही है। यह विवेक करने योग्य है यदि (त्रयः) तीन स्कन्ध हैं इस श्रवण से परामृश्यमान ब्रह्मचर्यपर्यन्त तीन आश्रम में ही परिव्राजक भी परामृष्ट है, अर्थात् तीन में ही यदि संन्यासी का भी ग्रहण है, तब तो चारों ही आश्रमों के परामृष्टत्व के तुल्य होने से और (अनाश्रमी न तिष्ठेत्) इस वचन के अनुसार (अनाश्रमित्व की अनुपपत्ति से जो ब्रह्मसंस्थ होगा वह चारो आश्रमों में से ही कोई होगा) यदि ब्रह्मचर्यपर्यन्त तीन आश्रम में परिव्राजक नहीं परामृष्ट हुआ है, तो तीन से परिशिष्यमाण (बाकी-भिन्न) परिव्राट् ही ब्रह्मसंस्थ सिद्ध होगा। इस प्रकार तीन के अन्दर परिव्राजक का परामर्श और परामर्श का अभाव के द्वारा संशय होता है।

तत्र तपःशब्देन वैखानसग्राहिणा परामृष्टः परिव्राडपीति केचित्। तदयुक्तम्। नहि सत्यां गतौ वानप्रस्थविशेषणेन परिव्राजको ग्रहणमर्हति। यथात्र ब्रह्मचारिगृहमेधिनावसाधारणेनैव स्वेन स्वेन विशेषणेन विशेषितावेवं भिक्षुवैखानसावपीति युक्तम्। तपश्चासाधारणो धर्मो वानप्रस्थानां कायक्लेशप्रधानत्वात् तपःशब्दस्य तत्र रूढेः, भिक्षोस्तु धर्म इन्द्रियसंयमादिलक्षणो नैव तपःशब्देनाभिलप्यते।

यहाँ कोई पूर्वपक्ष का ग्रहण करते है कि वैखानस (वानप्रस्थ) का ग्राहक (बोधक) तप शब्द से परिव्राड् भी परामृष्ट होता है, क्योंकि यम-नियमादिरूप तप का परिव्राजक में भी सम्भव है। स्वाभाविक बहुत विलक्षणता और यमादि में तप शब्द की अप्रसिद्धि से सिद्धान्ती कहते हैं कि वह तपशब्द से परिव्राजक का ग्रहण अयुक्त है। जिससे पृथक् गति रहते वानप्रस्थ के विशेषण तप से परिव्राजक ग्रहण के योग्य नहीं हो सकता है। जैसे यहाँ (धर्मस्कन्ध श्रुति मे) ब्रह्मचारी और गृहस्थ असाधारण अपने-अपने विशेषणों से ही विशेषित (विशेष रूप से कथित) है। इसी प्रकार भिक्षुक वैखानस भी असाधारण अपने-अपने विशेषण से विशेषित है ऐसा मानना युक्त है। वानप्रस्थो की कायक्लेश-प्रधानता से उनका तप असाधारण धर्म है। जिसमे कृच्छ्रादिरूप कायक्लेश में ही तप की रूढि है, इससे वही उनका असाधारण धर्म सिद्ध होता है। इन्द्रियों के संयमादि रूप भिक्षु का धर्म तो तप शब्द से नहीं कहा जाता है।

चतुष्ट्वेन च प्रसिद्धा आश्रमास्त्रित्वेन परामृश्यन्त इत्यन्याय्यम्। अपि च भेदव्यपदेशोऽत्र भवति त्रय एते पुण्यलोकभाज एकोऽमृतत्वभाक् इति। पृथक्त्वे चैष भेदव्यपदेशोऽवकल्पते। नह्येवं भवति देवदत्तयज्ञदत्तौ मन्दप्रज्ञौ अन्यतरस्त्वनयोर्महाप्रज्ञ इति। भवति त्वेवं देवदत्तयज्ञदत्तौ मन्दप्रज्ञौ विष्णुमित्रस्तु महाप्रज्ञ इति। तस्मात् पूर्वे त्रय आश्रमिणः पुण्यलोकभाजः परिशिष्यमाणः परिव्राडेवामृतत्वभाक्। कथं पुनर्ब्रह्मसंस्थशब्दो योगात्प्रवर्तमानः सर्वत्र सम्भवन्परिव्राजक एवावतिष्ठेत, रूढ्यभ्युपगमे वाश्रममात्रादमृतत्वप्राप्तेर्ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्ग इति।

चार रूप से प्रसिद्ध आश्रम तीन रूप से परामृष्ट हों यह अन्याय्य है। दूसरी बात है कि यहाँ भेद का व्यपदेश (कथन) होता है कि (ये गृहस्थादि तीन पुण्यलोक के भागी होते हैं) एक अमृत का भागी होता है। वानप्रस्थ में परिव्राजक के पृथक् होने पर यह भेद का व्यपदेश सिद्ध होता है। जिससे ऐसा प्रयोग नहीं होता है कि देवदत्त और यज्ञदत्त मन्द बुद्धिवाले हैं परन्तु इन दोनों में से एक महाबुद्धिमान् है। इस प्रकार का प्रयोग तो होता है कि देवदत्त और यज्ञदत्त तो मन्द बुद्धिवाले हैं परन्तु विष्णुमित्र महाबुद्धिमान् है। इससे पूर्व के तीन आश्रमी पुण्यलोकरूप फल वाले होते हैं। परिशिष्ट एक परिव्राट् विरक्त निर्वासित मुनि अमृतस्वरूप फल वाला होता है। यहाँ शंका होती है कि योग (अवयवार्थ) से प्रवृत्त होता हुआ ब्रह्मसंस्थ शब्द सब आश्रमों में सम्भव वाला होता हुआ परिव्राजक में ही क्या और कैसे अवस्थित नियमित होगा, जो ब्रह्मनिष्ठ हो वह ब्रह्मसंस्थ कहा जा सकता है, अथवा आश्रमविशेष में ब्रह्मसंस्थ शब्द की रूढि (शब्दशक्ति) मानने पर आश्रममात्र से अमृतत्व की प्राप्ति होने से ज्ञान की अनर्थकता की प्राप्ति होगी।

अत्रोच्यते—ब्रह्मसंस्थ इति हि ब्रह्मणि परिसमाप्तिरनन्यव्यापारतारूपं तन्निष्ठत्वमभिधीयते। तच्च त्रयाणामाश्रमाणां न सम्भवति स्वाश्रमविहितकर्माननुष्ठाने प्रत्यवायश्रवणात्, परिव्राजकस्य तु सर्वकर्मसंन्यासात्प्रत्यवायो न सम्भवत्यननुष्ठाननिमित्तः। शमदमादिस्तु तदीयो धर्मो ब्रह्मसंस्थताया उपोद्बलको न विरोधी। ब्रह्मनिष्ठत्वमेव हि तस्य शमदमाद्युपबृंहितं स्वाश्रमविहितं कर्म यज्ञादीनि चेतरेषाम्। तद्व्यतिक्रमे च तस्य प्रत्यवायः। तथा च 'न्यास इति ब्रह्मा ब्रह्मा हि परः परो हि ब्रह्मा' 'तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्' (नारा० ७८) 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः' (मुण्ड० ३।२।६ नारा० १२।३ कैवल्य० ३) इत्याद्याः श्रुतयः, स्मृतयश्च—'तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः' (गी० ५।१७) इत्याद्या ब्रह्मसंस्थस्य कर्माभावं दर्शयन्ति।

यहाँ उत्तर कहते हैं कि ब्रह्मसंस्थ इस शब्द से ब्रह्म ही में परितः (सब तरफ से) चित्त को समेट कर समाप्ति (सम्यक् प्राप्ति) स्थितिरूप ही अन्य व्यापार-

रहिता-अनन्यव्यापारतारूप ब्रह्मनिष्ठत्व कहा जाता है। स्वाश्रमविहित कर्मों के नहीं अनुष्ठान करने पर प्रत्यवाय के श्रवण से तीन आश्रमियों को उस ब्रह्मनिष्ठत्व का संभव नहीं है। सब कर्मों के परित्याग से परिव्राजकों को तो कर्म के अनुष्ठान (त्याग) निमित्तक प्रत्यवाय का सम्भव नहीं है। शमदमादि जो उस परिव्राजक के धर्म हैं, वह तो ब्रह्मनिष्ठता के उपोद्बलक (उद्बोधक-पोषक) हैं, विरोधी नहीं हैं। शमदमादि से उपबृंहित (परिवर्द्धित-पोषित) ब्रह्मनिष्ठत्व ही उस परिव्राजक का स्वाश्रमविहित कर्म है। यज्ञादि अन्य के कर्म हैं। उस शमादि-सहित ब्रह्मनिष्ठत्व के व्यतिक्रमण उल्लंघन-त्याग से उस परिव्राजक को प्रत्यवाय होता है। इस प्रकार की श्रुतियाँ हैं कि (ब्रह्मपरायणतापूर्वक सर्व इच्छा संग का त्यागरूप संन्यास ब्रह्मा है। ब्रह्मा ही पर-हिरण्यगर्भ है, इससे संन्यासरूप ब्रह्मा भी पर ही है) किससे पर है ऐसी अपेक्षा होने पर कहा जाता है कि (ये पूर्वोक्त सत्यादि ज्ञानरहित ये तप अवर हैं। इनसे संन्यास ही अतिरिक्त श्रेष्ठ है, ब्रह्मनिष्ठा द्वारा मोक्ष का हेतु माना गया है) (वेदान्त विज्ञान का अर्थरूप परमात्मा जिनको सुनिश्चित है, संन्यासरूप योग से यतनशील वे शुद्ध सत्त्व वाले परान्त-उत्तमान्त काल में सर्वथा मुक्त होते हैं) इत्यादि श्रुतियाँ हैं। स्मृतियाँ हैं कि (उस परब्रह्मविषयक बुद्धिवाले, ब्रह्मरूप आत्मा वाले, उसमें निष्ठा स्थिति प्रीति वाले, तत्स्वरूप ही परम अयन-गति वाले ज्ञान से विनष्ट पापादि वाले होकर पुनरावृत्तिरहित मोक्ष को प्राप्त करते हैं)। इत्यादि श्रुति-स्मृतियाँ ब्रह्मसंस्थ के कर्मों के अभाव को दर्शाती हैं।

तस्मात्परिव्राजकस्याश्रममात्रादमृतत्वप्राप्तेर्ज्ञानार्थक्यप्रसङ्ग इत्येषोऽपि दोषो नावतरति। तदेवं परामर्शेऽपीतरेषामाश्रमाणां पारिव्राज्यं तावद्ब्रह्मसंस्थतालक्षणं लभ्येतैव। अनपेक्ष्यैव जाबालश्रुतिमाश्रमान्तरविधायिनीमयमाचार्येण विचारः प्रवर्तितः। विद्यत एव त्वाश्रमान्तरविधिश्रुतिः प्रत्यक्षा 'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा' (जाबा० ४) इति। न चेयं श्रुतिरनधिकृतविषया शक्या वक्तुम्। अविशेषश्रवणात्, पृथग्विधानाच्चानधिकृतानाम् 'अथ पुनरेव व्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा' (जाबा० ४) इत्यादिना। ब्रह्मज्ञानपरिपाकाङ्गत्वाच्च पारिव्राज्यस्य नानधिकृतविषयत्वम्। तच्च दर्शयति—'अथ परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय भवति' (जाबा० ५) इति। तस्मात्सिद्धा ऊर्ध्वरेतसामाश्रमाः। सिद्धं चोर्ध्वरेतःसु विधानाद्विद्यायाः स्वातन्त्र्यमिति ॥ २० ॥

इस प्रकार ब्रह्मसंस्थ शब्द के ज्ञान प्रधान आश्रम के वाचक होने से परिव्राजक को आश्रममात्र से मोक्ष की प्राप्ति होने से ज्ञान की अनर्थकता का प्रसंगरूप यह दोष भी नहीं प्राप्त होता है। इससे इस प्रकार इतर आश्रमों के परामर्श (अनुवाद) होते, विधि के नहीं रहते भी ब्रह्मसंस्थता की स्तुति के सामर्थ्य से ब्रह्मसंस्थतारूप पारिव्राज्य संन्यास प्राप्त होता ही है। वस्तुतः आश्रमान्तर-संन्यास को विधान करने

वाली जाबाल श्रुति की अपेक्षा नहीं करके ही आचार्य से यह विचार प्रवर्तित (प्रारब्ध) हुआ है। आश्रमान्तर की विधिरूप श्रुति तो प्रत्यक्ष है ही कि (ब्रह्मचर्य का परिसमाप्त करके गृहस्थ होना चाहिए गृहस्थ होकर वनस्थ होना चाहिए। वनस्थ होकर प्रव्रजन (सर्वथा त्याग) करना चाहिए। अथवा अन्य प्रकार से भी ब्रह्मचर्य से प्रव्रजन करे, या गृह से या वन से प्रव्रजन करे) । सामान्य श्रवण होने से यह श्रुति कर्म में अनधिकृत (कर्माधिकाररहित) विषयक नहीं कही जा सकती है, जिसमें सामान्य श्रुति के संकोच में कोई प्रमाण नहीं है। अनधिकारियों के संन्यास का पृथक् विधान है इसमें भी यह श्रुति अनधिकृत विषयक नहीं है। उस श्रुति के बाद अनधिकृतविषयक श्रुति है कि (और फिर भी वेदव्रती हो या व्रतरहित हो, गुरुकुल से परिवर्तन के बाद भी गार्हस्थ्यरहित गुरुसेवी स्नातक हो या उससे विपरीत अस्नातक हो, विधुर (मृतभार्यक) उत्सन्नाग्निक हो या अग्नि परिग्रहरहित हो। दृढ वैराग्य और तीव्र मुमुक्षा होने पर परिव्रजन (त्याग) करे) इत्यादि वचनों से किसी हेतु से कर्म के अधिकारी सर्वाङ्गयुक्त मुमुक्षुओं के लिए संन्यास का विधान किया गया है, विकलाङ्ग ज्ञान-साधन में असमर्थादि के लिए तो ज्ञानप्रधान आश्रम में कभी अधिकार नहीं है और जिससे पारिव्राज्य (संन्यास) को ब्रह्मज्ञान के परिपाक (दृढता) का अङ्ग कहते हैं इसमें अनधिकृत विषयत्व नहीं है अन्ध पङ्ग्वादि असमर्थ विषयकत्व नहीं है, यह श्रुति भी दर्शाती है कि संन्यास ज्ञान का अंग (साधन) है। श्रुति है कि (विवर्ण विशेष रागादि रहित वस्त्रवाला, मुण्डित, परिग्रहरहित पवित्र, द्रोहरहित, भिक्षावृत्ति वाला संन्यासी ब्रह्म का साक्षात्कार के लिए समर्थ होता है)। इससे ऊर्ध्वरेतसा के आश्रम सिद्ध होते है, और ऊर्ध्वरेताओं में विद्या के विधान से विद्या की स्वतन्त्रता सिद्ध हुई ॥ २० ॥

स्तुतिमात्राधिकरणम् ॥ ३ ॥

स्तोत्र रसतमत्वादि ध्येय वा गुणवर्णनात् । जुहूरादित्य इत्यादौ कर्माङ्गसंस्कृति ॥ १ ॥
भिन्नप्रकरणस्थत्वान्नाङ्गविध्येकवाक्यता । उपास्तीतिविध्युक्तेर्ध्यर्थं रसतमादिकम् ॥ २ ॥

'उद्गीथ का अवयव ओंकार रसों का रसतम (अति श्रेष्ठरस) है' इत्यादि श्रुति का कथन, कर्माङ्ग उद्गीथ के ग्रहण से स्तुतिमात्र है, रसतमत्वादि गुण ओंकार के समान ध्येय नहीं हैं, जैसे कि कर्माङ्ग के ग्रहण में (जुहूरादित्य) जुहू सूर्य है, यह स्तुतिमात्र होता है, वैसा ही इसको समझना चाहिए। ऐसा प्राप्त होने पर कहा जाता है कि स्तुतिमात्र नहीं है किन्तु अपूर्वता से ध्यान का विधान है॥ संशय है कि रसतमत्वादि स्तुति है, अथवा ध्येय है। पूर्वपक्ष है कि जुहू आदित्य है इत्यादि में जैसे स्तुति से कर्माङ्ग का संस्कार किया जाता है वैसे ही यहाँ गुणवर्णन से कर्माङ्ग का संस्कार किया जाता है। सिद्धान्त है कि (जुहूरादित्य) इत्यादि कर्म प्रकरण के हैं, उससे कर्माङ्ग का स्तावक होना उचित है, रसतमादि वचन के कर्म से भिन्न उपासना प्रकरण में

होने से कर्माङ्ग विधि के साथ इनकी एकवाक्यता (एकार्थकता) नहीं है, किन्तु उपासीत इस विधि की उक्ति से रसतमादिक ध्येय हैं ॥ १-२ ॥

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥ २१ ॥

'स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः' (छा० १।१।३) 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १।६।१) 'अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः । तदिदमेवोक्थमियमेव पृथिवी' इत्येवंजातीयकाः श्रुतयः किमुद्गीथादेः स्तुत्यर्था आहोस्विदुपासनाविध्यर्था इत्यस्मिन्संशये स्तुत्यर्था इति युक्तम्, उद्गीथादीनि कर्माङ्गान्युपादाय श्रवणात् । यथा—'इयमेव जुहूरादित्यः कूर्मः स्वर्गो लोक आहवनीयः' इत्याद्या जुह्वादिस्तुत्यर्थास्तद्वदिति चेत् । नेत्याह । नहि स्तुतिमात्रमासां श्रुतीनां प्रयोजनं युक्तमपूर्वत्वात् । विध्यर्थतायां ह्यपूर्वोऽर्थो विहितो भवति स्तुत्यर्थतायां त्वानर्थक्यमेव स्यात् । विधायकस्य हि शब्दस्य वाक्यशेषभावं प्रतिपद्यमाना स्तुतिरुपयुज्यत इत्युक्तम् 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इत्यत्र । प्रदेशान्तरविहितानां तूद्गीथादीनामियं प्रदेशान्तरपठिता स्तुतिर्वाक्यशेषभावमप्रतिपद्यमानानर्थिकैव स्यात् । इयमेव जुहूरित्यादि तु विधिसंनिधावेवाम्नातमिति वैषम्यम् । तस्माद्विध्यर्था एवैवंजातीयकाः श्रुतयः ॥ २१ ॥

(इन चराचर भूतों का पृथिवी रस-उत्पत्ति-स्थिति-लय का कारण है । पृथिवी का जल रस कारण आधारादि है । जल का ओषधि रस-परिणाम है, ओषधियों का पुरुष (मानवदेह) रस-परिणाम है । पुरुष का वाक् रस-श्रेष्ठ सारयुक्त अवयव है । वाक् का ऋग्वेद रस-सारतर है । ऋग्वेद का सामवेद रस है, उसका भी उद्गीथ-ओंकार रस-सार है । यह ओंकार भूमि आदि रसों का भी रसतम (श्रेष्ठरस) है, और परमात्मा का प्रतीक (अंग) होने से परम उत्तम है । तथा पर=परमात्मा के अर्ध=स्थानयोग्य होने से परमात्मा के समान उपास्य है, जो यह पृथिवी आदि रसों में अष्टम रस उद्गीथ-ओंकार है) और (यह पृथिवी ऋक् है, ऋक् पृथिवी दृष्टि में चिन्तनीय है, अग्नि साम है, साम अग्नि दृष्टि से चिन्तनीय है) और (यही लोक है, जो यह अग्निचित-सम्पादिताग्नि है) (वह उक्थ यही है जो यह पृथिवी ही है) इस प्रकार की श्रुतियाँ क्या उद्गीथादि की स्तुति के लिए हैं, अथवा उपासना विधि के लिए हैं, इस संशय के होने पर, उद्गीथादि कर्माङ्गों का उपादान करके श्रवण होने से ये स्तुति के लिए हैं, ऐसा युक्त प्रतीत होता है, जैसे (जुहू इस पृथिवी स्वरूप ही है, चयनस्थ कूर्म आदित्य स्वरूप है, आहवनीय अग्नि स्वर्गलोक स्वरूप है) इत्यादि श्रुति जुहू, कूर्म, आहवनीय अग्नि की स्तुति के लिए हैं, उसीके समान उद्गीथादि की स्तुति के लिए उक्त श्रुतियाँ हैं । इस प्रकार पूर्वपक्ष के प्राप्त होने पर कहते हैं कि यदि इस प्रकार स्तुत्यर्थक कहो तो कहा जाता है कि स्तुत्यर्थक नहीं हैं, जिससे अपूर्वता से इन श्रुतियों का

स्तुतिमात्र प्रयोजन युक्त नहीं है। विध्यर्थकता होने पर इन श्रुतियों से अपूर्व (असिद्ध) अर्थ विहित होता है और स्तुत्यर्थकता में तो इनकी अनर्थकता (निष्फलता) ही होगी। जिसमें विधिबोधक विधायक शब्द की वाक्यशेषता (अङ्गता) को प्राप्त स्तुति उपयुक्त (सफल) होती है यह कहा है कि (विधियों के स्तुत्यर्थकरूप से विधि के साथ एकवाक्यता से अर्थवाद सार्थक होंगे) यहाँ एकवाक्यता से स्तुति की सार्थकता कही गई है। प्रदेशान्तर में अगरूप विहित उद्गीथादि की तो किसी अन्य देश में पठित स्तुति वाक्य शेषभाव (एकवाक्यता) को नहीं प्राप्त होती हुई अनर्थक ही होगी। (इयमेव जुहू) इत्यादि तो विधि के समीप में ही पठित है यह विलक्षणता है। इसमें इस प्रकार की श्रुतियाँ विध्यर्थक ही है ॥ २१ ॥

भावशब्दाच्च ॥ २२ ॥

'उद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) 'सामोपासीत' (छा० २।२।१) 'अहमुक्थमस्मीति विद्यात्' इत्यादयश्च विस्पष्टा विधिशब्दा श्रूयन्ते ते च स्तुतिमात्रप्रयोजनतायां व्याहन्येरन्। तथा च न्यायविदां स्मरणम्—

कुर्यात्क्रियेत कर्तव्यं भवेत्स्यादिति पञ्चमम्।
एतत्स्यात्सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्॥ इति।

लिङाद्यर्थो विधिरिति मन्यमानास्त एवं स्मरन्ति। प्रतिप्रकरणं च फलानि श्राव्यन्ते—'आपयिता ह वै कामानां भवति' (छा० १।१।७) 'एष ह्येव कामागानस्येष्टे' (छा० १।७।६) 'कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च' (छा० २।२।३) इत्यादीनि। तस्मादप्युपासनविधानार्था उद्गीथादिश्रुतयः ॥ २२ ॥

प्रथम विधि की कल्पना मान कर विचार किया गया है, अब कहा जाता है कि कल्पना की जरूरत नहीं है, साक्षात् विधिसिद्ध है कि—(उद्गीथ की उपासना करे। साम की उपासना करे। मैं उक्थ हूँ ऐसा चिन्तन करे) इत्यादि विस्पष्ट विधिवाचक शब्द सुने जाते हैं। स्तुतिमात्र प्रयोजनता-पक्ष में वे सब शब्द व्याहत (बाधित) होंगे, इससे विधि से अपेक्षित गुणसमर्पण के ही लिए रसतमादि वचन है। इसी प्रकार न्यायवेत्ताओं का स्मरण (कथन) है कि (कुर्यात्–करे क्रियेत–किया जाय कर्तव्य–करने योग्य है भवेत्–होगा और पञ्चम स्यात्–होगा) सब वेदों में यह नियत विधि का लक्षण होगा) लिङादि का अर्थ विधि है ऐसा मानते हुए वे न्यायवेत्ता इस प्रकार स्मरण करते हैं। भाव है कि क्रिया का भावना कहते हैं और कृ भू अस्-तीन धातु क्रिया सामान्य के वाचक है इससे इन तीनों के उदाहरण दिए गए हैं कि सामान्य के कथन से विशेष को लोग आसादि से समझेंगे। इसीसे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि (पञ्चमम्) इस कथन से पाँच पदों का ही विधिरूपत्व है (उपासीत) इत्यादि को विधिरूपत्व नहीं है। क्रिया सामान्यवाचक कृ आदि के उदाहरण के द्वारा सब धातु से युक्त लिङादि के विधिरूपत्व विवक्षित है। कुर्यात् में धातु का

अर्थरूप ही भावना आख्यात मे अनुवादित होता है लिट् से इष्टसाधनत्व बोधित होता है और भावना से कर्त्ता आक्षिप्त होता है। क्रियेत मे कर्म आक्षिप्त होता है। कर्तव्यम् मे प्रत्यय मे कर्म कारक कहा जाता है इत्यादि मीमांसक-मत है। प्रत्येक प्रकरणो मे फल सुनाये जाते है कि (आप्तिगुणविशिष्ट उद्गीथ अक्षर की उपासना करने वाला विद्वान् जो होता है वह यजमान के कामो को पूर्ण प्राप्त कराने वाला होता है। इस प्रकार का विद्वान् उद्गाता ही सामगान के विषय मे समर्थ होता है। इस उपासक के लिए ऊपर के और नीचे के सब लोक भोग्यरूप से प्राप्त और सिद्ध होते है।) इत्यादि फल सुनाये जाते हैं, इससे भी उद्गीथादि श्रुतियाँ उपासना की विधि के लिए है ॥ २२ ॥

पारिप्लवाधिकरणम् ॥ ४ ॥

पारिप्लवार्थमाख्यानं किं वा विद्यास्तुतिः स्तुतेः। ज्यायोऽनुष्ठानशेषत्वं तेन पारिप्लवार्थता ॥
मनुर्वैवस्वतो राजेत्येवं तत्र विशेषणात्। अत्र विद्यैकवाक्यत्वभावाद्विद्यास्तुतिर्भवेत् ॥

अश्वमेध याग की रात्रियो में जो सपरिवार राजा के प्रति नाना प्रकार की आख्यायिका कथा, कही जाती है उसको पारिप्लव कहते हैं। उपनिषदो मे मैत्रेयी याज्ञवल्क्यादि की कथा है, उन्हें भी यदि कोई पारिप्लव के लिए कहे, तो कहा जाता है कि—(मनुर्वैवस्वतो राजा। शत० १३।४।३।३) इत्यादि विशेषरूप से पारिप्लवार्थक कथा पढी हुई है, इसमे उपनिषद् की कथा विद्या की स्तुति के लिए है कर्माङ्ग नही है। संशय है कि उपनिषद् के आख्यान सब पारिप्लवार्थक हैं, अथवा विद्या की स्तुतिरूप है। पूर्वपक्ष है स्तुति की अपेक्षा (पारिप्लवमाचक्षीत) इस वचन मे विहित कर्मानुष्ठान का शेषत्व होना श्रेष्ठ है, इसमे पारिप्लवार्थक है। सिद्धान्त है कि उस पारिप्लव मे (मनु विवस्वान् का पुत्र राजा था) इत्यादि कथा विशेषणरूप से पठित है, वह राजा के मनोरञ्जनमात्र के लिए है। यहाँ उपनिषद् मे उपाख्यानो को विद्या के साथ एकवाक्यता की सत्ता से परम श्रेष्ठ विद्या की स्तुति होगी ॥ १-२ ॥

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ २३ ॥

'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च' (बृ० ४।५।१) 'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम' (कौषी० ३।१) 'जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस' (छा० ४।१।१) इत्येवमादिषु वेदान्तपठितेष्वाख्यानेषु संशयः—किमिमानि पारिप्लवप्रयोगार्थान्याहोस्वित्संनिहितविद्याप्रतिपत्त्यर्थानीति। पारिप्लवार्था इमा आख्यानश्रुतयः। आख्यानसामान्यात्, आख्यानप्रयोगस्य च पारिप्लवे चोदितत्वात्। ततश्च विद्याप्रधानत्वं वेदान्तानां न स्यात् मन्त्रवत्प्रयोगशेषत्वादिति चेत्। तन्न। कस्मात्? विशेषितत्वात्। तथा हि 'पारिप्लवमाचक्षीत' इति हि प्रकृत्य 'मनुर्वैवस्वतो राजा' इत्येवमादीनि कानिचिदेवाख्यानानि तत्र विशेष्यन्ते। आख्यान-

सामान्याच्चेत्सर्वगृहीति स्यादनर्थकमेवद विशेषण भवेत्। तस्मान पारिप्लवार्था एता आख्यानश्रुतय ॥ २३ ॥

(पूर्वोक्त हेतु प्रश्न के बाद कहा जाता है कि याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियाँ थीं जिनमें एक मैत्रेयी कही जाती थी और दूसरी कात्यायनी कही जाती थी) (दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन राजा इन्द्र के प्रियधाम-स्थान-स्वर्ग में गया) (श्रद्धापूर्वक देने वाला बहुत देने का स्वभाव वाला बहुत पाक योग्य अन्न वाला जनश्रुत का अपत्य जानश्रुति पौत्रायण था) इत्यादि प्रकार के वेदान्त में पठित आख्यानों में संशय होता है कि ये पारिप्लव में प्रयोग (पाठ) के लिये हैं अथवा सन्निहित (पास में पठित) विद्या की प्रतिपत्ति (प्रतीति स्तुति) के लिये हैं। पूर्वपक्षी कहता है कि ये आख्यानरूप श्रुतियाँ पारिप्लवार्थक हैं। क्योंकि पारिप्लव आख्यान के साथ इनकी तुल्यता है। आख्यान के प्रयोग को पारिप्लव में विहितत्व है अर्थात् आख्यान का पाठ पारिप्लव में विहित है, इससे ये पारिप्लवार्थक हैं। इस पारिप्लवार्थकता से वेदान्तों की कर्मार्थक मन्त्र के समान कर्मप्रयोग (विधि) की विशेषता से विद्याप्रधानत्व नहीं होगा। यहाँ सिद्धान्ती कहते हैं कि यदि ऐसा कोई कहे तो वह कथन ठीक नहीं है क्योंकि उस पारिप्लव में विशेषितत्व है (विशेष कथा को विहितत्व है) वह इस प्रकार है कि (पारिप्लव का प्रकथन करे) इस प्रकार प्रस्तुत करके (मनु वैवस्वत राजा) इत्यादि कितने आख्यान वहाँ विशेषरूप से कहे जाते हैं। अर्थात् वाक्यभेद में अश्वमेध के प्रथम दिन की रात्रि में (मनुर्वैवस्वत) द्वितीय दिन की रात्रि में (यमो वैवस्वत) तृतीय दिन की रात्रि में (वरुण आदित्य) इत्यादि कथा कहे इस प्रकार वहाँ विशेष कथायें विहित हैं। यदि आख्यान की तुल्यता से सब आख्यान का ग्रहण हो तो यह विशेषण अनर्थक ही होगा इससे ये आख्यानरूप श्रुतियाँ पारिप्लव के लिये नहीं हैं ॥ २३ ॥

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ २४ ॥

असति च पारिप्लवार्थत्व आख्यानाना सन्निहितविद्याप्रतिपादनोपयोगितैव न्याय्या एकवाक्यतोपनिबन्धात्, तथाहि तत्र तत्र सन्निहिताभिर्विद्याभिरेकवाक्यता दृश्यते प्ररोचनोपयोगा प्रतिपत्तिसौकर्योपयोगाश्च। मैत्रेयीब्राह्मणे तावत्—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य' (बृ० ४।५।६) इत्याद्यया विद्ययैकवाक्यता दृश्यते। प्रातर्दनेऽपि 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्याद्यया, जानश्रुतिरित्यत्रापि 'वायुर्वाव संवर्ग' (छा० ४।३।१) इत्याद्यया, यथा च 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' इत्येवमादीना कर्मश्रुतिगतानामाख्यानाना सन्निहितविधिस्तुत्यर्थता तद्वत्। तस्मान पारिप्लवार्थत्वम् ॥ २४ ॥

पूर्व कही रीति से परम पुरुषार्थविषयक आख्यानों में पारिप्लवार्थत्व के नहीं होने पर एकवाक्यतारूप उपनिबन्ध (सम्बन्ध) से उनको सन्निहित विद्या के प्रतिपादन में उपयोगिता ही न्याय है (अर्थात् उपयोगी होना उचित है)। जिससे इसी प्रकार तत्तत्

स्थानों में प्ररोचन (प्रेमोत्पादन) में उपयोग से और ज्ञान की सुकरता (सुगमता) मे उपयोग से सन्निहित विद्याओं के साथ आख्यानों की एकवाक्यता देखी जाती है। मैत्रेयीब्राह्मण मे (अरे मैत्रेयि ! आत्मा ही अपरोक्ष दर्शन के योग्य है) इत्यादि में पठित विद्या के साथ ही आख्यान का सम्बन्ध दीखता है। प्रतर्दनब्राह्मण में भी (मैं प्रज्ञात्मा प्राण हूँ) इत्यादि में पठित के साथ सम्बन्ध होता है। जानश्रुति इत्यादि वाक्य मे भी (वायु ही संवर्ग है) इत्यादि में पठित विद्या के साथ आख्यान का सम्बन्ध दीखता है। जैसे (उस प्रजापति ने होम के लिए अपनी वपा को उद्धृत किया) इत्यादि कर्मश्रुतिगत आख्यानों को सन्निहित विधि की स्तुत्यर्थकता है। वैसे ही इन आख्यानों को सन्निहित विद्या की स्तुत्यर्थकता है, इससे पारिप्लवार्थत्व नहीं है ॥२४॥

अग्नीन्धनाद्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

आत्मबोधः फले कर्मापेक्षो नो वा ह्यपेक्षते । अङ्गिनोऽङ्गेष्वपेक्षायाः प्रयाजादिषु दर्शनात् ॥१॥
अविद्यातमसोर्ध्वस्तौ दृष्टं हि ज्ञानदीपयोः । नैरपेक्ष्यं ततोऽत्रापि विद्या कर्मानपेक्षिणी ॥२॥

जिससे स्वतन्त्र ज्ञान परम पुरुषार्थ का साधन है, इसीसे इस ज्ञान को अपने फल की सिद्धि में अग्नि का इन्धन-उद्दीपन (अग्न्याधान) आदि की अपेक्षा नहीं है, अर्थात् अग्नीन्धनादि आश्रम कर्मो की अपेक्षा नहीं है। संशय है कि आत्मज्ञान अपने फल में कर्मापेक्ष है, अथवा कर्मापेक्ष नहीं है, पूर्वपक्ष है कि जैसे प्रयाजादि अंग है और दर्श पूर्णमास अङ्गी हैं, जहाँ अङ्गी को अपने फल में अङ्ग की अपेक्षा होती है, वैसे ही कर्म अङ्ग है, ज्ञान की उत्पत्ति का साधन है, और ज्ञान अङ्गी है, कर्म से साध्य है, इससे दर्शादि अङ्गी की फल मे प्रयाजादि अङ्ग-विषयक अपेक्षा के देखने से ज्ञान भी अपने फल में कर्म की अपेक्षा करता है। सिद्धान्त है कि घट-ज्ञान को घट के अज्ञान के ध्वंस में और दीप को अन्धकार के ध्वंस में निरपेक्षता देखी गई है, इससे यहाँ अज्ञानरूप अन्धकार की निवृत्तिरूप फल में कर्म की अपेक्षा-रहित ज्ञान है। भाव है कि एक अंग-अंगी के साथ रहकर अंगी के फल को उत्पन्न करता है, अंगी के समान ही अंग भी गौणरूप से फल का जनक होता है, जैसे कि प्रयाजादि हैं। एक अङ्ग अङ्गी को सिद्ध करके उपरत हो जाता है अङ्गी स्वयं अपना कार्य करता है जैसे अनेक साधन से सिद्ध दीपक साधनरूप दीप के बनाने वाले बालने वाले, आदि के नहीं रहते भी प्रकाश करता है, वैसे ही ज्ञान के साधन कर्मादि के बिना ज्ञान अपना काम करता है ॥ १–२ ॥

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ २५ ॥

'पुरुषार्थोऽतः शब्दात्' (ब्र० सू० ३।४।१) इत्येतद्व्यवहितमपि संभवादत इति परामृश्यते। अतएव च विद्यायाः पुरुषार्थहेतुत्वादग्नीन्धनादीन्याश्रमकर्माणि विद्यया स्वार्थसिद्धौ नापेक्षितव्यानीत्याद्यस्यैवाधिकरणस्य फलमुपसंहरत्यधिकविवक्षया ॥ २५ ॥

(पुरुषार्थोऽतः शब्दात्) यह सूत्र यहाँ से व्यवहित भी है, तो भी सम्भव ने इस

सूत्रगत (अत) इस पद से उसी का परामर्श (बोध) होता है। इससे इस सूत्र का अर्थ है कि, अतएव च, विद्या के पुरुषार्थ-हेतुत्व से ही अग्नीन्धनादि रूप आश्रम के कर्म विद्या के स्वार्थ (फल) सिद्धि मे अपेक्षितव्य (हेतु) नही है। इस प्रकार यह अधिकरण अधिकार्थ की विवक्षा से आद्य अधिकरण के ही फल (सिद्धान्त) का उपसहार करता है। अर्थात् विद्या का फल मोक्ष मे कर्म का सामर्थ्य नही है, कर्मजन्य यदि मोक्ष होगा तो वह अनित्य होगा, परन्तु चित्त की शुद्धि मोक्षेच्छा की उत्पत्ति आदि के द्वारा विद्या के स्वरूप की सिद्धि मे कर्म की अपेक्षा है, यह आगे कहा जायगा और इसी अधिक अर्थ को कहने के लिए यह आद्याधिकरण का उपसहार है ॥ २५ ॥

सर्वापेक्षाधिकरणम् ॥ ६ ॥

उत्पत्तावनपेक्षेयमुत कर्माण्यपेक्षते। फले यथानपेक्षैवमुत्पत्तावनपेक्षता ॥ १ ॥
यज्ञशान्त्यादिसापेक्ष विद्याजन्म श्रुतिद्वयात्। हलेनपेक्षितोऽप्यश्वो रथे यद्वदपेक्ष्यते ॥ २ ॥

ज्ञान के फल मे कर्म की अपेक्षा नही होते भी ज्ञान की उत्पत्ति मे तो यज्ञादि के श्रवण मे सब आश्रम-कर्मों की अपेक्षा है, जैसे कि अश्व की अपेक्षा उसके योग्य कर्म मे होती है। सशय है कि यह आत्मविद्या उत्पत्ति मे कर्मो की अपेक्षा नही करती है, अथवा अपेक्षा करती है। पूर्वपक्ष है कि फल मे अनपेक्षा के समान प्रमाण मात्र की अपेक्षा वाली ज्ञान की उत्पत्ति मे भी कर्म की अपेक्षा नही है। सिद्धान्त है कि यज्ञादि श्रुति और शमादि श्रुति से यज्ञादि और शान्ति आदि सापेक्ष ही प्रमाण से भी विद्या का जन्म होता है। जैसे हल मे अनपेक्षित भी अश्व रथ मे अपेक्षित होता है, वैसे विद्या फल मे अनपेक्षित कर्म विद्या की उत्पत्ति मे योग्यता के अनुसार अपेक्षित होता है ॥ १—२ ॥

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ २६ ॥

इदमिदानीं चिन्त्यते किं विद्याया अत्यन्तमेवानपेक्षाऽऽश्रमकर्मणामुतास्ति काचिदपेक्षेति। तत्रात एवाग्नीन्धनादीन्याश्रमकर्माणि विद्यायाः स्वार्थसिद्धौ नापेक्ष्यन्त इति एवमत्यन्तमेवानपेक्षायां प्राप्तायामिदमुच्यते सर्वापेक्षा चेति। अपेक्षते च विद्या सर्वाण्याश्रमकर्माणि नात्यन्तमनपेक्षैव। ननु विरुद्धमिद वचनमपेक्षते चाश्रमकर्माणि विद्या नापेक्षते चेति। नेति ब्रूमः। उत्पन्ना हि विद्या फलसिद्धिं प्रति न किंचिदन्यदपेक्षते उत्पत्तिं प्रति त्वपेक्षते। कुतः? यज्ञादिश्रुतेः। तथाहि श्रुतिः—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृ० ४।४।२२) इति यज्ञादीनां विद्यासाधन-भावं दर्शयति। विविदिषासंयोगाच्चैषामुत्पत्तिसाधनभावोऽवसीयते। 'अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्' (छा० ८।५।१) इत्यत्र च विद्यासाधनभू-तस्य ब्रह्मचर्यस्य यज्ञादिभिः संस्तवाद्यज्ञादीनामपि हि साधनभावः सूच्यते।

इस समय अब यह विचार किया जाता है कि क्या विद्या को आश्रम-कर्मों की अत्यन्त ही अनपेक्षा है, अथवा कुछ अपेक्षा है। यहाँ पूर्वपक्ष है कि जैसे कहा गया है कि इस ज्ञान की स्वतन्त्रता से ही अग्नीन्धनादि रूप आश्रमकर्म विद्या की स्वार्थ-सिद्धि में अपेक्षित नहीं होते हैं। इसी प्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप ज्ञान के साधन स्वतन्त्र हैं, उनसे ज्ञान की उत्पत्ति मे कर्म की अत्यन्त अनपेक्षा है, इस प्रकार अत्यन्त अनपेक्षा के प्राप्त होने पर यह कहा जाता है कि (सर्वापेक्षा चेति) विद्या अपनी उत्पत्ति में सब आश्रमकर्मों की अपेक्षा करती है, इससे उसको आश्रम कर्म की अत्यन्त अनपेक्षा ही नहीं है। यदि कहो कि विद्या आश्रम के कर्मों की अपेक्षा करती है, और अपेक्षा नहीं करती है, यह परस्पर विरुद्ध वचन है, तो कहा जाता है कि विरुद्ध नहीं है, जिससे उत्पन्न विद्या फलसिद्धि के प्रति अन्य किसी की कुछ अपेक्षा नहीं करती है। अपनी उत्पत्ति के प्रति तो कर्मों की अपेक्षा करती है। यदि कहो कि यह किस प्रमाण से सिद्ध होता है, तो कहा जाता है कि विद्यार्थक यज्ञादि की श्रुति से यह सिद्ध होता है। जिससे इस प्रकार की श्रुति है कि (उस औपनिषद पुरुष को ब्राह्मणादि अधिकारी लोग, वेदाध्ययन, यज्ञ, दान और अनाशक तप द्वारा जानने की इच्छा करते हैं) यह श्रुति यज्ञादि के विद्या-साधनत्व को दर्शाती है। विविदिषा (ज्ञानेच्छा) के साथ यज्ञादि का सम्बन्ध से इन यज्ञादिकों के ज्ञानसाधनत्व का निश्चय किया जाता है। (शिष्ट लोग परम पुरुषार्थ का साधनरूप जिस यज्ञ को कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है, यज्ञ का फल भी ब्रह्मचर्य से प्राप्त होता है) यहाँ विद्या का साधनरूप ब्रह्मचर्य की यज्ञादि के द्वारा स्तुति से यज्ञादि की ज्ञानसाधनता भी सूचित होती है।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥ (कठ० २।१५)

इत्येवमाद्या च श्रुतिराश्रमकर्मणां विद्यासाधनभावं सूचयति। स्मृतिरपि—

कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः।
कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते ॥

इत्येवमाद्या। अश्ववदिति योग्यतानिदर्शनम्। यथा च योग्यतावशेनाश्वो न लाङ्गलाकर्षणे युज्यते रथचर्यायां तु युज्यते, एवमाश्रमकर्माणि विद्यया फलसिद्धौ नापेक्ष्यन्ते उत्पत्तौ त्वपेक्ष्यन्ते इति ॥ २६ ॥

(सब वेद जिस पद (प्राप्य) वस्तु का प्रतिपादन करते हैं, सब कर्म तप जिसकी प्राप्ति के लिए कहे जाते हैं, जिसकी प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मचर्य करते हैं, उस पद को तेरे लिए संक्षेप से मैं कहता हूँ कि वह ओंकार है—ओंकार का वाच्य है) इत्यादि श्रुति आश्रम-कर्मों के विद्या की साधनता को सूचित करती है। (कर्म सब कषाय-राग-द्वेषादि दोषों की पक्ति निवृत्ति का साधन हैं, उनसे पापों की निवृत्ति द्वारा दोषों की निवृत्ति होती है और ज्ञान तो परमगति है मोक्ष का साधन है। यहाँ कर्मों से दोष-पापादि के निवृत्त-नष्ट होने पर तब ज्ञान प्रवृत्त सिद्ध होता है) इत्यादि स्मृतियाँ भी

कर्मों के ज्ञानसाधनता को सूचित करती है। सूत्र में 'अश्ववत्' यह पद योग्यता का निदर्शन (दृष्टान्त) रूप है। जैसे योग्यता के वश से अश्व हल के खींचने में नहीं नियुक्त किया जाता है किन्तु रथ द्वारा गमन में तो रथ गति में नियुक्त किया जाता है। इसी प्रकार आश्रम के कर्म विद्या के फल की सिद्धि में नहीं अपेक्षित होते हैं और विद्या की उत्पत्ति में तो अवश्य अपेक्षित होते हैं॥ २६॥

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथाऽपि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात्॥ २७॥

शमदमाद्युपेत —स्यात्—तथापि—तु तद्विधे—तदङ्गतया—तेषाम्—अवश्यानुष्ठेयत्वात्। इस सूत्र में नव पद हैं। सन्धितार्थ है कि (तथापि ज्ञानोत्पत्तौ कर्मापेक्षत्वेऽपि तु कर्मैव न पर्याप्त साधन तस्मान्मुमुक्षु शमादियुक्त साधनचतुष्टयोपेत स्यात्। यतस्तस्य ज्ञान स्याङ्गतया तथा शमादीनां विधे सत्त्वात् तेषां शमादीनामवश्यानुष्ठेयत्वात् तदुपेतत्वम् अपेक्षत) ज्ञान की उत्पत्ति में कर्म की अपेक्षा होने पर भी कर्ममात्र ही ज्ञान का पूर्ण साधन नहीं है इससे मुमुक्षु को शमादि से युक्त होना चाहिए अर्थात् चतुष्टय-साधन सहित होना चाहिए, जिससे उस ज्ञान के अंगरूप में उन शमादियों की विधि की सत्ता है और उन शमादियों को अवश्य अनुष्ठेयत्व है इससे ज्ञान के लिए शमादि से युक्तत्व अपेक्षित है। विशद अर्थ अथ भाष्य में होगा।

यदि कश्चिन्मन्येत यज्ञादीनां विद्यासाधनभावो न न्याय्यो विध्यभावात्, 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्येवंजातीयका हि श्रुतिरनुवादस्वरूपा विद्याभिष्टवपरा न यज्ञादिविधिपरा। इत्थं महाभागा विद्या यद्यज्ञादिभिरेनामवाप्तुमिच्छन्तीति। तथापि तु शमदमाद्युपेत स्याद्विद्यार्थी 'तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति' (बृ० ४।४।२३) इति विद्यासाधनत्वेन शमदमादीनां विधानाद्विहितानां चावश्यानुष्ठेयत्वात्।

यदि कोई मान (समझ) कि यज्ञादि को विद्या का साधनभाव (साधनत्व) विधि के अभाव से न्याय्य (उचित) नहीं है। (यज्ञ से जानने की इच्छा करते हैं) इस प्रकार की अनुवादस्वरूप श्रुति विद्या की स्तुतिपरक है ज्ञान के साधनरूप से यज्ञादि का विधिपरक नहीं है। इस प्रकार की महाभाग वाली विद्या है कि जिससे यज्ञादि के द्वारा इसको प्राप्त करने की इच्छा करते हैं इस प्रकार से विद्या की स्तुति होती है। तथापि इस प्रकार में इस मत के होने पर भी तो ब्रह्मविद्या के अर्थी (इच्छुक) को शमदमादि से युक्त होना चाहिए, शम दम आदि के बिना श्रुति के श्रवणमात्र से विद्या नहीं होती है ... उचित रीति से श्रवणादि हो ही सकते हैं। श्रुति है कि (जिसमें कर्म सम्बन्ध ... ब्रह्म की महिमा है उससे इस प्रकार ज्ञान को समझने वाला ज्ञान के लिए शान्त ... युक्त दान्त ... युक्त उपरत उपरतियुक्त वितृष्ण तितिक्षु द्वन्द्वसहिष्णु और समाहित एकाग्र होकर कार्यकरण के संघात रूप आत्मा में प्रत्यक्

चिदात्मा स्वरूप आत्मा का अपरोक्ष करता है) इस प्रकार विद्या के साधनरूप से शमदम आदि के विधान से, और विहितों के अवश्य अनुष्ठान के योग्य होने से शमदम आदि से युक्त होना चाहिए।

नन्वत्रापि शमाद्युपेतो भूत्वा पश्यतीति वर्तमानापदेश उपलभ्यते न विधिः। नेति ब्रूमः। तस्मादिति प्रकृतप्रशंसापरिग्रहाद्विधित्वप्रतीतेः। पश्येदिति च माध्यन्दिना विस्पष्टमेव विधिमधीयते। तस्माद्यज्ञाद्यनपेक्षायामपि शमादीन्यपेक्षितव्यानि। यज्ञादीन्यपि त्वपेक्षितव्यानि यज्ञादिश्रुतेरेव। ननूक्तं यज्ञादिभिर्विविदिषन्तीत्यत्र न विधिरुपलभ्यते इति। सत्यमुक्तं तथापि त्वपूर्वत्वात्संयोगस्य विधिः परिकल्प्यते। नह्ययं यज्ञादीनां विविदिषासंयोगः पूर्वं प्राप्तो येनानूद्येत। 'तस्मात्पूषा प्रपिष्टभागोऽदन्तको हि' इत्येवमादिषु चाश्रुतविधिकेष्वपि वाक्येष्वपूर्वत्वाद्विधिं परिकल्प्य पौष्णे पेषणं विकृतौ प्रतीयेतेत्यादिविचारः प्रथमे तन्त्रे प्रवर्तितः। तथा चोक्तम् 'विधिर्वा धारणवत्' (जै० सू० ३।४।४) इति। स्मृतिष्वपि भगवद्गीताद्यास्वनभिसंधाय फलमनुष्ठितानि यज्ञादीनि मुमुक्षोर्ज्ञानसाधनानि भवन्तीति प्रपञ्चितम्। तस्माद्यज्ञादीनि शमदमादीनि च यथाश्रमं सर्वाण्येवाश्रमकर्माणि विद्योत्पत्तावपेक्षितव्यानि। तत्राप्येवंविदिति विद्यासंयोगात्प्रत्यासन्नानि विद्यासाधनानि शमादीनि, विविदिषासंयोगात्तु बाह्यानीतराणि यज्ञादीनीति विवेक्तव्यम् ॥ २७ ॥

शंका होती है कि इस श्रुति में भी तो (शमदम आदि से युक्त होकर देखता है) इस प्रकार वर्तमान क्रिया का कथन उपलब्ध होता है, कोई विधि नहीं उपलब्ध होती है। उत्तर कहते है कि विधि का अभाव नही है, श्रुतिगत (तस्मात्) इस पद से प्रकृत प्रशंसा का परिग्रह होने से विधित्व की प्रतीति होती है कि जिससे ऐसा जानने वाला कर्मों से लिप्त नहीं होता है इससे शमादियुक्त होकर विचारादि करना चाहिए। माध्यन्दिन तो 'पश्यति' के स्थान में 'पश्येत्' इस प्रकार विस्पष्ट ही विधि का अध्ययन करते है। इससे यज्ञादि की ज्ञान के लिए अपेक्षा नहीं होने पर भी शमदम आदि तो अवश्य अपेक्षणीय (अनुष्ठेय) है। वस्तुतः यज्ञादि की श्रुति से ही यज्ञादि भी अपेक्षणीय है। यदि कहा जाय कि यज्ञादि के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं, इस वाक्य में विधि नहीं उपलब्ध होती है, यह कहा जा चुका है, तो कहा जाता है कि विधि की अनुपलब्धि सत्य कही गई है, तथापि यज्ञादि को विद्या की इच्छा के साधनत्व रूप सम्बन्ध की अपूर्वता से विधि परिकल्पित होती है। इससे यज्ञादि का इस विविदिषा (ज्ञानेच्छा) के साथ सम्बन्ध प्रथम किसी प्रमाण से प्राप्त नहीं है कि जिससे उस प्राप्त का अनुवाद हो सके। (जिससे पूषादेव दांत रहित है इससे अच्छी तरह से पिष्ट पीसे हुए का भोक्ता है) इत्यादि विधि के श्रवण से रहित वाक्यों में भी अपूर्वता से विधि की परिकल्पना करके (दर्शपूर्णमास की विकृति याग मे पूषादेव सम्बन्धी पेषण को समझना चाहिए) इत्यादि विचार प्रथम तन्त्र में प्रवर्तित हुआ है

(किया गया है) और इसी प्रकार कहा जा चुका है कि (अथवा धारण के समान विधि है) और भगवद्गीता आदि स्मृतियों में भी फल के अनुसंधान चिन्तन इच्छा के बिना अनुष्ठित यज्ञादि मुमुक्षु के ज्ञान के साधन होते हैं यह विस्तारपूर्वक कहा गया है। इससे आश्रमों के अनुसार यज्ञादि और शमदम आदि सभी आश्रमों के कर्म विद्या की उत्पत्ति में अपेक्षणीय (साधन) हैं। उनमें भी (एवंविच्छान्तो दान्त) यहाँ विद्या के साथ शमादि का साक्षात् सम्बन्ध होने से प्रत्यासन्न (अन्तरंग समीपवर्ती) विद्या के साधनरूप शमदम आदि हैं। विविदिषा के साथ यज्ञादि का सम्बन्ध होने से शमादि से भिन्न यज्ञादि बहिरंग (अदृष्ट द्वारा दूरवृत्ति) साधन हैं। इस प्रकार विवेकपूर्वक समझना चाहिए ॥ २७ ॥

सर्वान्नानुमत्यधिकरणम् ॥ ७ ॥

सर्वाशनविधिः प्राणविदोऽनुज्ञाथवापदि। अपूर्वत्वेन सर्वान्नभुक्तिः स्यात्तु विधीयते ॥ १ ॥
श्वादन्नभोजनाशक्तः शास्त्राच्चाभोज्यवारणम्। आपदि प्राणरक्षार्थमेवानुज्ञायतेऽखिलम् ॥ २ ॥

प्राण संवाद में प्राण का सब अन्न है इस प्रकार के ध्यान वाले के लिए जो कहा गया है कि उसके लिए कुछ भी (अनन्न) अभक्ष्य नहीं है इत्यादि यह विधि नहीं है, किन्तु भक्ष्यान्न के बिना प्राण के नाश काल में प्राण रक्षा के लिए सर्वान्नविषयक अनुमति रूप यह वचन है जो अन्यत्र चाक्रायण की कथा देखने से सिद्ध होता है। संशय है कि (न किञ्चनानन्नं भवति) इत्यादि प्राणवेत्ता के लिए सर्वान्न (सर्वभक्षण) की विधि है। अथवा आपत्ति में अनुमति है। पूर्वपक्ष है कि प्राणध्यानी के लिए अपूर्वता से सर्वान्नभक्षण विहित होता है। सिद्धान्त है कि श्वादि अन्न भोजन की अशक्ति से और शास्त्र से अभोज्य अभक्ष्य का वारण निषेध है परन्तु आपत्तिकाल में प्राण की रक्षा के लिए ही सर्वान्न अनुज्ञात (अनुमत) होता है ॥ १–२ ॥

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥ २८ ॥

प्राणसंवादे श्रूयते छन्दोगानाम्—'न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवति' (छा० ५।२।१) इति, तथा वाजसनेयिनाम्—'न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं प्रतिगृहीतम्' (बृ० ६।१।१४) इति, सर्वमेवास्यादनीयमेव भवतीत्यर्थः। किमिदं सर्वान्नानुज्ञानं शमादिवद्विद्याङ्गं विधीयत उत स्तुत्यर्थं सङ्कीर्त्यत इति संशये विधिरिति तावत्प्राप्तम्। तथाहि—प्रवृत्तिविशेषकर उपदेशो भवत्यतः प्राणविद्यासंनिधानात्तदङ्गत्वेन नियमनिवृत्तिरुपदिश्यते। नन्वेवं सति भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रव्याघातः स्यात्। नैष दोषः। सामान्यविशेषभावाद्बाधोपपत्तेः। यथा प्राणिहिंसाप्रतिषेधस्य पशुसंज्ञपनविधिना बाधः। यथा च 'न काचन स्त्रियं परिहरेत्तद् व्रतम्' (छा० २।१३।२) इत्यनेन वामदेव्यविद्याविषयेण सर्वस्त्र्यपरिहारवचनेन तत्सामान्यविषयं गम्यागम्यविभागशास्त्र

बाध्यते। एवमनेनापि प्राणविद्याविषयेण सर्वान्नभक्षणवचनेन भक्ष्याभक्ष्य-विभागशास्त्रं बाध्येतेति।

छन्दोगों के प्राण संवाद में सुना जाता है कि (प्राण के सब अन्न है, ऐसा ध्यान वाले में कुछ भी अनन्न-अखाद्य नहीं होता है) इसी प्रकार वाजसनेयियों के प्राण संवाद में सुना जाता है कि (इस प्राणवेत्ता को अनन्न भक्षित नहीं होता है, अभक्ष्य-भक्षण का दोष नहीं लगता है, और अनन्न प्रतिगृहीत नहीं होता है) इस प्राणवेत्ता का सभी खाद्य अखाद्य खाद्य ही होता है यह अर्थ है। क्या यह सब अन्न का अनुज्ञान (अनुमति-वचन) शमादि के समान प्राण विद्या का अङ्ग विधानरूप है। अथवा स्तुति के लिए संकीर्तन मात्र है, इस प्रकार संशय होने पर विधि है, ऐसा प्रथम प्राप्त होता है, जिससे इस प्रकार वाला प्रवृत्ति विशेष को सिद्ध करने वाला उपदेश होता है। इससे प्राण विद्या की समीपता से प्राणविद्या के अङ्गरूप से भक्ष्याभक्ष के नियमों की निवृत्ति का यह उपदेश दिया जाता है। यदि कहा जाय कि ऐसा होने पर भक्ष्य-अभक्ष्य के विभागरूप शास्त्रों का व्याघात (बाध) होगा तो कहा जाता है कि सामान्य विशेष भाव से विशेष स्थान में बाध की उत्पत्ति से यह दोष नहीं है। जैसे कि प्राणियों की हिंसा के निषेध का याज्ञिक पशु हिंसाविधि से बाध होता है। जिस प्रकार (किसी स्त्री का परित्याग नहीं करे, यह उसका व्रत है) इस वामदेव-विद्याविषयक सब स्त्री के अपरित्याग वचन से उसके सामान्यविषयक स्त्री सामान्यविषयक गम्यागम्य-विभाग शास्त्र बाधित होता है। इसी प्रकार प्राणविद्याविषयक इस सर्वान्न-भक्षण वचन से भी भक्ष्य-अभक्ष्य का विभागरूप शास्त्र बाधित होगा।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—नेदं सर्वान्नानुज्ञानं विधीयत इति। नह्यत्र विधायकः शब्द उपलभ्यते 'न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवति' (छा० ५।२।१) इति वर्तमानापदेशात्। न चासत्यामपि विधिप्रतीतौ प्रवृत्तिविशेषकरत्वलोभेनैव विधिरभ्युपगन्तुं शक्यते। अपिच श्वादिमर्यादं प्राणस्यान्नमित्युक्त्वेदमुच्यते 'नैवंविदः किंचिदनन्नं भवति' इति। नच श्वादिमर्यादमन्नं मानुषेण देहेनोपभोक्तुं शक्यते। शक्यते तु प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति विचिन्तयितुम्, तस्मात्प्राणान्नविज्ञानप्रशंसार्थोऽयमर्थवादो न सर्वान्नानुज्ञानविधिः। तद्दर्शयति 'सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये' इति। एतदुक्तं भवति—प्राणात्यय एव हि परस्यामापदि सर्वमन्नमदनीयत्वेनाभ्यनुज्ञायते तद्दर्शनात्। तथाहि श्रुतिश्चाक्रायणस्यर्षेः कष्टायामवस्थायामभक्ष्यभक्षणे प्रवृत्तिं दर्शयति—'मटचीहतेषु कुरुषु' (छा० १।१०।१) इत्यस्मिन्ब्राह्मणे। चाक्रायणः किलर्षिरापद्गत इभ्येन सामिखादितान्कुल्माषांश्चखाद, अनुपानं तु तदीयमुच्छिष्टदोषात्प्रत्याचचक्षे। कारणं चात्रोवाच 'न वा अजीविष्यमिमानखादन्' (छा० १।१०।४) इति, 'कामो म उदपानम्' (छा० १।१०।४) इति च। पुनश्चोत्तरेद्युस्तानेव स्वपरोच्छिष्टान्पर्युषितान्कुल्माषान्

भ मयानभूत्नि। तस्तदुच्छिष्टोच्छिष्टपर्युषितभक्षणं दर्शयन्त्या श्रुतेराशयातिशयो लक्ष्यते प्राणात्ययप्रसङ्गे प्राणसन्धारणायाभक्ष्यमपि भक्षयितव्यमिति। स्वस्था वस्थायां तु तन्न कर्तव्यं विद्यावतापीत्यनुपानप्रत्याख्यानाद्गम्यते। तस्मादर्थ वादो 'न ह वा एवंविदि' (छा० ५। १।) इत्येवमादि ॥ २८ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते है कि यह सर्वान्न का अनुपान विहित नहीं होता है जिससे यहाँ विधायक शब्द नही उपलब्ध होता है (इस प्राणोपासक म कुछ अनन्न नहीं होता है) इस वर्तमान काल का अपदेश (कथन) से विधि का अभाव है। विधिज्ञान क नहीं रहते भी प्रवृत्ति विशेषकरत्व क लोभ स ही यहाँ विधि नहीं मानी जा सकती है। दूसरी बात है कि कुत्ता आदि पर्यन्त प्राण का अन्न है, ऐसा कहकर यह कहा जाता है कि (ऐसा जानने वाले म कुछ अनन्न नहीं होता है) वहाँ कुत्ता आदि पर्यन्त अन्न का मनुष्य देह के द्वारा उपयोग नहीं किया जा सकता है परन्तु प्राण का यह सब अन्न है इस प्रकार चिन्तन किया जा सकता है। इस प्राणान्न विज्ञान की प्रशंसा के लिए यह अर्थवाद है सब अन्नों क अनुज्ञान भक्षण की विधि नहीं है। यह सूत्रकार दर्शाते है कि (प्राण क विज्ञान काल म सर्वान्न की अनुमति मात्र है) इसम यह उक्त होता है कि—प्राण क अत्यय (नाश) म ही परम आपत्ति म ही सब अन्न भक्ष्यरूप स अनुज्ञान-सम्मत होता है यह श्रुति के दर्शन स सिद्ध होता है। (अशनि टीडीरूप मटची स कुरुदेश की खेती क नष्ट होन स महादुर्भिक्ष काल म चाक्रायण ऋषि स्त्री सहित इभ्य हस्तिपाल क ग्राम म भ्रमण करते हुए गए) इत्यादि कथारूप इस ब्राह्मण ग्रन्थ म, इस प्रकार की श्रुति है जो कि कष्ट अवस्था म चाक्रायण ऋषि की अभक्ष्य भक्षण म प्रवृत्ति को दर्शाती है कि आपत्ति म प्राप्त चाक्रायण ऋषि भी हस्तिपक स आधे खाये गये उरद खाए और उसके अनुपान भोजन बाद पीने के लिए पानी का उच्छिष्ट दोष स प्रत्याख्यान (अग्रहण) किया। इसम कारण कहा कि (इन उरदों को नहीं खाता हुआ मैं जीवित नहीं रह सकूँगा। पानी के लिए जल तो मुझे यथेष्ट मिलेगा) फिर दूसरे दिन अपने और दूसरे के उच्छिष्ट (जूठा) बासी उरदों को खाया। वह यहाँ पर उच्छिष्ट एवं उच्छिष्ट बासी का भक्षण का दर्शाता हुई श्रुति का आशयातिशय (तात्पर्यातिशय) लक्षित (ज्ञात) होता है कि प्राणनाश क प्रसङ्ग होने पर अभक्ष्य का भी भक्षण प्राणधारण के लिए करना चाहिए। स्वस्थ अवस्था म तो विद्वान् स भी वह अभक्ष्य भक्षण नहीं करने योग्य है वह अनुपान के प्रत्याख्यान (निषेध) से समझा जाता है। जिससे (वह वा एवंविदि) इत्यादि श्रुति अर्थवाद (स्तुति) है। विधि नहीं है ॥ २८ ॥

अबाधाच्च ॥ २९ ॥

एवञ्च सत्याहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिरित्येवमादि भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रमबाधितं भविष्यति ॥ २९ ॥

इस प्रकार प्राणात्यय में अनुमति और स्वस्थावस्था में अभक्ष्य का त्याग होने पर, आहार की शुद्धि से सत्त्व (अन्तःकरण) की शुद्धि होती है, इत्यादि भक्ष्य और अभक्ष्य के विभाग का विधायक शास्त्र अबाधित होगा। इससे प्राणात्यय में ही अनुमति है ॥ २९ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ ३० ॥

अपि चापदि सर्वान्नभक्षणमपि स्मर्यते विदुषोऽविदुषश्चाविशेषेण—

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ इति।

तथा 'मद्यं नित्यं ब्राह्मणः', 'सुरापस्य ब्राह्मणस्योष्णामासिंचेयुरास्ये', 'सुरापाः कृमयो भवन्त्यभक्ष्यभक्षणात्' इति च स्मर्यते वर्जनमन्नस्य ॥ ३० ॥

आपत्ति में विद्वान् तथा अविद्वान् सब के अभक्ष्य-भक्षण का और स्वस्थावस्था में निषेध का भी स्मरण अविशेष (सामान्य) रूप से किया जाता है कि (जीवन की नाशदशा को प्राप्त जो मनुष्य जहाँ-तहाँ से अन्न लेकर खाता है, वह पाप से इस प्रकार नहीं लिप्त होता है कि जैसे पद्मपत्र जल से नहीं लिप्त होता है) इसी प्रकार (मद्यं नित्यं ब्राह्मणो वर्जयेत्) ब्राह्मण सदा मद्य का त्याग करे। (सुरा पीने वाले ब्राह्मण के मुख में अत्यन्त उष्ण सुरा डाले।) अभक्ष्य के भक्षण से सुरा पीने वाले कृमि होते हैं) इस प्रकार निषिद्ध अभक्ष्य अन्न का वर्जन (त्याग) स्मृति में कहा जाता है, ब्राह्मण के लिए सर्वथा मद्य निषिद्ध है ॥ ३० ॥

शब्दश्चातोऽकामकारे ॥ ३१ ॥

शब्दश्चानन्नस्य प्रतिषेधकः कामकारनिवृत्तिप्रयोजनः काठकानां संहितायां श्रूयते—'तस्माद् ब्राह्मणः सुरां न पिबेत्' इति। सोऽपि 'न ह वा एवंविदि' (छा० ५।२।१) इत्यस्यार्थवादत्वादुपपन्नतरो भवति। तस्मादेवंजातीयका अर्थवादा न विधय इति ॥ ३१ ॥

कामकार (यथेष्ट प्रवृत्ति) का निवृत्तिरूप प्रयोजन वाला (अकामकारविषयक) अनन्न का प्रतिषेध करने वाला शब्द काठकों की संहिता में सुना जाता है कि (उस मरणान्त प्रायश्चित्त के देखने से ब्राह्मण सुरा नहीं पिए) इत्यादि (न ह वा एवंविदि) इसके अर्थवादत्व से वह निषेध भी उपपन्नतर होता है (अतियुक्त होता है) यदि (न ह वै) इत्यादि विधि होगा तो विहित का प्रतिषेधरूप सुरानिषेध के होने से विकल्प की प्राप्ति होगी इत्यादि। इससे इस प्रकार की श्रुतियाँ अर्थवाद हैं विधि नहीं है ॥ ३१ ॥

आश्रमकर्माधिकरणम् ॥ ८ ॥

विद्यार्थमाश्रमार्थं च द्विःप्रयोगोऽथवा सकृत्। प्रयोजनविभेदेन प्रयोगोऽपि विभिद्यते ॥ १ ॥
श्राद्धार्थभुक्त्या तृप्तिः स्याद्विद्यार्थमाश्रमस्तथा। अनित्यनित्यसंयोग उक्तिभ्यां खादिरे सतः ॥

विहित होने से आश्रम सम्बन्धी कर्म भी ज्ञान का साधन होता है। इससे आहार-शुद्धि के समान आश्रम-कर्म का भी मुमुक्षु अनुष्ठान करे। यहाँ संशय है कि विद्या के लिए और आश्रम के लिए प्रयोजन के भेद से यज्ञादि कर्म दो बार करना चाहिए अथवा एक बार करना चाहिए। पूर्वपक्ष है कि विविदिषा और आश्रमधर्मरूप प्रयोजन (फल) के भेद से यज्ञादि के प्रयोग (अनुष्ठान) का भी भेद होता है। इससे दो बार करना चाहिए। सिद्धान्त है कि जैसे श्राद्धार्थक भोजन से तृप्ति होती है, वैसे विद्या के लिए अनुष्ठित यज्ञादि से आश्रम धर्म भी सिद्ध होता है। इससे एक बार करना चाहिए। यद्यपि विद्यार्थक यज्ञादि का अनित्य प्रयोग है, आश्रम धर्मरूप से नित्य प्रयोग है, इससे नित्यत्व अनित्यत्वरूप विरोध प्रतीत होता है, तथापि खादिरयूप में जैसे नित्यानित्य का संयोग (सम्बन्ध अभेद) वचनों से होता है, वैसे यहाँ भी होगा। (खादिरो यूपो भवति) खैर का यूप होता है। इस कथन से खादिरत्व की नित्य क्रत्वर्थकता होती है। (खादिरं वीर्यकामस्य) इस वचन से अनित्य पुरुषार्थकता होती है ॥ १–२ ॥

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥ ३२ ॥

'सर्वापेक्षा च—' (ब्र० सू० ३।४।२६) इत्यत्राश्रमकर्मणां विद्यासाधनत्वमवधारितम्। इदानीं तु किममुमुक्षोरप्याश्रममात्रनिष्ठस्य विद्यामकामयमानस्य तान्यनुष्ठेयान्युताहो नेति चिन्त्यते। तत्र 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिनाऽऽश्रमकर्मणां विद्यासाधनत्वेन विहितत्वाद्विद्यामनिच्छतः फलान्तरं कामयमानस्य नित्यान्यननुष्ठेयानि। अथ तस्याप्यनुष्ठेयानि न तर्हि तेषां विद्यासाधनत्वं नित्यानित्यसंयोगविरोधादिति।

(सर्वापेक्षा च) इस सूत्र में आश्रम कर्मों के विद्या-साधनत्व का अवधारण (निश्चय) किया गया है। अब इस समय यह चिन्ता विचार किया जाता है कि मोक्ष की इच्छा से रहित अतएव विद्या की इच्छा से रहित आश्रम मात्र में निष्ठा वाले से क्या वे आश्रम कर्म अनुष्ठेय (कर्तव्य) हैं, अथवा नहीं हैं। इस विचार में पूर्वपक्ष होता है कि (उस उपनिषद्गम्य इस आत्मा को ब्राह्मणादि अधिकारी लोग नित्य वेदाऽध्ययनादि द्वारा जानने की इच्छा करते हैं) इत्यादि श्रुति से आश्रम-कर्मों के विद्या के साधनरूप से विहित होने से विद्या के अनिच्छुक फलान्तर के इच्छुक से नित्य यज्ञादि कर्म अनुष्ठेय नहीं हैं, उनका कर्तव्य नहीं हैं। यदि नित्य यज्ञादि मोक्षानिच्छुक के कर्तव्य होंगे, तो इन यज्ञादिकों को विद्या के साधनत्व का अभाव होगा, इन में विद्या-साधनत्व नहीं रहेगा, जिससे नित्य और अनित्य के संयोग को विरोध है, अर्थात् ज्ञान की कामना से यज्ञादि अनुष्ठान विहित होने से यज्ञादि को अनित्यत्व है क्योंकि ज्ञान की इच्छा से रहित के लिए अनावश्यक है। नित्यकर्म जीवनपर्यन्त कर्तव्य होता है। इसमें नित्यत्व अनित्यत्व विरुद्ध धर्म हैं, इनका एक में सन्निवेश नहीं हो सकता है इत्यादि ॥

अस्यां प्राप्तौ पठति—आश्रममात्रनिष्ठस्याप्यमुमुक्षोः कर्तव्यान्येव नित्यानि कर्माणि 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यादिना विहितत्वात्। नहि वचनस्याऽतिभारो नाम कश्चिदस्ति ॥ ३२ ॥

इस प्राप्ति के होने पर पढ़ते हैं कि (जीवनपर्यन्त अग्निहोत्र करे) इत्यादि वचन द्वारा साधारण रूप से नित्य कर्मों के विहितत्व होने से आश्रममात्र में निष्ठा वाला मोक्षेच्छारहित को भी नित्यकर्म कर्तव्य ही हैं, सिद्ध वस्तु विरुद्ध धर्म का आश्रय नहीं हो सकता है, वचनाधीन साध्य कर्म वचन के अनुसार नित्य-अनित्य उभयस्वरूप हो सकता है, इसमें उभयस्वरूपबोधक वचन को कुछ अतिभार (असाध्य) नहीं है ॥ ३२ ॥

अथ यदुक्तं नैवं सति विद्यासाधनत्वमेषां स्यादित्यत उत्तरं पठति—

जो यह कहा है कि (इस प्रकार होने पर) अमुमुक्षु के कर्तव्य होने पर इन यज्ञादिकों को विद्या के साधनत्व का अभाव होगा, अतः उसका उत्तर पढ़ते हैं कि—

सहकारित्वेन च ॥ ३३ ॥

विद्यासहकारीणि चैतानि स्युर्विहितत्वादेव 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिना। तदुक्तम्—'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र० सू० ३।४।२६) इति। नचेदं विद्यासहकारित्ववचनमाश्रमकर्मणां प्रयाजादिवद्विद्याफलविषयं मन्तव्यम्, अविधिलक्षणत्वाद्विद्यायाः, असाध्यत्वाच्च विद्याफलस्य। विधिलक्षणं हि साधनं दर्शपूर्णमासादि स्वर्गफलसिषाधयिषया सहकारिसाधनान्तरमपेक्षते नैवं विद्या। तथा चोक्तम् 'अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा' (ब्र० सू० ३।४।२५) इति। तस्मादुत्पत्तिसाधनत्व एवैषां सहकारित्ववाचोयुक्तिः। नचात्र नित्यानित्यसंयोगविरोध आशङ्क्यः, कर्माभेदेऽपि संयोगभेदात्। नित्यो ह्येकः संयोगो यावज्जीवादिवाक्यकल्पितो न तस्य विद्याफलत्वम्। अनित्यस्त्वपरः संयोगः 'तमेतं वेदानुवचनेन' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिवाक्यकल्पितस्तस्य विद्याफलत्वम् यथैकस्यापि खादिरत्वस्य नित्येन संयोगेन क्रत्वर्थत्वमनित्येन संयोगेन पुरुषार्थत्वं च तद्वत ॥ ३३ ॥

ये यज्ञादि कर्म विद्या के सहकारी होंगे, अतः विहित होने से ही सहकारी रूप से भी यज्ञादि अनुष्ठानार्ह हैं। वह (उस औपनिषद आत्मा को ब्राह्मणादि वेदाऽध्ययन से जानने की इच्छा करते हैं) इत्यादि वचन से सिद्ध होता है। यह प्रथम कहा गया है कि (सर्वापेक्षा च) इत्यादि। परन्तु इन कर्मों के सहकारित्व वचन को प्रयाजादि के समान विद्या का फलविषयक नहीं मानने योग्य है। जिससे विद्या के अविधिस्वरूप होने से, अर्थात् विधि से अजन्य और प्रमाण से जन्य होने से विद्या को फलजनन में सहकारी की अपेक्षा नहीं है। विद्या का फल मोक्ष के भी असाध्य होने से वह सहकारी कर्मजन्य नहीं हो सकता है। जिससे विधिस्वरूप दर्श-पूर्णमासादि रूप साधन स्वर्गरूप

फल की सिद्धि की इच्छा में सहकारी साधनान्तर की अपेक्षा करते हैं। प्रमाणजन्य विद्या इस प्रकार अपने फल के लिए सहकारी की अपेक्षा नहीं करती है। अज्ञानमात्र की निवृत्ति करती है कि जिसमें नित्यमुक्तस्वरूप स्वयं ही अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार कहा है कि (अत एव च) इत्यादि। इसमें ज्ञान की उत्पत्ति साधकत्व विषयक ही कर्मों के सहकारित्व वचन की युक्ति (योग्यता सम्बन्ध) है। कर्म के अभेद रहते भी नित्यत्व अनित्यत्व के संयोग (विधि) भेद से यहाँ नित्य और अनित्य के संयोग में विरोध आशंका के योग्य नहीं है। जिससे यावत् जीवनपर्यन्त, अग्निहोत्रविधि आदि वाक्य से कल्पित एक नित्यसंयोग है, उसको विद्यारूप फलवत्ता नहीं है। (तमेत वेदानुवचनेन) इत्यादि वाक्य से कल्पित (सिद्ध) दूसरा अनित्य संयोग है उस दूसरे संयोग की विद्याफलत्व है। जैसे कि एक ही खादिरत्व को (खादिरो यूपो भवति) इस श्रुति से सिद्ध नित्यसंयोग द्वारा क्रत्वर्थत्व होता है। (खादिरं वीर्यकामस्य) इस श्रुति में अनित्य संयोग द्वारा पुरुषार्थत्व होता है। इसी के समान दो वाक्य के होने से यहाँ भी विरोध नहीं है॥ ३३॥

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात्॥ ३४॥

सर्वथाप्याश्रमकर्मत्वपक्षे विद्यासहकारित्वपक्षे च त एवाग्निहोत्रादयो धर्मा अनुष्ठेयाः। त एवेत्यवधारयन्नाचार्यः किं निवर्तयति? कर्मभेदशङ्कामिति ब्रूमः। यथा कुण्डपायिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुहोति' इत्यत्र नित्यादग्निहोत्रात्कर्मान्तरमुपदिश्यते नैवमिह कर्मभेदोऽस्तीत्यर्थः। कुतः? उभयलिङ्गात्—श्रुतिलिङ्गात् स्मृतिलिङ्गाच्च। श्रुतिलिङ्गं तावत् 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (बृ० ४।४।२२) इति सिद्धवदुत्पन्नरूपाण्येव यज्ञादीनि विविदिषायां विनियुङ्क्ते न तु जुहोतीत्यादिवदपूर्वमेषां रूपमुत्पादयतीति। स्मृतिलिङ्गमपि 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः' (६।१) इति विज्ञातकर्तव्यताकमेव कर्म विद्योत्पत्त्यर्थं दर्शयति। यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत्संस्कारा इत्याद्या च संस्कारत्वप्रसिद्धिर्वैदिकेषु कर्मसु तत्संस्कृतस्य विद्योत्पत्तिमभिप्रेत्य स्मृतौ भवति। तस्मात्साध्विदमभेदावधारणम्॥ ३४॥

सर्वथा हि आश्रमकर्म पक्ष में (नित्यत्व में) और विद्यासहकारित्व पक्ष में (अनित्यत्व में) वे ही अग्निहोत्रादि धर्म अनुष्ठेय हैं भिन्न नहीं। वे ही इस प्रकार अवधारण करते हुए आचार्य किसकी निवृत्ति करते हैं ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं कि कर्म के भेद शंका की निवृत्ति करते हैं। जैसे कि कुण्ड में सोम पीने वालों के अयन (यागविशेष) में (मासमग्निहोत्रं जुहोति) इस वाक्य में नित्य अग्निहोत्र से कर्मान्तररूप एक मास पर्यन्त कर्तव्य अग्निहोत्र का उपदेश दिया जाता है क्योंकि (जुहोति) यह साध्य हवनवाचक शब्द है, और नित्याग्निहोत्र विधायक वचन दूर व्यवहित है। उसका इस मासाग्निहोत्र वचन से परामर्श नहीं हो सकता है। इससे मास गुण विशिष्ट

कर्मान्तर इस वचन से विहित होता है। उसके समान यहाँ कर्मभेद नहीं है, यह अर्थ है, यहाँ यज्ञादि पद सिद्ध कर्म का वाचक होता हुआ आख्यात (क्रिया) के साथ एकवाक्यतापूर्वक व्यवहित यज्ञादि के विद्या-साधनत्व का बोधक होता है। यह किस प्रमाण से समझा जाता है, तो कहा जाता है कि उभयलिङ्ग से अर्थात् श्रुतिलिङ्ग से और स्मृतिलिङ्ग से समझा जाता है। प्रथम श्रुतिलिङ्ग है कि (उस इस आत्मा को ब्राह्मणादि वेदाऽध्ययन से जानना चाहते हैं) यह वचन सिद्धवस्तु के समान वचनान्तर से उत्पन्न (सिद्ध) रूप वाले ही यज्ञादि का विविदिषा में विनियोग (सम्बन्ध) करता है। जुह्वति, इत्यादि के समान अपूर्व (असिद्ध) इन यज्ञादि के स्वरूप को नहीं उत्पन्न करता है। स्मृतिलिङ्ग भी है कि (कर्मफल के अनाश्रित-कर्मफल की इच्छारहित होता हुआ जो अवश्य कर्तव्य कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी है) यह स्मृति विज्ञात-कर्तव्यता वाले कर्म को विद्या की उत्पत्ति के लिये दर्शाती है। (जिसके ये अड़तालिस संस्कार है) इत्यादि वैदिक सिद्ध कर्मों में संस्कारत्व की प्रसिद्धि उन कर्मों से संस्कृत (शुद्ध) की विद्या की उत्पत्ति को मागकर स्मृति में है। इससे यह अभेद का अवधारण साधु सम्यक् सुन्दर है ॥ ३४ ॥

अनभिभवं च दर्शयति ॥ ३५ ॥

सहकारित्वस्यैवैतदुपोद्बलकं लिङ्गदर्शनमनभिभवं च दर्शयति श्रुतिर्ब्रह्मचर्यादिसाधनसम्पन्नस्य रागादिभिः क्लेशैः 'एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते' (छा० ८।५।३) इत्यादिना। तस्माद्यज्ञादीन्याश्रमकर्माणि च भवन्ति विद्यासहकारीणि चेति निश्चितम् ॥ ३५ ॥

सहकारित्व का ही साधक इस लिङ्गदर्शनरूप अनभिभव (आदर) को भी श्रुति दर्शाती है कि ब्रह्मचर्यादि-साधन-सम्पन्न का रागादि क्लेशों से (यह आत्मा नहीं नष्ट लुप्त-परोक्ष होता है कि जिस आत्मा को ब्रह्मचर्य द्वारा प्राप्त अनुभूत अपरोक्ष करता है) इत्यादि वचन से अनभिभव दर्शाती है। अतः यज्ञादि आश्रम-कर्म भी होते हैं, और विद्या के सहकारी (हेतु) भी होते हैं। यह निश्चित सिद्धान्त है ॥ ३५ ॥

विधुराधिकरणम् ॥ ९ ॥

नास्त्यनाश्रमिणो ज्ञानमस्ति वा नैव विद्यते। धीशुद्ध्यर्थाश्रमित्वस्य ज्ञानहेतोरभावतः ॥
अस्त्येव सर्वसम्बन्धिजपादेश्चित्तशुद्धितः। श्रुता हि विद्या रैक्वादेराश्रमे त्वतिशुद्धता ॥

अन्तरा भी (आश्रम-धर्म के विना भी) तथा आश्रम का स्वीकारादि के विना वर्तमान को भी) ज्ञान होता है। वह रैक्वादि के ज्ञानविषयक श्रुति के देखने से सिद्ध होता है। अनाश्रमी को ज्ञान होता है अथवा नहीं यह संशय है। पूर्वपक्ष है कि ज्ञान का हेतुरूप, बुद्धि की शुद्धि के लिए आश्रमित्व के अभाव से अनाश्रमियों को ज्ञान नहीं होता है, सिद्धान्त है कि आश्रमी अनाश्रमी सब सम्बन्धी जप, भक्ति, अहिंसा,

सत्य, ब्रह्मचर्यादि से चित्त की शुद्धि से अनाश्रमी को भी ज्ञान होता है। जिससे रैक्वादि की विद्या सुनी गई है। परन्तु आश्रम में अति शुद्धता होती है, यह विशेष है॥

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ३६ ॥

विधुरादीनां द्रव्यादिसम्पद्रहितानां चान्यतमाश्रमप्रतिपत्तिहीनानामन्तरालवर्तिनां किं विद्यायामधिकारोऽस्ति किं वा नास्तीति संशये नास्तीति तावत्प्राप्तम्। आश्रमकर्मणां विद्याहेतुत्वावधारणादाश्रमकर्मासम्भवाच्चैतेषामिति।

विधुरादि और यज्ञादि के कारण द्रव्यादि सम्पत्तिरहित चारों आश्रमों में से किसी भी आश्रम का स्वीकार प्राप्ति से रहित, अन्तरालवर्ती जो है, उनका विद्या में अधिकार क्या है। अथवा नहीं है। ऐसा संशय होने पर, नहीं अधिकार है ऐसा प्रथम प्राप्त होता है, क्योंकि आश्रम-कर्मों को विद्या के हेतुत्व का अवधारण हुआ है और उन विधुरादिकों को आश्रम-कर्म का असम्भव है, इससे उनको विद्या ही नहीं सकती है।

एवं प्राप्त इदमाह—अन्तरा चापि त्वनाश्रमित्वेनान्तराले वर्तमानोऽपि विद्यायामधिक्रियते। कुतः? तद्दृष्टेः। रैक्ववाचक्नवीप्रभृतीनामेवंभूतानामपि ब्रह्मवित्त्वश्रुत्युपलब्धेः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर यह कहते हैं कि (अन्तरा चापि तु) अनाश्रमी रूप से अन्तराल (मध्य) में वर्तमान भी विद्या में अधिकृत होता है, किस हेतु से अधिकृत होता है, तो कहा जाता है कि इस विषयक श्रुति के देखने से अधिकारी सिद्ध होता है, रैक्व वाचक्नवी (गार्गी) आदि इस प्रकार के लोगों के भी ब्रह्मवित्त्वविषयक श्रुति की उपलब्धि से उक्त सिद्धान्त सिद्ध होता है ॥ ३६ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ ३७ ॥

संवर्तप्रभृतीनां च नग्नचर्यादियोगादनपेक्षिताश्रमकर्मणामपि महायोगित्वं स्मर्यते इतिहासे ॥ ३७ ॥

नग्नचर्या (विचरण) आदि के सम्बन्ध से आश्रम-कर्म की अपेक्षा नहीं करने वाले संवर्तादि के भी महायोगित्व का इतिहास में स्मरण किया जाता है। इससे अनाश्रमी को ज्ञान का अधिकार सिद्ध होता है ॥ ३७ ॥

ननु लिङ्गमिदं श्रुतिस्मृतिदर्शनमुपन्यस्तं का नु खलु प्राप्तिरिति साऽभिधीयते—

विशेषानुग्रहश्च ॥ ३८ ॥

तेषामपि च विधुरादीनामविरुद्धैः पुरुषमात्रसम्बन्धिभिर्जपोपवासदेवताराधनादिभिर्धर्मविशेषैरनुग्रहो विद्यायाः सम्भवति। तथा च स्मृतिः—

जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥

इत्यसम्भवादाश्रमकर्मणोऽपि जप्येऽधिकारं दर्शयति। जन्मान्तरानुष्ठितैरपि

चाश्रमकर्मभिः सम्भवत्येव विद्याया अनुग्रहः। तथा च स्मृतिः—'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (६।४६) इति जन्मान्तरसञ्चितानपि संस्कारविशेषाननुग्रहीतृन्विद्यायां दर्शयति। दृष्टार्था च विद्या प्रतिषेधाभावमात्रेणाप्यर्थिनमधिकरोति श्रवणादिषु। तस्माद्विधुरादीनामप्यधिकारो न विरुध्यते ॥ ३८ ॥

यहाँ शंका होती है कि अनाश्रमी के ज्ञान में लिङ्ग-रूप यह श्रुति स्मृति का दर्शन उपन्यस्त (कथित) हुआ है, वह ज्ञान जन्मान्तरकृत आश्रम-कर्म से भी हो सकता है। इससे अन्यथासिद्ध यह लिङ्ग अनाश्रम-कर्म के विद्याहेतुत्व को नहीं सिद्ध कर सकता है, इसलिए अनाश्रम-कर्म की निश्चित रूप से प्राप्ति क्या है। अर्थात् ज्ञान के हेतुरूप से अनाश्रम-कर्म का प्रापक की प्राप्ति (सिद्धि) क्या है, ऐसी शंका होने पर वह प्राप्ति कही जाती है कि—

उन विधुर आदि अनाश्रमियों को भी अनाश्रमित्वादि के अविरोधी पुरुषमात्र-सम्बन्धी जप, उपवास, देवता की आराधना आदि रूप धर्मविशेषों से विद्या का अनुग्रह-लाभ सम्भव होता है। इस प्रकार की स्मृति है कि (ब्राह्मण जप से ही सम्यक् सिद्ध होता है। इसमें संशय नहीं है। अन्य कर्म करे या नहीं करे, ब्राह्मण दयावान् कहा जाता है) यह स्मृति आश्रम-कर्म के असम्भव से भी जप्य में अधिकार को दर्शाती है कि आश्रम-कर्म के नही कर सकने पर भी ब्राह्मण जप से सिद्धि पाता है, और जन्मान्तर में अनुष्ठित आश्रम-कर्म से भी विद्या का अनुग्रह होता है और इस प्रकार की स्मृति है कि (अनेक जन्मों के शुभ संस्कारों की धीरे-धीरे वृद्धि द्वारा सम्यक् शुद्ध होकर तब योगी आत्मानुभव को प्राप्त करके परगति—मुक्ति को प्राप्त करता है) यह स्मृति जन्मान्तर में संचित विद्या में अनुग्राहक (सहकारी हेतु) संस्कारविशेषों को दर्शाती है। दृष्टार्थक विद्या-प्रतिषेध के अभावमात्र से भी श्रवणादि में अर्थी जिज्ञासु को अधिकृत-प्रवृत्त करती है, श्रवण के लिए संन्यासादि आश्रम का नियम नहीं है, इससे विधुरादि का भी विद्या में अधिकार-विरुद्ध नहीं होता है ॥ ३८ ॥

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥ ३९ ॥

अतस्त्वन्तरालवर्तित्वादितरदाश्रमवर्तित्वं ज्यायो विद्यासाधनम् श्रुतिस्मृतिसंदृष्टत्वात्। श्रुतिलिङ्गाच्च 'तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च' (बृ० ४।४।९) इति।

अनाश्रमी न तिष्ठेत दिनमेकमपि द्विजः।
संवत्सरमनाश्रमी स्थित्वा कृच्छ्रमेकं चरेत् ॥
इति च स्मृतिलिङ्गात् ॥ ३९ ॥

परन्तु इस अन्तरालवर्तित्व से इतरत् (भिन्न) आश्रमवर्तित्व ज्यायः-श्रेष्ठ विद्या का साधन है, जिससे आश्रमवर्तित्व को श्रुति और स्मृति में संदृष्टत्व है (पुण्यकृत् तैजस पुण्य करने वाला शुद्ध चित्तयुक्त ब्रह्मवेत्ता उस मार्ग से ब्रह्म को प्राप्त करता है) इस श्रुतिलिङ्ग से और (द्विज एक दिन भी अनाश्रमी नहीं रहे। एक वर्ष अनाश्रमी रहने

पर एक कृच्छ्र चान्द्रायण करे) इस स्मृतिलिङ्ग से अनाश्रमित्व श्रेष्ठ सिद्ध होता है ॥ श्रुति में पुण्यकृत्त्व लिङ्ग से आश्रमित्व को श्रेष्ठ कहा गया गया है, जिससे पुण्य की वृद्धि से विद्या का शीघ्र लाभ होता है ॥ ३९ ॥

तद्भूताधिकरणम् ॥ १० ॥

अवरोहोऽस्त्याश्रमाणां न वा रागात्स विद्यते । पूर्वधर्मश्रद्धया वा यथारोहस्तथेच्छया ॥१॥
रागस्यातिनिषिद्धत्वाद्विहितस्यैव धर्मतः । आरोहनियमोक्त्यादेर्नावरोहोऽस्यशास्त्रतः ॥२॥

तद्भूत–प्राप्त उत्तम आश्रम वाले का फिर अतद्भाव–उसका त्याग–पूर्वाश्रम में प्रवेश नहीं होने योग्य है, यह जैमिनि, बादरायण दोनों का सिद्धान्त है । क्योंकि ऐसा ही शास्त्र का नियम है, और तद्रूप (उत्तम स्वरूप) के बाद (अतद्रूप) तद्रूप के त्याग का शास्त्र में अभाव है, तथा सदाचार में भी अतद्रूप का अभाव है ॥ संशय है कि उत्तमाश्रम में आरूढ होने पर अवरोह–फिर पूर्वाश्रम में प्रत्यागमन आश्रमियों का हो सकता है, अथवा नहीं । पूर्वपक्ष है कि राग से अथवा पूर्वाश्रम के धर्मों में फिर श्रद्धा होने से जैसे इच्छा के अनुसार आरोह होता है, वैसे ही इच्छा के अनुसार अवरोह भी हो सकता है ॥ सिद्धान्त है कि राग के अतिनिषिद्ध होने से, विहित ही के धर्म होने से तथा अवरोहविषयक नियम के कथन से, और अवरोहविषयक शास्त्र के अभाव से अवरोह सर्वथा नहीं है ॥ १–२ ॥

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॥ ४० ॥

सन्त्यूर्ध्वरेतस आश्रमा इति स्थापितम् । तांस्तु प्राप्तस्य कथंचित्ततः प्रच्युतिरस्ति नास्ति वेति संशयः । पूर्वकर्मस्वनुष्ठानचिकीर्षया वा रागादिवशेन वा प्रच्युतोऽपि स्याद्विशेषाभावादिति ।

ऊर्ध्वरेतस आश्रम हैं, यह प्रथम स्थापित (निश्चित निरूपित) किया गया है । उन उत्तम आश्रमों को प्राप्त मनुष्य की उससे फिर किसी प्रकार से प्रच्युति (अधःप्रवृत्ति) धर्मदृष्टि से है, अथवा नहीं है । यह संशय होता है । पूर्वपक्ष है कि उत्तम आश्रम में आरूढ होने पर पूर्व आश्रमसम्बन्धी कर्मविषयक अनुष्ठान (आचरण) करने की इच्छा होने से, अथवा रागादि के वश से प्रच्युत भी हो सकता है, क्योंकि धर्म के लिए आरोह-अवरोह में विशेष का अभाव है ।

एवं प्राप्त उच्यते—तद्भूतस्य तु प्रतिपन्नोर्ध्वरेतोभावस्य न कथंचिदप्यतद्भावो न ततः प्रच्युतिः स्यात् । कुतः ? नियमातद्रूपाभावेभ्यः । तथाहि—'अत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्' (छा० २।२३।१) इति 'अरण्यमियादिति पदं, ततो न पुनरेयादित्युपनिषत्' इति ।

आचार्येणाभ्यनुज्ञातश्चतुर्णामेकमाश्रमम् ।
आ विमोक्षाच्छरीरस्य सोऽनुतिष्ठेद्यथाविधि ॥

इति चैवंजातीयको नियमः प्रच्युत्यभावं दर्शयति। यथा च 'ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्' (जा० ४) 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' (जा० ४) इति चैवमादीन्यारोहरूपाणि वचांस्युपलभ्यन्ते नैवं प्रत्यवरोहरूपाणि। न चैवमाचाराः शिष्टा विद्यन्ते। यत्तु पूर्वकर्मस्वनुष्ठानचिकीर्षया प्रत्यवरोहणमिति, तदसत् 'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्' (३।३५) इति स्मरणात्। न्यायाच्च। यो हि यं प्रति विधीयते स तस्य धर्मो न तु यो येन स्वनुष्ठातुं शक्यते चोदनालक्षणत्वाद्धर्मस्य। न च रागादिवशात्प्रच्युतिः। नियमशास्त्रस्य बलीयस्त्वात्। जैमिनेरपीत्यपिशब्देन जैमिनिबादरायणयोरत्र संप्रतिपत्तिं शास्ति प्रतिपत्तिदार्ढ्याय॥ ४०॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहा जाता है कि (तद्भूतस्य तु), ऊर्ध्वरेतःस्वरूपता को प्राप्त मनुष्य का फिर अतद्भाव—उससे प्रच्युति किसी प्रकार भी उचित धर्मस्वरूप नहीं हो सकता है, यह किस प्रमाण से समझा जाता है, तो कहा जाता है कि नियम और अतद्रूप तथा अभाव से समझा जाता है। वह नियमादि इस प्रकार है कि (नैष्ठिक ब्रह्मचारी आचार्यकुल में जीवनपर्यन्त नियमों से शरीर को अत्यन्त क्षीण करता हुआ बसे) और (अरण्य-एकान्तवासयुक्त संन्यास को प्राप्त करे—यह पद शास्त्रीयमार्ग है) और (उससे फिर प्रच्युत न हो यह उपनिषद् रहस्य है) और (आचार्य से अभ्यनुज्ञात-अनुमत-स्वीकृत होकर, उनकी आज्ञा पाकर शरीर के त्यागपर्यन्त चारों आश्रमों में से किसी एक आश्रम का विधि के अनुसार वह अनुष्ठान करे) इस प्रकार का नियम प्रच्युति के अभाव को दर्शाता है। जैसे (ब्रह्मचर्य को समाप्त करके गृहस्थाश्रम का स्वीकार करे) (ब्रह्मचर्य से ही त्याग करे) इत्यादि आरोहविधायक स्वरूप वाले वचन उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार प्रत्यवरोह (परावृत्ति) रूप वाले वचन नहीं उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार के आचार वाले शिष्ट पुरुष भी नहीं हैं। जो त्यक्त पूर्वाश्रमसम्बन्धी कर्मविषयक अनुष्ठान करने की इच्छा से प्रत्यवरोह होगा, यह कथन है वह असत् है। (पूर्णविधिपूर्वक अनुष्ठित-कृत अन्य के धर्म से विगुण अनुष्ठित भी अपना धर्म अति श्रेष्ठ है) इस स्मरण से और न्याय-धर्म मर्यादा से उक्त कथन असत् अयुक्त है। जिससे जिसके प्रति जो विहित होता है, वह उसका धर्म होता है। जो जिससे अच्छी तरह से अनुष्ठित हो सकता हो (किया जा सकता हो) वह उसका धर्म नहीं होता है, क्योंकि धर्म का चोदना (विधि) ही लक्षण है। रागादि वश से भी प्रच्युति उचित नहीं है, रागादि से नियम-शास्त्र अतिबली है। (जैमिनेरपि) इस अपि शब्द से जैमिनि और बादरायण दोनों की इस विषय में संप्रतिपत्ति (निश्चय) का उपदेश प्रतिपत्ति (ज्ञान विश्वास) की दृढता के लिए करते हैं॥ ४०॥

अधिकाराधिकरणम्॥ ११॥

अष्टोर्ध्वरेतसो नास्ति प्रायश्चित्तमथास्ति वा। अदर्शनोक्तेरस्त्येव व्रतिनो गर्दभः पशुः॥ १॥
उपपातकमेवैतद्‌व्रतिनो मधुमांसवत्। प्रायश्चित्ताच्च संस्काराच्छुद्धिर्यत्नपरं वचः॥ २॥

तद्भूत के अतद्भाव होने पर (ऊर्ध्वरेता से पतित होने पर) पूर्वमीमांसा के षष्ठ अधिकाराध्याय में निर्णीत (आधिकारिक) प्रायश्चित्त भी नहीं हो सकता है। प्रायश्चित्त से भी वह शुद्ध नहीं हो सकता है। जिसमें निवृत्ति के अयोग्य पतन के बाधक श्रुति का सस्कार के प्रायश्चित्त के अभावबोधक स्मृति आदि से अनुमान होता है। इससे उस प्रायश्चित्त के अयोग में प्रायश्चित्त नहीं हो सकता है॥ संशय है कि भ्रष्ट ऊर्ध्वरेता का प्रायश्चित्त है अथवा नहीं है। पूर्वपक्ष है कि (प्रायश्चित्त न पश्यामि) इस अदर्शन वचन में प्रायश्चित्त नहीं है। गर्दभ पशुरूप प्रायश्चित्त भी उपकुर्वाणक व्रती के लिए है। ऊर्ध्वरेता के लिए नहीं॥ सिद्धान्त है कि मधु मांसभक्षण के समान यह स्त्रीसंग भी गुरुदारा आदि से अतिरिक्त-विषयक उपपातक ही है इससे प्रायश्चित्त और संस्कार से शुद्धि होती है। (प्रायश्चित्त न पश्यामि) वचन अधिक यत्न-सावधानीपरक है॥१-२॥

नचाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥ ४१ ॥

यदि नैष्ठिको ब्रह्मचारी प्रमादादवकीर्येत किं तस्य 'ब्रह्मचार्यवकीर्णी नैर्ऋतं गर्दभमालभेत' इत्येतत्प्रायश्चित्तं स्यादुत नेति। नेत्युच्यते। यदप्यधिकारलक्षणे निर्णीतं प्रायश्चित्तम् 'अवकीर्णिपशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात्' (जै० सू० ६।८।२१) इति, तदपि न नैष्ठिकस्य भवितुमर्हति। किं कारणम् ?

> आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः ।
> प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुद्ध्येत्स आत्महा ॥

इत्यप्रतिसमाधेयपतनस्मरणाच्छिन्नशिरस इव प्रतिक्रियानुपपत्तेः। उपकुर्वाणस्य तु तादृक्पतनस्मरणाभावादुपपद्यते तत्प्रायश्चित्तम् ॥ ४१ ॥

यदि नैष्ठिक ब्रह्मचारी प्रमाद से अवकीर्णी (ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट) हो। व्यभिचार करे तो क्या उसका (अवकीर्णी ब्रह्मचारी निर्ऋत देवता के लिए गर्दभ का आलम्भ करे) इस वचन से विहित प्रायश्चित्त होगा, अथवा नहीं होगा। ऐसा संशय होने पर कहा जाता है कि उसका प्रायश्चित्त नहीं होगा, जो भी अधिकाराध्याय में (अग्निग्रहण के दाराग्रहण के उत्तरकाल में होने से उपनयन काल में गृहीत अग्नि के अप्राप्तकाल होने से जैसे उपनयन काल में लौकिक अग्नि में ही होम कर्तव्य होता है, उसी प्रकार से अवकीर्णी ब्रह्मचारी के प्रायश्चित्त गर्दभ पशु का लौकिकाग्नि में हवन कर्तव्य होता है) इस प्रकार से प्रायश्चित्त निर्णीत है, वह भी नैष्ठिक का नहीं होने योग्य है। उसमें कारण क्या है कि (नैष्ठिक धर्म में आरूढ होकर जो फिर पतित होता है, उसका वह प्रायश्चित्त नहीं देखता हूँ कि जिसमें वह आत्मघाती शुद्ध हो) इस प्रकार अप्रतिसमाधेय (अनिवार्य) पतन के स्मरण से छिन्न शिर वाले के समान प्रतिकार (निवृत्ति साधन) की अनुपपत्ति से प्रायश्चित्त नहीं हो सकता है। उपकुर्वाण को वैसा अनिवार्य पतन स्मरण के अभाव से उसका प्रायश्चित्त उपपन्न होता है॥ ४१ ॥

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥ ४२ ॥

अपि त्वेक आचार्या उपपातकमेवैतदिति मन्यन्ते। यन्नैष्ठिकस्य गुरुदारादिभ्योऽन्यत्र ब्रह्मचर्यं विशीर्येत न तन्महापातकं भवति गुरुतल्पादिषु महापातकेष्वपरिगणनात्। तस्मादुपकुर्वाणवन्नैष्ठिकस्यापि प्रायश्चित्तस्य भावमिच्छन्ति ब्रह्मचारित्वाविशेषादवकीर्णित्वाविशेषाच्च अशनवत्। यथा ब्रह्मचारिणो मधुमांसाशने व्रतलोपः पुनःसंस्कारश्चैवमिति। ये हि प्रायचित्तस्याभावमिच्छन्ति तेषां न मूलमुपलभ्यते, ये तु भावमिच्छन्ति तेषां ब्रह्मचार्यवकीर्णीत्येतदविशेषश्रवणं मूलम्। तस्माद्भावो युक्ततरः। तदुक्तं प्रमाणलक्षणे—'समा विप्रतिपत्तिः स्यात्' (जै० सू० १।३।८) 'शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्' (जै० सू० १।३।९) इति। प्रायश्चित्ताभावस्मरणं त्वेवं सति यत्नगौरवोत्पादनार्थमिति व्याख्यातव्यम्। एवं भिक्षुवैखानसयोरपि 'वानप्रस्थो दीक्षाभेदे कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा महाकक्षं वर्धयेत्' 'भिक्षुर्वानप्रस्थवत्सोमवल्लिवर्जं स्वशास्त्रसंस्कारश्च' इत्येवमादि प्रायश्चित्तस्मरणमनुस्मर्तव्यम् ॥ ४२ ॥

एक आचार्य तो यह नैष्ठिक की च्युति उपपूर्वक पतन है, अर्थात् उपपातक ही है प्रतिकार के अयोग्य महापातक नहीं है इस प्रकार मानते है। नैष्ठिक का जो गुरुदारा (स्त्री) आदि से अन्य में यदि ब्रह्मचर्य विशीर्ण नष्ट हो, तो वह महापातक नहीं होता है, जिससे गुरुतल्प (दारा) आदि महापातकों में उसका परिगणन नहीं है। इससे उपकुर्वाणक के समान नैष्ठिक के प्रायश्चित्त का सत्त्व को वे आचार्य मानते है, जिससे ब्रह्मचारित्व और अवकीर्णित्व दोनो में तुल्य है। वह अवकीर्णित्व दोष अशन (अभक्ष्य-भक्षण) के समान है। इससे जैसे मधु-मांस के भक्षण करने पर ब्रह्मचारी का व्रतलोप-नियमनाश होता है, परन्तु फिर संस्कार होता है। इसी प्रकार व्यभिचार-विषय में भी प्रायश्चित्त समझना चाहिए। जो कोई प्रायश्चित्त का अभाव मानते हैं। उनके मत का मूल नही उपलब्ध होता है। जो प्रायश्चित्त का सत्त्व मानते हैं, उनके मत का (अवकीर्णी ब्रह्मचारी) इत्यादि अविशेष (सामान्य) श्रुति मूल है। इससे प्रायश्चित्त का भाव (अस्तित्व) युक्ततर (अति उचित) है। यह प्रमाणाध्याय में कहा है कि (यवमयश्चरुर्भवति) यव का चरु होता है। इस श्रुति में यव शब्द किस अर्थ का वाचक है, यह निश्चय नहीं होता है, क्योंकि अनार्य लोग प्रियंगु (कौनी) को यव कहते हैं, और आर्य दीर्घशूक (टूड़ा) वाले को यव कहते हैं, यहाँ (समप्रसिद्धि से समप्रतिपत्ति तुल्य ज्ञान अर्थात् विकल्प होगा, कभी जौ का चारु होगा, कभी कौनी का होगा) ऐसा प्राप्त होने पर कहा गया है कि (शास्त्रस्थ शास्त्रमूलक प्रतिपत्ति ग्राह्य है क्योंकि धर्म का ज्ञान शास्त्रनिमित्त होता है) और (यदा चान्या ओषधयो म्लायन्त्यथैते यवा मोदमानास्तिष्ठन्ति) जब अन्य ओषधियाँ सूख जाती हैं, उस समय भी यव हरा-भरा रहते हैं। यह शास्त्र दीर्घशूक वालों का ही बोध कराता है। इससे शास्त्र

के अनुसार ही प्रायश्चित्त भी मन्तव्य है। परन्तु ऐसा निश्चय होने पर प्रायश्चित्त का अभावरूप स्मरण नैष्ठिक ब्रह्मचर्य पालनविषयक प्रयत्न गुरुत्व का उत्पादनार्थक है ऐसा व्याख्यान के योग्य है। इसी प्रकार (दीक्षा का भङ्ग नियम का नाश होने पर द्वादश—बारह रात्रि तक कृच्छ्र (प्राजापत्य) व्रत करके वानप्रस्थ महाकक्ष—वन का जलादि प्रदान से बढ़ावे। तृण वृक्ष जहाँ बहुत हों उस भूमि की सेवा करे) और (भिक्षुव्रत भग होने पर वामस्त्रता से भिन्न महावक्ष को वानप्रस्थ के समान जल सिञ्चनादि से बढ़ावे। स यामशास्त्र में विहित कर्म-युक्त हो) इत्यादि भिक्षुक वानप्रस्थ का भी प्रायश्चित्त स्मरण अनुस्मर्तव्य (समझने योग्य) है ॥ ४२ ॥

बहिरधिकरणम् ॥ १२ ॥

शुद्ध शिष्टैरुपादेयस्त्याज्यो वा दोषहानितः। उपादेयोऽन्यथा शुद्धिः प्रायश्चित्तकृता वृथा॥
आमुष्मिकश्च शुद्धिः स्यात्तत शिष्टास्त्यजन्ति तम्। प्रायश्चित्तादृष्टिवाक्याद्शुद्धिरहिकीष्यते॥

पतित होने पर प्रायश्चित्त करें या नहीं करें लोक व्यवहार में स्मृति आचार से वे पतित बहिष्कार्य-सम्बन्ध के अयोग्य होते हैं। भाष्य के अनुसार पातकी वा महापातकी हो उभयथा बहिष्कार्य है। संशय है कि प्रायश्चित्त से शुद्ध हुआ पतित शिष्टों से लोकव्यवहार में उपादेय-ग्राह्य होता है अथवा त्याज्य होता है। पूर्वपक्ष है कि प्रायश्चित्त से दोष की निवृत्ति हो जाने से वह शिष्टों से उपादेय है अन्यथा प्रायश्चित्त से की गई शुद्धि व्यर्थ होगी। सिद्धान्त है कि पारलौकिक कर्मादि विषयक उसकी प्रायश्चित्त से शुद्धि होगी लोकव्यवहार के लिए नहीं इससे शिष्ट लोग उसका त्याग करते हैं। जिसमें प्रायश्चित्त की अदृष्टि विषयक वाक्य में ऐहिकी (लौकिकी) अशुद्धि प्रायश्चित्त करने पर भी मानी जाती है ॥ १–२ ॥

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥ ४३ ॥

यद्यूर्ध्वरेतसां स्वाश्रमेभ्यः प्रच्यवनं महापातकं यदि वोपपातकमुभयथापि शिष्टैस्ते बहिष्कर्तव्याः,

आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः।
प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा॥ इति,
आरूढपतितं विप्रं मण्डलाच्च विनिःसृतम्।
उद्बद्धं कृमिदष्टं च स्पृष्ट्वा चान्द्रायणं चरेत्॥

इति चैवमादिनिन्दातिशयस्मृतिभ्यः शिष्टाचाराच्च। नहि यज्ञाध्ययनविवाहादीनि तैः सहाचरन्ति शिष्टाः ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वरेताओं का अपने आश्रमों से पतन यदि महापातक है, प्रायश्चित्त के योग्य नहीं है। अथवा उपपातक (प्रायश्चित्त के योग्य) है। दोनों अवस्था में वे शिष्टों से बहिष्कार्य हैं (नैष्ठिक में आरूढ होकर जो फिर पतित होता है वह आत्मघाती जिससे शुद्ध हो, उस प्रायश्चित्त को नहीं देखता हूँ। प्रथम उत्तम आश्रम में आरूढ होकर फिर

उससे पतित, और दोष के कारण देश-समाजरूप मण्डल से विनिःसृत (निकले हुए) अपराध से उद्बद्ध-बाँध कर लटकाए, कृमि से दष्ट ब्राह्मण का स्पर्श करके चान्द्रायण करे) इत्यादि निन्दा के अतिशयरूप स्मृतियों से और शिष्टाचार से वे बहिष्कार्य हैं, इससे यज्ञ, अध्ययन, विवाहादि रूप व्यवहार शिष्ट लोग उनके साथ नहीं करते है ॥४३॥

स्वाम्यधिकरणम् ॥ १३ ॥

अङ्गध्यानं याजमानमार्त्विज्यं वा यतः फलम् । ध्यातुरेव श्रुतं तस्माद्याजमानमुपासनम् ॥१॥
ब्रूयादेवंविदुद्गातेत्यार्त्विज्यत्वं स्फुटं श्रुतम् । क्रीतत्वादृत्विजस्तेन कृतं स्वामिकृतं भवेत् ॥२॥

कर्म का अङ्गरूप उद्गीथादि की उपासना स्वामी (यजमान) का कर्तव्य है। क्योंकि उपासना का फल कर्म-कर्ता में सुना जाता है। इस प्रकार आत्रेय कहते हैं। संशय है कि कर्माङ्गरूप ध्यान यजमान को करना चाहिए, अथवा ऋत्विजों को करना चाहिए। पूर्वपक्ष है कि जिससे ध्यानकर्ता का फल सुना गया है, उससे यजमान को ध्यान करना चाहिए। सिद्धान्त है कि उस प्रकार जानने वाला, ध्यान करने वाला उद्गाता कहे इत्यादि वचन से ऋत्विक्-कृत ध्यान स्पष्ट श्रुत है। ऋत्विक्-क्रीत होता है, इससे ऋत्विक्-कृत ध्यान स्वामिकृत होता है ॥ १—२ ॥

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ४४ ॥

अङ्गेपूपासनेषु संशयः। किं तानि यजमानकर्माण्याहोस्विदृत्विक्कर्माणीति। किं तावत्प्राप्तं यजमानकर्माणीति। कुतः? फलश्रुतेः। फलं हि श्रूयते—'वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान्वृष्टौ पञ्चविधं सामोपास्ते' (छां० २।३।२) इत्यादि। तच्च स्वामिगामि न्याय्यम्, तस्य साङ्गे प्रयोगेऽधिकृतत्वात्, अधिकृताधिकारत्वाच्चैवंजातीयकस्य। फलं च कर्तर्युपासनानां श्रूयते—'वर्षत्यस्मै य उपास्ते' (छां० उ०) इत्यादि। नन्वृत्विजोऽपि फलं दृष्टम् 'आत्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयते तमागायति' (बृ० १।३।२८) इति। न, तस्य वाचनिकत्वात्। तस्मात्स्वामिन एव फलवत्सूपासनेषु कर्तृत्वमित्यात्रेय आचार्यो मन्यते ॥ ४४ ॥

अङ्ग उपासनाओं विषयक संशय होता है कि वे उपासनाएँ क्या यजमान के कर्तव्य कर्म हैं, अथवा ऋत्विक् के कर्म हैं। प्रथम प्राप्त क्या होना है, ऐसा विमर्श होने पर पूर्वपक्ष है कि यजमान के कर्म हैं। क्योंकि फल के श्रवण से यजमान के कर्म सिद्ध होते है। जिससे फल सुना जाता है कि (इस साम को इस प्रकार जानने वाला जो विद्वान् वृष्टि में पाँच प्रकार साम की उपासना करता है, उसके लिए उसकी इच्छा के अनुसार वृष्टि होती है, और अन्य के लिए भी वह मेघों से वृष्टि करवाता है) इत्यादि। वह फल स्वामिगामी (स्वामी मे) होना न्याययुक्त (उचित) है। जैसे गोदोहन का फल साङ्गकर्मकर्ता को होता है इससे स्वामी को ही अङ्गसहित कर्म में अधिकृतत्व (अधिकार) है। इस प्रकार के अङ्गरूप कर्मो को अधिकृत-अधिकारत्व है, अर्थात्

प्रधान कर्म के अधिकारी का ही ऐसे अङ्ग में अधिकार होता है, इससे उपासना यजमान का कर्म है। उपासनाओं का फल उपासनाकर्ता में सुना जाता है कि (जो उपासना करता है उसके लिए उसकी इच्छा के अनुसार मेघ वृष्टि करता है) इत्यादि। यहाँ शंका होती है कि ऋत्विक् सम्बन्धी भी फल देखा गया है कि (उद्गाता अपने लिए या यजमान के लिए जिस काम्य अभीष्ट वस्तु की इच्छा करता है उसको उद्गान द्वारा सिद्ध-प्राप्त करता कराता है) उत्तर है कि यह फल दर्शन विशेष स्थान के लिए है, इससे इस उद्गान फल को वाचनिकत्व है, विशेष स्थान में वचनसिद्धत्व है, इससे वह दर्शन उत्सर्ग (सामान्य) रूप से प्राप्त स्वामिगामि फल का बाधक नहीं है, इससे स्वामी को ही फलवाले उपासनाओं में कर्तृत्व है इस प्रकार आत्रेय आचार्य मानते हैं, जो फलभोक्ता होता है, वह कर्ता होता है, यह उपसर्ग है ॥ ४४ ॥

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥ ४५ ॥

नैतदस्ति स्वामिकर्माण्युपासनानीति। ऋत्विक्कर्माण्येतानि स्युरित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते। किं कारणम्? तस्मै हि साङ्गाय कर्मणे यजमानेनर्त्विक्परिक्रीयते। तत्प्रयोगान्तःपातीनि चोद्गीथाद्युपासनान्यधिकृताधिकारत्वात्। तस्माद्गोदोहनादिनियमवदेवर्त्विग्भिर्निर्वर्त्येरन्। तथा च 'त ह बको दाल्भ्यो विदाचकार स ह नैमिषीयाणामुद्गाता बभूव' (छा० १।२।१३) इत्युद्गातृकर्तृकतां विज्ञानस्य दर्शयति। यत्तूक्तं—कर्त्राश्रयं फलं श्रूयत—इति। नैष दोषः। परार्थत्वादृत्विजोऽन्यत्र वचनात्फलसम्बन्धानुपपत्तेः ॥ ४५ ॥

उपासनाएँ स्वामि के कर्म हैं, यह कथन सत्य नहीं है, इससे ये उपासनाएँ ऋत्विक् के कर्म होंगे, इस प्रकार औडुलोमि आचार्य मानते हैं, उसमें कारण क्या है कि उस अंगसहित कर्म के लिए ही यजमान से ऋत्विक् परिक्रीत (द्रव्यदान द्वारा स्वीकृत) होता है। उस अंग-सहित कर्म का प्रयोग (अनुष्ठान) के अन्त पाती (मध्यवर्ती) अधिकृताधिकारत्व से उद्गीथादि उपासनाएँ भी हैं। अर्थात् साग कर्म के अधिकारी का उपासना में अधिकार है। परिक्रीत ऋत्विक् का साग कर्म में अधिकार होने से उपासनाओं में भी अधिकार है। इससे गोदोहनादि नियम के समान ही अङ्गसम्बन्धी उपासनाएँ भी ऋत्विजों से निर्वर्तित (सिद्ध संपादित) होंगे (किये जायँगे)। इसी प्रकार (उस उद्गीथनामक प्रणव का दल्भ के अपत्य बक ने प्राणदृष्टि से ध्यान किया उस प्रणव को प्राणस्वरूप समझा और समझकर नैमिषीय सत्रियों का उद्गाता हुआ) यह श्रुति विज्ञान(उपासना) की उद्गातृकर्तृकता को दर्शाती है, ध्यान का उद्गाता कर्ता होता है, इस अर्थ को यह श्रुति दर्शाती है। जो यह कहा था कि (कर्त्राश्रय (कर्तृस्वामिगामी) फल सुना जाता है) ऋत्विक् के कर्ता होने से ऋत्विग्गामी फल होगा, यह दोष है। यहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है। ऋत्विक् के परार्थक (यजमान के लिए) होने से विशेष वचन के बिना सामान्य फल के साथ ऋत्विक् का सम्बन्ध की अनुपपत्ति से

दोष का अभाव है। जहाँ विशेष वचन है वहाँ वचन के बल से ऋत्विक् को फल होता है, अन्यत्र तो भृत्यकर्तृक विजय का फल जैसे स्वामी को प्राप्त होता है, वैसे ऋत्विक्-कर्तृक साङ्गकर्म का फल यजमान को होता है ॥ ४५ ॥

श्रुतेश्च ॥ ४६ ॥

'यां वै कांचन यज्ञे ऋत्विज आशिषमाशासत इति यजमानायैव तामाशासत इति होवाचेति' 'तस्माद् हैवंविदुद्गाता ब्रूयात्कं ते काममागायानि' (छां० १।७।८–९) इति। तदृत्विक्कर्तृकस्य विज्ञानस्य यजमानगामि फलं दर्शयति। तस्मादङ्गोपासनानामृत्विक्कर्मत्वसिद्धिः ॥ ४६ ॥

(यज्ञ में ऋत्विक् जिस किसी काम्य वस्तु की आशा करते हैं यजमान के लिए ही उसकी आशा करते है, देवादि की प्रार्थना-स्तुति करते हैं, इस प्रकार कहा है, इससे ऐसा जानने वाला उद्गाता यजमान से कहे कि तेरे लिए मैं किस काम्य वस्तु का उद्गान करूँ, किस के लिए प्रार्थना करूँ) में श्रुतियाँ ऋत्विक्-कर्तृक (ऋत्विक्-कृत) उपासनाओं का स्वामिगामि फल को दर्शाती हैं, इससे अङ्गसम्बन्धी उपासनाओं को ऋत्विक्-कर्तृकत्व की सिद्धि होती है इससे उपासनाएँ ऋत्विक् के कर्तव्यकर्म सिद्ध होते हैं और उसका फल स्वामिगामी होता है ॥ ४६ ॥

सहकार्यन्तरविध्यधिकरणम् ॥ १४ ॥

अविधेयं विधेयं वा मौनं तत्र विधीयते। प्राप्तं पाण्डित्यतो मौनं ज्ञानवाच्युभयं यतः ॥ १ ॥
निरन्तरज्ञाननिष्ठा मौनं पाण्डित्यतः पृथक्। विधेयं तद्भेददृष्टिप्राबल्ये तन्निवृत्तये ॥ २ ॥

श्रवण और मनन से उस आत्मतत्व के विज्ञान वाला के लिए भी जिस पक्ष मे श्रवण-मनन से अपरोक्ष-अनुभव नही हुवा हो, उस पक्ष से तृतीय अपरोक्ष ज्ञान के साधन रूप सहकार्यन्तर-मौन-निदिध्यासन की विधि श्रुति मे की गई है। जैसे कि प्रधान कर्म-विधि मे अंग-विधि होती है उसके समान तथा अन्य विधि-निषेध के समान यह भी विधि है ॥ वहाँ संशय है कि पाण्डित्य और बाल्य (श्रवण और मनन) के बाद में मौन (निदिध्यासन) विधान के अयोग्य है, अथवा विधान के योग्य है। पूर्वपक्ष है कि जिससे पाण्डित्य और मौन दोनो शब्द ज्ञान के वाचक है, इससे पाण्डित्य के विधान से ही मौन का विधान हो चुका है, और आगे विधि का श्रवण भी नहीं है, इससे वह मौन विधेय नही होता है ॥ सिद्धान्त है कि निरन्तर ज्ञान निष्ठा ध्यान रूप मौन पाण्डित्य से पृथक् है। इससे भेद-दृष्टि की प्रबलता दशा मे श्रवण-मनन से अपरोक्षानुभव नही होने पर उस भेद-दृष्टि की निवृत्ति के लिए वह मौन विधेय (कर्तव्य) है ॥ १–२ ॥

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥४७॥

'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च

निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मण' (बृ० ३।५।१) इति बृहदारण्यके श्रूयते। तत्र संशयः मौनं विधीयते न वेति। न विधीयत इति तावत्प्राप्तम्। बाल्येन तिष्ठासेदित्यत्रैव विधेरवसितत्वात्। न ह्यथ मुनिरित्यत्र विधायिका विभक्तिरुपलभ्यते, तस्मादयमनुवादो युक्तः। कुतः प्राप्तिरिति चेत्। मुनिपण्डितशब्दयोर्ज्ञानार्थत्वात्पाण्डित्यं निर्विद्येत्येव प्राप्तं मौनम्। अपि चामौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मण इत्यत्र तावन्न ब्राह्मणत्वं विधीयते प्रागेव प्राप्तत्वात्। तस्मादथ ब्राह्मण इति प्रशंसावादस्तथैवाथ मुनिरित्यपि भवितुमर्हति समाननिर्देशत्वादिति।

बृहदारण्यक में ब्राह्मण में सुना जाता है कि (जिससे पूर्वकालिक ब्राह्मण इस आत्मा को जानकर त्यागपूर्वक भिक्षाचर्या करते थे इससे वर्तमान ब्राह्मण सामान्य ज्ञान वाला पण्डित का कृत्यरूप पाण्डित्य (श्रवण) का निर्विद्य (निःशेषरूप से निश्चयपूर्वक लाभ करके) बाल्य में बाल्यभावरूप मनन से बाल्यभावरूप शुद्धचित्तता में संशयरहित स्थिति की इच्छा करे। बाल्य तथा पाण्डित्य का निःशेषरूप से लाभ करके उसके बाद मुनि मननशील निदिध्यासन वाला होता है। अमौन (श्रवण-मनन) का और मौन (निदिध्यासन) का निःशेषरूप से लाभ करके फिर ब्रह्म के साक्षात्कार वाला ब्राह्मण होता है) यहाँ संशय होता है कि यहाँ मौन का विधान होता है, अथवा नहीं होता है, प्रथम पूर्वपक्ष प्राप्त होता है कि मौन का विधान नहीं होता है, क्योंकि (बाल्येन तिष्ठासेत्) बाल्यरूप में स्थिति की इच्छा करे, विधि का यहाँ ही अवसानत्व (अन्त) है। (अथ मुनिः) फिर मुनि होता है। इस वाक्य में विधायक कोई विधि-विभक्ति नहीं उपलब्ध होती है, इससे यह अनुवादरूप युक्त है। यदि शंका हो कि मौन की प्राप्ति किससे है कि जिसका (अथ मुनिः) इससे अनुवाद होगा। तो कहा जाता है कि मुनि और पण्डित दोनों शब्दों के ज्ञानार्थक होने से (पाण्डित्यं निर्विद्य) इसी कथन से मौन प्राप्त है। दूसरी बात है कि (अमौन और मौन का निर्वेद प्राप्त करके फिर ब्रह्मा ब्राह्मण होता है) यहाँ प्रथम ही प्राप्त होने से ब्राह्मणत्व का विधान नहीं होता इससे (अथ ब्राह्मणः) यह प्रशंसावाद है वैसा ही (अथ मुनिः) यह भी होने के योग्य है, जिसमें दोनों का तुल्य निर्देशत्व (वचनत्व) है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—सहकार्यन्तरविधिरिति। विद्यासहकारिणो मौनस्य बाल्यपाण्डित्यवद्विधिरेवाश्रयितव्योऽपूर्वत्वात्। ननु पाण्डित्यशब्देनैव मौनस्यावगतत्वमुक्तम्। नैष दोषः। मुनिशब्दस्य ज्ञानातिशयार्थत्वात्, मननान्मुनिरिति च व्युत्पत्तिसम्भवात्, 'मुनीनामप्यहं व्यासः' (गी० १०।३७) इति च प्रयोगदर्शनात्। ननु मुनिशब्द उत्तमाश्रमवचनोऽपि श्रूयते 'गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थम्' इत्यत्र। न। 'वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवः' इत्यादिषु व्यभिचारदर्शनात्। इतराश्रमसंनिधानात्तु पारिशेष्यात्तत्रोत्तमाश्रमोपादानं ज्ञानप्रधानत्वादुत्तमाश्रमस्य। तस्माद् बाल्यपाण्डित्यापेक्षया तृतीयमिदं मौनं ज्ञानातिशयरूपं

विधीयते। यत्तु बाल्य एव विधेः पर्यवसानमिति, तथाप्यपूर्वत्वान्मुनित्वस्य विधेयत्वमाश्रीयते मुनिः स्यादिति। निर्वेदनीयत्वनिर्देशादपि मौनस्य बाल्य-पाण्डित्यवद्विधेयत्वाश्रयणम्, तद्वतो विद्यावतः संन्यासिनः। कथं विद्यावतः संन्यासिन इत्यवगम्यते, तदधिकारात् 'आत्मानं विदित्वा पुत्राद्येषणाभ्यो व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति। ननु सति विद्यावत्त्वे प्राप्नोत्येव तत्राति-शयः किं मौनविधिनेत्यत आह—पक्षेणेति। एतदुक्तं भवति—यस्मिन्पक्षे भेदद-र्शनप्राबल्यान्न प्राप्नोति तस्मिन्नेष विधिरिति। विध्यादिवत्। यथा 'दर्शपूर्ण-मासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इत्येवंजातीयके विध्यादौ सहकारित्वेनाग्न्याधा-नादिकमङ्गजातं विधीयते एवमविधिप्रधानेऽप्यस्मिन्विद्यावाक्ये मौनविधिरि-त्यर्थः॥ ४७॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि (ज्ञान के सहकारी कारणान्तर की विधि है, अनुवाद नहीं है। अर्थात् अपूर्वत्व से बाल्य पाण्डित्य के समान विद्या के सहकारी मौन की विधि ही स्वीकार के योग्य है, अन्य नहीं। यदि कहो कि पाण्डित्य शब्द से ही मौन को अवगतत्व (प्राप्तत्व) प्रथम कहा गया है। तो कहा जाता है कि मुनि शब्द के ज्ञान के अतिशय अर्थवाला होने से यह दोष नहीं है। अर्थात् सामान्य ज्ञानवाची पाण्डित्य शब्द के तुल्यार्थक मौन शब्द नहीं है। और मनन से मुनि होता है इस प्रकार की व्युत्पत्ति-निर्वचन के सम्भव से, और 'मुनियों में मैं व्यास हूँ' इस प्रयोग के दर्शन से भी मौन पाण्डित्य से विलक्षण है। यदि कहो कि (गार्हस्थ्यं, आचार्यकुलं-मौनं वानप्रस्थम्) इस वचन में उत्तमाश्रम का वाचक भी मुनि शब्द सुना जाता है। तो कहा जाता है कि (वाल्मीकि मुनियों में श्रेष्ठ हैं) इत्यादि प्रयोगों में आश्रमवाचित्व के व्यभिचार (अभाव) के देखने से मुनिशब्द को आश्रमवाचित्व नहीं है। उस (गार्हस्थ्यम्) इत्यादि वाक्य में तो इतर आश्रम के सन्निधान से और उत्तमाश्रम की ज्ञान-प्रधानता से और परिशेषता से मौन शब्द से उत्तमाश्रम का ग्रहण होता है। अतः बाल्य पाण्डित्य की अपेक्षा से तृतीय ज्ञान का अतिशय रूप यह मौन विहित होता है। और जो यह कहा था कि बाल्य में ही विधि का पर्यवसान है। वह यद्यपि है ही तथापि अपूर्वता से मुनित्व के विधेयत्व का आश्रयण किया जाता है कि मुनि होना चाहिये। और निर्वेदनीयत्व निःशेष रूप से प्राप्यत्व का निर्देश से भी मौन के बाल्य पाण्डित्य के तुल्य विधेयत्व का आश्रयण किया जाता है। (तद्वतः) इस सूत्रगत पद का विद्या वाला संन्यासी का तृतीय मौन ज्ञानार्थकसाधन है, इस प्रकार सम्बन्ध है। यदि कहा जाय कि (तद्वतः संन्यासिनः) यह कैसे समझा जाता है। तो कहा जाता है कि (आत्मा) को जान कर पुत्रादि-इच्छा से रहित हो कर भिक्षाचर्या करते हैं। इस प्रकार उस संन्यासी के अधिकार से समझा जाता है। यदि शंका हो कि विद्यावत्त्व के होने पर अभ्यासादि से उसमें अतिशय प्राप्त होता ही है मौन विधि से क्या फल होता है। अतः उत्तर कहते है कि (पक्षेणेति) भेद-दर्शन की प्रबलता से जिस पक्ष में

शामानिशय नहीं प्राप्त होता है उस पक्षविषयक यह विधि है। यह विधि आदि के समान है। जैसे कि (स्वर्ग की इच्छा वाला दर्शपूर्णमास याग से इष्ट का सम्पादन करे) इस प्रकार के विधि आदि म सहकारी रूप से अग्नि आदि अंग समूह विहित होते है, इसी प्रकार अविधि प्रधान भी इस विद्यावाक्य म मौन की विधि है यह अर्थ है ॥ ४७ ॥

एव बाल्यादिविशिष्टे कैवल्याश्रमे श्रुतिमति विद्यमाने कस्माच्छान्दोग्ये गृहिणोपसहार 'अभिसमावृत्य कुटुम्बे' (छा० ८।१५।१) इत्यत्र, तेन ह्युपसहरन्तद्विषयमादर दर्शयतीति। अत उत्तर पठति—

शका होती है कि इस प्रकार बाल्य (श्रवण) आदि युक्त श्रुतिसिद्ध कैवल्याश्रम के विद्यमान रहते छान्दोग्य म किस हेतु से (अभिसमावर्तन धर्ममीमासा करके कुटुम्ब मे रहता हुआ शुचि देश म अध्ययनादि करे)। इस वाक्य मे गृहस्थ द्वारा उपसहार किया गया है। उस गृहस्थ द्वारा उपसहार करती हुई श्रुति उस विषयक आदर को दर्शाती है इति। इससे इस शका का उत्तर पढते हैं कि—

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥ ४८ ॥

तुशब्दो विशेषणार्थः। कृत्स्नभावोऽस्य विशिष्यते। बहुलायासानि हि बहून्याश्रमकर्माणि यज्ञादीनि त प्रति कर्तव्यतयोपदिष्टान्याश्रमान्तरकर्माणि च यथासभवमहिंसेन्द्रियसयमादीनि तस्य विद्यन्ते। तस्माद् गृहमेधिनोपसहारो न विरुध्यते ॥ ४८ ॥

तु शब्द विशेषणार्थक है, इससे इस गृहस्थ की कृत्स्नता-पूर्णता विशेषित (पूर्णरूप से बोधित) होती है, कि बहुत आयास वाले बहुत यज्ञादि रूप आश्रम कर्म उस गृहस्थ के प्रति उपदिष्ट है और आश्रमातर के कर्मरूप अहिंसा, इन्द्रियसयमादि कर्म भी सम्भव के अनुसार उस गृहस्थ के होते हैं, अत. गृहस्थ द्वारा उपसहार विरुद्ध नही है। अर्थात् सन्यास के अभाव से गृही द्वारा उपसहार नही है, किन्तु गृहस्थ म अधिक धर्म के सन्निवेश से अधिक धर्म की दृढता आदि के लिए गृही से उपसहार किया गया है ॥४८॥

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ४९ ॥

यथा मौनं गार्हस्थ्य चैतावाश्रमौ श्रुतिमतावेवमितरावपि वानप्रस्थगुरुकुलवासौ। दर्शिता हि पुरस्ताच्छ्रुति —'तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीय' (छा० २।२३।१) इत्याद्या। तस्माच्चतुर्णामप्याश्रमाणामुपदेशाविशेषात्तुल्यवद्विकल्पसमुच्चयाभ्या प्रतिपत्ति। इतरेषामिति द्वयोराश्रमयोर्बहुवचनं वृत्तिभेदापेक्षयाऽनुष्ठातृभेदापेक्षया चेति द्रष्टव्यम् ॥ ४९ ॥

इस पूर्व प्रकरण मे गृहस्थ और सन्यासी दो ही की चर्चा हुई है, इससे अन्य दो आश्रम के अभाव की शका के निवारण के लिए कहते हैं कि जिस प्रकार मौन और गार्हस्थ्य ये दोनो आश्रम श्रुतिसम्मत हैं, इसी प्रकार वानप्रस्थ और गुरुकुलवास रूप

इतर दो आश्रम भी श्रुतिसम्मत हैं। प्रथम श्रुति दर्शित कराई गई है कि (तप ही द्वितीय आश्रम है धर्मस्कन्ध है। आचार्य कुलवासी ब्रह्मचारी तृतीय धर्मस्कन्ध है) इत्यादि। उससे चारों ही आश्रमों का तुल्य उपदेश से विकल्प और समुच्चय से तुल्यवत् प्रतिपत्ति होती है। सूत्रगत (इतरेषाम्) यह दो आश्रमविषयक बहुवचन वृत्तिभेद की अपेक्षा से अथवा अनुष्ठाता के भेद की अपेक्षा से समझना चाहिए। वैखानस, औदुम्बर, वालखिल्य, फेनप, ये चार वृत्तिभेद वानप्रस्थ के होते है। गायत्र, ब्राह्म, प्राजापत्य और बृहत् ये ब्रह्मचारी के चार वृत्तिभेद होते है। इसी प्रकार गृहस्थ और संन्यासी के भी चार-चार अवान्तर भेद स्मृति मे निरूपित हैं॥ ४९॥

अनाविष्काराधिकरणम्।

वाल्यं वयः कामचारो धीशुद्धिर्वा प्रसिद्धितः। वयस्तस्याविधेयत्वे कामचारोस्तु नेतरा॥
मननस्योपयुक्तत्वाद्भावशुद्धिर्विवक्षिता। अत्यंतानुपयोगित्वाद्विरुद्धत्वाच्च न द्वयम्॥ २॥

श्रुतिगत वाल्य शब्द का विवक्षितार्थ है कि आत्मजिज्ञासु अपनी साधन-सम्पत्ति और काम-दर्प-द्वेषादि को नहीं प्रगट करता हुआ वालक के समान शुद्ध भावयुक्त रहे। इसी वाल्यभाव का ज्ञान साधन के साथ सम्बन्ध होनेसे अन्य यथेष्टाचार रूप वाल्यभाव विवक्षित नहीं है। संशय है कि वाल्यशब्द अवस्था का बोधक है, अथवा यथेष्टाचार का बोधक है, या बुद्धि की शुद्धि का बोधक है। पूर्वपक्ष है कि प्रसिद्धि से वाल्य का अवस्था अर्थ हो सकता है, अथवा अवस्था के अविधेय होने से संपादन विधि के अयोग्य होने से कामचार अर्थ हो सकता है, इतर भावशुद्धि अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी प्रसिद्धि नहीं है। सिद्धान्त है कि प्रसिद्धि के नहीं रहते भी प्रकरणादि से और मनन के उपयोगित्व से भाव की शुद्धि ही विवक्षित है, मनन में अत्यन्त अनुपयोगित्व और विरुद्धत्व से अन्य दोनों वाल्य शब्द के विवक्षितार्थ नहीं हैं॥ १-२॥

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात्॥ ५०॥

'तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्' (बृ० ३।५।१) इति वाल्यमनुष्ठेयतया श्रूयते। तत्र बालस्य भावः कर्म वा बाल्यमिति तद्धिते सति बालभावस्य वयोविशेषस्येच्छया संपादयितुमशक्यत्वाद्यथोपपादमूत्रपुरीषत्वादिबालचरितमन्तर्गता वा भावविशुद्धिर्दम्भदर्पप्ररूढेन्द्रियत्वादिरहितता वा बाल्यं स्यादिति संशयः। किं तावत्प्राप्तं? कामचारवादभक्षणता यथोपपादमूत्रपुरीषत्वं च प्रसिद्धतरं लोके बाल्यमिति तद्ग्रहणं युक्तम्। ननु पतितत्वादिदोषप्राप्तेर्न युक्तं कामचारताद्याश्रयणम्। न। विद्यावतः संन्यासिनो वचनसामर्थ्याद्दोषनिवृत्तेः पशुहिंसादिष्विवेति।

(अतः ब्राह्मण पाण्डित्य को प्राप्त करके बालभाव से स्थिति की इच्छा करे) इस प्रकार बालभाव अनुष्ठेय (कर्तव्य) रूप से सुना जाता है। वहाँ वाल का भाव वा वाल का कर्म इस अर्थ में वाल शब्द से तद्धितसंज्ञक प्रत्यय होने पर वाल्य शब्द

सिद्ध होता है। वय—अवस्थाविशेष रूप बालभाव के इच्छा से सपादन (प्राप्ति सिद्धि) करने मे अशक्य होने से, यथासंभव अनियत मूत्रपुरीषवत्त्वादि रूप बालक का चरित्र बाल्य होगा। अथवा अन्तर्गत भावशुद्धि, दम्भ दर्प-अप्ररूढेन्द्रियत्व (प्रबलेन्द्रियवत्त्व) आदि से रहित बाल्य होगा, यह सशय होता है। यहाँ प्राप्त क्या होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर, पूर्वपक्ष है कि काम (इच्छा) के अनुसार विचरण-कथन-भक्षण वाला होना, तथा यथासम्भव मूत्रमलादि वाला होना यह लोक मे अति प्रसिद्ध बाल्य (बालकता) है, उसका यहाँ ग्रहण होना युक्त (उचित) है। यदि कहा जाय कि पतितत्वादि दोष की प्राप्ति से यथेष्टाचारतादि का आश्रयण युक्त नहीं है, तो कहा जाता है कि वैध पशुहिंसा आदि मे दोषाभाव के समान विद्यावाले सन्यासी के वचन सामर्थ्य से दोष की निवृत्ति से कामचारता आदि का आश्रयण प्रयुक्त नहीं है।

एवं प्राप्तेऽभिधीयते। न। वचनस्य गत्यन्तरसम्भवात्। अविरुद्धे ह्यन्यस्मिन्बाल्यशब्दाभिलप्ये लभ्यमाने न विध्यन्तरव्याघातकल्पना युक्ता। प्रधानोपकाराय चाङ्गं विधीयते। ज्ञानाभ्यासश्च प्रधानमिह यतीनामनुष्ठेयम्। न च सकलायां बालचर्यायामङ्गीक्रियमाणायां ज्ञानाभ्यासः सम्भाव्यते तस्मादान्तरो भावविशेषो बालस्याप्ररूढेन्द्रियत्वादिरिह बाल्यमाश्रीयते। तदाह—अनाविष्कुर्वन्निति। ज्ञानाध्ययनधार्मिकत्वादिभिरात्मानमविख्यापयन्दम्भदर्पादिरहितो भवेत्, यथा बालोऽप्ररूढेन्द्रियतया न परेषामात्मानमाविष्कर्तुमीहते तद्वत्। एवं ह्यस्य वाक्यस्य प्रधानोपकार्यर्थानुगम उपपद्यते। तथा चोक्तं स्मृतिकारैः—

> यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्।
> न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स ब्राह्मणः॥
> गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत्।
> अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत्॥
> 'अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारः' इति चैवमादि॥ ५०॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहा जाता है कि बाल्य वचन का गत्यन्तर (अर्थान्तर) के सम्भव से उक्तार्थ युक्त नहीं है, जिससे शास्त्र से अविरुद्ध अन्य बाल्यशब्द के अभिलप्य (वाच्यार्थ) के लभ्यमान (प्रतीयमान) होने अन्य विधि के व्याघात की कल्पना युक्त नहीं है। प्रधान के उपकार के लिए अङ्ग (साधन) का विधान किया जाता है। यहाँ यतियो का अनुष्ठेय (कर्तव्य) ज्ञानाभ्यास प्रधान है। सम्पूर्ण बालचर्या (बाल्यव्यवहार) के अङ्गीकार करने पर ज्ञान के अभ्यास का सम्भव नहीं हो सकता है, अतः अन्तर्वर्ती भावविशेष (शुद्धभाव) बाल का अप्ररूढेन्द्रियवत्त्वादि यहाँ बाल्यस्वीकृत होता है। उसे कहते है कि (अनाविष्कुर्वन्निति) ज्ञान अध्ययन धार्मिकत्वादि के द्वारा अपनी प्रख्याति आप नहीं करता हुवा दम्भ-दर्पादि से रहित जिज्ञासु को रहना चाहिए।

अप्ररूढेन्द्रिय वाला होने से बालक जैसे अन्य लोगों में अपने को प्रख्यात करने के लिए चेष्टा नहीं करता है, वैसे जिज्ञासु और विद्वान् को रहना चाहिए। इस प्रकार ही इस वाक्य के प्रधान के उपकारी अर्थ का अनुगम (संबन्ध अनुभव) उपपन्न होता है। इसी प्रकार स्मृतिकारों ने कहा है कि (जिसको कोई सन्त-असन्त, अश्रुत-बहुश्रुत, सुवृत्त-दुर्वृत्त नहीं जानता है वह ब्राह्मण है)। गूढधर्म के आश्रित रहने वाला विद्वान् लोगों से अज्ञात चरित का आचरण करे। अन्ध, जड़, मूक के समान भूमि में विचरे (अव्यक्त लिङ्गवाला अव्यक्त आचार वाला रहे) इत्यादि ॥ ५० ॥

ऐहिकाधिकरणम् ।

इहैव नियतं ज्ञानं पाक्षिकं वा नियम्यते। तथाभिसन्धेर्यज्ञादिः क्षीणो विविदिषाजनौ ॥ १ ॥
असति प्रतिबन्धेऽत्र ज्ञानं जन्मान्तरेऽन्यथा। श्रवणायेत्यादिशास्त्राद्वामदेवोद्भवादपि ॥ २ ॥

प्रस्तुत कर्म से प्रतिबन्ध के नहीं रहते, अर्थात् अप्रस्तुत-अनुपस्थित प्रतिबन्ध वाले में (ऐहिक) इस वर्तमान जन्म में होने वाले ज्ञान को श्रवणादि साधन उत्पन्न करते हैं। प्रतिबन्ध के रहते पारलौकिक ज्ञान के हेतु हैं। सो श्रुति दर्शन से सिद्ध होता है। संशय है कि श्रवणादि साधनों से इस जन्म में नियत (अवश्य) ज्ञान होता है, वा पाक्षिक होता है, अर्थात् इस जन्म में वा जन्मान्तर में अनियम से होता है। पूर्वपक्ष है, कि इसी जन्म में ज्ञान की अभिसन्धि (अभिलाषा) से नियम किया जाता है, अर्थात् मनुष्य वर्तमान जन्म में ज्ञान की इच्छा से साधन में प्रवृत्त होता है इससे वर्तमान जन्म में ही ज्ञान होता है, ऐसा नियम है। यज्ञादि रूप बहिरंग साधन विविदिषा की उत्पत्ति में ही क्षीण हो जाते हैं, वे भी पारलौकिक ज्ञान के हेतु नहीं हो सकते हैं, इससे नियम उचित है॥ सिद्धान्त है कि प्रतिबन्ध के नहीं रहने पर श्रवणादि से वर्तमान जन्म में ज्ञान होता है, अन्यथा जन्मान्तर में होता है, (श्रवणाय) इत्यादि श्रुति से और वामदेव के गर्भ में ज्ञानोद्भव से ऐसा निश्चय होता है ॥ १-२ ॥

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥ ५१ ॥

'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (ब्र० सू० ३।४।२६) इत्यत आरभ्योच्चावचं विद्यासाधनमवधारितं, तत्फलं विद्या सिद्धयन्ती किमिहैव जन्मनि सिद्धयत्युत कदाचिदमुत्रापीति चिन्त्यते। किं तावत्प्राप्तम् ? इहैवेति। किं कारणम् ? श्रवणादिपूर्विका हि विद्या। नच कश्चिदमुत्र मे विद्या जायतामित्यभिसन्धाय श्रवणादिषु प्रवर्तते। समान एव तु जन्मनि विद्याजन्माभिसन्धायैतेषु प्रवर्तमानो दृश्यते। यज्ञादीन्यपि श्रवणादिद्वारेणैव विद्यां जनयन्ति प्रमाणजन्यत्वाद्विद्यायाः। तस्मादैहिकमेव विद्याजन्मेति।

(सर्वापेक्षा च) इत्यादि सूत्र से आरम्भ करके अनेक प्रकार के विद्या के साधनों का अवधारण किया गया है, इससे विद्या के साधन अवधारित हो चुके हैं, उनके फलरूप से सिद्ध होती हुई विद्या क्या इसी जन्म में सिद्ध होती है, अथवा कभी परलोक में

अन्य जन्म में भी सिद्ध होती है, यह विचार किया जाता है। वहाँ प्रथम क्या प्राप्त होता है ऐसी जिज्ञासा होने पर कोई कहते हैं कि इस जन्म में ही ज्ञान होता है, उसमें कारण क्या है कि श्रवणादि पूर्वक ही विद्या होती है, और मुझे परलोक में जन्मान्तर में ज्ञान उत्पन्न हो ऐसा अभिसंधान (संकल्प-निश्चय) करके श्रवणादि में कोई नहीं प्रवृत्त होता है किन्तु साधन के साथ समान (तुल्य एक) जन्म में विद्या के जन्म का अभिसंधान करके इन श्रवणादिकों में प्रवर्तमान देखा जाता है। विद्या के प्रमाणजन्य होने से यज्ञादि भी श्रवणादि द्वारा ही विद्या को उत्पन्न करते हैं। इससे यज्ञादि भी स्वर्गादि के समान परलोक में विद्या को नहीं उत्पन्न कर सकते हैं, अतः इस जन्म में होने ही वाली विद्या का जन्म होता है।

एवं प्राप्ते वदामः—ऐहिकं विद्याजन्म भवत्यसति प्रस्तुतप्रतिबन्ध इति। एतदुक्तं भवति—यदा प्रक्रान्तस्य विद्यासाधनस्य कश्चित्प्रतिबन्धो न क्रियते उपस्थितविपाकेन कर्मान्तरेण तदेहैव विद्योत्पद्यते, यदा तु खलु तत्प्रतिबन्धः क्रियते तदामुत्रेति। उपस्थितविपाकत्वं च कर्मणो देशकालनिमित्तोपनिपाताद्भवति। यानि चैकस्य कर्मणो विपाचकानि देशकालनिमित्तानि तान्येवान्यस्यापीति न नियन्तुं शक्यते, यतो विरुद्धफलान्यपि कर्माणि भवन्ति। शास्त्रमप्यस्य कर्मण इदं फलं भवतीत्येतावति पर्यवसितं न देशकालनिमित्तविशेषमपि संकीर्तयति। साधनवीर्यविशेषात्त्वतीन्द्रिया कस्यचिच्छक्तिराविर्भवति तत्प्रतिबद्धा परस्य तिष्ठति। नचाविशेषेण विद्यायामभिसन्धिर्नोत्पद्येत इहामुत्र वा मे विद्या जायतामित्यभिसन्धेर्निरङ्कुशत्वात्। श्रवणादिद्वारेणापि विद्योत्पद्यमाना प्रतिबन्धक्षयापेक्षयैवोत्पद्यते।

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि प्रस्तुत प्रतिबन्ध के नहीं रहने पर ऐहिक विद्या का जन्म होता है। इससे यह उक्त होता है कहा जाता है कि जब उपक्रान्त (आरब्ध) विद्या के साधन का उपस्थित फल वाला कर्मान्तर से कोई प्रतिबन्ध (विघ्न रुकावट) नहीं किया जाता है, तब तो इस वर्तमान जन्म में ही विद्या उत्पन्न होती है, और जब वह प्रतिबन्ध किया जाता है, तब परलोक में जन्मान्तर में विद्या की उत्पत्ति होती है। विघ्न के हेतुरूप प्रारब्ध कर्म का उपस्थित विपाकत्व (प्राप्त-फलत्व) देश-कालरूप निमित्त के उपनिपात (प्राप्ति) से होता है, उसे कोई साधन रोक नहीं सकता है। जो देश-काल निमित्त एक कर्म के विपाचक (फल हेतु) होते हैं, वही अन्य कर्म के भी विपाचक हों ऐसा नियम नहीं किया जा सकता है, जिससे विरुद्धफल वाले भी कर्म होते हैं अर्थात् श्रवणादि में विरुद्ध फल वाले ज्ञान के प्रतिबन्धक कर्म होते हैं उनके विपाचक देश-काल निमित्त से श्रवण का विपाक नहीं हो सकता है। शास्त्र भी इस कर्म का यह फल होता है इतने अर्थ में पर्यवसित (समाप्त) है। देशकाल और निमित्त विशेष का भी संकीर्तन नहीं करता है, फल के द्वारा देश-कालादि का ज्ञान होता है। साधन के वीर्य (शक्ति) विशेष से तो किसी

कर्म का अतीन्द्रिय शक्ति विशेष आविर्भूत (प्रकट) होता है। उससे प्रतिवन्ध होकर अन्य कर्म की शक्ति वर्तमान रहती है। अर्थात् प्रतिवन्ध से ही प्रतिवन्धक की प्रवल शक्ति समझी जाती है। अभिसंधि (संकल्प) के निरंकुश (स्वतन्त्र) होने से, यहाँ वा परलोक में मुझे विद्या उत्पन्न हो, इस प्रकार की विद्याविषयक अविशेष (सामान्य) रूप से अभिसन्धि नहीं उत्पन्न होती है, यह नहीं कहा जा सकता है। श्रवणादि द्वारा भी उत्पन्न होने वाली विद्या प्रतिवन्धक्षय की अपेक्षा करके ही उत्पन्न होती है।

तथा च श्रुतिर्दुर्बोधत्वमात्मनो दर्शयति—
श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥

(क० २।७) इति। गर्भस्थ एव च वामदेवः प्रतिपेदे ब्रह्मभावमिति वदन्ती जन्मान्तरसंचितात्साधनादपि जन्मान्तरे विद्योत्पत्तिं दर्शयति। नहि गर्भस्थस्यैवैहिकं किंचित्साधनं सम्भाव्यते। स्मृतावपि–'अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति' (गी० ६।३७) इत्यर्जुनेन पृष्टो भगवान्वासुदेवः 'नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति' (गी० ६।४०) इत्युक्त्वा पुनस्तस्य पुण्यलोकप्राप्तिं साधुकुले सम्भूतिं चाभिधायानन्तरम् 'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्' (गी० ६।४३) इत्यादिना 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (गी० ६।४५) इत्यन्तेनैतदेव दर्शयति। तस्मादैहिकमामुष्मिकं वा विद्याजन्म प्रतिबन्धक्षयापेक्षयेति स्थितम्॥ ५१॥

इसी प्रकार प्रतिवन्धादि से आत्मा के दुर्बोधत्व (कष्टसाध्य बोध) को श्रुति दर्शाती है कि (बहुतों को श्रवण के लिए भी जो आत्मा नहीं प्राप्त होने योग्य है, बहुत श्रवण करने वाले भी जिसको नहीं समझते हैं। इस आत्मा का वक्ता आश्चर्य रूप कोई विरल होता है, कोई कुशल इसका लाभ करने वाला होता है जिससे कुशल गुरु से अनुशिष्ट आश्चर्य रूप ही इसका कोई ज्ञाता होता है) और गर्भस्थ ही वामदेव ऋषि ने ब्रह्मभाव को समझा प्राप्त किया इस प्रकार कहती हुई श्रुति जन्मान्तर में संचित साधन से भी अन्य जन्म में विद्या की उत्पत्ति को दर्शाती है, जिससे गर्भस्थ को ही ऐहिक कुछ साधन का संभव नहीं हो सकता है। स्मृति में भी (हे कृष्ण ! योग से चलित मनवाला योग की संसिद्धि—योग के फल रूप सम्यक् दर्शन मोक्ष को नहीं प्राप्त करके मरने पर किस गति को प्राप्त होता है) इस प्रकार अर्जुन से पूछे गये भगवान् वासुदेव (हे तात ! शिष्य !) कल्याण—शुभ करने वाला कोई भी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता है। ऐसा कह कर फिर उस पुण्यकर्ता की पुण्यलोक मे प्राप्ति और साधुकुल में संभूति (जन्म) को कहकर, उसके बाद (उस कुल में पूर्वदेहसम्बन्धी उस बुद्धि-संयोग का लाभ करता है) इत्यादि से (अनेक जन्मों में संचित संस्कारों द्वारा सम्यक् सिद्ध होकर अनुभव को प्राप्त करके तब परगति को प्राप्त करता है) यहाँ तक के

उपदेशों में यह उक्तार्थ ही दर्शाते हैं। उससे प्रतिबन्ध-क्षय की अपेक्षापूर्वक ऐहिक वा पारलौकिक विद्या का जन्म होता है यह स्थित हुआ ॥ ५१ ॥

मुक्तिफलाधिकरणम् ।

मुक्तिः सातिशया नो वा फलत्वाद् ब्रह्मलोकवत् । स्वर्गवच्च नृभेदेन मुक्तिः सातिशयेन हि ॥
ब्रह्मैव मुक्तिर्न ब्रह्म क्वचित्सातिशयं श्रुतम् । अत एकविधा मुक्तिर्वेधसो मनुजस्य वा ॥

श्रवणादि के फलरूप ज्ञान में ऐहिक आमुष्मिक (लौकिक पारलौकिक) का नियम है, अर्थात् श्रवणादि साधन के होने पर अब ही ज्ञान की प्राप्ति हो यह नियम नहीं है, किन्तु प्रतिबन्ध क्षय की अपेक्षा साधन की प्राप्ति होने पर भी रहती है, मुक्ति रूप फल में इस प्रकार का अनियम है (नियम का अभाव है) अपरोक्ष ज्ञान होने पर मोक्ष में कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता है, ज्ञानाग्नि सब प्रतिबन्ध को दग्ध करती हुई उत्पन्न होती है, इससे लोक-परलोक का नियम नहीं रहता है, मोक्ष में यह विशेष नियम इससे नहीं है कि जिससे मोक्ष में ब्रह्मावस्था-ब्रह्मरूपता का अवधारण है और ब्रह्म सब भेद से रहित है ॥ यहाँ संशय है कि मुक्ति सातिशय (भेदयुक्त) है, अथवा सातिशय नहीं है। पूर्वपक्ष है कि फल होने से जैसे ब्रह्मलोक और स्वर्ग, सालोक्य सामीप्यादि उत्तममध्यमादि भेद वाले होते हैं, वैसे ही मुक्ति भी मनुष्य के भेद से अतिशययुक्त है। सिद्धान्त है कि ब्रह्मस्वरूपता मुक्ति है। ब्रह्म कहीं भी अतिशययुक्त नहीं सुना गया है। इससे ब्रह्मा की वा मनुष्य की मुक्ति एक प्रकार की, एक स्वरूप ही होती है ॥ १-२ ॥

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ॥ ५२ ॥

यथा मुमुक्षोर्विद्यासाधनावलम्बिनः साधनवीर्यविशेषाद्विद्यालक्षणे फले ऐहिकामुष्मिकफलत्वकृतो विशेषप्रतिनियमो दृष्टः, एवं मुक्तिलक्षणेऽप्युत्कर्षापकर्षकृतः कश्चिद्विशेषप्रतिनियमः स्यादित्याशङ्क्याह—एवं मुक्तिफलानियम इति। न खलु मुक्तिफले कश्चिदेवंभूतो विशेषप्रतिनियम आशङ्कितव्यः। कुतः? तदवस्थावधृतेः। मुक्त्यवस्था हि सर्ववेदान्तेष्वेकरूपैवावधार्यते, ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था, न च ब्रह्मणोऽनेकाकारयोगोऽस्ति। एकलिङ्गत्वावधारणात् 'अस्थूलमनणु' (बृ० ३।८।८) 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६) 'यत्र नान्यत्पश्यति (छा० ७।२४।१) 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात्' (मुण्ड० २।२।११) 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० २।४।६) 'स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५) 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० ४।५।१५) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

जैसे विद्या के साधना का अवलम्बन (अनुष्ठान) करने वाले मुमुक्षु के विद्यारूप फल में साधनों के वीर्य (सामर्थ्य) विशेष से ऐहिक फलत्व और आमुष्मिक (पारलौकिक) फलत्व से किया गया विशेष का प्रतिनियम देखा गया है, कि प्रबल

निर्विघ्न साधन वाले को वर्तमान जन्म में ज्ञान होता है, अन्य को जन्मान्तर में होता है इत्यादि। इसी प्रकार मुक्तिरूप विद्या के फल में भी विद्यागत उत्कर्ष (अतिशय) अपकर्ष (न्यूनता) से किया गया कोई विशेष का प्रतिनियम (प्राप्ति में भेद) होगा। ऐसी आशंका करके कहते है कि (एवं मुक्तिफलानियम इति) मुक्तिरूप फल में ऐसा ज्ञान के समान प्रतिनियम नहीं है। न मुक्तिरूप फल में इस प्रकार का कोई विशेष प्रतिनियम आशंका ही के योग्य है। क्योंकि उस मुक्ति अवस्था की अवधृति से आशंका की योग्यता नहीं है। जिससे मुक्तिरूप अवस्था सब वेदान्तों में एक स्वरूप वाली ही अवधारित (निश्चित) कराई जाती है, अतः ब्रह्म ही मुक्ति अवस्था है, और ब्रह्म को अनेक आकार के साथ सम्बन्ध नही है, वह निराकार एकरस अद्वितीय है, वह एकलिङ्गत्व (एकलक्षणत्व) के अवधारण से सिद्ध होता है। (अक्षरब्रह्म स्थूल-अणु आदि स्वरूप नहीं है। सो यह सर्वाधार आत्मा नेतिनेति—सब विशेष से रहित कहा गया है। जिसमें अन्य को नहीं देखता है सो ब्रह्म है। अमृतस्वरूप ब्रह्म पूर्व पश्चिम आदि सब दिशाओं में सत्य है। जो यह सब जगत् है सो इस आत्मस्वरूप ही है। सो यह आत्मा महान्, अज, अजर, अमर, अमृत, अभय, ब्रह्मस्वरूप है। जिस अवस्था में इस ज्ञानी का सब आत्मा ही हो गया उस अवस्था में किससे किसको देखे) इत्यादि श्रुतियों से उस एक लिङ्गत्व का अवधारण होता है।

अपिच विद्यासाधनं स्ववीर्यविशेषात् स्वफल एव विद्यायां कंचिदतिशयमासञ्जयेन्न विद्याफले मुक्तौ, तद्ध्यसाध्यं नित्यसिद्धस्वभावभूतमेव विद्ययाधिगम्यत इत्यसकृदवादिष्म। नच तस्यामप्युत्कर्षनिकर्षात्मकोऽतिशय उपपद्यते निकृष्टाया विद्यात्वाभावात्कृष्टैव हि विद्या भवति, तस्मात्तस्यां चिराचिरोत्पत्तिस्वरूपोऽतिशयो भवन्भवेत्, नतु मुक्तौ कश्चिदतिशयसंभवोऽस्ति। विद्याभेदाभावादपि तत्फलभेदनियमाभावः कर्मफलवत्, नहि मुक्तिसाधनभूताया विद्यायाः कर्मणामिव भेदोऽस्तीति। सगुणासु तु विद्यासु—'मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० ३।१४।२) इत्याद्यासु गुणावापोद्वापवशाद्भेदोपपत्तौ सत्यामुपपद्यते यथास्वं फलभेदनियमः कर्मफलवत्। तथा च लिङ्गदर्शनम्—'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति। नैवं निर्गुणायां विद्यायां गुणाभावात्। तथा च स्मृतिः—

दूसरी बात है कि विद्या के साधन विवेकादि श्रवणादि भी अपने वीर्य (प्रभाव) विशेष से अपने फल रूप विद्या में ही किसी अतिशय का सम्बन्ध करायेंगे, विद्या के फलरूप मुक्ति में अतिशय का सम्बन्ध नहीं करा सकते है। जिससे वह विद्या का फल मोक्ष असाध्य (अकार्य) नित्यसिद्धस्वभावस्वरूप ही विद्या में अविद्या की निवृत्ति द्वारा अधिगत (प्राप्त-अभिव्यक्त-अनुभूत) होता है, यह अनेक वार कह चुके है। वस्तुतः उस एकरस ब्रह्मविषयक विद्या में भी उत्कर्ष (अतिशय) निकर्ष (अपकर्ष) स्वरूप

अतिशय (भेद) नहीं उपपन्न होता है जिससे अपकर्षयुक्त निकृष्ट में विद्यात्व के अभाव से उत्कृष्टा (अविद्या के नाश में समर्था) ही विद्या होती है। अतः उस विद्या में चिरकाल में अचिरकाल में उत्पत्ति स्वरूप अतिशय (भेद) होना हुआ भले ही हो सकता है परन्तु मुक्ति में किसी अतिशय का सम्भव नहीं है। निर्गुण आत्मविद्या में गुणादिकृत भेद के अभाव से भी गुणकृत कर्मफल भेद के समान उस विद्याफल में भेद नियम का अभाव है। जिससे मुक्ति के साधन स्वरूप विद्या को कर्मों के समान भेद नहीं है। (आत्मा मनोमय है प्राणरूप शरीर वाला है) इत्यादि सगुण विद्याओं में तो अधिक गुणों का आवाप (ग्रहण) और गृहीत गुणों का उद्वाप (त्याग) के वश से भेद की उपपत्ति होने पर कर्मफल के समान स्वरूप के अनुसार फलभेद का नियम उपपन्न होता है। इस प्रकार का लिङ्ग (हेतु) दर्शन है कि (उस परमात्मा की जिस जिस प्रकार से उपासना करता है वैसा ही फल होता है) गुण के अभाव से निर्गुण विद्या में इस प्रकार फलभेद का नियम नहीं है। इस प्रकार की स्मृति है कि—

नहि गतिरधिकास्ति कस्यचित्सति हि गुणे प्रवदन्त्यतुल्यताम् । इति ।

तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेरिति पदाभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ ५२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ
शारीरकमीमांसाभाष्ये तृतीयाध्यायस्य
चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

(किसी निर्गुण ब्रह्मज्ञानी की अधिक गति—मुक्ति नहीं होती है किन्तु सब ज्ञानी की सम—एकरस मुक्ति होती है, जिसमें गुण के रहने पर अतुल्यता भेद को कहते हैं) (तदवस्थावधृते) इस पद का अभ्यास—दो बार का उच्चारण अध्याय की समाप्ति का द्योतन करता है ॥ ५२ ॥

अज्ञानमूलको बन्धो ज्ञानेन प्रविलीयते ।
सूर्येणान्धतमो यद्वत्तमोमूलं भ्रमादिकम् ॥ १ ॥
कर्मणा चित्तसंशुद्धौ विरागजनिसम्भवः ।
विरागे परमे जाते श्रवणादौ प्रवर्तते ॥ २ ॥
श्रवणादौ प्रवृत्तस्तु गुरुशास्त्रप्रसादतः ।
ज्ञात्वा ह्यात्मानमद्वैतं नित्यं मोमुच्यते स्वयम् ॥ ३ ॥

इति ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्ये तृतीयोऽध्यायः ।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

[अत्रास्मिन् फलाध्याये प्रथमपादे जीवन्मुक्तिनिरूपणम्]

आवृत्त्यधिकरणम्

श्रवणाद्याः सकृत्कार्या आवर्त्या वा सकृद्यतः। शास्त्रार्थस्तावता सिध्येत्प्रयाजादौ सकृत्कृतेः॥
आवर्त्या दर्शनान्तास्ते तण्डुलान्तावघातवत्। दृष्टेऽत्र सम्भवत्यर्थे नादृष्टं कल्प्यते बुधैः॥

ज्ञानार्थक उपदिष्ट श्रवणादि साधनों के असकृत् अनेक वार उपदेश से इन्हें दृष्ट-फलार्थकत्व है, यज्ञादि के समान अदृष्टार्थकत्व नहीं है, इससे दृष्टार्थक अवघात के समान अपरोक्षात्मानुभव पर्यन्त श्रवणादि की आवृत्ति कर्तव्य होता है॥ यहाँ संशय है कि श्रवणादि एक एक वार करना चाहिए, अथवा आवृत्ति द्वारा अनेकानेक वार करना चाहिए। पूर्वपक्ष है कि जैसे दर्शादि के साधन प्रयाजादि विषयक एक वार की (कृति) क्रिया से शास्त्रार्थ सम्पादित हो जाता है, इसी प्रकार एक-एक वार श्रवणादि करना चाहिए। इससे उतने ही से शास्त्रार्थ सिद्ध हो जायगा, शास्त्र की आज्ञा पालित हो जायगी॥ सिद्धान्त है कि श्रवणादि प्रयाजादि के समान अदृष्टार्थक नहीं हैं किन्तु अवघात के समान दृष्टार्थक हैं, इससे तण्डुलान्त अवघात के समान आत्मदर्शन पर्यन्त वे श्रवणादि आवृत्ति के योग्य हैं। यहाँ दृष्टफल के सम्भव रहते अदृष्टफल विद्वानों से नहीं कल्पित होता है॥ १—२॥

आवृत्तिरसकृदुपदेशात्॥ १॥

तृतीयेऽध्याये परापरासु विद्यासु साधनाश्रयो विचारः प्रायेणात्यगात्। अथेह चतुर्थेऽध्याये फलाश्रय आगमिष्यति। प्रसङ्गागतं चान्यदपि किंचिच्चिन्तयिष्यते। प्रथमं तावत्कतिभिश्चिदधिकरणैः साधनाश्रयविचारशेषमेवानुसरामः। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० ४।४।६) 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत' (बृ० ४।४।२१) 'सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः' (छा० ८।७।१) इति चैवमादिश्रवणेषु संशयः—किं सकृत्प्रत्ययः कर्तव्य आहोस्विदावृत्त्येति। किं तावत्प्राप्तम्? सकृत्प्रत्ययः स्यात्प्रयाजादिवत्, तावता शास्त्रस्य कृतार्थत्वात्। अश्रूयमाणायां ह्यावृत्तौ क्रियमाणायामशास्त्रार्थः कृतो भवेत्। नन्वसकृदुपदेशा उदाहृताः 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य' इत्येवमादयः। एवमपि यावच्छब्दमावर्तयेत्सकृच्छ्रवणं सकृन्मननं सकृन्निदिध्यासनं चेति नातिरिक्तम्, सकृदुपदेशेषु तु वेदोपासीतेत्येवमादिष्वनावृत्तिरिति।

तृतीय अध्याय में परा और अपरा विद्या विषयक साधन सम्बन्धी विचार प्रायः हुआ है। उसके बाद इस चतुर्थ अध्याय में फलसम्बन्धी विचार आवेगा। प्रसंग से

प्राप्त अन्य कुछ अर्चि आदि मार्ग की भी चिन्ता (विचार) की जायगी। प्रथम तो कई एक अधिकरणों द्वारा साधनाश्रित विचार शेष का ही अनुसरण (वर्णन) करते हैं कि (अरे मैत्रेयि ! आत्मा ही प्रत्यक्ष दर्शन के योग्य है और उस दर्शन के लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन कर्तव्य हैं। उस अज अविनाशी आत्मा को उपदेश और शास्त्र से जानकर प्रकृष्ट साधन का अनुष्ठान अपरोक्षानुभव के लिए करे। वह आत्मा ही साधन उपदेशादि द्वारा अन्वेषण-- अनुभव करने के योग्य है, आत्मा ही विशेषरूप से जानने के लिए विचारार्ह है) इत्यादि श्रवणविषयक संशय होता है कि, क्या एक बार श्रवणादि द्वारा एक प्रत्यय (ज्ञान) करना चाहिए अथवा आवृत्ति द्वारा प्रत्यय करना चाहिए। अर्थात् एक एक बार आत्मा के श्रवणादि करना चाहिए या अपरोक्षानुभव पर्यन्त बार-बार श्रवणादि करना चाहिए। प्रथम प्राप्त क्या है कि प्रयाजादि के समान एक बार प्रत्यय होगा। क्योंकि उतने ही से शास्त्र को कृतार्थत्व हो जाता है। अश्रुत आवृत्ति के करने पर अशास्त्रार्थ (शास्त्रविरुद्धार्थ) अनुष्ठित होगा। यदि कहा जाय कि (श्रवण कर्तव्य है, मनन कर्तव्य है, ध्यान कर्तव्य है) इत्यादि अनेक बार उपदेश उदाहृत (कथित) हुआ है, फिर आवृत्ति से शास्त्र विरुद्ध कैसे होगा, तो कहा जाता है कि इस प्रकार भी जितने शब्द हैं उतनी ही आवृत्ति करनी चाहिए, एक बार श्रवण, एक बार मनन, और एक बार निदिध्यासन (ध्यान) करना चाहिए, इससे अतिरिक्त (अन्य-अधिक) नहीं करना चाहिए। (वेद । उपासीत) जानना है। उपासना करे। इत्यादि एक बार उपदेशों में तो अनावृत्ति है, आवृत्ति का सर्वथा अभाव है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः ? प्रत्ययावृत्तिः कर्तव्या। कुतः ? असकृदुपदेशात् 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्येवंजातीयको ह्यसकृदुपदेशः प्रत्ययावृत्तिं सूचयति। ननूक्तं यावच्छब्दमेवावर्तयेन्नाधिकमिति। न दर्शनपर्यवसितत्वादेषाम्। दर्शनपर्यवसानानि हि श्रवणादीन्यावर्त्यमानानि दृष्टार्थानि भवन्ति, यथाऽवघातादीनि तण्डुलादिनिष्पत्तिपर्यवसानानि तद्वत्। अपि चोपासनं निदिध्यासनं चेत्यन्तर्णीतावृत्तिगुणैव क्रियाभिधीयते। तथाहि लोके गुरुमुपास्ते राजानमुपास्त इति च यस्तात्पर्येण गुर्वादीननुवर्तते स एवमुच्यते। तथा ध्यायति प्रोषितनाथा या निरन्तरस्मरणा पतिं प्रति सोत्कण्ठा सैवमभिधीयते। विदुपास्त्योश्च वेदान्तेष्वव्यतिरेकेण प्रयोगो दृश्यते। क्वचिद्विदिनोपक्रम्योपास्तिनोपसंहरति, यथा 'यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्तः' (छा० ४।१।४) इत्यत्र 'अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से' (छा० ४।२।२) इति। क्वचिच्चोपासिनोपक्रम्य विदिनोपसंहरति यथा—'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' (छा० ३।१८।१) इत्यत्र 'भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद' (छा० ३। १८।३) इति। तस्मात्सकृदुपदेशेष्वप्यावृत्तिसिद्धिः। असकृदुपदेशस्त्वावृत्तेः सूचकः ॥ १ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि श्रवणादि प्रत्यय की आवृत्ति कर्तव्य है। क्योंकि असकृत् (अनेक बार) के उपदेश से आवृत्ति की कर्तव्यता सिद्ध होती है। जिससे (श्रवण कर्तव्य है, मनन कर्तव्य है, ध्यान कर्तव्य है) इस प्रकार का अनेक वार का उपदेश आवृत्ति को सूचित करता है। यदि कहो कि ऐसा होने पर भी जितने शब्द है, उतनी ही आवृत्ति होनी चाहिए अधिक नहीं, यह कहा जा चुका है, तो कहा जाता है कि इन श्रवणादि प्रत्ययों के दर्शन पर्यवसितत्व (दर्शन में समाप्ति) होने से जितने शब्द हैं उतनी ही आवृत्ति का नियम नहीं हो सकता है। जिससे आत्मदर्शन रूप पर्यवसान (अन्त) वाले, आवर्त्यमान (आवृत्तियुत) श्रवणादि दृष्टार्थक होते हैं। जैसे कि तण्डुल की सिद्धिरूप पर्यवसान वाले अवघातादि दृष्टार्थक होते हैं, उसके समान श्रवणादि दृष्टार्थक हैं। दूसरी बात है कि उपासना और निदिध्यासन इन शब्दों से अन्तर्गत आवृत्ति रूप गुण वाली क्रिया ही कही जाती है। जैसे कि लोक मे (गुरु की उपासना करता है, राजा की उपासना करता है) इस प्रकार वही कहा जाता है कि जो तत्परता से गुरु आदि का अनुवर्तन (सेवन) करता है। इसी प्रकार प्रोषितनाथा (विदेशस्थ पति वाली) स्त्री पति का ध्यान करती है, इस प्रकार वही स्त्री कही जाती है कि जो पति के प्रति उत्कण्ठा—उत्कटस्पृहा—युक्त होकर निरन्तर स्मरण वाली होती है। यदि कहो कि उपासना शब्द का उक्त रीति से आवृत्ति अर्थ हो सकता है परन्तु वेद इस शब्द से कहे गये अहंग्रह ज्ञानों में आवृत्ति कैसे सिद्ध होगी तो कहा जाता है कि विद् धातु और उपपूर्वक आस् धातु का वेदान्तों में अव्यतिरेक (अभिन्न) रूप से प्रयोग देखा जाता है, अर्थात् दोनों को एकार्थकत्व है। इसी से कहीं विद् धातु से उपक्रम करके उपास्ति से उपसंहार करते हैं, जैसे (जिस तत्त्व को रैक्व जानता है, उस तत्त्व को जो अन्य भी जानता है, उसको भी सब प्राणी के धर्म और धर्मों के फल सब प्राप्त होते हैं। ऐसा वह रैक्व यह मुझ से कहा गया है). यहाँ इस प्रकार के हंस के वचन को सुनकर रैक्व की शरण में जाकर जानश्रुति राजा ने उनसे कहा कि (हे भगवन्! जिस देवता की उपासना करते हो उसी देवता का उपदेश मेरे लिए करो) और कहीं उपास्ति से उपक्रम करके विद से उपसंहार करते हैं। जैसे (मनन शक्तिवाला अन्तःकरण की ब्रह्मरूप से उपासना करे) यहाँ (जो इस प्रकार जानता है सो कीर्ति, यश और ब्रह्मतेज से प्रकाशता है और तपता है) इति। अतः एक वार के उपदेशों में भी आवृत्ति की सिद्धि होती है। अनेक वार का उपदेश तो आवृत्ति का सूचक है ही ॥ १ ॥

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥

लिङ्गमपि प्रत्ययावृत्तिं प्रत्याययति। तथा ह्युद्गीथविज्ञानं प्रस्तुत्य 'आदित्य उद्गीथः' (छा० १।५।१) इत्येतदेकपुत्रतादोषेणापोद्य 'रश्मींस्त्वं पर्यावर्तयात्' (छा० ।१५।२) इति रश्मिबहुत्वविज्ञानं बहुपुत्रतायै विदधत्सिद्धवत्प्रत्ययावृत्तिं दर्शयति।

तस्मात्तत्सामान्यात्सर्वप्रत्ययेष्वावृत्तिसिद्धिः । अत्राह—भवतु नाम साध्यफलेषु प्रत्ययेष्वावृत्तिः, तेष्वावृत्तिसाध्यस्यातिशयस्य सम्भवात् । यस्तु परब्रह्मविषयः प्रत्ययो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमेवात्मभूतं परं ब्रह्म समर्पयति तत्र किमर्था वृत्तिरिति । सकृच्छ्रुतौ च ब्रह्मात्मत्वप्रतीत्यनुपपत्तेरावृत्त्यभ्युपगम इति चेत् । न । आवृत्तावपि तदनुपपत्तेः । यदि हि 'तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्येवंजातीयकं वाक्यं सकृच्छ्रूयमाणं ब्रह्मात्मत्वप्रतीतिं नोत्पादयेत्ततस्तदेवावर्त्यमानमुत्पादयिष्यतीति का प्रत्याशा स्यात् ।

लिङ्ग भी प्रत्ययो की आवृत्ति का ज्ञान कराता है । सो इस प्रकार कराता है कि उद्गीथ विज्ञान को प्रस्तुत करके (आदित्य उद्गीथ है) यह एक आदित्य उद्गीथ रूप से उपास्य है । परन्तु इस एक की उपासना से तुम मेरे एक पुत्र हुए हो, इस प्रकार पिता पुत्र के प्रति एकपुत्रता रूप दोष से एक की उपासना का निषेध करके कहता है कि तुम ऐसा नहीं करना किन्तु (तुम सूर्य के बहुत रश्मि और सूर्य का पृथक् चिंतन करो) तो बहुत पुत्र होंगे । इस प्रकार बहुपुत्रता के लिए रश्मिविषयक बहुत्व विज्ञान का विधान करता हुआ वचनसिद्ध तुल्य प्रत्यय की आवृत्ति को दर्शाता है । उस सामान्यता से सब प्रत्ययो में आवृत्ति की सिद्धि होती है, उद्गीथ प्रत्यय के साथ सब प्रत्ययों का ध्यानत्व अथवा साक्षात्कार रूप फलहेतु के सामान्य है । यहाँ पूर्वपक्षी कहता है कि साध्यफल वाले प्रत्ययो में आवृत्ति भले हो सकती है, जिससे उन प्रत्ययों में आवृत्ति से साध्य (जन्य) अतिशय—उत्कर्षता का सम्भव हो । परन्तु जो परब्रह्म विषयक वाक्यजन्य प्रत्यय, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव वाला आत्मस्वरूप ही परब्रह्म का समर्पण (अनुभव अपरोक्ष) कराता है, उस प्रत्यय विषयक आवृत्ति किस प्रयोजन के लिए होगी । यदि कहा जाय कि एक बार के श्रवण से ब्रह्मस्वरूपता की प्रतीति की अनुपपत्ति से आवृत्ति को स्वीकार किया जाता है, तो कहा जाता है कि यदि एक बार के श्रवण से ब्रह्मात्मत्व की प्रतीति की अनुपपत्ति होती है तो आवृत्ति होने पर भी उसकी अनुपपत्ति से आवृत्ति कर्तव्य नहीं है । क्योंकि यदि (तत्त्वमसि) इस प्रकार के वाक्य के एक बार सुनने पर, सुना हुआ भी वह वाक्य ब्रह्मस्वरूपता की प्रतीति को नहीं उत्पन्न करता है, तो उसके बाद आवृत्ति किया गया वही वाक्य ब्रह्मस्वरूपता प्रतीति को उत्पन्न करेगा ऐसी प्रत्याशा (प्रतीति विश्वास) क्या हो सकती है ।

अथोच्येत—न केवलं वाक्यं कंचिदर्थं साक्षात्कर्तुं शक्नोत्यतो युक्त्यपेक्षं वाक्यमनुभावयिष्यति ब्रह्मात्मत्वमिति । तथाप्यावृत्त्यानर्थक्यमेव । साऽपि हि युक्तिः सकृत्प्रवृत्तैव स्वमर्थमनुभावयिष्यति । अथापि स्याद्युक्त्या वाक्येन च सामान्यविषयमेव विज्ञानं क्रियते न विशेषविषयम्, यथास्ति मे हृदये शूलमित्यतो वाक्याद्गात्रकम्पादिलिङ्गाच्च शूलसद्भावसामान्यमेव

परः प्रतिपद्यते न विशेषमनुभवति, यथा स एव शूली। विशेषानुभवश्चाविद्याया निवर्तकस्ततस्तदर्थावृत्तिरिति चेत्। न। असकृदपि तावन्मात्रे क्रियमाणे विशेषविज्ञानोत्पत्त्यसम्भवात्। नहि सकृत्प्रयुक्ताभ्यां शास्त्रयुक्तिभ्यामनवगतो विशेषः शतकृत्वोऽपि प्रयुज्यमानाभ्यामवगन्तुं शक्यते। तस्माद्यदि शास्त्रयुक्तिभ्यां विशेषः प्रतिपाद्येत यदि वा सामान्यमेवोभयथापि सकृत्प्रवृत्ते एव ते स्वकार्यं कुरुत इत्यावृत्त्यनुपयोगः। नच सकृत्प्रयुक्ते शास्त्रयुक्ती कस्यचिदप्यनुभवं नोत्पादयत इति शक्यते नियन्तुं, विचित्रप्रज्ञत्वात्प्रतिपत्तॄणाम्। अपि चानेकांशोपेते लौकिके पदार्थे सामान्यविशेषवत्येकेनावधानेनैकमंशमवधारयत्यपरेणापरमिति स्यादप्यभ्यासोपयोगो यथा दीर्घप्रपाठकग्रहणादिषु, नतु निर्विशेषे ब्रह्मणि सामान्यविशेषरहिते चैतन्यमात्रात्मके प्रमोत्पत्तावभ्यासापेक्षा युक्तेति।

यदि कहा जाय कि केवल वाक्य किसी अर्थ को साक्षात् कराने मे समर्थ नहीं होता है, इससे युक्ति सहित वाक्य ब्रह्मस्वरूपता का अनुभव करायेगा। तो भी आवृत्ति अनर्थक ही है, जिससे एक वार ही प्रवृत्त वह युक्ति भी अनुभव करायेगी। यदि ऐसा विश्वास हो कि युक्ति और वाक्य से सामान्य विषयक ही विज्ञान किया जाता है, विशेष विषयक नहीं। जैसे मेरे हृदय मे शूल है, ऐसा किसी के वाक्य से और उसके गात्रकम्पादि रूप लिंग से अन्य कोई शूल के सद्भाव (अस्तित्व) सामान्य को ही समझ पाता है, विशेष का अनुभव वाक्य और लिंग से नहीं करता है, जैसे कि वही शूलवाला विशेष का जैसा अनुभव करता है, वैसा अन्य नहीं करता है। ब्रह्मात्मता के विशेष का अनुभव अविद्या का निवर्तक है, इससे विशेष के अनुभव के लिए आवृत्ति सार्थक है। तो कहा जाता है कि अनेक वार भी तावन्मात्र (श्रवण युक्तिमात्र) के कर लेने पर विशेष विज्ञान की उत्पत्ति के असम्भव से आवृत्ति सार्थक नहीं हो सकती है। जिससे एक वार प्रयुक्त (कृत) शास्त्र का श्रवण और युक्ति से अनवगत (अज्ञात) विशेष सौ वार भी प्रयुक्त शास्त्र और युक्ति से नहीं समझा जा सकता है। अतः यदि शास्त्र और युक्ति से विशेष प्रतिपादित होता हो। अथवा सामान्य ही प्रतिपादित होता हो, दोनों प्रकार से एक वार ही प्रवृत्त वे शास्त्र और युक्ति अपने कार्य को करते हैं, इससे आवृत्ति का उपयोग (फल) नहीं है। एक वार प्रयुक्त शास्त्र और युक्ति किसी के भी अनुभव को नहीं उत्पन्न करते है, इसलिए आवृत्ति कर्तव्य है, ऐसा नियम नहीं कर सकते हैं, क्योंकि प्रतिपत्ताओं (शास्त्रयुक्ति द्वारा अनुभवकर्ताओं) को विचित्रप्रज्ञत्व (विभिन्नबुद्धिमत्त्व) होता है। दूसरी बात है कि अनेक अंश से युक्त सामान्य विशेष वाले लौकिक पदार्थों मे एक अवधान (चिन्तन-ध्यान) से एक अंश का अवधारण (निश्चय-अनुभव) करता है, अन्य अवधान से अन्य अंश का अवधारण करता है, इससे वहाँ अभ्यास का उपयोग होगा भी, जैसे कि दीर्घ (बड़ा) प्रपाठक (अध्याय) के ग्रहण (ज्ञान) आदि में अभ्यास का उपयोग होता है। परन्तु

सामान्यविशेष रहित चैतन्यमात्र स्वरूप वाला निर्विशेष ब्रह्मविषयक प्रमा (यथार्थानुभव) की उत्पत्ति में अभ्यास की अपेक्षा युक्त नहीं है।

अत्रोच्यते—भवेदावृत्त्यानर्थक्यं तं प्रति यस्तत्त्वमसीति सकृदुक्तमेव ब्रह्मात्मत्वमनुभवितुं शक्नुयात्। यस्तु न शक्नोति तं प्रत्युपयुज्यत एवावृत्तिः। तथाहि छान्दोग्ये 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० ६।८।७) इत्युपदिश्य 'भूय एव मा भगवान्विज्ञापयतु' (छा० ६।८।७) इति पुनः पुनः परिचोद्यमानस्तत्तदाशङ्काकारणं निराकृत्य 'तत्त्वमसी'त्येवासकृदुपदिशति। तथाच 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृ० ४।५।६) इत्यादि दर्शितम्। ननूक्तं सकृच्छ्रुतं चेत्तत्त्वमसिवाक्यं स्वमर्थमनुभावयितुं न शक्नोति तत आवर्त्यमानमपि नैव शक्ष्यतीति। नैष दोषः। नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम। दृश्यन्ते हि सकृच्छ्रुताद्वाक्यान्मन्दप्रतीतं वाक्यार्थमावर्तयन्तस्तत्तदाभासव्युदासेन सम्यक्प्रतिपद्यमानाः।

इस प्रकार के पूर्वपक्ष होने पर ज्ञान के अधिकारियों के भेद से अब यहाँ उत्तर कहा जाता है कि उस ज्ञानाधिकारी के प्रति अभ्यास—आवृत्ति की अनर्थकता होगी कि जो एक बार गुरु से उक्त (कथित) ही (तत्त्वमसि) वह तुम हो, इस ब्रह्मस्वरूपता का अनुभव करने के लिए प्राक्तन संस्कारादि से समर्थ हो। जो इस प्रकार अनुभव के लिए समर्थ नहीं हो सकता है, उसके प्रति आवृत्ति उपयुक्त होती है। जिससे इसी प्रकार छान्दोग्य में (हे श्वेतकेतो ' तुम उस सद्ब्रह्मस्वरूप हो) इस प्रकार उपदेश करके (भगवन् मुझे फिर समझाइये) इस प्रकार बार-बार प्रेरित होते हुए तत्तत् आशंकाओं के कारणों का निराकरण करके (तुम उस ब्रह्मस्वरूप हो) यही अनेक बार उपदेश करते हैं। इसी प्रकार (श्रवण कर्तव्य है, मनन कर्तव्य है, ध्यान कर्तव्य है) इत्यादि भी दर्शित कराया गया है। यहाँ कहो कि यदि एक बार सुना गया (तत्त्वमसि) यह वाक्य अपने अर्थ का अनुभव नहीं करा सकता है, तो उसके बाद आवर्त्यमान (बार बार सुना गया) भी वही वाक्य अपने अर्थ का अनुभव नहीं करा सकेगा, यह कहा जा चुका है, तो कहा जाता है कि यहाँ यह दोष नहीं है, जिससे दृष्ट में यह अनुपपन्न है ऐसा नहीं कहा जा सकता है, और एकबार श्रुतवाक्य से अल्प प्रतीत वाक्यार्थ की आवृत्ति करने वाले तत्तद् आभास (संशय भ्रम) के निवारण द्वारा सम्यक् प्रतीति की प्राप्ति करते हुए देखे जाते हैं।

अपिच तत्त्वमसीत्येतद्वाक्यं त्वंपदार्थस्य तत्पदार्थभावमाचष्टे, तत्पदेन च प्रकृतं सद्ब्रह्मेक्षितृ जगतो जन्मादिकारणमभिधीयते 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० २।१।१) "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ० ३।९।२८), 'अदृष्टं द्रष्टृ' 'अविज्ञातं विज्ञातृ' (बृ० ३।८।११) 'अजमजरममरम्' 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३।८।८) इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धम्। तत्राजादिशब्दैर्जन्मादयो भावविकारा निवर्तिताः, अस्थूलादिशब्दैश्च स्थौल्यादयो द्रव्यधर्माः, विज्ञानादिशब्दैश्च चैतन्यप्रकाशा-

त्मकत्वमुक्तम्। एष व्यावृत्तसर्वसंसारधर्मकोऽनुभवात्मको ब्रह्मसंज्ञकस्तत्पदार्थो वेदान्ताभियुक्तानां प्रसिद्धः, तथा त्वंपदार्थोऽपि प्रत्यगात्मा श्रोतुः देहादारभ्य प्रत्यगात्मतया संभाव्यमानश्चैतन्यपर्यन्तत्वेनावधारितः। तत्र येषामेतौ पदार्थावज्ञानसंशयविपर्ययप्रतिबद्धौ तेषां तत्त्वमसीत्येतद्वाक्यं स्वार्थे प्रमां नोत्पादयितुं शक्नोति पदार्थज्ञानपूर्वकत्वाद्वाक्यार्थज्ञानस्येत्यतस्तान्प्रत्येष्टव्यः पदार्थविवेकप्रयोजनः शास्त्रयुक्त्यभ्यासः।

दूसरी बात है कि तत्त्वमसि यह वाक्य त्वंपदार्थ (जीव) का तत्पदार्थ (ईश्वर) स्वरूपता को कहता है। तत्पद से प्रकृत ईक्षणकर्ता (द्रष्टा) जगत के जन्मादि का कारण सत्य ब्रह्म कहा जाता है, कि जो ब्रह्म (सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म है। विज्ञान और आनन्दस्वरूप ब्रह्म है। अदृष्ट होते द्रष्टा, अविज्ञात होते विज्ञाता ब्रह्म है। अज, अजर-अमर है। स्थूल, अणु, ह्रस्व, दीर्घ ब्रह्म नही है। इत्यादि शास्त्रों से प्रसिद्ध है। वहाँ अज अजरादि शब्दों से जन्मादिरूप षड्विध (छः प्रकार के) भाव (कार्यवस्तु) के विकार (परिणाम) निवारित किए गए हैं कि ये ब्रह्म मे नहीं हैं। अस्थूल, अनणु इत्यादि शब्दो से द्रव्यो के धर्म निवारित किए गये हैं। विज्ञानादि शब्दों से चैतन्यात्मक प्रकाश स्वरूपत्व कहा गया है। यह व्यावृत सब संसार धर्मवाला, सब संसार धर्म से रहित, अनुभवस्वरूप ब्रह्म-नामवाला तत्पद का अर्थ वेदान्त मे अभियुक्तों (परिनिष्ठितो-समाहितों) को प्रसिद्ध है। इसी प्रकार (तत्त्वमसि) इस वाक्यगत त्वं पद का अर्थ प्रत्यगात्मा (अन्तरात्मा) भी श्रोता के स्थूल देह से आरम्भ करके इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की प्रत्यगात्मता रूप से संभाव्यमान (संभावित-निश्चित) होता हुआ चैतन्यपर्यन्त रूप से अवधारित (निश्चित) होता है, वेदान्ताभियुक्तों को अवधारित है। वहाँ जिनके ये दोनों पदार्थ अज्ञान, संशय और विपर्यय से प्रतिबद्ध (प्रतिहत अप्रकाशित) हैं। उनको तत्त्वमसि, यह वाक्य स्वार्थ-विषयक प्रमा को नहीं उत्पन्न करा सकता है, क्योंकि वाक्यार्थ के ज्ञान को पदार्थ-ज्ञानपूर्वकत्व होता है, अर्थात् पदार्थ-ज्ञानजन्य वाक्यार्थ-ज्ञान होता है। इससे उनके प्रति पदार्थो के विवेकरूप प्रयोजन वाला शास्त्र और युक्ति का अभ्यास स्वीकार करने योग्य और इष्ट मानने योग्य है।

यद्यपि च प्रतिपत्तव्य आत्मा निरंशस्तथाप्यध्यारोपितं तस्मिन्बह्वंशत्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादिलक्षणं तत्रैकेनावधानेनैकमंशमपोहत्यापरेणापरमिति युज्यते तत्र क्रमवती प्रतिपत्तिः। तत्तु पूर्वरूपमेवात्मप्रतिपत्तेः। येषां पुनर्निपुणमतीनां नाज्ञानसंशयविपर्ययलक्षणः पदार्थविषयः प्रतिबन्धोऽस्ति ते शक्नुवन्ति सकृदुक्तमेव तत्त्वमसिवाक्यार्थमनुभवितुमिति तान्प्रत्यावृत्त्यानर्थक्यमिष्टमेव। सकृदुत्पन्नैव ह्यात्मप्रतिपत्तिरविद्यां निवर्तयतीति नात्र कश्चिदपि क्रमोऽभ्युपगम्यते। सत्यमेवं युज्येत यदि कस्यचिदेव प्रतिपत्तिर्भवेत्। बलवती ह्यात्मनो दुःखित्वादिप्रतिपत्तिः, अतो न दुःखित्वाद्यभावं कश्चित्प्रतिपद्यत इति चेत्। न। देहाद्यभिमानवद्दुःखित्वाद्यभिमानस्य मिथ्याभि-

मानत्वोपपत्तेः। प्रत्यक्षं हि देहे छिद्यमाने दह्यमाने वाऽहं छिद्ये दह्ये इति च मिथ्याभिमानो दृष्टः, तथा बाह्यतरेष्वपि पुत्रमित्रादिषु संतप्यमानेष्वहमेव संतप्य इत्यध्यारोपो दृष्टः, तथा दुःखित्वाद्यभिमानोऽपि स्यात्। देहादिवदेव चैतन्याद्बहिरुपलभ्यमानत्वाद् दुःखित्वादीनां सुषुप्तादिषु चाननुवृत्तेः। चैतन्यस्य तु सुषुप्तेऽप्यनुवृत्तिमामनन्ति 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति' (बृ० ४।३।२३) इत्यादिना। तस्मात्सर्वदुःखविनिर्मुक्तैकचैतन्यात्मकोऽहमित्येष आत्मानुभवः। न चैवमात्मानमनुभवतः किंचिदन्यत्कृत्यमवशिष्यते। तथा च श्रुतिः—'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः' (बृ० ४।४।२२) इत्यात्मविदः कर्तव्याभावं दर्शयति।

यद्यपि ज्ञातव्य (जानने योग्य) आत्मा निरंश है। तथापि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, विषयज्ञान आदि रूप बहुत अंशवत्त्व उसमें अध्यारोपित (कल्पित) है। वहाँ एक अवधान से एक अंश का निवारण करता है अन्य अवधानों से अन्य अंशों का निवारण करता है। इससे वह क्रमवाली प्रतिपत्ति (ज्ञानावृत्ति) युक्त होती है। यदि कहो कि वाक्यार्थ ज्ञान होने पर अभ्यास आवृत्ति की क्या जरूरत है ज्ञानी तो कर्तव्य से विमुक्त हो जाता है, तो कहा जाता है कि वह श्रवणादि के अभ्यास का नियम आत्मज्ञान का पूर्वरूप (हेतु) होता है। अर्थात् अपरोक्ष अनुभव से प्रथम ही श्रमिक श्रवणादि का अभ्यास कर्तव्य होता है। जिन निपुण (कुशल) बुद्धिवालों का तत् त्वम् पदार्थविषयक अज्ञान, संशय और विपर्ययरूप प्रतिबन्ध नहीं है वे लोग एकबार कहा गया ही तत्त्वमसि इस वाक्य के अर्थ को अनुभव करने के लिए समर्थ होते हैं इससे उनके प्रति आवृत्ति की आनर्थक्य इष्ट ही है। जिससे एकबार उत्पन्न हुई आत्मानुभूति अविद्या को निवृत्त करती है। इससे इस अनुभव में कोई आवृत्ति आदि का कोई भी क्रम नहीं माना जाता है। यहाँ शंका होती है कि यदि किसी को एक बार वाक्य के सुनने पर ऐसा ज्ञान होता हो कि जिससे अविद्या निवृत्त हो जाय तो ऐसा सत्य ही युक्त हो सकता है कि किसी क्रम की आवश्यकता नहीं है। जिससे आत्मा के दुःखित्वादि की प्रतीति बलवती है। इससे शास्त्र के एकबार के श्रवण से कोई भी दुःखित्वादि के अभाव को नहीं समझता है। अर्थात् दुःखित्वादि के प्रत्यक्ष के साथ विरोध से वाक्य से एकता का ज्ञान किसी को नहीं उत्पन्न होता है। यदि ऐसा कोई कहे तो कहा जाता है कि ऐसी बात नहीं है कि किसी को एकबार के श्रवण से ज्ञान नहीं होता है। देहादि के अभिमान के समान दुःखित्वादि अभिमान को मिथ्याभिमानत्व की उपपत्ति से—श्रवण से उस अभिमान की भी निवृत्ति होती है। जिससे प्रत्यक्ष है कि देह के छेदनयुक्त या दाहयुक्त होने पर मैं छेदा जाता हूँ, और मैं जलाया जाता हूँ इस प्रकार मिथ्या अभिमान प्रत्यक्ष है, इसी प्रकार अत्यन्त बाह्य पुत्रमित्रादि के भी संतापयुक्त होने पर मैं ही संतप्त हो रहा हूँ इस प्रकार का अध्यारोप भ्रम अभिमान प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार का दुःखित्वादि का अभिमान भी होगा, अर्थात् मिथ्या होने से ज्ञान से अवश्य

निवृत्त होगा। क्योंकि देहादि के समान ही दुःखित्वादि के चैतन्य से बाहर भिन्न उपलभ्यमान (ज्ञात) होने से और सुषुप्ति आदि में अननुवृत्ति (अभाव) से, दुःखित्वादि को मिथ्यात्व है। चैतन्य की तो सुषुप्ति मे भी अनुवृत्ति को श्रुतियाँ कहती हे कि (सुषुप्ति में जो नहीं देखता है वह देखता ही हुआ नहीं देखता है) इत्यादि से अनुवृत्ति कहती हैं। उससे सब दुःखों से विनिर्मुक्त एक चैतन्यस्वरूप मैं हूँ, वह आत्मा का अनुभव है। इस प्रकार आत्मा के अनुभव करनेवाले का कोई अन्य कर्तव्य बाकी नहीं रहता है। इसी प्रकार की श्रुति है कि (जिन हम ज्ञानियों का यह आत्मा ही लोक है, वे हम प्रजा से कौन फल प्राप्त करेंगे) यह श्रुति आत्मज्ञ के कर्तव्य के अभाव को दर्शाती है।

स्मृतिरपि—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ (गी० ३।१७) इति

यस्य तु नैषोऽनुभवो द्रागिव जायते तं प्रत्यनुभवार्थ एवावृत्त्यभ्युपगमः। तत्रापि न तत्त्वमसिवाक्यार्थात्प्रच्याव्यावृत्तौ प्रवर्तयेत्, नहि वरघाताय कन्यामुद्वाहयन्ति। नियुक्तस्य चास्मिन्नधिकृतोऽहं कर्ता मयेदं कर्तव्यमित्यवश्यं ब्रह्मप्रत्ययाद्विपरीतप्रत्यय उत्पद्यते। यस्तु स्वयमेव मन्दमतिरप्रतिभानात्तं वाक्यार्थं जिहासेत्तस्यैतस्मिन्नेव वाक्यार्थे स्थिरीकार आवृत्त्यादिवाचो युक्त्याभ्युपेयते, तस्मात्परब्रह्मविषयेऽपि प्रत्यये, तदुपायोपदेशेष्वावृत्तिसिद्धिः ॥ २ ॥

स्मृति भी कर्तव्य के अभाव को दर्शाती है कि (जो आत्मज्ञानी मनुष्य विषय प्रीतिरहित आत्मविषयक रति प्रीति वाला होता है, आत्मा से ही तृप्त विषयतृष्णारहित रहता है, आत्मा ही में सन्तुष्ट रहता है। उसको कुछ भी कर्तव्य नहीं है) जिसको यह आत्मा का अनुभव शीघ्र नहीं उत्पन्न होता है, उसके प्रति अनुभव के लिए ही आवृत्ति का अभ्युपगम (स्वीकार) है। यदि कहो कि नियोग (विधि) से आवृत्ति में प्रवृत्त होने पर देवध्यानादि के समान नियोगार्थक प्रवृत्ति होगी आत्मा के अनुभव के लिए नहीं होगी तो कहा जाता है कि उस आवृत्ति के अभ्युपगम करने पर भी तत्त्वमसि इस वाक्य के अद्वैतार्थ से प्रच्युत करके आवृत्ति में गुरु वा अन्य कोई नहीं प्रवृत्त करे क्योकि वर का नाश के लिए कन्या का विवाह नहीं कराते हैं अर्थात् वाक्यजन्य परोक्ष ज्ञान की रक्षा करते हुए अपरोक्ष ज्ञान के लिए आवृत्ति का उपदेश करना चाहिए आत्मा मे कर्तृत्वादि के उपदेश से वाक्यार्थ-ज्ञान का भंग नहीं करना चाहिए। ऐसा नहीं करने पर आवृत्ति में नियुक्त को मैं इसमे नियुक्त करता हू। मुझमे यह कर्तव्य है इस प्रकार अवश्य ही ब्रह्मज्ञान से विपरीत प्रत्यय उत्पन्न होता है। यदि कहा जाय कि नियुक्त नहीं किया जाय, वाक्यार्थ-ज्ञान का त्यागपूर्वक कर्तृत्वादि बुद्धि नही कराया जाय तो आवृत्ति में प्रवृत्ति कैसे होगी, तो कहा जाता है कि जो मन्द बुद्धिवाला स्वयं

ही वाक्यार्थ के अप्रतिभान (अप्रतीति) में उस वाक्यार्थ को त्यागने की इच्छा करता है, उसको इसी वाक्यार्थ में स्थिर करना असंभावनादि दोषों का निवारणपूर्वक वाक्यार्थ-विषयक प्रतीति को उत्पन्न करना आवृत्ति आदि वाक्-युक्ति से माना जाता है। अर्थात् असंभावना आदि से वाक्यार्थ के त्याग प्रसंग होने पर, शिष्य की बुद्धि के अनुसार श्रोतव्यादि श्रुतियों के द्वारा गुरु आवृत्ति में शिष्य को प्रवृत्त करे, परन्तु प्रधान वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए करे उसमें विरुद्ध नहीं। उसमें परब्रह्म विषयक ज्ञान में भी उसके उपाय श्रवणादि के उपदेशों में आवृत्ति की सिद्धि होती है ॥ २ ॥

आत्मत्वोपासनाधिकरणम् ॥ २ ॥

ज्ञात्रा स्वात्मतया ब्रह्म ग्राह्यमात्मतयाऽथवा। अन्यत्वेन विजानीयाद् दुःख्यदुःखिविरोधतः ॥
औपाधिको विरोधोऽत आत्मत्वेनैव गृह्यताम्। गृह्णन्त्येव महावाक्यैः स्वशिष्यान् ग्राहयन्ति च ॥

निज आत्मा ही परब्रह्म को समझना चाहिये, जिसमें ज्ञानी लोग ऐसे ही समझते हैं और समझाते हैं। संशय है कि ज्ञाता को निजात्मा से अन्य स्वरूप से ब्रह्म को समझना चाहिए। अथवा आत्मस्वरूप समझना चाहिए। पूर्वपक्ष है कि जीव दुःखी है, और ब्रह्म दुःखरहित है, और दुःखी अदुःखी के अभेद में विरोध से अन्य रूप से ब्रह्म को जानना चाहिये। सिद्धान्त है कि उपाधि-निमित्तक विरोध है, स्वरूप से नहीं, इससे आत्मस्वरूप में ही ब्रह्म को समझो, महावाक्यों से विद्वान् इसी प्रकार समझते हैं और अपने शिष्यों को समझाते है ॥ १-२ ॥

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ३ ॥

यः शास्त्रोक्तविशेषणः परमात्मा स किमहमिति ग्रहीतव्यः किंवा मदन्य इत्येतद्विचारयति। कथं पुनरात्मशब्दे प्रत्यगात्मविषये श्रूयमाणे संशय इति। उच्यते—अयमात्मशब्दो मुख्यः शक्यतेऽभ्युपगन्तुं सति जीवेश्वरयोरभेदसंभवे, इतरथा तु गौणोऽयमभ्युपगन्तव्य इति मन्यते। किं तावत्प्राप्तम्? नाहमिति ग्राह्यः, न ह्यपहतपाप्मत्वादिगुणो विपरीतगुणत्वेन शक्यते ग्रहीतुं, विपरीतगुणो वापहतपाप्मत्वादिगुणत्वेन, अपहतपाप्मत्वादिगुणश्च परमेश्वरस्तद्विपरीत-गुणस्तु शारीरः। ईश्वरस्य च संसार्यात्मत्वे ईश्वराभावप्रसङ्गः, ततः शास्त्रा-नर्थक्यम्। संसारिणोऽपीश्वरात्मत्वेऽधिकार्यभावाच्छास्त्रानर्थक्यमेव, प्रत्यक्षा-दिविरोधश्च। अन्यत्वेऽपि तादात्म्यदर्शनं शास्त्रात्कर्तव्यं प्रतिमादिष्विव विष्ण्वा-दिदर्शनमिति चेत्, काममेवं भवतु, नतु संसारिणो मुख्य आत्मेश्वर इत्येतन्न प्रापयितव्यमिति।

शास्त्र में कथित अज आदि विशेषण वाला जो परमात्मा है, वह मैं हूं क्या इस प्रकार ग्रहण (ज्ञान) के योग्य है, अथवा मुझसे अन्य है इस प्रकार समझने योग्य है, इस विषयक विचार करते हैं। यदि कहा जाय कि (अयमात्मा ब्रह्म) इत्यादि श्रुतियों में आत्मशब्द के प्रत्यगात्मविषयक श्रूयमाण रहते (सर्वान्तरवर्ती एकात्मविषयक श्रवण रहते) संशय कैसे हो सकता है कि जिसकी निवृत्ति के लिए विचार करते हैं।

तो कहा जाता है कि जीव और ईश्वर के अभेद के सम्भव होने पर यह आत्मशब्द मुख्य है ऐसा स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा तो यह आत्मशब्द गौण मानने योग्य है, ऐसा मानते हैं। अर्थात् (मनोब्रह्म, आदित्योब्रह्म) इत्यादि के समान (अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि) प्रतीकोपासना का उपदेश जीव और ईश्वर के भेद पक्ष में होगा, तब आत्मशब्द गौण रहेगा, सर्वान्तिर्वर्त्ती ब्रह्माभिन्न आत्मा का वाचक नहीं होगा, इस प्रकार सूत्रकार मानते है इससे विचार करते है। वहाँ प्रथम प्राप्त क्या होता है ऐसा विमर्श होने पर पूर्वपक्ष है कि मैं ब्रह्म नहीं हूं, ब्रह्म से अन्य हूँ इसी प्रकार आत्मा ग्रहण (ज्ञान) के योग्य है। जिससे अपहतपाप्मत्व (पापरहितत्व) आदि गुणवाले ईश्वर का विपरीत गुणवत्त्व रूप से ग्रहण नही किया जा सकता है। अथवा विपरीत गुणवाला जीव का अपहतपाप्मत्वादि गुणवत्त्व रूप से भी नहीं ग्रहण किया जा सकता है। अपहतपाप्मत्वादि गुणवाला परमेश्वर है, और [उससे विपरीत गुण-वाला ही जीव है। ईश्वर के संसारी जीवस्वरूप होने पर ईश्वर का अभाव प्राप्त होगा, उससे ईश्वरविषयक उपदेशरूप शास्त्र की अनर्थकता होगी। संसारी को भी ईश्वर स्वरूप होने पर अधिकारी के अभाव से शास्त्र की अनर्थकता होगी। अभेद पक्ष में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरोध होगा। यदि कहा जाय कि अन्यत्व (भेद) होते भी प्रतिमा आदि में विष्णु आदि के दर्शन (ज्ञान) के समान शास्त्र से तादात्म्य (अभेद) दर्शन कर्तव्य है, तो कहा जाता है कि इस प्रकार का तादात्म्य यथेष्ट हो सक ा है। परन्तु संसारी का मुख्य आत्मा ईश्वर है यह हमें प्राप्त कराने योग्य नहीं है॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आत्मेत्येव परमेश्वरः प्रतिपत्तव्यः। तथाहि परमेश्वर-प्रक्रियायां जाबाला आत्मत्वेनैवैतमुपगच्छन्ति—'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते्ऽहम् वै त्वमसि भगवो देवते' इति। तथान्येऽपि 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्येवमाद्य आत्मत्वोपगमा द्रष्टव्याः। ग्राहयन्ति चात्मत्वेनैवेश्वरं वेदान्तवाक्यानि 'एष त आत्मा सर्वान्तरः' (बृ ३।४।१) 'एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' (बृ० ३।७।३) 'तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि' (छा० ६।८।७) इत्येवमादीनि। यदुक्तं-प्रतीकदर्शनमिदं विष्णुप्रतिमान्यायेन भविष्यति—इति, तदयुक्तं गौणत्वप्रसङ्गात्, वाक्यवैरूप्याच्च। यत्र हि प्रतीकदृष्टिरभिप्रेयते सकृदेव तत्र वचनं भवति यथा—'मनो ब्रह्म' (छा०३।१८।१) 'आदित्यो ब्रह्म' (छा० ३।१९।१) इत्यादि। इह पुनस्त्वमहस्म्यहं च त्वमसीत्याह, अतः प्रतीकश्रुतिवैरूप्यादभेद-प्रतिपत्तिः। भेददृष्ट्यपवादाच्च। तथाहि—'अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्तीति न स वेद' (बृ० १।४।१०) 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० ४।४।१९ कठ० ४।१० ।) 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद' (बृ० ४।५।७) इत्येवमाद्या भूयसी श्रुतिर्भेददर्शनमपवदति।

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते है कि अभेद श्रुति के फलयुक्त अपूर्वार्थक होने से

गौणता के अयुक्तता आदि से आत्मस्वरूप ही परमेश्वर ग्रहण के योग्य है। जिसम परमेश्वर के प्रकरण म इसी प्रकार आत्मस्वरूप से ही जावाल इस परमात्मा को स्वीकार करते—समझते हैं और कहते हैं कि (हे भगवन् देव मैं तूही हूं, तू मैं ही हो) इसी प्रकार अन्य भी कहते हैं कि (मैं ब्रह्म हूं) इत्यादि ब्रह्मात्मता का स्वीकार समझना चाहिए, और वेदान्तवाक्य आत्मरूप से ईश्वर का बोध कराते हैं कि (यह तेरा आत्मा सबके अन्तर है। यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी है। वह सर्वान्तिवर्ती वस्तु सत्य है, वही आत्मा है, वही आत्मा तुम हो) इत्यादि। जो यह कहा था कि विष्णु प्रतिमा न्याय से यह ब्रह्मात्मता दर्शन (ज्ञान) प्रतीक दर्शन होगा (अन्य म किसी अन्य की दृष्टि रूप उपासनात्मक दर्शन होगा) तत्त्वज्ञान नहीं होगा। गौणत्व के प्रसंग से और वाक्य की विरूपता (विलक्षणता) से वह कथन अयुक्त है। जिसम जहाँ प्रतीक दृष्टि अभिप्रेत होती है, वहाँ एकबार ही वचन होता है। जैसे कि (मनो ब्रह्म। आदित्यो-ब्रह्म) इत्यादि है। यहाँ तो (त्वम्, अहम्, अस्मि और अहम् त्वम् असि) तुम मैं हूं, मैं तुम हो, इस रीति से फिर भी कहते हैं। अत प्रतीक श्रुति से विरूपता के कारण अभेद ज्ञान होता है। भेद दृष्टि के अपवाद (निन्दा) से अभेदज्ञान होता है। वह अपवाद इस प्रकार है कि (जो कोई आत्मा से अन्य देवता की उपासना करता है, और समझता है कि वह देव मुझसे अन्य है। मैं उस देव से अन्य हूं, वह नहीं जानता है, तत्त्व को नहीं समझता है। वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है, जो इस आत्मा में नाना के समान देखता है। जो आत्मा से अन्य सबको देखता है उसको सब पर कल्याण से दूर करता है)इत्यादि बहुत श्रुतियाँ भेददर्शन की निन्दा करती हैं।

यत्तूक्त—न विरुद्धगुणयोरन्योन्यात्मत्वसंभव—इति, नायं दोष। विरुद्धगुणताया मिथ्यात्वोपपत्ते। यत्पुनरुक्तम्—ईश्वराभावप्रसङ्ग—इति। तदसत् शास्त्रप्रामाण्यादनभ्युपगमाच्च। नहीश्वरस्य संसार्यात्मत्वं प्रतिपाद्यत इत्यभ्युपगच्छाम, किं तर्हि? संसारिण संसारित्वापोहेनेश्वरात्मत्वं प्रतिपिपादयिषितमिति। एवं च सत्यद्वैतेश्वरस्यापहतपाप्मत्वादिगुणता विपरीतगुणता त्वितरस्य मिथ्येति व्यवतिष्ठते। यदप्युक्तमधिकार्यभाव प्रत्यक्षादिविरोधश्चेति। तदप्यसत्। प्राक्प्रबोधात्संसारित्वाभ्युपगमात्, तद्विषयत्वाच्च प्रत्यक्षादिव्यवहारस्य। 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० २।४।१४) इत्यादिना हि प्रबोधे प्रत्यक्षाद्यभावं दर्शयति। प्रत्यक्षाद्यभावे श्रुतेरप्यभावप्रसङ्ग इति चेत्। न। इष्टत्वात्। 'अत्र पिताऽपिता भवति' (बृ० ४।३।२२) इत्युपक्रम्य 'वेदा अवेदा' (बृ० ४।३।२२) इति वचनादिष्यत एवास्माभि श्रुतेरप्यभाव प्रबोधे। कस्य पुनरयमप्रबोध, इति चेत्। यस्त्वं पृच्छसि तस्य त इति वदाम। नन्वहमीश्वर एवोक्त श्रुत्या, यद्येवं प्रतिबुद्धोऽसि नास्ति कस्यचिदप्रबोध। योऽपि दोषश्चोद्यते कैश्चित्—अविद्यया किलात्मन सद्वितीयत्वं

यत्वादद्वैतानुपपत्तिः–इति, सोऽप्येतेन प्रत्युक्तः, तस्मादात्मेत्येवेश्वरे मनो दधीत ॥ ३ ॥

जो यह कहा था कि विरुद्ध गुण वाले जीव और ईश्वर की अन्योन्यात्मकता-अभिन्नता असम्भव है। वहाँ विरुद्धगुणता (विरुद्धगुणवत्ता) के मिथ्यात्व की उपपत्ति से यह दोष नहीं है, अर्थात् सत्यस्वरूप का अभेद है। गुणकृत भेद मायिक है और फिर वह जो कहा था कि ईश्वर के अभाव का प्रसंग होगा, वह कथन शास्त्र की प्रमाणता से और अनभ्युपगम से असत है। जिससे ईश्वर की संसारीरूपता का अद्वैत श्रुति से प्रतिपादन किया जाता है, ऐसा नहीं मानते हैं, तो क्या मानते है कि संसारी के अविद्याजन्य संसारित्व के अपोह (विद्या से निवारण) द्वारा उसके ईश्वरात्मत्व (ईश्वरस्वरूपता) श्रुति से प्रतिपिपादयिषित (प्रतिपादन की इच्छा का विषय) है। यह मानते हैं। ऐसा होने पर अद्वैत ईश्वर की अपहत-अद्वैत पाप्मत्वादि गुणता और इतर जीव की विपरीतगुणता मिथ्या है इस प्रकार व्यवस्थित होता है। जो यह भी कहा था कि अधिकारी का अभाव होगा, और प्रत्यक्षादि प्रमाणो से विरोध होगा। वह भी कथन प्रबोध से पूर्वकाल में संसारित्व के स्वीकार से असत् है। प्रत्यक्षादिव्यवहार के प्रबोध से पूर्वकालविषयक होने से भी वह कथन असत् है। जिससे (जिस काल में इस ज्ञानी के सब आत्मा ही हो गया उस काल में किससे किसको देखेगा) इत्यादि वचनों से प्रबोध होने पर प्रत्यक्षादि के अभाव को श्रुति दर्शाती है। यदि कहो कि प्रत्यक्षादि के अभाव होने पर श्रुति के भी अभाव का प्रसंग होगा, तो कहा जाता है कि प्रबोध काल में श्रुति की भी आत्मभिन्नसत्ता का अभाव इष्ट होने से यह दोष नहीं है। जिससे (इस आत्मस्थितिरूप सुषुप्ति मे पिता अपिता होता है) इस प्रकार उपक्रम करके (वेद अवेद होते हैं) इस वचन से प्रबोध अवस्था में श्रुति का अभाव भी हमें इष्ट ही है, हमसे माना ही जाता है। यदि कहो कि यह अप्रबोध (अज्ञान) किसको है, तो कहते हैं कि जो तुम पूछते हो उस तुमको अज्ञान है, यह प्रश्न से ही सिद्ध होता है। यदि कहो कि मैं ईश्वर ही हूँ इस प्रकार मैं श्रुति से कहा गया हूँ, तो कहा जाता है कि यदि तुम इस प्रकार श्रुति से प्रतिबुद्ध (ज्ञानयुक्त) हो, तो सत्य अप्रबोध किसी को नहीं है, सत्य होता तो श्रुतिजन्य ज्ञान से भी नहीं निवृत्त होता। जो भी किन्हीं से दोष कहा जाता है, दोषविषयक शंका की जाती है कि आत्मा को अविद्या से द्वैतसहित होने से अद्वैत की अनुपपत्ति है, वह भी इस अविद्या के मिथ्यात्व से ही प्रत्याख्यात (खण्डित) हो गया, जिससे सत्य अद्वैत श्रुति अनुभवादि से माना जाता है। मिथ्या द्वैत तो प्रत्यक्षादि सिद्ध है ही, उससे मिथ्या द्वैत का विद्या से बोध करके ईश्वर आत्मा है इस प्रकार से ईश्वर मे मन का धारण करे ॥३॥

प्रतीकाधिकरणम् ॥ २ ॥

प्रतीकेऽहंदृष्टिरस्ति नवा ब्रह्माभिभेदतः। जीवप्रतीकयोर्ब्रह्मद्वाराहंदृष्टिरिष्यते ॥ १ ॥
प्रतीकत्वोपासकत्वहानिर्ब्रह्मैक्यवीक्षणे। अवीक्षणे तु भिन्नत्वान्नास्त्यहंदृष्टियोग्यता ॥ २ ॥

प्रतीक मूर्ति मन आदि द्वारा ब्रह्म की उपासना करनेवाला, जैसे ब्रह्म में आत्म-बुद्धि की जाती है, वैसे प्रतीक में आत्मबुद्धि अहंग्रहध्यान नहीं करे, क्योंकि यह उपासक वस्तुतः ब्रह्म है इससे ब्रह्म में अहंग्रहध्यान करना ठीक है किन्तु यह प्रतीक उपासक वस्तुतः प्रतीक रूप नहीं है, इससे प्रतीक में अहंबुद्धि करना उचित नहीं है। यहाँ संशय है कि प्रतीक में अहंदृष्टि होती है, अथवा नहीं। पूर्वपक्ष है कि जीव और प्रतीक को बाधदृष्टि के द्वारा ब्रह्म के साथ अभेद होने से ब्रह्म द्वारा प्रतीक में अहं दृष्टि इष्ट है। सिद्धान्त है कि बाधदृष्टि से ब्रह्म के साथ एकता के वीक्षण (दर्शन) करने पर प्रतीकत्व और उपासकत्व का अभाव सिद्ध होगा। एकत्व के अवीक्षण रहते तो भिन्नता से अहंदृष्टि की योग्यता नहीं है, इससे प्रतीक में अहंबुद्धि नहीं होती है ॥१-३॥

न प्रतीके न हि सः ॥ ४ ॥

'मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेति' (छा० ३।१८।१), तथा 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३।१९।१) 'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७।१।५) इत्येवमादिषु प्रतीकोपासनेषु संशयः—किं तेष्वात्मग्रहः कर्तव्यो न वेति। किं तावत्प्राप्तम्? तेष्वप्यात्मग्रह एव युक्तः। कस्मात्? ब्रह्मणः श्रुतिष्वात्मत्वेन प्रसिद्धत्वात्प्रतीकानामपि ब्रह्मविकारत्वाद् ब्रह्मत्वे सत्यात्मत्वोपपत्तेरिति।

(मन अन्तःकरण ब्रह्म है इस प्रकार उपासना करे। यह अध्यात्म दर्शन है। उसके बाद देवता विषयक दर्शन है, कि आकाश ब्रह्म है इस प्रकार उपासना करे) इसी प्रकार (आदित्य ब्रह्म है यह उपदेश है) वह जो नाम ब्रह्म है इस प्रकार से उपासना करता है) इत्यादि प्रतीक उपासनाओं में संशय होता है कि क्या उनमें भी अहंग्रह कर्तव्य है, अथवा नहीं कर्तव्य है। प्रथम प्राप्त क्या होता है। ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि उनमें भी आत्मग्रह (आत्मबुद्धि) ही युक्त है, क्योंकि ब्रह्म की आत्मरूपता से श्रुतियों में प्रसिद्धि से और प्रतीकों की भी ब्रह्मविकारता से इन्हें ब्रह्मत्व होने पर आत्मत्व की उपपत्ति से आत्मग्रह युक्त है॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—न प्रतीकेष्वात्ममतिं बध्नीयात्। नहि स उपासकः प्रतीकानि व्यस्तान्यात्मत्वेनाकलयेत्। यत्पुनर्ब्रह्मविकारत्वात्प्रतीकानां ब्रह्मत्वं ततश्चात्मत्वमिति। तदसत्। प्रतीकाभावप्रसङ्गात्। विकारस्वरूपोपमर्देन हि नामादिजातस्य ब्रह्मत्वमेवाश्रितं भवति। स्वरूपोपमर्दे च नामादीनां कुतः प्रतीकत्वमात्मग्रहो वा। नच ब्रह्मण आत्मत्वाद् ब्रह्मदृष्ट्युपदेशेष्वात्मदृष्टिः कल्प्या, कर्तृत्वाद्यनिराकरणात्। कर्तृत्वादिसर्वसंसारधर्मनिराकरणेन हि ब्रह्मण आत्मत्वोपदेशः, तदनिराकरणेन चोपासनविधानम्, अतश्चोपासकस्य प्रतीकैः समत्वादात्मग्रहो नोपपद्यते, नहि रुचकस्वस्तिकयोरितरेतरात्मत्वमस्ति,

सुवर्णात्मनेव तु ब्रह्मात्मनैकत्वे प्रतीकाभावप्रसङ्गमवोचाम। अतो न प्रतीकेष्वात्मदृष्टिः क्रियते ॥ ४ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते है कि प्रतीकों में आत्मरूप से बुद्धि को नहीं लगाना चाहिए। जिससे वह उपासक व्यस्त (भिन्न) प्रतीकों को आत्मरूप से अनुभव नहीं कर सकता है। जो यह कहा है कि प्रतीकों को ब्रह्म के विकारत्व से ब्रह्मत्व है, और उस ब्रह्मत्व से आत्मत्व है, वह कथन प्रतीक के अभाव के प्रसंग से असत है। जिसने विकार स्वरूप के उपमर्द (नाश) से ही नामादि समूह का ब्रह्मत्व आश्रित (स्वीकृत) होता है। नामादि के स्वरूप के नष्ट होने पर किस हेतु से प्रतीकत्व वा आत्मग्रह होगा, और प्रतीकविषयक ब्रह्मदृष्टि उपदेशों मे ब्रह्म के आत्मत्व से आत्मदृष्टि नहीं कल्पित हो सकती है। क्योकि इन उपासनाओं में कर्तृत्वादि का निराकरण नहीं होने से आत्मा को ब्रह्मत्व नहीं है, जिससे कर्तृत्वादिरूप संसारधर्म के निराकरण से ब्रह्म के आत्मत्व का उपदेश होता है कि ब्रह्म आत्मा है, और उस कर्तृत्वादि के अनिराकरण से उपासना का विधान है। इससे उपासकों को प्रतीकों के साथ समता से आत्मग्रह नहीं उपपन्न होता है। जिससे सुवर्ण के विकार होते भी रुचक और स्वस्तिक को परस्परात्मकता (अभेद) नहीं है, वैसे ही ब्रह्म विकार भी जीव और प्रतीक का अभेद नहीं है। जैसे सुर्वणरूप से रुचक और स्वस्तिक अभिन्न हैं। वैसे ब्रह्मरूप से प्रतीक और उपासक के एकत्व होने पर प्रतीक के अभाव के प्रसंग को कह चुके है। इससे प्रतीकों में आत्मदृष्टि नहीं की जाती हैं ॥ ४ ॥

ब्रह्मदृष्टयधिकरणम् ॥ ४ ॥

किमन्यधीर्ब्रह्मणि स्यादन्यस्मिन् ब्रह्मधीरुत। अन्यदृष्टयोपासनीयं ब्रह्मात्र फलदत्वतः ॥५॥
उत्कर्षेतिपरत्वाभ्यां ब्रह्मदृष्टयान्यचिन्तनम्। अन्योपास्त्या फलं दत्ते ब्रह्म तिथ्याद्युपास्तिवत् ॥

(आदित्य ब्रह्म है यह उपदेश है) इत्यादि प्रतीकोपासना बोधक वाक्यों में, आदित्य और ब्रह्मशब्द के समानाधिकरण होने से, आदित्य ब्रह्म है और ब्रह्म आदित्य है। ऐसी दृष्टि हो सकती है। तथापि हीन मे उत्तम दृष्टि से हीन का आदर होता है, इससे आदरजन्य पुण्य माना जाता है, उत्तम में हीन दृष्टि से उत्तम का निरादर-तिरस्कार होता है। इससे निरादरजन्य पाप माना जाता है, इसलिए मन, आकाश, आदित्य, नाम आदि में ही ब्रह्मदृष्टि कर्तव्य है कि जिससे उत्कर्ष (अतिशय-श्रेष्ठता) बोध से आदर सिद्ध हो। संशय है कि क्या अन्य बुद्धि ब्रह्म में करना चाहिए, अर्थात् सूर्यादि दृष्टि से ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए। अथवा ब्रह्मबुद्धि अन्य में करना चाहिए, ब्रह्म दृष्टि से अन्य की उपासना करनी चाहिए। पूर्वपक्ष है कि ईश्वररूप ब्रह्म फलदाता है, इससे अन्य दृष्टि से ब्रह्म की उपासना कर्तव्य है। सिद्धान्त है कि ब्रह्म दृष्टि से अन्य की उत्कर्षता होती है। दूसरी बात है कि सब वाक्य में ब्रह्म शब्द से इति शब्द परे है। (न वेति विभाषा) यहाँ के समान (इतिशब्दः पदार्थविपर्यास-

कृत्) इति शब्द अपने सम्बन्धी पद के अर्थ को विपरीत करता है, इससे यहाँ इति शब्द ब्रह्मशब्द को लक्षण द्वारा ब्रह्म दृष्टिपरक करता है, इसलिए ब्रह्म दृष्टि से अन्य का चिन्तन कर्तव्य है। ईश्वर पूज्यादि दृष्टि से अतिथि के सेवा से जैसे ब्रह्म फल देता है, वैसे ही अन्य की उपासना से भी ब्रह्म फल देता है ॥ १–२ ॥

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥

तेष्वेवोदाहरणेष्वन्यः संशयः—किमादित्यादिदृष्टयो ब्रह्मण्यध्यसितव्याः किं वा ब्रह्मदृष्टिरादित्यादिष्विति। कुतः संशयः ? सामानाधिकरण्ये कारणानवधारणात्। अत्र हि ब्रह्मशब्दस्यादित्यादिशब्दैः सामानाधिकरण्यमुपलभ्यते, 'आदित्यो ब्रह्म प्राणो ब्रह्म विद्युद्ब्रह्म' इत्यादिसमानविभक्तिनिर्देशात्। नचात्राञ्जसं सामानाधिकरण्यमवकल्पते, अर्थान्तरवचनत्वाद् ब्रह्मादित्यादिशब्दानाम्। नहि भवति गौरश्व इति सामानाधिकरण्यम्। ननु प्रकृतिविकारभावाद् ब्रह्मादित्यादीनां मृच्छरावादिवत्सामानाधिकरण्यं स्यात्। नेत्युच्यते। विकारप्रविलयो ह्येवं प्रकृतिसामानाधिकरण्यात्स्यात्। ततश्च प्रतीकाभावप्रसङ्गः। परमात्मवाक्यं चेदं तदानीं स्यात्ततश्चोपासनाधिकारो बाध्येत। परिमितविकारोपादानं च व्यर्थम्। तस्माद् ब्राह्मणोऽग्निर्वैश्वानर इत्यादिवदन्यतरत्रान्यतरदृष्ट्यध्यासे सति क्व किंदृष्टिरध्यस्यतामिति संशयः। तत्रानियमो नियमकारिणः शास्त्रस्याभावादित्येवं प्राप्तम्। अथवाऽऽदित्यादिदृष्टय एव ब्रह्मणि कर्तव्या इत्येवं प्राप्तम्। एवं ह्यादित्यादिदृष्टिभिर्ब्रह्मोपासितं भवति ब्रह्मोपासनं च फलवदिति शास्त्रमर्यादा। तस्माद् ब्रह्मदृष्टिरादित्यादिष्विति।

(मनो ब्रह्मेत्युपासीत) इत्यादि पूर्वकथित उन ही उदाहरणों विषयक अन्य संशय है कि क्या आदित्य आदि दृष्टि का ब्रह्म में अध्यास करना चाहिए, अथवा ब्रह्म दृष्टि का आदित्यादि में अध्यास करना चाहिए। अर्थात् (मनोब्रह्मेत्युपासीत) इत्यादि उपासना विधि के श्रवण से ये वाक्य सब बाधदृष्टि से ब्रह्मबोधपरक नहीं हैं। भिन्न ब्रह्म आदित्यादि का अभेद हो नहीं सकता है, इससे ये वाक्य सब अध्यास द्वारा उपासनापरक हैं वहाँ कैसे अध्यास करना चाहिए। संशय कैसे होता है, तो कहा जाता है कि समानाधिकरणता में (नीलोघट) नील घट है, इत्यादि के समान विशेषण विशेष्यभावादि रूप कारण के अनवधारण से संशय होता है। इन वाक्यों में ब्रह्मशब्द की आदित्यादि शब्दों के साथ समानाधिकरणता (अभेदबोधकत्वरूप समानविभक्तिकता) उपलब्ध होती है (आदित्य ब्रह्म है, प्राण ब्रह्म है, विद्युत् ब्रह्म है) इत्यादि समान (तुल्य एक) विभक्ति के निर्देश से समानाधिकरणता है। ब्रह्म और आदित्यादि शब्दों के अर्थान्तर के (भिन्न भिन्न अर्थ के) वाचक होने से इनका आञ्जस (मुख्य तत्त्वतः) समानाधिकरण सिद्ध नहीं हो सकता है, जिससे गौ अश्व है, ऐसी समानाधिकरणता नहीं होती है। यदि कहा जाय कि ब्रह्म और आदित्यादि की मृत्तिका और

शराव आदि के समान प्रकृतिविकारभाव (उपादानोपादेयता) से समानाधिकरणता होगी, तो कहा जाता है कि ऐसा नहीं हो सकता है। जिससे इस प्रकार प्रकृति के साथ विकार की समानाधिकरणता से विकार का सर्वथा विलय होगा। उससे प्रतीक के अभाव का प्रसंग होगा, वह कहा जा चुका है। उस प्रतीक के अभाव काल में यह परमात्मा का बोधक वाक्य होगा और उससे उपासना का अधिकार बाधित होगा। परमात्मवाक्य पक्ष में परिमित सूर्यादि विकारो का ग्रहण व्यर्थ होगा, सब विकार कारण दृष्टि से ब्रह्म हैं। उससे (ब्राह्मण वैश्वानर नामक अग्नि है) इत्यादि के समान अन्य में किसी अन्य की दृष्टिरूप अध्यास के सिद्ध होने पर किसमें किस दृष्टि का अध्यास कर्तव्य है, और किया जाय, यह संशय होता है। पूर्वपक्ष है कि नियमकारक शास्त्र के अभाव से वहाँ अनियम है, इच्छा के अनुसार अध्यास किया जा सकता है ऐसा प्राप्त होता है, अथवा ब्रह्म में आदित्यादि दृष्टि ही करना चाहिए ऐसा प्राप्त होता है, जिससे इस प्रकार से आदित्यादि दृष्टि द्वारा ब्रह्म उपासित (उपासना का विषय) होता है। ब्रह्म की उपासना फलवती होती है, यह शास्त्र की मर्यादा है, जिससे आदित्यादि में ब्रह्मदृष्टि नहीं कर्तव्य है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—ब्रह्मदृष्टिरेवादित्यादिषु स्यादिति। कस्मात् ? उत्कर्षात्। एवमुत्कर्षेणादित्यादयो दृष्टा भवन्ति, उत्कृष्टदृष्टेस्तेष्वध्यासात्, तथाच लौकिको न्यायोऽनुगतो भवति। उत्कृष्टदृष्टिर्हि निकृष्टेऽध्यसितव्येति लौकिको न्यायः। यथा राजदृष्टिः क्षत्तरि, स चानुसर्तव्यः विपर्यये प्रत्यवायप्रसङ्गात्। नहि क्षत्तृदृष्टिपरिगृहीतो राजा निकर्षं नीयमानः श्रेयसे स्यात्। ननु शास्त्रप्रामाण्यादनाशङ्कनीयोऽत्र प्रत्यवायप्रसङ्गः, नच लौकिकेन न्यायेन शास्त्रीया दृष्टिर्नियन्तुं युक्तेति। अत्रोच्यते—निर्धारिते शास्त्रार्थे एतदेवं स्यात्। संदिग्धे तु तस्मिंस्तन्निर्णयं प्रति लौकिकोऽपि न्याय आश्रीयमाणो न विरुध्यते, तेन चोत्कृष्टदृष्ट्यध्यासे शास्त्रार्थेऽवधार्यमाणे निकृष्टदृष्टिमध्यस्यन्प्रत्यवेयादिति श्लिष्यते। प्राथम्याच्चादित्यादिशब्दानां मुख्यार्थत्वमविरोधाद्ग्रहीतव्यम्। तैः स्वार्थवृत्तिभिरवरुद्धायां बुद्धौ पश्चादवतरतो ब्रह्मशब्दस्य मुख्यया वृत्त्या सामानाधिकरण्यासम्भवाद् ब्रह्मदृष्टिविधानार्थतैवावतिष्ठते। इतिपरत्वादपि ब्रह्मशब्दस्यैष एवार्थो न्याय्यः। तथाहि 'ब्रह्मेत्यादेशः' 'ब्रह्मेत्युपासीत' 'ब्रह्मेत्युपास्ते' इति च सर्वत्रेतिपरं ब्रह्मशब्दमुच्चारयति शुद्धांस्त्वादित्यादिशब्दान्। ततश्च यथा शुक्तिकां रजतमिति प्रत्येतीत्यत्र शुक्तिवचन एव शुक्तिकाशब्दो रजतशब्दस्तु रजतप्रतीतिलक्षणार्थः प्रत्येत्येव हि केवलं रजतमिति नतु तत्र रजतमस्ति, एवमत्राप्यादित्यादीन्ब्रह्मेति प्रतीयादिति गम्यते। वाक्यशेषोऽपि च द्वितीयानिर्देशेनादित्यादीनेवोपास्तिक्रियया व्याप्यमानान्दर्शयति—'स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ३।१९।४), 'यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७।२।२), 'यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० ७।४।३) इति च। यत्तूक्तं ब्रह्मोपा-

मनमेवात्रादरणीय फलवत्त्वायेति । तदयुक्तम् । उक्तेन न्यायेनादित्यादीनामेवो पास्यत्वावगमात् । फल त्वतिथ्याद्युपासने इवादित्याद्युपासनेऽपि ब्रह्मैव दास्यति सर्वाध्यक्षत्वात् । वर्णितं चैतत् 'फलमत उपपत्ते' ब्र० सू० ३।२।३८) इत्यत्र । ईदृशं चात्र ब्रह्मण उपास्यत्वं यत्प्रतीकेषु तद्दृष्ट्यध्यारोपणं प्रतिमादिष्विव विष्ण्वादीनाम् ॥ ५ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि आदित्य आदि में ब्रह्मदृष्टि ही कर्तव्य होगी, ऐसी किस हेतु से होगी। तो कहा जाता है कि उत्कर्ष हेतु से होगी जिससे इस प्रकार से आदित्य आदि उत्कर्ष (अतिशय) रूप से दृष्ट (चिन्तित-ध्येय) होते हैं क्योंकि उत्कर्षदृष्टि का उनमें अध्यास होता है। इसी प्रकार लौकिक न्याय भी अनुगत (सम्बद्ध अनुसृत) होता है। जिससे लौकिक न्याय है कि उत्कृष्ट की दृष्टि का निकृष्ट (हीन) में अध्यास करना चाहिये जैसे कि राजदृष्टि का क्षत्ता (सारथि) में अध्यास किया जाता है। वह लौकिक न्याय अनुसरण के योग्य है क्योंकि उस न्याय से विपरीत गति व्यवहार में प्रत्यवाय का प्रसंग होता है। जिससे क्षत्ता-की दृष्टि से गृहीत (सारथिरूप समझा गया) अतएव निकर्ष (निकृष्टता) को नीयमान (प्राप्त किया गया) राजा श्रेय (शुभ) के लिए नहीं होता है। यदि कहा जाय कि शास्त्र की प्रमाणता से यहाँ प्रत्यवाय का प्रसंग आशंका के योग्य नहीं है लौकिक न्याय से शास्त्रीयदृष्टि को नियमित करना युक्त नहीं है। तो यहाँ कहा जाता है कि शास्त्र के अर्थ के निर्धारित रहने पर इस प्रकार का यह कथन बन सकता है कि शास्त्र के अर्थ का लौकिक न्याय से नियम नहीं करना चाहिये। किन्तु उस शास्त्रार्थ के सन्दिग्ध रहने पर तो उसका निर्णय के प्रति (निर्णय के लिए) स्वीकृत लौकिक न्याय भी विरुद्ध नहीं होता है। उस लौकिक न्याय से उत्कृष्ट दृष्टि का अध्यास रूप शास्त्रार्थ के अवधार्यमाण (निर्णीत निश्चित) होने पर निकृष्ट दृष्टि का उत्कृष्ट में अध्यास करता हुआ प्रत्यवाय को प्राप्त करेगा, यह कथन संघटित होता है। केवल लौकिक न्याय ही इस निश्चय का हेतु नहीं है किन्तु आदित्यादि शब्दों की प्रथमता से अविरोधता के कारण उनका मुख्यार्थत्व ग्रहण के योग्य है। स्वार्थ में वृत्ति (शक्ति) वाले उन आदित्य आदि शब्दों में अवरुद्ध (उनके निश्चय युक्त) बुद्धि में पीछे अवतरण करने वाले (आने वाले) ब्रह्मशब्द की मुख्य शक्ति वृत्ति द्वारा समानाधिकरणता के असम्भव से लक्षण द्वारा ब्रह्मदृष्टि विधानार्थकता ही वाक्य की अवस्थित है। वाक्य आदित्य आदि में ब्रह्मदृष्टि का ही विधान करते हैं। ब्रह्मशब्द की इतिशब्दपरता से अर्थात् ब्रह्मशब्द से इति शब्द के पर रहने में भी यही अर्थ न्याययुक्त है। जिससे (आदित्य ब्रह्म है यह उपदेश है। ब्रह्म रूप से उपासना करे। ब्रह्म ऐसा जो उपासना करता है। इस प्रकार से (ब्रह्मेति) यह इति परक ब्रह्मशब्द का सर्वत्र उच्चारण करते हैं। इति रहित शुद्ध आदित्य आदि शब्दों का उच्चारण करते हैं। उससे जैसे (शुक्ति का)

सीपी को रजतमिति, रजतरूप से जानता है, इस वाक्य मे शुक्तिका शब्द शुक्तिका का वाचक ही होता है। रजत शब्द तो रजत की प्रतीति का लक्षणार्थक होता है कि यह रजत है इस प्रकार से केवल जान ही रहा है, परन्तु वहाँ रजत है नही। इसी प्रकार इन उदाहरणो मे भी आदित्य आदि को ब्रह्म रूप से जाने, ऐसा अर्थ समझा जाता है। वाक्य शेष भी द्वितीया विभक्ति के निर्देश द्वारा आदित्य आदि को ही उपासना क्रिया से व्याप्यमान (उपासना के विषय) रूप दर्शाता है कि (जो कोई इस आदित्य की महिमा को जानने वाला आदित्य की ब्रह्मरूप से उपासना करता है। जो वाक् की ब्रह्मरूप से उपासना करता है। जो संकल्प की ब्रह्मरूप से उपासना करता है) इत्यादि। जो यह कहा था कि फलवत्ता के लिए यहाँ ब्रह्म की उपासना ही आदरणीय है। वह कथन भी उक्त न्याय से आदित्यादि की उपास्यता के अवगम (ज्ञान) से अयुक्त है। सर्वाध्यक्षता (सर्वस्वामिता) से जैसे अतिथि आदि की उपासना में ब्रह्म फल देता है, अतिथि आदि नहीं देते हैं, वैसे ही आदित्य आदि की उपासना में भी ब्रह्म ही फल देगा। (फलमत उपपत्तेः) इस सूत्र मे यह वर्णित हो चुका है। यहाँ ब्रह्म की जो प्रतीकों में ब्रह्मदृष्टि से आरोप है, इसी प्रकार के ब्रह्म की उपास्यता है। जैसे कि प्रतिमा आदि में विष्णु आदि की उपास्यता होती है ॥५॥

आदित्यादिमत्यधिकरणम् ॥ ५ ॥

आदित्याद्यावङ्गदृष्टिरङ्गे रव्यादिधीरुत। नोत्कर्षो ब्रह्मजत्वेन द्वयोस्तेनैच्छिकी मतिः ॥१॥
आदित्यादिधियाऽङ्गानां संस्कारे कर्मणः फले। युज्यतेऽतिशयस्तस्मादङ्गेष्वर्कादिदृष्टयः॥२॥

संस्कार की उपपत्ति से अङ्गों में आदित्यादि दृष्टि कर्तव्य है। यहाँ संशय है कि आदित्यादि में कर्माङ्गदृष्टि करना चाहिये अथवा कर्माङ्ग में आदित्य आदि दृष्टि कर्तव्य है। पूर्वपक्ष है कि दोनों के ब्रह्मजन्यत्व तुल्य होने से किसी में उत्कर्ष नहीं है कि जिससे अन्य में उत्कृष्ट दृष्टि की जाय उससे इच्छा के अनुसार मति (दृष्टि) कर्तव्य है। सिद्धान्त है कि अङ्गों में आदित्यादि दृष्टि करने से उस दृष्टि से अङ्गों का संस्कार होता है, उनमें विचित्र शक्ति उत्पन्न होती है, और अङ्गों के संस्कार होने पर कर्म के फल में अतिशय युक्त (प्राप्त) होता है, आदित्य में अङ्गदृष्टि करणों से कर्मफल में अतिशय नहीं हो सकता, क्योंकि आदित्य विशेष कर्माङ्ग नहीं है। उससे अङ्गों में आदित्यादि दृष्टि कर्तव्य है ॥१-२॥

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ६ ॥

'य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।३।१), 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २।२।१), 'वाचि सप्तविधं सामोपासीत' (छा० २।८।१), 'इयमेवर्गग्निः साम (छा० १।६।१) इत्येवमादिष्वङ्गावबद्धेषूपासनेषु संशयः-किमादित्यादिषूद्गीथादिदृष्टयो विधीयन्ते किं वोद्गीथादिष्वेवादित्यादि-दृष्टय-इति। तत्रानियमो नियमकारणाभावादिति प्राप्तम्। नह्यत्र ब्रह्मण इव

कस्यचिदुत्कर्षविशेषोऽवधार्यते 'ब्रह्म हि समस्तजगत्कारणत्वादपहतपाप्मत्वादिगुणयोगाच्चादित्यादिभ्य उत्कृष्टमिति शक्यमवधारयितुं न त्वादित्योद्गीथादीनां विकारत्वाविशेषात्किंचिदुत्कर्षविशेषावधारणे कारणमस्ति। अथवा नियमेनैवोद्गीथादिमतय आदित्यादिष्वध्यस्येरन्। कस्मात्? कर्मात्मकत्वादुद्गीथादीनां कर्मणश्च फलप्राप्तिप्रसिद्धेः, उद्गीथादिमतिभिरुपास्यमाना आदित्यादयः कर्मात्मकाः सन्तः फलहेतवो भविष्यन्ति।

(जो ही वह आदित्य तपता है उसकी उद्गीथरूप से उपासना करे। पृथिवी अग्नि, अन्तरिक्ष, आदित्य और स्वर्गरूप लोकों में हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ प्रतिहार और निधन नामक पाँच प्रकार के साम की उपासना करे। आदि, और उपद्रव सहित सात प्रकार के उन सामों की वाक् में उपासना करे। यह पृथ्वी ही ऋग् है अग्नि साम है) इत्यादि कर्माङ्गों से अवबद्ध (सम्बद्ध) उपासनाओं में संशय होता है कि क्या आदित्य आदि में उद्गीथादि दृष्टियाँ विहित होती हैं। अथवा उद्गीथादि में ही आदित्यादि दृष्टियाँ विहीत हैं॥ पूर्वपक्ष है कि उनमें नियम के कारण के अभाव में अनियम है ऐसा प्राप्त होता है। *नियम यहाँ ब्रह्म के समान किसी का उत्कर्षविशेष अवधारित नहीं होता है।* समस्त जगत् के कारणत्व से और अपहतपाप्मत्वादि गुणों के सम्बन्ध से ब्रह्म आदित्य आदि से उत्कृष्ट है इस प्रकार निर्धारण किया जा सकता है। परन्तु आदित्य और उद्गीथादि के विकारत्व के अविशेष (तुल्य) होने से उत्कर्षविशेष के अवधारण में कोई कारण नहीं है। अथवा उद्गीथादि बुद्धियाँ नियम से ही आदित्य आदि में अध्यस्त की जायगीं। यदि कहा जाय कि किस हेतु से ऐसा होगा, तो कहा जाता है कि उद्गीथादि के कर्मात्मक होने से और कर्म से फलप्राप्ति की प्रसिद्धि से ऐसा होगा। उद्गीथादि दृष्टि से उपास्यमान आदित्य आदि कर्मात्मक होते हुए फल के हेतु होंगे।

तथा च 'इयमेवर्गग्निः साम' (छा० १।६।१) इत्यत्र 'तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम' (छा० १।६।१) इत्यृक्शब्देन पृथिवीं निर्दिशति सामशब्देनाग्निम्, तच्च पृथिव्यग्न्योर्ऋक्सामदृष्टिचिकीर्षायामवकल्पते न ऋक्सामयोः पृथिव्यग्निदृष्टिचिकीर्षायाम्। क्षत्तरि हि राजदृष्टिकरणाद्राजशब्द उपचर्यते न राजनि क्षत्तृशब्दः। अपि च 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २।२।१) इत्यधिकरणनिर्देशाल्लोकेषु सामाध्यसितव्यमिति प्रतीयते। 'एतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम्' (छा० २।११।१) इति चैतदेव दर्शयति। प्रथमनिर्दिष्टेषु चादित्यादिषु चरमनिर्दिष्टं ब्रह्माध्यस्तम् 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः' (छा० ३।१९।१) इत्यादिषु। प्रथमनिर्दिष्टाश्च पृथिव्यादयश्चरमनिर्दिष्टा हिंकारादयः 'पृथिवी हिंकारः' (छा० २।२।१) इत्यादिश्रुतिषु। अतोऽनङ्गेष्वादित्यादिष्वङ्गमति(नि)क्षेप इति।

इसी प्रकार (यह पृथिवी ही ऋग् है, अग्नि साम है) यहाँ पर (सो यह अग्नि *नामक साम इस पृथिवी नामक ऋक् पर अध्यूढ ऊपर स्थित है) इस प्रकार ऋक्*

शब्द से पृथिवी का और सामशब्द से अग्नि का श्रुति निर्देश करती है। वह निर्देश पृथिवी और अग्नि में क्रम से ऋक् और साम दृष्टि की चिकीर्षा (करने की इच्छा) होने पर सिद्ध होता है। ऋक् और साम में पृथिवीदृष्टि और अग्निदृष्टि करने की इच्छा होने पर वह निर्देश नही सिद्ध हो सकता है। जिससे सारथि मे राजदृष्टि करने से उसमें राजा शब्द का उपचार (गौण प्रयोग) किया जाता है। राजा मे सारथि शब्द का उपचार प्रयोग नहीं किया जाता है। इसी प्रकार पृथिवी आदि में ऋगादि दृष्टि के बिना पृथिवी आदि शब्दों का प्रयोग नहीं हो सकता है (लोकों मे पाँच प्रकार के साम की उपासना करे) इस प्रकार अधिकरण रूप से लोक के निर्देश से लोको में सामों का अध्यास करना चाहिये ऐसी प्रतीति होती है। (यह गायत्र साम प्राण में प्रोत-स्थिर है) यह श्रुतिवचन इसी प्रकार दर्शाता है, (आदित्य ब्रह्म है) इत्यादि वाक्यों मे प्रथम निर्दिष्ट आदित्य आदि मे पश्चात् निर्दिष्ट ब्रह्म अध्यस्त है। (पृथिवी हिंकार है) इत्यादि श्रुतियों में प्रथम निर्दिष्ट पृथिवी आदि हैं पश्चात् निर्दिष्ट हिंकारादि है, इससे अङ्ग भिन्न आदित्य आदि मे अङ्ग मति का निक्षेप अध्यास होता है॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आदित्यादिमतय एवाङ्गेषूद्गीथादिषु क्षिप्येरन्। कुतः ? उपपत्तेः। उपपद्यते ह्येवमपूर्वसन्निकर्षादादित्यादिमतिभिः संस्क्रियमाणेषूद्गीथादिषु कर्मसमृद्धिः। 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१०) इति च विद्यायाः कर्मसमृद्धिहेतुत्वं दर्शयति। भवतु कर्मसमृद्धिफलेष्वेवं, स्वतन्त्रफलेषु तु कथम् 'य एतदेवं विद्वाँल्लोकेषु पञ्चविधं सामोपास्ते' (छा० २।२।३) इत्यादिषु, तेष्वप्यधिकृताधिकारात्प्रकृतापूर्वसन्निकर्षेणैव फलकल्पना युक्ता गोदोहनादिनियमवत्। फलात्मकत्वाच्चादित्यादीनामुद्गीथादिभ्यः कर्मात्मकेभ्य उत्कर्षोपपत्तिः। आदित्यादिप्राप्तिलक्षणं हि कर्मफलं शिष्यते श्रुतिषु। अपिच 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।१।१) 'खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति' (छा० १।१।१०) इति चोद्गीथमेवोपास्यत्वेनोपक्रम्यादित्यादिमतीर्विदधाति।

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते है कि उद्गीथादि अङ्गो मे आदित्यादि की बुद्धि ही क्षिप्त अध्यस्त की जायगी। ऐसा किस हेतु से होगा, तो कहा जाता है कि उपपत्ति से होगा, जिससे अपूर्व (कर्मजन्य अदृष्ट) के साथ सन्निकर्ष (संबन्ध) से ऐसा उपपन्न (सिद्ध) होता है कि आदित्यादि दृष्टि से उद्गीथादि के संस्कारयुक्त होने पर अदृष्ट द्वारा कर्म की समृद्धि (फलवृद्धि) होती है। विद्या और श्रद्धा से युक्त हो कर उपनिषद-उपासना सहित जो ही कर्म करता है, वह कर्म अतिबलवत् होता है। यह श्रुति विद्या के कर्मसमृद्धिहेतुत्व को दर्शाती है। यहाँ शंका होती है कि कर्म की समृद्धि रूप फलवाले उपासनाओं में ऐसा हो सकता है। परन्तु (जो इस प्रकार जानने वाला विद्वान् लोकों में पांच प्रकार के साम की उपासना करता है। उसको भोग देने के लिए ऊपर और नीचे के लोक समर्थ होते हैं। इत्यादि स्वतन्त्र फल वाली

उपासनाओं में अङ्गों में अनङ्गदृष्टि कैसे अध्यस्त होगी। तो कहा जाता है कि उन उपासनाओं में भी कर्म में अधिकृत का अधिकार होने से प्रकृत अपूर्व के साथ सन्निकर्ष से ही गोदोहनादि नियम के समान फल की कल्पना युक्त है। अर्थात् जैसे स्वतन्त्र पशु रूप फल वाला भी गोदोहन का अप् का प्रणयन रूप अङ्गात्मक द्वार की अपेक्षापूर्वक ही उसका फल माना गया है। इसी प्रकार लोकादि फलवाली उपासनाओं में भी कर्मसम्बन्धी अपूर्व रूप अंग द्वारा ही फल की कल्पना युक्त है। क्योंकि कर्मों में अधिकृता का ही अङ्गाश्रित उपासनाओं में अधिकार है। आदित्यादि के फलस्वरूप होने से कर्म स्वरूप उद्गीथादि में उन में उत्कर्ष की उपपत्ति होती है। जिससे श्रुतियों में आदित्य की प्राप्तिरूप कर्मफल का उपदेश दिया जाता है। इससे उत्कर्ष के अनवधारण से अनियम कहा था वह अयुक्त है। दूसरी बात है कि (ओम् इस अक्षररूप उद्गीथ की उपासना करे। इस अक्षर का ही रसतमत्वादि गुण रूप उपव्याख्यान है) इस प्रकार उद्गीथ का ही उपास्य रूप से उपक्रम करके उसमें आदित्यादि दृष्टि की श्रुति विधान करती है।

यत्तूक्तमुद्गीथादिमतिभिरुपास्यमाना आदित्यादयः कर्मभूय भूत्वा फलं करिष्यन्तीति। तदयुक्तम्। स्वयमेवोपासनस्य कर्मत्वात्फलवत्त्वोपपत्तेः। आदित्यादिभावेनापि च दृश्यमानानामुद्गीथादीनां कर्मात्मकत्वानपायात्। 'तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढं साम' (छा० १।६।१) इति तु लाक्षणिक एष पृथिव्यग्न्योर्ऋक्सामशब्दप्रयोगः। लक्षणा च यथासम्भवं सन्निकृष्टेन विप्रकृष्टेन वा स्वार्थसम्बन्धेन प्रवर्तते। तत्र यद्यप्यृक्साम्नोः पृथिव्यग्निदृष्टिचिकीर्षा तथापि प्रसिद्धयोर्ऋक्सामयोर्भेदेनानुकीर्तनात्पृथिव्यग्न्योश्च सन्निधानात्तयोरेवैष ऋक्सामशब्दप्रयोगः ऋक्सामसम्बन्धादिति निश्चीयते। क्षत्तृशब्दोऽपि हि कुतश्चित्कारणाद्राजानमुपसर्पन्न निवारयितुं पार्यते। 'इयमेवर्क्' (छा० १।६।१) इति च यथाक्षरन्यासमृचं पृथिवीत्वमवधारयति। पृथिव्या हि ऋक्त्वेऽवधार्यमाणे इयमृगेवेत्यक्षरन्यासः स्यात्। 'य एवं विद्वान्साम गायति' (छा० १।७।७) इति चाङ्गाश्रयमेव विज्ञानमुपसंहरति न पृथिव्याद्याश्रयम्।

जो यह कहा था कि उद्गीथादि मति (दृष्टि) से उपास्यमान (उपासित) आदित्य आदि कर्मभूय (कर्मभाव-कर्मात्मकता) को प्राप्त होकर फल देंगे यह कहना अयुक्त है। जिससे उपासना के स्वयं ही कर्मत्व होने से उसीसे फल की सिद्धि होती है। आदित्यादिरूप से दृश्यमान (उपास्य) भी उद्गीथादि के कर्मात्मकत्व के नष्ट नहीं होने से उससे फल की सिद्धि होती है भाव है कि किसी तेजस्वी बालक को कहा जाता है कि यह बालक अग्नि है तो वह वस्तुतः अग्नि नहीं हो जाता है इसी प्रकार कर्माङ्ग कर्मरूप उद्गीथादि में आदित्यादि दृष्टि करने पर वे कर्माङ्ग वस्तुतः आदित्यादि नहीं हो जाते हैं, इसमें अङ्गों में अनङ्ग दृष्टि अविरुद्ध है। (वह यह अग्निरूप साम भूमिरूप ऋक् के ऊपर स्थित है) यह तो लाक्षणिक ही पृथिवी और अग्नि में ऋक् और साम

शब्द का प्रयोग है, अनङ्ग में अङ्ग दृष्टि निमित्तक नहीं है। लक्षणा सम्भव के अनुसार सन्निकृष्ट वा विप्रकृष्ट (समीप वा दूर) स्वार्थ के सम्बन्ध से प्रवृत्त होती है। जैसे (गङ्गायां घोषः) यहाँ सन्निकृष्ट संयोग संबन्ध से लक्षणा होती है, (अग्निर्माणवकः) यहाँ शुचित्वादि गुणवत्त्वादि द्वारा लक्षणा होती है। वैसे ही ऋक् साम मे पृथिवी अग्नि-दृष्टि पक्ष में भी ऋक् साम में पृथिवी अग्नि दृष्टिरूप सम्बन्ध से ही ऋगादि पद की पृथिवी आदि में लक्षणा है। यहाँ यद्यपि ऋक् और साम में पृथिवी और अग्निदृष्टि करने की इच्छा है, तो भी प्रसिद्ध ऋक् और साम के भेद से, अनुकीर्तन से (पृथक् कथन से) और पृथिवी तथा अग्नि के सन्निधान से उस पृथिवी अग्नि में ही (एतस्यामृच्यध्यूढंसाम) यह ऋक् साम शब्द का प्रयोग है। ऋक् और साम के सम्बन्ध से ऐसा निश्चय किया जाता है। भाव है कि (तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते) यह पृथक् प्रसिद्ध ऋक् साम का प्रयोग है (एतस्यामृचि) यहाँ भी उनके ग्रहण से पुनरुक्ति होगी, इससे पृथिवी अग्नि के सन्निधान से पृथिवी और अग्नि में ही लाक्षणिक प्रयोग है। यदि कहो कि पृथिवी अग्नि में ऋक् साम की दृष्टि के विना ऋक् साम पद का लक्षणा से प्रयोग हो तो क्षत्ता में भी राजदृष्टि के विना राजशब्द का प्रयोग होना चाहिये तो कहा जाता है कि रथचर्या आदि किसी कारण से सारथि शब्द भी राजविषयक प्रयुक्त होता हो तो उसका वारण नहीं कर सकते हैं। दूसरी बात है कि प्रयोग देखने पर निमित्त कहना चाहिए। निमित्त के होने से प्रयोग की प्राप्ति नहीं की जाती है। (यही ऋक् है) यह वाक्य अक्षर विन्यास (वाक्यरचना) के अनुसार ऋक् के ही पृथिवीत्व का अवधारण करता है कि यह पृथिवी ही ऋक् स्वरूप है। पृथिवी के ऋक्त्व के अवधार्यमाण (अवधारण का विषय) होने पर तो (यह ऋक् ही है) इस प्रकार का अक्षरों का विन्यास होगा। (जो इस प्रकार जानने वाला होता हुआ साम का गान करता है) यह वाक्य अङ्गरूप आश्रय वाला विज्ञान का उपसंहार करता है। पृथिवी आदि के आश्रित विज्ञान का उपसंहार नहीं करता है।

तथा 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत' (छा० २।२।१) इति। यद्यपि सप्तमीनिर्दिष्टा लोकास्तथापि साम्न्येव तेऽध्यस्येरन्द्वितीयानिर्देशेन साम्न उपास्यत्वावगमात्। सामनि हि लोकेष्वध्यस्यमानेषु साम लोकात्मनोपासितं भवति, अन्यथा पुनर्लोकाः सामात्मनोपासिताः स्युः। एतेन 'एतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम्' (छा० २।११।१) इत्यादि व्याख्यातम्। यत्रापि तुल्यो द्वितीया-निर्देशः—'अथ खल्वमुमादित्यं सप्तविधं सामोपासीत' (छा० २।६।१) इति, तत्रापि 'समस्तस्य खलु साम्न उपासनं साधु' (छा० २।१।१) 'इति तु पञ्च-विधस्य' (छा० २।७।२) 'अथ सप्तविधस्य' (छा० २।८।१) इति च साम्न एवोपास्यत्वोपक्रमात्तस्मिन्नेवादित्याद्यध्यासः। एतस्मादेव च साम्न उपास्यत्वा-वगमात् 'पृथिवी हिंकारः' (छा० २।२।१) इत्यादिनिर्देशविपर्ययेऽपि हिंकारा-

दिष्वेव पृथिव्यादिदृष्टिः। तस्मादनङ्गाश्रया आदित्यादिमतयोऽङ्गेपूद्गीथादिषु क्षिप्येरन्निति सिद्धम् ॥ ६ ॥

इसी प्रकार (लोकों में पाँच प्रकार के सामों की उपासना करे) इस वाक्य में यद्यपि सप्तमी विभक्ति युक्त पद से लोक निर्दिष्ट हैं, तो भी साम में ही वे लोक अध्यस्त होंगे, अर्थात् लोकदृष्टि से साम की ही उपासना होगी, जिससे द्वितीया विभक्ति के निर्देश से साम के उपास्यत्व का अवगम-ज्ञान होता है। जिसमें साम में लोकों के अध्यस्यमान (अध्यस्त) होने पर लोकरूप से साम उपासीत (ध्यात) होता है। अन्यथा होने पर तो लोक सामरूप से उपासित होंगे, लोकों की उपासना की जायगी तो द्वितीया विभक्ति असङ्गत होगी। इसीसे (प्राणों में यह गायत्र साम प्रोत है) इत्यादि भी व्याख्यात हो गया। अर्थात् इन वाक्यों में सप्तमी विभक्ति के भंग द्वारा लोकरूप से साम की उपासना करे प्राणरूप से गायत्र साम उपास्य है यह अर्थ है। अन्यथा सप्तमी द्वितीया दोनों विभक्ति का भंग करना पड़ेगा। जहाँ भी तुल्य ही द्वितीया विभक्ति का निर्देश है कि (इस आदित्य की सप्तविध सामरूप से उपासना करे) इति। वहाँ भी (समस्त साम की उपासना ही साधु—श्रेष्ठ है) यह तो पञ्चविध साम की उपासना है। (अथ सप्तविध साम की कही जाती है) इस प्रकार साम के ही उपास्यत्व के उपक्रम से उस साम में ही आदित्य का अध्यास होता है। इस साम के उपास्यत्व के अवगम से ही (पृथिवी हिंकार है) इत्यादि निर्देश के विपर्यय में भी हिंकारादि में ही पृथिवी आदि दृष्टि कर्तव्य है, जिससे अनङ्ग आश्रित (अनङ्गविषयक) आदित्यादि बुद्धियाँ उद्गीथादि अंगों में क्षिप्त (अध्यस्त) होंगी यह सिद्ध हुआ ॥ ६ ॥

आसीनाधिकरणम् ॥ ६ ॥

नास्त्यासनस्य नियम उपास्तावुत विद्यते। न देहस्थितिसापेक्षं मनोऽतो नियमो नहि ॥१॥
शयनोत्थानगमनैर्विक्षेपस्यानिवारणात्। धीसमाधानहेतुत्वात् परिशिष्यत आसनम् ॥२॥

आसीन (विशेष आसन युक्त बैठे हुए) से उपासना ध्यान निदिध्यासन के सम्भव होने से आसीन हो करके ही उपासना ध्यान करे। संशय है कि उपासना में आसन का नियम नहीं है (अथवा नियम है) पूर्वपक्ष है कि उपासना मानस धर्म है, शारीरिक नहीं है। मन अपने कार्य में देह की स्थिति की अपेक्षा नहीं करता है, इससे उपासना में आसन का नियम नहीं है। सिद्धान्त है कि उपासना के मानस होते भी चञ्चल मन से उपासना नहीं होती है, और शयन, उत्थान (खड़े रहना) तथा गमन से मन के विक्षेप (चञ्चलता) का निवारण नहीं होता है। इससे बुद्धि के समाधान (चञ्चलता-रहित एकाग्रता) के हेतुत्व से आसन कर्तव्यरूप से परिशेष रहता है, इससे उपासना में आसन का नियम है ॥ १-२ ॥

आसीनः संभवात् ॥ ७ ॥

कर्माङ्गसम्बद्धेषु तावदुपासनेषु कर्मतन्त्रत्वान्नासनादिचिन्ता, नापि सम्य-

ग्दर्शने वस्तुतन्त्रत्वाद्विज्ञानस्य। इतरेषु तूपासनेषु किमनियमेन तिष्ठन्नासीनः शयानो वा प्रवर्तेतेति नियमेनासीन एवेति चिन्तयति। तत्र मानसत्वादुपासनस्यानियमः शरीरस्थितेरिति।

कर्मों के बैठकर, खड़े होकर कितने प्रकार से अनुष्ठान के देखने से, और कर्माङ्ग से सम्बन्ध वाले उपासनाओं के कर्माधीन होने से कर्मसम्बद्ध उपासनाओं मे आसन की चिन्ता (विचार) नहीं की जाती है। विज्ञान के वस्तु के अधीन होने से सम्यक् दर्शन में भी आसन की की चिन्ता नहीं की जाती है। इतर उपासनाओं में चिन्ता करते हैं कि क्या अनियम से खड़े होते हुए, बैठे हुए वा सोए हुए उपासना में प्रवृत्त हो। अथवा नियम से बैठे हुए ही प्रवृत्त हो। यहाँ पूर्वपक्ष है कि उपासना के मानस होने से शरीर की स्थिति का अनियम है।

एवं प्राप्ते ब्रवीति—आसीन एवोपासीतेति। कुतः? सम्भवात्। उपासनं नाम समानप्रत्ययप्रवाहकरणं, नच तद्गच्छतो धावतो वा सम्भवति गत्यादीनां चित्तविक्षेपकरत्वात्। तिष्ठतोऽपि देहधारणे व्यापृतं मनो न सूक्ष्मवस्तुनिरीक्षणक्षमं भवति। शयानस्याप्यकस्मादेव निद्रयाभिभूयते। आसीनस्य त्वेवंजातीयको भूयान्दोषः सुपरिहर इति सम्भवति तस्योपासनम्॥ ७॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि आसीन होकर—बैठ कर ही उपासना करे। क्योंकि बैठ कर ही उपासना का होना सम्भव है। जिससे समान (तुल्य) ज्ञान का प्रवाह करना उपासना कही जाती है। गति आदि के चित्त के विक्षेपकारक होने से चलते वा दौड़ते हुए की उस उपासना का सम्भव नहीं है। खड़े हुए का भी देह के धारण में व्यापारयुक्त मन सूक्ष्म वस्तु के निरीक्षण में समर्थ नहीं होता है। सोए हुए का मन भी अकस्मात् ही निद्रा से अभिभूत (तिरस्कृत-लीन) होता है। आसीन (बैठे) के तो इस प्रकार के बहुत दोष सुख से निवारण किए जाते हैं। इससे उस आसीन की उपासना का सम्भव होता है॥ ७॥

ध्यानाच्च॥ ८॥

अपिच ध्यायत्यर्थ एष यत्समानप्रत्ययप्रवाहकरणम्। ध्यायतिश्च प्रशिथिलाङ्गचेष्टेषु प्रतिष्ठितदृष्टिष्वेकविषयाक्षिप्तचित्तेषूपचर्यमाणो दृश्यते, ध्यायति बको ध्यायति प्रोषितबन्धुरिति, आसीनश्चानायासो भवति। तस्मादप्यासीनकर्मोपासनम्॥ ८॥

जो समान ज्ञान का प्रवाह करना रूप उपासना है, यह ध्यायति (ध्यै-चिन्तायाम्) इस धातु का अर्थ रूप है। अर्थात् ध्यान रूप उपासना है। प्रशिथिल (निवृत्त) अङ्ग चेष्टा वाले, प्रतिष्ठित (स्थिर) दृष्टि वाले, एक विषय में आक्षिप्त (स्थापित) चित्त वालों में ध्यायति शब्द उपचार से प्रयुक्त देखा जाता है, कि बक ध्यान करता है,

प्रोषित बन्धु वाला ध्यान करता है। आसीन अनायास (आयासरहित ध्याता) होता है, इससे भी आसीन का कर्म रूप उपासना है ॥ ८ ॥

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥

अपिच 'ध्यायतीव पृथिवी' (छा० ७।६।१) इत्यत्र पृथिव्यादिष्वचलत्वमेवापेक्ष्य ध्यायतिवादो भवति, तच्च लिङ्गमुपासनस्यासीनकर्मत्वे ॥ ९ ॥

(ध्यान करती हुई के समान पृथिवी निश्चल दिखती है) इस श्रुति में पृथिवी आदि में अचलत्व ही की अपेक्षा करके ध्यायति का कथन है। वह उपासना का आसीन के कर्मत्व में लिङ्ग है ॥ ९ ॥

स्मरन्ति च ॥ १० ॥

स्मरन्त्यपि च शिष्टा उपासनाङ्गत्वेनासनम्—'शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः' (गी० ६।११) इत्यादिना। अत एव पद्मकादीनामासनविशेषाणामुपदेशो योगशास्त्रे ॥ १० ॥

शिष्ट लोग उपासना के अङ्गरूप से आसन का स्मरण (कथन) भी करते हैं (शुचिदेश में अपना स्थिर आसन को प्रस्थापित करके योग का अभ्यास करे) इत्यादि से। आसीन के ध्यान सम्भव से ही योगशास्त्र में पद्म सिद्ध आदि आसनों का उपदेश है ॥ १० ॥

एकाग्रताधिकरणम् ॥ ७ ॥

दिग्देशकालनियमो विद्यतेऽथ न विद्यते। विद्यते वैदिके चेत् कर्मण्येतस्य दर्शनात् ॥ १ ॥
एकाग्र्याविशेषेण दिगादिर्न नियम्यते। 'मनोनुकूल' इत्युक्तेरिष्टार्थं देशभाषणम् ॥ २ ॥

उक्त उपासनाएँ कहाँ कर्तव्य हैं? जहाँ कि एकाग्रता हो सके वहाँ अविशेष विधि से कर्तव्य हैं। अर्थात् इनके लिए कर्मों के समान विशेष देश-कालादि का अदृष्टार्थक विधान नहीं है। इससे दृष्टफल एकाग्रता जिस देश-काल में हो वहाँ कर्तव्य है। संशय है कि दिशा, देश और काल का नियम उपासना में है, अथवा नहीं है। पूर्वपक्ष है कि वैदिक कर्म दर्श पूर्णमास अग्निहोत्रादि में इस देशादि नियम के देखने से और इस उपासना के भी वैदिक कर्म होने से देश-कालादि का नियम है। सिद्धान्त है कि एकाग्र की उपासना सिद्ध होती है उसमें अविशेषरूप से दिशा आदि सामान्य कारण हैं, चाहे किसी दिशा देश काल में उपासना की जा सकती है, इससे विशेष दिशा आदि नियमित नहीं किए जाते हैं (मनोऽनुकूले) इत्यादि उक्ति से भी दृष्टार्थक देश का भाषण है कर्म के समान अदृष्टार्थक देश का नियम नहीं है ॥ १-२ ॥

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥

दिग्देशकालेषु संशयः—किमस्ति कश्चिन्नियमो नास्ति वेति। प्रायेण वैदि-

केष्वारम्भेषु दिगादिनियमदर्शनात्स्यादिहापि कश्चिन्नियम इति यस्य मतिस्तं प्रत्याह दिग्देशकालेष्वर्थलक्षण एव नियमः। यत्रैवास्य दिशि देशे काले वा मनसः सौकर्येणैकाग्रता भवति तत्रैवोपासीत, प्राचीदिक्पूर्वाह्णप्राचीनप्रवणादिवद्विशेषाश्रवणात्, एकाग्रताया इष्टायाः सर्वत्राविशेषात्। ननु विशेषमपि केचिदामनन्ति—

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोनुकूले नतु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥

(श्वे० २।१०) इति यथेति। उच्यते—सत्यमस्त्येवंजातीयको नियमः। सति त्वेतस्मिंस्तद्गतेषु विशेषेष्वनियम इति सुहृद्भूत्वाचार्य आचष्टे। 'मनोनुकूले' इति चैषा श्रुतिर्यत्रैकाग्रता तत्रैवेत्येतदेव दर्शयति॥ ११॥

दिशा, देश और काल विषयक संशय है कि उपासना में पूर्वादि दिशा, तीर्थादि देश और प्रदोषादि काल का क्या कोई नियम है अथवा नहीं है। यहाँ प्रायः वैदिक आरम्भों (कर्मो) में दिशा आदि का नियम के देखने से यहाँ भी कोई नियम होगा, ऐसी जिसकी मति (बुद्धि) है, उसके प्रति कहते हैं कि दिशा, देश और कालविषयक इष्ट एकाग्रता रूप अर्थ (फल) रूप लक्षण वाला ही नियम है, अर्थात् एकाग्रता फलरूप लिङ्ग वाला एकाग्रता से आक्षिप्त नियम है, कि जिस दिशा, देश वा काल में इस उपासक का मन की एकाग्रता सुकरता (सुगमता) से अनायास हो, उसी दिशा आदि में उपासना करे। क्योंकि (प्राचीनप्रवणे प्राग्देशे निम्नस्थाने वैश्वदेवं कुर्यात्) पूर्व तरफ जहाँ नीची भूमि हो, ऐसे पूर्वदेश निम्नस्थान में वैश्वदेव कर्म करे। इत्यादि के समान, पूर्वदिशा, पूर्वाह्णकाल, प्राचीनप्रवण (पूर्व तरफ निम्नतायुक्त) देश इत्यादि विशेष का यहाँ श्रवण नहीं है। इष्ट एकाग्रता की भी सर्वत्र अविशेषता-तुल्यता है। इससे जहाँ एकाग्रता हो वहाँ उपासना करे। यदि कहा जाय कि कोई विशेष का भी कथन करते हैं, जैसे कि (सम, पवित्र, शर्करा-कंकर, अग्नि, वालू से रहित, शब्द और अतिनिकट जलाशयादि से रहित, मन के अनुकूल, चक्षुः पीडन-मशक से रहित, गुहा-तुल्य वातरहित स्थान के आश्रयण करने पर चित्त को परमात्मा में लगावे इति) तो कहा जाता है कि इस प्रकार का नियम सत्य ही है, परन्तु इस नियम के रहते भी तद्गत विशेषों में अनियम है, यह सुहृद् होकर आचार्य कहता है। (मनोऽनुकूले) यह श्रुति जहाँ एकाग्रता हो, वहाँ उपासना करे इसी बात को दर्शाती है॥ ११॥

आप्रायणाधिकरणम्॥ ८॥

उपास्तीनां यावदिच्छमावृत्तिः स्याद्युताऽऽमृति। उपास्त्यर्थाभिनिष्पत्तेर्यावदिच्छं नतूपरि॥
अन्त्यप्रत्ययतो जन्म भाष्यतस्तत्प्रसिद्धये। आमृत्यावर्तनं न्याय्यं सदा तद्भाववाक्यतः॥

उक्त उपासनाएँ मरण पर्यन्त कर्तव्य होती हैं जिससे उस मरण पर्यन्त उपासना विषयक भी दृष्ट (श्रुतिरूप दर्शन) है कि (प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत) इत्यादि।

यहाँ संशय है कि उपासनाओं की आवृत्ति इच्छापर्यन्त इच्छा के अनुसार होगी, अथवा मरणपर्यन्त होगी पूर्वपक्ष है कि इच्छापर्यन्त आवृत्ति से ही चित्त की एकाग्रता रूप उपासना शब्द के अर्थ की सिद्धि में उसके बाद में आवृत्ति नहीं करनी चाहिए। सिद्धान्त है कि उपासना के फलरूप भावी जन्म अन्तिम (मरणकालिक) प्रत्यय से होता है, इसस उस भावी जन्म की सिद्धि के लिए मरणपर्यन्त आवृत्ति न्याययुक्त है, वह (सदा तद्भावभावित) इस भगवद्वचन से भी सिद्ध होता है ॥ १–२ ॥

आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥

आवृत्तिः सर्वोपासनेष्वादर्तव्येति स्थितमाद्येऽधिकरणे। तत्र यानि तावत्सम्यग्दर्शनार्थान्युपासनानि तान्यवघातादिवत्कार्यपर्यवसानानीति ज्ञातमेवैषामावृत्तिपरिमाणम्, नहि सम्यग्दर्शने कार्ये निष्पन्ने यत्नान्तरं किंचिच्छासितुं शक्यम्। अनियोज्यब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तेः शास्त्रस्याविषयत्वात्, यानि पुनरभ्युदयफलानि तेष्वेषा चिन्ता—किं कियन्तंचित्कालं प्रत्ययमावर्त्योपरमेदुत यावज्जीवमावर्तयेदिति। किं तावत्प्राप्तम्? कियन्तंचित्कालं प्रत्ययमभ्यस्योत्सृजेदावृत्तिविशिष्टस्योपासनशब्दार्थस्य कृतत्वादिति।

सब उपासनाओं में आवृत्ति आदरणीय है यह आद्य (प्रथम) अधिकरण में स्थिर (निश्चित) किया गया है। उन उपासनाओं में जो उपासनायें सम्यक् दर्शनार्थक हैं, वे तो अवघात के समान दर्शन रूप कार्यात्मक अवसान (समाप्ति) वाली हैं, इससे इनकी आवृत्ति का परिमाण ज्ञात ही है। जिससे सम्यग् दर्शन रूप कार्य के सिद्ध होने पर अन्य किसी यत्न का वहाँ शासन (उपदेश) नहीं किया जा सकता है। क्योंकि अनियोज्य (अप्रेर्य) ब्रह्मविषयक आत्मत्व की प्रतिपत्ति (अनुभव) जिसको हुआ है, वह अनियोज्य ब्रह्मविषयक आत्मत्व प्रतिपत्तिवाला, शास्त्र का अविषय होता है। इसलिए उसके शास्त्र के अविषयत्व से उसको उपदेश नहीं दिया जा सकता है। फिर भी जो उपासनाएँ अभ्युदय रूपफल वाली हैं, उनके विषय में यह चिन्ता (विचार) है कि क्या कितने कुछ काल तक प्रत्यय की आवृत्ति करके उपरत (निवृत्त) हो जाय, अथवा जीवनपर्यन्त आवृत्ति करता रहे। प्रथम प्राप्त क्या है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि कुछ काल तक प्रत्यय की आवृत्ति करके त्याग दे, क्योंकि आवृत्तियुक्त उपासना शब्द के अर्थ को आवृत्ति से कृतत्व (सिद्धत्व) हो गया।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आप्रायणादेवावर्तयेत्प्रत्ययम्, अन्त्यप्रत्ययवशाददृष्टफलप्राप्तेः। कर्माण्यपि हि जन्मान्तरोपभोग्यं फलमारभमाणानि तदनुरूपं भावनाविज्ञानं प्रायणकाले आक्षिपन्ति, 'सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति' 'यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति, प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति' इति चैवमादिश्रुतिभ्यः, तृणजलूकानिदर्शनाच्च। प्रत्ययास्त्वेते स्वरूपानुवृत्तिं मुक्त्वा किमन्यत्प्रायणकालभावि भावनाविज्ञानमपेक्षेरन्। तस्माद्ये

प्रतिपत्तव्यफलभावनात्मकाः प्रत्ययास्तेष्वाप्रायणादावृत्तिः। तथाच श्रुतिः— 'सयावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैति' इति प्रायणकालेऽपि प्रत्ययानुवृत्तिं दर्शयति। स्मृतिरपि—

यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः॥ (गी० ८।६)

ऐसा प्राप्त होने पर कहते है कि अन्तिम प्रत्यय के बल से अदृष्ट फल की प्राप्ति होने से मरणपर्यन्त प्रत्यय की आवृत्ति करे। जिससे जन्मान्तर में उपभोग के योग्य फल को आरम्भ करने वाले कर्म भी उस फल के अनुरूप (सदृश) भावनामय विज्ञान को मरण-काल में आक्षेप (प्राप्त) करते है। वह मरण-काल में सविज्ञान-भावनामय विज्ञान-फल का स्फुरण सहित होता है। विज्ञानसहित ही फल को फिर अवक्रमण (गमन-प्राप्ति) करता है। मरणकाल में जिस लोकादिविषयक चित्तवाला होता है, उस संकल्पमय चित्त के सहित यह जीव मुख्य प्राण में लीन होता है। वह प्राण (तेजो ह वाव उदानः) इस श्रुतिकथित उदान रूप तेज के साथ युक्त होकर और जीवात्मा-सहित होकर उसी जीवात्मा को यथासंकल्पित-संकल्प के अनुसार लोक में प्राप्त कराता है, इत्यदि श्रुतियों से और तृण-जलूकारूप दृष्टान्त से, उक्तार्थ सिद्ध होता है। ये उपासना रूप प्रत्यय तो अपने स्वरूप की आवृत्ति को छोड़ कर किस अन्य मरणकाल में रहने वाला भावनामय विज्ञान की अपेक्षा करेंगे, अर्थात् कर्म के समान अदृष्ट की अपेक्षा उपासनाएँ नहीं करती हैं किन्तु अन्तकाल में भी दृष्ट प्रत्यय की आवृत्ति की ही फलोत्पत्ति के लिये अपेक्षा करती हैं, इससे प्राप्त करने योग्य फल-विषयक भावना स्वरूप जो प्रत्यय हैं, उनके विषय में मरणपर्यन्त आवृत्ति कर्तव्य है। इसी प्रकार की श्रुति है कि (वह उपासक जीव जितना जैसा क्रतु संकल्पवाला होकर इस लोक से गमन करता है, उस संकल्प से युक्त ही परलोक में प्राप्त होकर फल को प्राप्त करता है) यह श्रुति मरणकाल में भी प्रत्यय की अनुवृत्ति को दर्शाती है। स्मृति भी है कि (हे कौन्तेय! जिस-जिस भी भाव-देवादि का स्मरण करता हुआ अन्त में शरीर को त्यागता है सदा उसकी भावना से भावित-वासित चित्त वाला होता हुआ उसी-उसी भाव को प्राप्त होता है, अन्य को नहीं।)

इति 'प्रयाणकाले मनसाऽचलेन' (गी० ८।१०) इति च। 'सोऽन्ततवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्यते' इति च मरणवेलायामपि कर्तव्यशेषं श्रावयति॥ १२॥

(मरणकाल में अचल मन से परपुरुष का स्मरण करता हुआ दिव्य परपुरुष को प्राप्त करता है) और (वह उपासक अन्तकाल में, अक्षितमसि, अच्युतमसि, प्राणसंशितमसि, इन तीन मन्त्रों का स्मरण करे) उक्तस्मृति और श्रुति भी मरणकाल मे कर्तव्य शेष सुनाती है॥ १२॥

तदधिगमाधिकरणम् ॥ ९ ॥

ज्ञानिन पापलेशोऽस्ति नास्ति वाऽनुपभोगत । आनाश इति शास्त्रेषु घोषाल्लेपोऽस्य विद्यते ॥
अकर्त्रात्मधिया वस्तुमहिम्ना न लिप्यते । अश्लेषनाशावप्युक्तावतो घोषस्तु सार्थक ॥

उस ब्रह्मात्मा के अधिगम अपरोक्ष होने पर आगामी अघ (पाप) का अश्लेष (असंबन्ध) होता है । पूर्व के संचित पाप का नाश होता है, उस का श्रुति-स्मृति में व्यपदेश से यह समझा जाता है । ज्ञानी को शरीरादि-कृत पाप का लेप (भोग) होता है अथवा नहीं होता है । यह संशय है पूर्वपक्ष है कि (नाभुक्तं क्षीयते कर्म) इत्यादि शास्त्र के अनुसार उपभोग के बिना पाप का नाश नहीं होता है, यह शास्त्रों में घोष (कथन) है, इससे इस ज्ञानी को लेप होता है । सिद्धान्त है कि अकर्त्ता, असंग, आत्मा के ज्ञान से ज्ञात आत्मवस्तु की महिमा से ही ज्ञानी में पाप लिप्त नहीं होता है । पुष्करपलाश के समान अलेप तथा इषीकातूल का अग्नि से नाश के समान नाश भी श्रुति में कहे गये हैं । इससे अनाश का कथन अज्ञ में सार्थक है ॥ १—२ ॥

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥

गतस्तृतीयशेष । अथेदानीं ब्रह्मविद्याफलं प्रति चिन्ता प्रतायते । ब्रह्माधिगमे सति तद्विपरीतफलं दुरितं क्षीयते न क्षीयते वेति संशय । किं तावत्प्राप्तम् ? फलार्थत्वात्कर्मण फलमदत्त्वा न संभाव्यते क्षय । फलदायिनी ह्यस्य शक्ति श्रुत्या समधिगता । यदि तदन्तरेणैव फलोपभोगमपवृज्येत श्रुति कदर्थिता स्यात् । स्मरन्ति च 'नहि कर्माणि क्षीयन्ते' इति । नन्वेवं सति प्रायश्चित्तोपदेशोऽनर्थक प्राप्नोति । नैष दोष । प्रायश्चित्तानां नैमित्तिकत्वोपपत्तेर्गृहदाहेष्ट्यादिवत् । अपिच प्रायश्चित्तानां दोषसंयोगेन विधानाद्भवेदपि दोषक्षपणार्थता, नत्वेवं ब्रह्मविद्याया विधानमस्ति । नन्वनभ्युपगम्यमाने ब्रह्मविद कर्मक्षये तत्फलस्यावश्यं भोक्तव्यत्वादनिर्मोक्ष स्यात् । नेत्युच्यते । देशकालनिमित्तापेक्षो मोक्ष कर्मफलवद्भविष्यति । तस्मान्न ब्रह्मविद्याधिगमे दुरितनिवृत्तिरिति ।

तृतीय अध्याय का शेष साधन सम्बन्धी विचार समाप्त हो गया । इसके बाद अब ब्रह्मविद्या के फलविषयक विचार का विस्तार किया जाता है । यहाँ संशय है कि ब्रह्म के अधिगम (अपरोक्ष) होने पर, उससे विपरीत फलवाला पाप नष्ट होता है, अथवा नहीं नष्ट होता है । प्रथम प्राप्त क्या होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष होता है कि कर्म के फलार्थक होने से फल दिये बिना उसके क्षय की संभावना नहीं होती है । जिससे इस पाप कर्म की फल देने वाली शक्ति (मा हिंस्यात्, ब्राह्मणो न हन्तव्य) हिंसा नहीं करे । ब्राह्मण हिंसायोग्य नहीं है । इत्यादि निषेध श्रुतियों से समधिगत (ज्ञात) होती है । वह कर्म यदि फलभोग के बिना ही नष्ट हो जाय, तो श्रुति कदर्थित (अपमानित) होगी । स्मरण भी करते हैं कि (फल दिये बिना कर्म

नष्ट नहीं होते)। यदि कहा जाय कि ऐसा होने पर अर्थात् भोग के विना पाप के नहीं नष्ट होने पर उस पाप की निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त कर्म का उपदेश अनर्थक प्राप्त (सिद्ध) होगा। तो कहा जाता है कि गृहदाह इष्टि आदि के समान प्रायश्चित्तों के नैमित्तिक कर्मत्व की उपपत्ति से यह अनर्थकता रूप दोष नहीं है। अर्थात् आहिताग्नि, अग्नि के आधान युक्त पुरुष के घर में अग्नि के लगने पर उसमें दाहरूप निमित्त से आठ कपाल में संस्कृत हवि का अर्पणरूप नैमित्तिक कर्म का विधान है, उससे अग्नि की निवृत्ति नहीं होती है। वैसे ही दोषरूप निमित्त के होने पर प्रायश्चित्त का विधान है, उससे दोषरूप पाप का नाश नहीं होता है। दूसरी बात है कि (दोषवान् प्रायश्चित्तं कुर्यात्) दोषवाला प्रायश्चित्त करे। इत्यादि उपदेशों के अनुसार प्रायश्चित्तों का दोषसंयोगनिमित्तक विधान होने से जैसे मलनिमित्तक स्नान से मल की निवृत्ति होती है वैसे ही प्रायश्चित्त को दोषनाश रूप प्रयोजनवत्ता होगी भी। परन्तु ब्रह्मविद्या की इस प्रायश्चित्त के समान दोषसंयोग-निमित्तक विधि नहीं है। यदि कहा जाय कि ब्रह्मवेत्ता के कर्मक्षय के नहीं मानने पर उस कर्मफल की अवश्य भोक्तव्यता से मोक्ष नहीं होगा, तो कहा जाता है कि मोक्ष का अभाव नहीं होगा किन्तु देशकाल-निमित्तों की अपेक्षापूर्वक कर्मफल के समान ज्ञान का फल मोक्ष होगा, जिससे ब्रह्मविद्या के अधिगम होने पर पाप की निवृत्ति नहीं होती है, यह पूर्वपक्ष (क्षीयन्ते चास्य कर्माणि) इत्यादि श्रुति को स्तुत्यर्थक मानकर किया गया है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तदधिगमे ब्रह्माधिगमे सत्युत्तरपूर्वयोरघयोरश्लेषविनाशौ भवतः, उत्तरस्याश्लेषः, पूर्वस्य विनाशः। कस्मात्? तद्व्यपदेशात्। तथाहि ब्रह्मविद्याप्रक्रियायां संभाव्यमानसंबन्धस्यागामिनो दुरितस्यानभिसंबन्धं विदुषो व्यपदिशति—'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' (छा० ४।१४।३) इति। तथा विनाशमपि पूर्वोपचितस्य दुरितस्य व्यपदिशति—'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा० ५।२४।३) इति। अयमपरः कर्मक्षयव्यपदेशो भवति—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ (मु० २।२।८) इति।

उन श्रुतियों के अपूर्वार्थक और मानान्तर से विरुद्धादि नहीं होने से उनमें स्तावकत्व का असम्भव है। इस आशय से इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि तदधिगम-ब्रह्म के अधिगम (अनुभव) होने पर उत्तर के अघ का अश्लेष और पूर्व के अघ का विनाश होता है। इससे उत्तर-पूर्व के अघो के अश्लेष-विनाश होवे हैं। यह किस हेतु से समझा जाता है, तो कहा जाता है कि उसके व्यपदेश (कथन) से समझा जाता है। जिससे ब्रह्मविद्या के प्रकरण में जिसके सम्बन्ध की संभावना हो सकती है ऐसे आगामी पाप के साथ विद्वान् के असम्बन्ध को श्रुति इस प्रकार व्यपदेश (कथन)

करती है कि (जैसे कमल के पत्ते में जल नहीं लिप्त होता है, इसी प्रकार अक्षि आदित्यादि में असंग ब्रह्म को जाननेवाला में पाप कर्म नहीं लिप्त होता है) इसी प्रकार पूर्व के सचित पाप के विनाश का व्यपदेश करती है कि (जैसे मुञ्जेषीका तूल अग्नि में दिया हुआ शीघ्र नष्ट दग्ध होता है, इसी प्रकार इस विद्वान् के सब पाप शीघ्र प्रदग्ध होते है, प्रारब्ध भिन्न सब कर्म नष्ट होते हैं) निर्गुण विद्याविषयक यह अन्य कर्मक्षय का व्यपदेश है कि (उस पर-अवर-कारणकार्यस्वरूप तथा अन्य से पर हिरण्यगर्भ भी जिससे अवर हैं उस परब्रह्म के अपरोक्ष होने पर इस विद्वान् के हृदय-ग्रंथि—कामादि भिन्न—नष्ट हो जाते है। सब संशय छिन्न हो जाते है, और इसके सब कर्म नष्ट हो जाते हैं)।

यदुक्तमनुपभुक्तफलस्य कर्मण क्षयकल्पनाया शास्त्र कदर्थित स्यादिति। नैष दोष। नहि वय कर्मण फलदायिनीं शक्तिमवजानीमहे, विद्यत एव सा, सा तु विद्यादिना कारणान्तरेण प्रतिबध्यत इति वदाम। शक्तिसद्भावमात्रे च शास्त्र व्याप्रियेत, न प्रतिबन्धाप्रतिबन्धयोरपि, नहि कर्म क्षीयते इति। एतदपि स्मरणमौत्सर्गिक न हि भोगादृते कर्म क्षीयते तदर्थत्वादिति, इष्यत एव तु प्रायश्चित्तादिना दुरितस्य क्षय 'सर्वं पाप्मान तरति' 'तरति ब्रह्महत्या योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेव वेद' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्य। यत्तूक्तं नैमित्तिकानि प्रायश्चित्तानि भविष्यन्तीति। तदसत्। दोषसयोगेन चोद्यमानानामेषा दोषनिर्घातफलसभवे फलान्तरकल्पनानुपपत्ते।

जो यह कहा था कि फलभोग-रहित कर्म के क्षय की कल्पना करने पर शास्त्र कदर्थित (विरुद्धार्थक) होगा, यहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, जिससे हम कर्म की फल देनेवाली शक्ति की अवज्ञा (अनादर—अस्वीकार) नहीं करते है, वह शक्ति तो है ही, परन्तु वह कर्म की शक्ति विद्या आदि रूप अन्य कारण से प्रतिबद्ध हो जाती है, यह बात कहते हैं। कर्म में फल देने वाली शक्ति के सद्भाव (अस्तित्व) मात्र में शास्त्र अपना व्यापार करेगा, शक्ति की सत्ता का बोध करायेगा, परन्तु फलकी शक्ति के प्रतिबन्ध और अप्रतिबन्ध में शास्त्र व्यापार नहीं करेगा। कर्म क्षीण नहीं होता है यह स्मृति शास्त्र भी औत्सर्गिक (सामान्य) स्वरूप है। भोग के बिना कर्म क्षीण नहीं होता है, क्योंकि तदर्थत्व (भोगार्थकत्व) कर्म को है। भोगार्थक होने से भोग के बिना कर्म का नाश नहीं होता है इस सामान्य शास्त्र का विशेष शास्त्र से बाध-अपवाद होने से प्रायश्चित्तादि से दुरित (पाप) का क्षय (नाश) मानना तो इष्ट ही है। यह (सब पाप को तरता है। जो अश्वमेध यज्ञ करता है, जो इसको इस प्रकार जानता है वह ब्रह्महत्या को तरता है) इत्यादि श्रुति स्मृति से प्रायश्चित्त को पाप-नाशकत्व सिद्ध होता है। जो यह कहा था कि गृहदाहेष्टि के समान प्रायश्चित्त कर्म नैमित्तिक है, यह कहना असत् है जिससे दोष के संयोग से शास्त्र से विहित इन

का दोषों का—प्रायश्चित्तों का नाशरूप फल के संभव रहते फलान्तर के कल्पना की अनुपपत्ति है।

यत्पुनरेतदुक्तं न प्रायश्चित्तवद्दोपक्षयोद्देशेन विद्याविधानमस्तीति। अत्र ब्रूमः—सगुणासु तावद्विद्यासु विद्यत एव विधानम्, तासु च वाक्यशेप ऐश्वर्यप्राप्तिः पापनिवृत्तिश्च विद्यावत उच्यते, तयोश्चाविवक्षाकारणं नास्तीत्यतः पाप्मप्रहाणपूर्वकैश्वर्यप्राप्तिस्तासां फलमिति निश्चीयते। निर्गुणायां तु विद्यायां यद्यपि विधानं नास्ति तथाप्यकर्त्रात्मत्वबोधात्कर्मप्रदाहसिद्धिः। अश्लेप इति चागामिषु कर्मसु कर्तृत्वमेव न प्रतिपद्यते ब्रह्मविदिति दर्शयति। अतिक्रान्तेषु तु यद्यपि मिथ्याज्ञानात्कर्तृत्वं प्रतिपेद इव तथापि विद्यासामर्थ्यान्मिथ्याज्ञाननिवृत्तेस्तान्यपि प्रविलीयन्ते इत्याह विनाश इति। पूर्वप्रसिद्धकर्तृत्वभोक्तृत्वस्वरूपविपरीतं हि त्रिष्वपि कालेष्वकर्तृत्वाभोक्तृत्वस्वरूपं ब्रह्माहमस्मि नेतः पूर्वमपि कर्ता भोक्ता वाहमासं नेदानीं नापि भविष्यत्काल इति ब्रह्मविदवगच्छति। एवमेव च मोक्ष उपपद्यते। अन्यथा ह्यनादिकालप्रवृत्तानां कर्मणां क्षयाभावे मोक्षाभावः स्यात्। नच देशकालनिमित्तापेक्षो मोक्षः कर्मफलवद्भवितुमर्हति, अनित्यत्वप्रसङ्गात्। परोक्षत्वानुपपत्तेश्च ज्ञानफलस्य। तस्माद्ब्रह्माधिगमे दुरितक्षय इति स्थिरम्॥ १३॥

फिर जो यह कहा था कि प्रायश्चित्त के समान दोपक्षय को उद्देश करके (दोप की निवृत्ति के लिए) विद्या का विधान नहीं है। यहाँ कहते हैं कि सगुण विद्याओं में तो दोपक्षय को उद्देश्य (लक्ष्य) करके विधान है ही, और उन सगुण विद्याओं में वाक्यशेप में विद्यावाले को ऐश्वर्य (अणिमादि-विभूति) की प्राप्ति और पाप की निवृत्ति कही जाती है। उन दोनों फलों की अविवक्षा मे कोई कारण नहीं है, कि जिससे उनका स्वीकार नहीं किया जाय। इससे पापों की निवृत्ति नाशपूर्वक ऐश्वर्य की प्राप्ति उन सगुण विद्याओं का फल है, ऐसा निश्चय किया जाता है। निर्गुण विद्या में तो यद्यपि दोपक्षय को उद्देश करके वा अन्य किसी प्रकार का विधान (विधि) नहीं है, तथापि अकर्तृस्वरूपत्व के बोध से कर्मप्रदाह (कर्मनाश) की सिद्धि होती है। अर्थात् अविद्या की निवृत्ति से अविद्यामूलक कर्मादि का अभाव होता है। सूत्रगत अश्लेप इस शब्द से दर्शाते है कि आगामी कर्मों मे ब्रह्मवेत्ता कर्तृत्व को ही नहीं प्राप्त होता है। सब व्यापार को संघाताश्रित देखता हुआ विद्वान् अपने को कर्ता नहीं मानता है। सूत्रगत विनाश इस शब्द से कहते हैं कि अतिक्रान्त (भूत-संचित) कर्मों में तो यद्यपि मिथ्याज्ञान से ज्ञानोत्पत्ति के पूर्वकाल में कर्तृत्व को प्राप्त के समान हुआ था, तथापि विद्या के सामर्थ्य से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होने से मिथ्याज्ञान-निमित्तक वे विद्वान् के अतिक्रान्त पाप भी प्रविलीन (अत्यन्त नष्ट) हो जाते हैं। जिससे पूर्वकाल में प्रसिद्ध कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वरूप से विपरीत ही ब्रह्मवेत्ता अपने को समझता है

कि तीनों ही काल में अकर्तृत्व अभोक्तृत्व स्वरूप ब्रह्म मैं हूँ। मैं इससे पूर्वकाल में भी कर्ता वा भोक्ता नहीं था न इस समय कर्ता भोक्ता हूँ न भविष्यत् काल में ही कर्ता वा भोक्ता हो सकता हूँ। इस प्रकार के ज्ञान से कर्मों के क्षय होने ही से शास्त्रों में प्रसिद्ध मोक्ष भी उपपन्न (सिद्ध) होता है। अन्यथा तो अनादिकाल से प्रवृत्त अनन्त कर्मों के भोगादि द्वारा सर्वथा क्षय के अभाव से मोक्ष का अभाव होगा। कर्मफल के समान देश काल और निमित्त की अपेक्षा वाला मोक्ष होने योग्य नहीं है। क्योंकि ऐसा होने से मोक्ष में कर्मफल के समान अनित्यत्व की प्राप्ति होगी। देशादि की अपेक्षापूर्वक मोक्ष के होने पर स्वर्गादि के समान परोक्षत्व की प्राप्ति होगी और ज्ञान के प्रत्यक्ष ही वस्तु की अभिव्यक्तिरूप फल होने से ज्ञान के फल के परोक्षत्व की अनुपपत्ति से भी देश-काल निमित्त की अपेक्षावाला मोक्ष नहीं हो सकता है। इससे ब्रह्म के अधिगम होने पर पाप का नाश होता है यह स्थिर हुआ ॥ १३ ॥

इतरासंश्लेषाधिकरणम् ॥ १० ॥

पुण्येन लिप्यते नो वा लिप्यतेऽस्य श्रुतत्वतः। नहि श्रौतेन पुण्येन श्रौत ज्ञानं विरुध्यते ॥
अश्लेषो वस्तुसामर्थ्यात् समानः पुण्यपापयोः। श्रुतं पुण्यं पापतया तरणं च समं श्रुतम् ॥

उक्त अघ के समान उससे इतर (भिन्न) पूर्वपरकालिक पुण्य का भी ज्ञान होने पर अश्लेष और विनाश होता है वह उसका व्यपदेश से अवगत होता है। इस कर्मक्षय से ही प्रारब्धान्त में ज्ञानी के देह के पात होने पर विदेह-कैवल्य ब्रह्मसम्पत्ति कहेंगे। संशय है कि ज्ञानी पुण्य कर्म से लिप्त होता है अथवा नहीं लिप्त होता है। पूर्वपक्ष है कि पुण्य के श्रुतिसिद्ध होने से पुण्य से ज्ञानी लिप्त होता है। ज्ञान से पाप के समान पुण्य नष्ट भी नहीं होता है। क्योंकि श्रुतिसिद्ध पुण्य के साथ श्रुतिसिद्ध ज्ञान का विरोध नहीं है और विरोध के बिना नाश्य-नाशक भाव नहीं देखा गया है। सिद्धान्त है कि असंग आत्मस्वरूप से स्थित ज्ञानी में असङ्ग वस्तु के सामर्थ्य से पुण्य-पाप दोनों का समान-तुल्य ही अश्लेष (सम्बन्धाभाव) होता है। श्रुति में पुण्य भी पाप रूप से (सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते) इस वचन में सुना गया है। तथा (उभे उ हैवैष एते तरति) इस वचन में पुण्य और पाप के तुल्य तरण सुना गया है। इससे पुण्य का भी पाप के समान अश्लेष और विनाश होता है ॥ १-२ ॥

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥

पूर्वस्मिन्नधिकरणे बन्धहेतोरघस्य स्वाभाविकस्याश्लेषविनाशौ ज्ञाननिमित्तौ शास्त्रव्यपदेशान्निरूपितौ। धर्मस्य पुनः शास्त्रीयत्वाच्छास्त्रीयेण ज्ञानेनाविरोध इत्याशङ्क्य तन्निराकरणाय पूर्वाधिकरणन्यायातिदेशः क्रियते। इतरस्यापि पुण्यस्य कर्मण एवमघवदसंश्लेषो विनाशश्च ज्ञानवतो भवतः। कुतः? तस्यापि स्वफलहेतुत्वेन ज्ञानफलप्रतिबन्धित्वप्रसङ्गात्। 'उभे उ हैवैष एते

तरति' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिश्रुतिषु च दुष्कृतवत्सुकृतस्यापि प्रणाशव्यपदेशात्। अकर्त्रात्मत्वबोधनिमित्तस्य च कर्मक्षयस्य सुकृतदुष्कृतयोस्तुल्यत्वात् 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' (मु० २।२।८) इति चाविशेषश्रुतेः। यत्रापि केवल एव पाप्मशब्दो दृश्यते तत्रापि तेनैव पुण्यमप्याकलितमिति द्रष्टव्यम्, ज्ञानफलापेक्षया निकृष्टफलत्वात्। अस्ति च श्रुतौ पुण्येऽपि पाप्मशब्दः 'नैनं सेतुमहोरात्रे तरतः' (छा० ८।४।१) इत्यत्र सह दुष्कृतेन सुकृतमप्यनुक्रम्य सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्त इत्यविशेषेणैव प्रकृते पुण्ये पाप्मशब्दप्रयोगात्। पाते त्विति तुशब्दोऽवधारणार्थः। एवं धर्माधर्मयोर्बन्धहेत्वोर्विद्यासामर्थ्यादश्लेषविनाशसिद्धेरवश्यंभाविनी विदुषः शरीरपाते मुक्तिरित्यवधारयति ॥ १४ ॥

पूर्व अधिकरण में बन्ध के हेतु स्वाभाविक पाप के ज्ञाननिमित्तक (ज्ञानजन्य) अश्लेष और विनाश शास्त्र के व्यपदेश (वचन) से निरूपित (प्रतिपादित) हुए है। फिर भी धर्म के शास्त्रसिद्ध होने से शास्त्रसिद्ध ज्ञान के साथ धर्म का अविरोध है, इससे धर्म का ज्ञान से नाश नहीं होगा, ऐसी आशंका करके उस आशंका का निराकरण के लिए पूर्व अधिकरण के न्याय का अतिदेश (सम्बन्ध) किया जाता है कि इतर-पुण्य कर्म का भी इसी प्रकार अघ के समान ज्ञानी के साथ अश्लेष और विनाश होते है। क्योंकि उस पुण्य को भी अपने फल के हेतुत्व द्वारा ज्ञानफल के प्रतिबन्धकत्व का प्रसंग होता है। अर्थात् पुण्य के फल-भोग से भी मोक्ष का अभाव होता है। इस कारण से और (यह ज्ञानी इन दोनों पुण्यरूप और पापरूप कर्मों को तरता है) इत्यादि श्रुतियों में पाप के समान पुण्य के भी प्रणाश का व्यपदेश (कथन) से, तथा अकर्तृस्वरूपता के बोधनिमित्तक पुण्य-पाप रूप कर्मों का क्षय की तुल्यता से (इस ज्ञानी के कर्म क्षीण होते हैं) इस प्रकार अविशेष (सामान्य) रूप से कर्ममात्र की निवृत्ति के श्रवण से भी ज्ञानी के पाप के समान पुण्य भी नष्ट होते है। जहाँ भी केवल पाप शब्द ही दीखता है, वहाँ भी उस पाप शब्द से ही पुण्य भी गृहीत है, ऐसा समझना चाहिए। क्योंकि ज्ञान के फल की अपेक्षा से पुण्य फल को निकृष्टत्व है, इससे वह भी पापतुल्य है। श्रुति में पुण्य में पाप शब्द का प्रयोग है (इस आत्मारूप विधारक सेतु को दिन और रात्रि नहीं तरते हैं परिच्छिन्न व्याप्त नहीं करते हैं) इस स्थान में दुष्कृत के साथ सुकृत का भी अनुक्रमण (कथन) करके (इस आत्मस्वरूप हेतु से सब पाप निवृत्त हो जाते हैं) इस प्रकार अविशेष (सामान्य) रूप से ही प्रकृत पुण्य मे पाप शब्द के प्रयोग से पुण्य का भी ग्रहण होता है। 'पाते तु' यहाँ तु शब्द अवधारणार्थक है। इससे इस प्रकार विद्या की सामर्थ्य से बन्ध के हेतु धर्म और अधर्म के अश्लेष और विनाश की सिद्धि होने से विद्वान् के शरीरपात होने पर अवश्य होने वाली मुक्ति है, इस प्रकार अवधारण करते हैं ॥ १४ ॥

अनारब्धाधिकरणम् ॥ ११ ॥

आरब्धे नश्यतो नो वा सञ्चिते इव नश्यत । उभयत्राप्यकर्तृत्वतद्बोधौ सदृशौ खलु ॥ १ ॥
आदेहपात संसारश्रुतेरनुभवादपि । इषुचक्रादिदृष्टान्तात् नवारब्धे विनश्यत ॥ २ ॥

पूर्व के पुण्य और पाप दो स्वरूप वाले होते है, एक तो अपने कार्य को आरम्भ किए रहते हैं कि जिनको प्रारब्धकर्म कहते है जिनसे जन्म, आयु, भोग वर्तमान में मिलते हैं, उनका विद्या से नाश नही होता है किन्तु भोग से ही नाश होता है। किन्तु अनारब्ध कार्य वाले पूर्व के संचित पुण्य-पाप ही ज्ञान से नष्ट होते हैं, उनके सर्वथा नाश का ज्ञान अवधि है और ज्ञानी के शरीर का पात विदेह कैवल्य मे अवधि है। यहाँ संशय है कि प्रारब्धरूप पुण्य-पाप नष्ट होते हैं, अथवा नही ? पूर्वपक्ष है कि आत्मा के अकर्तृत्व और उसका बोधरूप नाश के हेतु आरब्ध-अनारब्ध दोनो मे तुल्य हैं। इसमे सञ्चित के समान प्रारब्ध कर्मरूप पुण्य-पाप भी ज्ञान से नष्ट हो जाते है, तो भी चक्रवेग के समान शरीर कुछ देर के लिए रहता है। सिद्धान्त है कि देहपात-पर्यन्त संसार की श्रुति से और अनुभव से तथा इषुचक्र-वेगादि के दृष्टान्तो से प्रारब्ध-कर्म भोग के विना ज्ञान से नही नष्ट होवे हैं ॥ १-२ ॥

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ १५ ॥

पूर्वयोरधिकरणयोर्ज्ञाननिमित्त सुकृतदुष्कृतयोर्विनाशोऽवधारित , स किमविशेषेणारब्धकार्ययोरनारब्धकार्ययोश्च भवत्युत विशेषेणानारब्धकार्ययोरेवेति विचार्यते। तत्र 'उभे उ हैवैष एते तरति' (बृ० ४।४।२२) इत्येवमादिश्रुतिष्वविशेषश्रवणादविशेषेणैव क्षय इति ।

पूर्व के दो अधिकरणो मे ज्ञाननिमित्तक सुकृत और दुष्कृत का विनाश अवधारित (निश्चित) किया गया है। वह विनाश क्या अविशेष रूप से आरब्ध कार्यवाले और अनारब्ध कार्यवाले सब कर्मों का होता है अथवा विशेष रूप से अनारब्ध कार्य वाले का ही नाश होता है, यह विचार किया जाता है। वहाँ (यह ब्रह्मवेत्ता पुण्य रूप और पापरूप दोनो ही इन कर्मों को तरता है) इत्यादि श्रुतियो मे अविशेष (सामान्य) श्रवण से अविशेषरूप से सब कर्म का क्षय होता है, ऐसा पूर्वपक्ष प्राप्त होता है।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—अनारब्धकार्ये एव त्विति। अप्रवृत्तफले एव पूर्वे जन्मान्तरसंचिते अस्मिन्नपि च जन्मनि प्राग्ज्ञानोत्पत्ते सञ्चिते सुकृतदुष्कृते ज्ञानाधिगमात्क्षीयेते नत्वारब्धकार्ये सामिभुक्तफले याभ्यामेतद्ब्रह्मज्ञानायतन जन्म निर्मितम्। कुत एतत् ? 'तस्य तावदेव चिर यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' (छा० ६।१४।२) इति शरीरपातावधिकरणात्क्षेमप्राप्ते। इतरथा हि ज्ञानादशेषकर्मक्षये सति स्थितिहेत्वभावाज्ज्ञानप्राप्त्यनन्तरमेव क्षेममश्नुवीत, तत्र शरीरपातप्रतीक्षां नाचक्षीत। ननु वस्तुबलेनैवायमकर्त्रात्मावबोध कर्माणि

क्षपयन्कथं कानिचित्क्षपयेत्कानिचिच्चोपेक्षेत। नहि समानेऽग्निबीजसंपर्के केषांचिद् बीजशक्तिः क्षीयते केषांचिन्न क्षीयत इति शक्यमङ्गीकर्तुमिति। उच्यते—न तावदनाश्रित्यारब्धकार्यं कर्माशयं ज्ञानोत्पत्तिरुपपद्यते। आश्रिते च तस्मिन्कुलालचक्रवत्प्रवृत्तवेगस्यान्तराले प्रतिबन्धासंभवाद्भवति वेगक्षयप्रतिपालनम्। अकर्त्रात्मबोधोऽपि हि मिथ्याज्ञानबाधनेन कर्माण्युच्छिनत्ति, बाधितमपि तु मिथ्याज्ञानं द्विचन्द्रज्ञानवत्संस्कारवशात्कंचित्कालमनुवर्तत एव। अपिच नैवात्र विवदितव्यं ब्रह्मविदा कंचित्कालं शरीरं ध्रियते न वा ध्रियत इति। कथं ह्येकस्य स्वहृदयप्रत्ययं ब्रह्मवेदनं देहधारणं चापरेण प्रतिक्षेप्तुं शक्येत। श्रुतिस्मृतिषु च स्थितप्रज्ञलक्षणनिर्देशेनैतदेव निरुच्यते। तस्मादनारब्धकार्ययोरेव सुकृतदुष्कृतयोर्विद्यासामर्थ्यात्क्षय इति निर्णयः॥ १५॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं (अनारब्धकार्ये एव तु) इति। पूर्व के जन्मों में संचित (उपार्जित) और इस जन्म में भी ज्ञान की उत्पत्ति से प्रथम संचित पूर्वकाल के अप्रवृत्त फलवाले ही पुण्य और पाप ज्ञान की प्राप्ति से क्षीण होते हैं और प्रारब्धफलवाले, सामि-अर्द्धभुक्त फलवाले जिनसे यह ब्रह्मज्ञान का आश्रय जन्म निर्मित हुआ है, वह पुण्य-पाप नहीं निवृत्त होते हैं, यह किस प्रमाण से सिद्ध होता है ? तो कहा जाता है कि (उस आचार्यवाला अविद्यारहित की तबतक ही सत् सम्पत्ति में देर है कि जबतक देह से विमुक्त नहीं होता है। देह से विमुक्त होते ही वह सत् में सम्पन्न हो जाता है) इस प्रकार क्षेम (मोक्ष) की प्राप्ति के शरीरपात की अवधि करने से उक्तार्थ सिद्ध होता है। अन्यथा ज्ञान से सब कर्म के नाश होने पर तो शरीरादि की स्थिति के हेतु के अभाव से ज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर ही ज्ञानी क्षेम को प्राप्त करेगा, तो वहाँ शरीरपात की प्रतीक्षा को श्रुति नहीं कहती। यदि कहा जाय कि यह अकर्ता स्वरूप आत्मा का अवबोध (अनुभव) वस्तु बल के ही कर्मों को नष्ट करता हुआ किस प्रकार से कितने कर्मों को नष्ट करेगा, और कितने की उपेक्षा कर देगा, नाश किए बिना कितनों को कैसे छोड़ेगा, जिससे अग्नि और बीज के सम्पर्क (सम्बन्ध) तुल्य होते किसी बीज की बीजशक्ति नष्ट होती है, किसी की नहीं नष्ट होती है, ऐसा स्वीकार नहीं कर सकते हैं, इत्यादि। तो कहा जाता है कि आरब्ध कार्यवाले कर्माशय का आश्रयण (शरीर धारणादि) किए बिना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं उपपन्न (सिद्ध) होती है। उस कर्माशय के आश्रित करने पर कुलालचक्र के समान प्रवृत्त (उत्पन्न) वेगवाले कर्मों का मध्य में प्रतिबन्ध-निरोध के असम्भव से वेगक्षय का प्रतिपालन (प्रतीक्षण) होता है। अकर्ता-स्वरूप आत्मा का ज्ञान भी मिथ्याज्ञान अज्ञान के बाध द्वारा कर्मों का उच्छेद करता है। बाधित भी मिथ्याज्ञान दो चन्द्रमा के ज्ञान के समान संस्कार के वश से कुछ काल तक अनुवर्तमान रहता ही है। दूसरी बात है कि ब्रह्मवेत्ता से कुछ काल तक शरीर का धारण किया जाता है, अथवा नहीं

धारण किया जाता है, इस विषय म विवाद नही करना चाहिए। जिससे एक पुरुष के जिसका अपने हृदय से प्रत्यय (ज्ञान) होता है ऐसा स्वहृदय से प्रत्ययवाला ब्रह्म के वेदन (ज्ञान) का और देह के धार का अन्य से कैसे प्रतिक्षेप (निषेध) किया जा सकता है। अर्थात् अन्य को उसका अनुभव नही है। अनुभव बिना विधि-निषेध नही हो सकता है। श्रुति-स्मृति म स्थितप्रज्ञ के लक्षण के कथन द्वारा यही बाधितानुवृत्ति कही जाती है। प्रारब्ध का ज्ञान मे अनाश कहा जाता है। इसस अनारब्ध कार्यवाले ही सुकृत और दुष्कृत का विद्या के सामर्थ्य से क्षय होता है यह निर्णय है॥ १५॥

अग्निहोत्राद्यधिकरणम् ॥ १२ ॥

नश्येन्नो वाऽग्निहोत्रादि नित्य कर्म विनश्यति। यतोऽस्य वस्तुमहिमा न कश्चित्प्रतिहन्यते ॥१॥
अनुपक्तफलांशस्य नाशोऽप्यन्यो न नश्यति। विद्यायामुपयुक्तत्वात् भाग्यश्लेषस्तु काम्यवत् ॥२॥

अन्य कर्मो का ज्ञान से नाश होता है परन्तु नित्य-नैमित्तिक अग्निहोत्रादि तो अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा विविदिषा के जननपूर्वक उस ज्ञान के कार्य मोक्ष के ही लिए होता है, इसमे उसका ज्ञान से नाश नही होता है, अर्थात् वह ज्ञान मे उपयुक्त होकर स्वय निवृत्त हुआ रहता है, इसमे उसकी ज्ञान से निवृत्ति नही होती है, वह तद्विषयक श्रुति के दर्शन से जाना जाता है। सशय है कि अग्निहोत्रादि नित्यकर्म ज्ञान से नष्ट होगा अथवा नही होगा। पूर्वपक्ष है कि नित्यकर्म भी ज्ञान से नष्ट होता है। जिसमे अकर्ता असग निर्गुण आत्मवस्तु की महिमा से ही ज्ञान कर्म को नष्ट करता है, और यह वस्तु की महिमा किसी कर्म के नाश मे प्रतिहत (निरुद्ध) नही होती है। इसमे वस्तु-महिमा से अग्निहोत्रादि को भी ज्ञान नष्ट करता है। सिद्धान्त है कि यद्यपि मीमासक नित्य नैमित्तिक कर्म के अकरणजन्य प्रत्यवाय की अनुत्पत्ति ही फल मानते हैं, तथापि वेदान्त मे सकाम के स्वर्गादि के हेतु और निष्काम के चित्तशुद्धि के हेतु नित्य नैमित्तिक कर्म भी होते हैं। वहाँ सकाम अवस्था मे किए गए नित्य नैमित्तिक कर्मो के अनुषक्त (काम के अनुषग से प्राप्त होने वाले) गौण भाग के ज्ञान से नाश होने पर भी अन्य चित्त के शोधक मुख्य अश का नाश नहीं होता है जो कि निष्काम अवस्था मे किया गया रहता है, क्योंकि वह विद्या मे उपयुक्त हुआ रहता है। इससे काम्यकर्म के समान ही नित्यादि का भी श्लेष नही होना है। स्वाभाविक भी नित्य नैमित्तिक कर्म पापनाशक और आनुषङ्गिक फलवाले माने जाते हैं वहाँ अनुषग से प्राप्त फलप्रद अश का ज्ञान से नाश होता है इत्यादि ॥ १-२ ॥

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥

पुण्यस्याप्यश्लेपविनाशयोरघन्यायोऽतिदिष्ट सोऽतिदेश सर्वपुण्यविषय इत्याशङ्क्य प्रतिवक्ति-अग्निहोत्रादि त्विति। तुशब्द आशङ्कामपनुदति यन्नित्य कर्म वैदिकमग्निहोत्रादि तत्तत्कार्यायैव भवति, ज्ञानस्य यत्कार्यं तदेवास्यापि

कार्यमित्यर्थः। कुतः—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन' (बृ० ४।४।२२) इत्यादिदर्शनात्। ननु ज्ञानकर्मणोर्विलक्षणकार्यत्वात्कार्यैकत्वानुपपत्तिः। नैष दोषः। ज्वरमरणकार्ययोरपि दधिविषयोर्गुडमन्त्रसंयुक्तयोस्तृप्तिपुष्टिकार्यदर्शनात्। तद्वत्कर्मणोऽपि ज्ञानसंयुक्तस्य मोक्षमार्योपपत्तेः। नन्वनारभ्यो मोक्षः कथमस्य कर्मकार्यत्वमुच्यते। नैष दोषः। आरादुपकारकत्वात्कर्मणः। ज्ञानस्यैव हि प्रापकं सत्कर्म प्रणाड्या मोक्षकारणमित्युपचर्यते। अतएव चातिक्रान्तविषयमेतत्कार्यैकत्वाभिधानम्। नहि ब्रह्मविद आगाम्यग्निहोत्रादि सम्भवति। अनियोज्यब्रह्मात्मत्वप्रतिपत्तेः शास्त्रस्याविषयत्वात्। सगुणासु तु विद्यासु कर्तृत्वानिवृत्तेः सम्भवत्यागाम्यप्यग्निहोत्रादि। तस्यापि निरभिसन्धिनः कार्यान्तराभावाद्विद्यासङ्गत्युपपत्तिः॥ १६॥

पुण्य कर्म के भी अश्लेष और विनाशविषयक पापसम्बन्धी न्याय अतिदिष्ट हुआ है (अतिदेश से प्राप्त हुआ है) वह अतिदेश सब पुण्यविषयक है, ऐसी आशंका करके उसका प्रत्याख्यान करते है। कि (अग्निहोत्रादि तु) इति। तु शब्द आशंका का निवारण करता है, कि जो वैदिक वेदविहित नित्य कर्म अग्निहोत्रादि है, वे उस ज्ञान के कार्य के ही लिये होते है, अर्थात् जो ज्ञान का कार्य है, वही कार्य इस अग्निहोत्रादि का भी है, यह अर्थ है। वह किससे समझा जाता है, तो कहते हैं कि (उस उपनिषद्गम्य इस आत्मा को वेदाध्ययन, यज्ञ और दान से ब्राह्मणादि जानने की इच्छा करते है) इत्यादि श्रुति के देखने से उक्तार्थ समझा जाता है। यदि कहा जाय कि ज्ञान और कर्म के विलक्षण (स्वाभाविक भेदयुक्त) कार्य के होने से दोनो के कार्य की एकता की अनुपपत्ति है तो कहा जाता है कि यह अनुपपत्तिरूप दोष नहीं है। जिससे ज्वर और मरणरूप कार्य वाले भी दधि और विष को गुड़ और मन्त्रशोधनादि से संयुक्त होने पर तृप्ति और पुष्टि कार्य देखा जाता है। वैसे ही ज्ञानसंयुक्त कर्म के भी मोक्षरूप कार्य की उपपत्ति होती है। इससे अनुपपत्ति रूप दोष नही है। यहाँ तक अभ्युपगमवाद है, आगे सिद्धान्त है। शंका होती है कि मोक्ष अनारभ्य-साधन से अजन्य नित्य है, ज्ञान से उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती है। फिर इस मोक्ष को कर्म के कार्यत्व कैसे कहा जाता है। उत्तर है कि कर्म के मोक्ष में आरात् (दूर से) उपकारकत्व से यह दोष नही है। जिससे सत्कर्म ज्ञान का ही प्रापक (हेतु) है, परन्तु प्रणाड़ी (परंपरा) से मोक्ष का कारण है, ऐसा उपचार (गौण व्यवहार) किया जाता है। इससे ज्ञान के बाद कर्म के अभाव से ही अतिक्रान्त पूर्वकर्मविषयक यह ज्ञान और कर्म के कार्य की एकता का कथन है, अर्थात् क्रमसमुच्चय है, समसमुच्चय नहीं है। जिसमे ब्रह्मवेत्ता को आगामी (ज्ञान के बाद होनेवाले) अग्निहोत्रादि का सम्भव नहीं है। अनियोज्य (विधि का अविषय) ब्रह्मात्मता की प्रतीति से ब्रह्मवेत्ता को शास्त्र के अविषयत्व से अग्निहोत्रादि नहीं हो सकता है। परन्तु सगुण विद्याओं में कर्तृत्व की अनिवृत्ति से आगामी भी अग्नि-

होत्रादि का सम्भव है। निरभिसंधि (फलेच्छारहित) उस कर्म का भी (कार्यान्तर) फलान्तर के अभाव से उस कर्म को विद्या के साथ सङ्गति की उपपत्ति होती है, अर्थात् उससे विद्या उत्पन्न होती है ॥ १६ ॥

किंविषय पुनरिदमश्लेषविनाशवचनं किंविषयं चाऽदोविनियोगवचनमेकेषां शाखिनाम् 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्' इति। अत उत्तरं पठति—

शंका होती है कि यदि अग्निहोत्रादि ज्ञान के हेतु हैं तो फिर यह अश्लेष और विनाश बोधक वचन किस कर्मविषयक है, अथवा एक शाखा वालों का (उस ज्ञानी के पुत्र दाय धन पाते हैं, मित्र पुण्य पाते हैं, शत्रु पाप पाते हैं) यह विनियोग (सम्बन्ध) वचन किस कर्मविषयक है। इसमें उत्तर पढ़ते हैं कि—

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥ १७ ॥

अतोऽग्निहोत्रादेर्नित्यात्कर्मणोऽन्यापि ह्यस्ति साधुकृत्या या फलमभिसन्धाय क्रियते तस्या एष विनियोग उक्त एकेषां शाखिनाम् 'सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्ति' इति। तस्या एव चेदमघवदश्लेषविनाशनिरूपणमितरस्याप्येवमश्लेष इति। एवंजातीयकस्य काम्यस्य कर्मणो विद्यां प्रत्यनुपकारकत्वे सम्प्रतिपत्तिरुभयोरपि जैमिनिबादरायणयोराचार्ययोः ॥ १७ ॥

इस अग्निहोत्रादि नित्य कर्म से अन्य भी पुण्य कर्म हैं, जो कि फल की इच्छा से किए जाते हैं, उन्हीं का यह विनियोग एक शाखा वालों ने कहा है कि (उसके सुहृद् उसके पुण्य पाते हैं) इत्यादि। उनका ही यह अश्लेष और विनाश का निरूपण किया गया है कि (इतरस्याप्येवमश्लेष) इति। इस प्रकार के काम्यकर्मों के विद्या के प्रति अनुपकारकत्व के विषय में जैमिनि और बादरायण दोनों ही आचार्यों की सम्मति है तथा अग्निहोत्रादि से अन्य कर्म हैं जिसमें एक शाखा वाले ज्ञान के हेतु अग्निहोत्रादि से अन्य पुण्य और पाप दोनों का कथन करते हैं, सुहृद् और शत्रु से ग्राह्य कहते हैं इत्यादि ॥ १७ ॥

विद्याज्ञानसाधनाधिकरणम् ॥ १३ ॥

किमङ्गोपास्तिसंयुक्तमेव विद्योपयोग्युत। केवलं च प्रशस्तत्वात् सोपास्त्येवोपयुज्यते ॥ १ ॥
'केवलं वीर्यवद्विद्यासंयुक्तं वीर्यवत्तरम्'। इतिश्रुतेस्तारतम्यादुभयं ज्ञानसाधनम् ॥ २ ॥

यदेव विद्यया, यह श्रुति विद्यायुक्त कर्म को अधिक बलयुक्त मात्र कहती है। विद्या रहित की ज्ञानासाधनता को नहीं कहती है, इससे विद्या (उपासना) रहित भी कर्म निष्कामतायुक्त होने पर ज्ञान के साधन होते हैं। नित्य कर्म भी कर्माङ्गाऽश्रित उपासनासहित और उपासनारहित दो प्रकार के होते हैं। यहाँ संशय होता है कि क्या अंग उपासनासहित ही कर्म विद्या के उपयोगी होते हैं, अथवा उपासनासहित और केवल

(उपासनारहित) दोनों साधारण रूप से विद्या के उपयोगी होते हैं। पूर्वपक्ष है कि विद्यासहित कर्म के प्रशस्त (श्रेष्ठ) होने से वही ज्ञान में उपयुक्त होता है। सिद्धान्त है कि केवल कर्म वीर्यवाला है, और विद्यायुक्त अधिक वीर्यवाला है, इस श्रुति से न्यूनाधिक भाव से दोनों ही ज्ञान के साधन है ॥ १-२ ॥

यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥

सुसमधिगतमेतदनन्तराधिकरणे नित्याग्निहोत्रादिकं कर्म मुमुक्षुणा मोक्षप्रयोजनोद्देशेन कृतमुपात्तदुरितक्षयहेतुत्वद्वारेण सत्त्वशुद्धिकारणतां प्रतिपद्यमानं मोक्षप्रयोजनब्रह्माधिगमनिमित्तत्वेन ब्रह्मविद्यया सहैककार्यं भवतीति। तत्राग्निहोत्रादिकर्माङ्गव्यपाश्रयविद्यासंयुक्तं केवलं चास्ति। 'य एवं विद्वान्यजति' 'य एवं विद्वाञ्जुहोति' 'य एवं विद्वाञ्छंसति' 'य एवं विद्वानुद्गायति' 'तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं' (छा० ४।१७।१०) 'तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद' (छा० १।१।१०) इत्यादिवचनेभ्यो विद्यासंयुक्तमस्ति केवलमप्यस्ति। तत्रेदं विचार्यते—किं विद्यासंयुक्तमेवाग्निहोत्रादिकं कर्म मुमुक्षोर्विद्याहेतुत्वेन तया सहैककार्यत्वं प्रतिपद्यते न केवलमुत विद्यासंयुक्तं केवलं चाविशेषेणेति। कुतः संशयः ? 'तमेतमात्मानं यज्ञेन विविदिषन्ति' इति यज्ञादीनामविशेषेणात्मवेदनाङ्गत्वेन श्रवणात्, विद्यासंयुक्तस्य चाग्निहोत्रादेर्विशिष्टत्वावगमात्। किं तावत्प्राप्तं ? विद्यासंयुक्तमेव कर्माग्निहोत्राद्यात्मविद्याशेषत्वं प्रतिपद्यते न विद्याहीनम्, विद्योपेतस्य विशिष्टत्वावगमाद्विद्याविहीनात्, 'यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवंविद्वान्' इत्यादिश्रुतिभ्यः। 'बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि' (गी० २।३९) 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय' (गी० २।४९) इत्यादिस्मृतिभ्यश्चेति।

अनन्तर पूर्वगत अधिकरण में यह सुसमधिगत (निश्चित) हुआ है कि मोक्षरूप प्रयोजन को उद्देश करके मुमुक्षु से किया गया नित्य अग्निहोत्रादि कर्म उपार्जित संचित पाप के क्षय के हेतुत्व द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि की कारणता को प्राप्त होता हुआ मोक्षरूप प्रयोजन वाला ब्रह्मज्ञान के निमित्तरूप से ब्रह्मज्ञान के साथ एक कार्य वाला होता है। वहां अग्निहोत्रादिरूप कर्म, अङ्गाश्रितविद्या से संयुक्त और केवल विद्यारहित भी होता है। (जो इस प्रकार जानने वाला यज्ञ करता है। जो ऐसा विद्वान हवन करता है। जो ऐसा विद्वान् शंसन करता है। जो ऐसा विद्वान् उद्गान करता है। यथोक्त व्याहृति आदि को जानने वाला ब्रह्मा यज्ञादि की रक्षा करता है, इससे ऐसा जानने वाले को ही ब्रह्मा नामक ऋत्विक करे, ऐसा नहीं जाननेवाले को नहीं करे। उस ओंकार अक्षर के द्वारा दोनों कर्म करते हैं, जो इस अक्षर को रसतमादि रूप जानते हैं और जो नहीं जानते हैं) इत्यादि वचनों से विद्या संयुक्त अग्निहोत्रादि कर्म सिद्ध होते हैं, और केवल भी सिद्ध होते हैं। यहाँ यह विचार किया जाता है कि क्या विद्यासंयुक्त

ही अग्निहोत्रादि कर्म मुमुक्षु की विद्या के हेतुत्व रूप से विद्या के साथ एककार्यता को प्राप्त होते हैं (एक कार्य को सिद्ध करते हैं) और केवल अग्निहोत्रादि नहीं करते हैं। अथवा विद्यासंयुक्त और केवल अविशेषरूप से एक कार्यकारी विद्या के साथ होते हैं। यह संशय किस हेतु से होता है, तो कहा जाता है कि (उस उपनिषद्‌गम्य इस आत्मा को यज्ञ से जानने की इच्छा करते हैं) इस प्रकार यज्ञादि के अविशेषरूप से आत्मज्ञान के अङ्गत्वरूप से, श्रवण से और विद्यासंयुक्त अग्निहोत्रादि के विशिष्टत्व (श्रेष्ठता) के श्रवण से संशय होता है। प्रथम प्राप्त क्या होता है ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि विद्यासंयुक्त ही अग्निहोत्रादि रूप कर्म आत्मविद्या के शेषत्व (अङ्गत्व) को प्राप्त होता है, विद्यारहित नहीं। क्योंकि विद्यारहित से विद्यायुक्त के विशिष्टत्व (अधिकता) का (ऐसा जानने वाला जिस दिन हवन करता है उसी दिन फिर अपमृत्यु को जीतता है) इत्यादि श्रुतियों से ज्ञान होता है। (हे पार्थ ! जिस योगविषयक बुद्धि से युक्त होकर कर्मरूप बन्धन को त्यागेगा।) हे धनञ्जय ! मोक्षफल वाले समत्वबुद्धि योगात्मक कर्मयोग से कामी से किया गया कर्म बहुत दूर से ही अवर अतिनिकृष्ट है) इत्यादि स्मृतियों से भी विद्यायुक्त के विशिष्टत्व का ज्ञान होता है।

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—यदेव विद्ययेति हि। सत्यमेतत्। विद्यासंयुक्तं कर्माग्निहोत्रादिकं विद्याविहीनात्कर्मणोऽग्निहोत्रादेर्विशिष्टं विद्वानिव ब्राह्मणो विद्याविहीनाद् ब्राह्मणात्, तथापि नात्यन्तमनपेक्षं विद्याविहीनं कर्माग्निहोत्रादिकम्। कस्मात्? 'तमेतमात्मानं यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यविशेषेणाग्निहोत्रादेर्विद्याहेतुत्वेन श्रुतत्वात्। ननु विद्यासंयुक्तस्याग्निहोत्रादेर्विद्याविहीनाद्विशिष्टत्वावगमाद्विद्याविहीनमग्निहोत्राद्यात्मविद्याहेतुत्वेनानपेक्षमेवेति युक्तम्। नैतदेवम्। विद्यासहायस्याग्निहोत्रादेर्विद्यानिमित्तेन सामर्थ्यातिशयेन योगादात्मज्ञानं प्रति कश्चित्कारणत्वातिशयो भविष्यति न तथा विद्याविहीनस्येति युक्तं कल्पयितुम्, न तु 'यज्ञेन विविदिषन्ति' इत्यत्राविशेषेणात्मज्ञानाङ्गत्वेन श्रुतस्याग्निहोत्रादेरनङ्गत्वं शक्यमभ्युपगन्तुम्। तथाहि श्रुतिः—'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' (छा० १।१।१०) इति विद्यासंयुक्तस्य कर्मणोऽग्निहोत्रादेर्वीर्यवत्तरत्वाभिधानेन स्वकार्यं प्रति कंचिदतिशयं ब्रुवाणा विद्याविहीनस्य तस्यैव तत्प्रयोजनं प्रति वीर्यवत्त्वं दर्शयति। कर्मणश्च वीर्यवत्त्वं तद्यत्स्वप्रयोजनसाधनप्रसहत्वम्। तस्माद्विद्यासंयुक्तं नित्यमग्निहोत्रादि विद्याविहीनं चोभयमपि मुमुक्षुणा मोक्षप्रयोजनोद्देशेनेह जन्मनि जन्मान्तरे च प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः कृतं यत्तद्यथासामर्थ्यं ब्रह्माधिगमप्रतिबन्धकारणोपात्तदुरितक्षयहेतुत्वद्वारेण ब्रह्माधिगमकारणत्वं प्रतिपद्यमानं श्रवणमननश्रद्धाध्यानतात्पर्याद्यन्तरङ्गकारणापेक्षं ब्रह्मविद्यया सहैककार्यं भवतीति स्थितम् ॥ १८ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर प्रतिपादन किया जाता है कि (यदेव विद्ययेति हि) यह सत्य

कहना है कि विद्या संयुक्त अग्निहोत्रादि कर्म, विद्यारहित अग्निहोत्रादि कर्म से विशिष्ट हैं, जैसे कि विद्यारहित ब्राह्मण से विद्वान् ब्राह्मण विशिष्ट होता है। तो भी विद्यारहित अग्निहोत्रादि कर्म अत्यन्त अनपेक्ष (ज्ञान और मोक्ष में सर्वथा अनुपयोगी) नहीं हैं। क्योंकि (तमेतम्) इस श्रुति द्वारा अविशेष रूप से अग्निहोत्रादि के विद्याहेतुत्व के श्रवण से विद्या-रहित अग्निहोत्रादि के ज्ञान हेतुत्व भी सिद्ध होता है। यदि कहा जाय कि विद्यासंयुक्त अग्निहोत्रादि की विद्यारहित से विशिष्टता (श्रेष्ठता) के ज्ञान होने से विद्यारहित अग्निहोत्रादि विद्या के हेतुरूप से अनपेक्ष (अस्वीकार्य) हैं, ऐसा होना युक्त है तो कहा जाता है कि ऐसा युक्त नही है। किन्तु विद्यारूप सहाय वाला (विद्यायुक्त) अग्निहोत्रादि को विद्यानिमित्तक सामर्थ्य के अतिशय (अधिकता) के साथ योग (सम्बन्ध) से आत्मज्ञान के प्रति कोई कारणत्व का अतिशय (दृढ़ता) होगा और विद्यारहित अग्निहोत्रादि को उस प्रकार के कारणत्व का अतिशय नहीं होगा, इस प्रकार की कल्पना करना युक्त है। परन्तु (यज्ञ से जानने की इच्छा करते हैं) इस श्रुति में अविशेप (सामान्य) से आत्मज्ञान के अङ्गरूप से सुने गये अग्निहोत्रादि के विद्या की अनङ्गता का स्वीकार नहीं किया जा सकता है। जिससे इसी प्रकार की श्रुति है कि-(विद्या, श्रद्धा और उपनिषद्-योग से युक्त होकर जिसी कर्म को करता है, वही कर्म अतिवलवाला होता है) यह श्रुति विद्या-संयुक्त अग्निहोत्रादि कर्मों के वीर्यवत्तरत्व (अतिवलवत्त्व) के कथन से उनके अपने कार्यो के प्रति किसी अतिशय को कहती हुई, विद्यारहित उन्हीं कर्मों के उस प्रयोजन के प्रति वीर्यवत्त्व को दर्शाती है। कर्म का वीर्यवत्त्व वह है कि जो अपने प्रयोजन (फल) के साधनों में प्रसहत्व (समर्थत्व) है। इससे यह स्थित-सिद्ध हुआ कि विद्या-संयुक्त और विद्याविहीन अग्निहोत्रादि दोनों ही नित्य कर्म इस जन्म में वा जन्मान्तर में ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व काल में सामर्थ्य के अनुसार और मोक्षरूप प्रयोजन को उद्देश्य करके जो मुमुक्षु से किया गया रहता है, वह कर्म ब्रह्मविद्या के प्रतिवन्ध के कारण उपार्जित पाप के क्षय के हेतुत्व के द्वारा ब्रह्मज्ञान के कारणत्व को प्राप्त होता हुआ श्रवण, मनन, श्रद्धा, ध्यान, तत्परता आदि रूप अन्तरंग कारणों की अपेक्षापूर्वक ब्रह्म-विद्या के साथ एक कार्य वाला होता है ॥ १८ ॥

इतरक्षपणाधिकरणम् ॥ १४ ॥

वहुजन्मप्रदारब्धयुक्तानां नास्त्युतास्ति मुक्। विद्यालोपे कृतं कर्म फलदं नास्ति तेन मुक्॥
आरब्धं भोजयेदेव नतु विद्यां विलोपयेत्। सुप्तबुद्धवदक्लेशतादवस्थ्यात् कुतो न मुक्॥

पूर्वोक्त अनारब्ध कार्यो से इतर (आरब्ध कार्य वाले) प्रारब्ध कर्मरूप पुण्य और पाप को भोग से ही नष्ट करके विद्वान ब्रह्म में सम्पन्न लीन होता है, जैसे नदियाँ समुद्र में लीन होती हैं। संशय है कि बहुत जन्म देने वाले प्रारब्धों से युक्त अधिकारियों की मुक्ति नहीं होती है अथवा होती है। पूर्व पक्ष है कि वार-वार जन्ममरणादि से विद्या के लोप होने पर उसके बाद किए गए कर्म फल देने वाले होंगे इससे उनकी मुक्ति नहीं

होगी ॥ १ ॥ सिद्धान्त है कि प्रारब्ध कर्म भोगमात्र के लिए होंगे, जन्मादि द्वारा भोग ही करायेंगे, विद्या का लोप नहीं करेंगे और अनेक बार सोकर जागने पर भी जैसे न विद्या का लोप होता है, न ज्ञानी के कृत कर्म का श्लेष होता है, उसी के समान जन्म-मरणादि होने पर भी भावी कर्म के अश्लेष की तदवस्था (वर्तमानता) से मोक्ष क्यों नहीं होगा, अवश्य होगा ॥ १-२ ॥

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते ॥ १९ ॥

अनारब्धकार्ययोः पुण्यपापयोर्विद्यासामर्थ्यात्क्षय उक्तः, इतरे त्वारब्धकार्ये पुण्यपापे उपभोगेन क्षपयित्वा ब्रह्म सम्पद्यते 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये' (छान्दो० ६।१४।२) इति 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' इति चैवमादिश्रुतिभ्यः। ननु सत्यपि सम्यग्दर्शने यथा प्राग्देहपाताद्भेददर्शनं द्विचन्द्रदर्शनन्यायेनानुवृत्तमेव पश्चादप्यनुवर्तेत। न। निमित्ताभावात्। उपभोगशेषक्षपणं हि तत्रानुवृत्तिनिमित्तं, नच तादृशमत्र किंचिदस्ति। नन्वपरः कर्माशयोऽभिनवमुपभोगमारप्स्यते। न। तस्य दग्धबीजत्वात्। मिथ्याज्ञानावष्टम्भं हि कर्मान्तरं देहपाते उपभोगान्तरमारभते तच्च मिथ्याज्ञानं सम्यग्ज्ञानेन दग्धमित्यतः साध्वेतदारब्धकार्यक्षये विदुषः कैवल्यमवश्यं भवतीति ॥ १९ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पादकृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

अनारब्ध कार्य वाले पुण्य और पाप का विद्या के सामर्थ्य से नाश कहा जा चुका है, उससे इतर आरब्ध कार्य वाले पुण्य और पाप दोनों को उपभोग से क्षय करके ज्ञानी ब्रह्मस्वरूप होता है। वह (उस ज्ञानी को उतने ही काल तक सतसम्पत्ति में देर है कि जब तक देहपात नहीं हुआ है, देह का पात होते ही वह सतसम्पन्न होता है। जीवित-दशा में ही ब्रह्म ही होता हुआ ज्ञानी शरीरपात होने पर ब्रह्म में लीन होता है) इत्यादि श्रुतियों से उक्तार्थ सिद्ध होता है। यदि कहा जाय कि सम्यग्दर्शन के रहते भी जैसे देहपात से पूर्वकाल में दो चन्द्रदर्शन न्याय से भेददर्शन अनुवृत्त (वर्तमान) रहता है, इसी प्रकार पश्चात् देहपात के बाद भी भेददर्शन अनुवृत्त रहेगा। तो कहा जाता है कि देहपात के पश्चात् निमित्त के अभाव से भेददर्शन नहीं अनुवृत्त रहेगा। जिससे उस ज्ञान के पश्चात् काल में उपभोग शेष का क्षपण (भोग से नाशन) ही भेददर्शन की अनुवृत्ति का निमित्त है। इस देहपात के उत्तरकाल में उस भेद-दर्शन की अनुवृत्ति का वैसा कोई निमित्त (कारण) नहीं है। यदि कहा जाय कि अन्य कर्माशय अभिनव (नूतन) भोग का फिर आरम्भ करेगा, तो कहा जाता है कि (क्लेशमूलः कर्माशयः। सति मूले तद्विपाकः) इस योगसूत्रादि के अनुसार अविद्यारूप क्लेशात्मक मूलवाला कर्माशय होता है, और क्लेशरूप मूल के रहते ही उस कर्माशय का विपाक (फल) होता है, इससे ज्ञानाग्नि से उस कर्माशय के बीज रूप क्लेशों के

दग्ध (नष्ट) हो जाने से कर्माशय नूतन भोग का आरम्भ नहीं करता है। जिससे मिथ्याज्ञानरूप अवष्टम्भ (अवलम्ब-आधार) वाला कर्मान्तर (प्रारब्ध से भिन्न कर्म) देह के पात होने पर अन्य उपभोग का आरम्भ करता है, और ज्ञानी के वह मिथ्या-ज्ञान सम्यग् ज्ञान से दग्ध हो जाता है। इससे वह साधु (सुन्दर) कथन है कि प्रारब्ध कर्म के उपभोग से क्षय होने पर विद्वान् का कैवल्य (निर्वाण-विदेहमोक्ष) अवश्य होता है ॥ १९ ॥

स्वधर्मपालनाद्धीशभक्त्या चाहारशोधनात् ।
विवेकपूर्वकाभ्यासवैराग्यजनिसम्भवः ॥
वैराग्याभ्यासतो योगी सदा भवति निर्मलः ।
तदा ज्ञात्वा निजात्मनं मुक्तो भवति सर्वथा ॥

चतुर्थ अध्याय में प्रथम पाद समाप्त ।
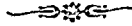
चतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः

[अत्र पादे उत्क्रान्तिगतिनिरूपणम्]

वागधिकरणम् ॥ १ ॥

वागादीना स्वरूपेण वृत्त्या वा मानसे लय । श्रुतिर्वाङ्मनसीत्याह स्वरूपे विलयस्तत ॥
न लीयतेऽनुपादाने कार्यवृत्तिस्तु लीयते । वह्निवृत्तेर्जले शान्तेर्वाक्शब्दो वृत्तिलक्षक ॥ १ ॥

मरण के बाद उपासक की स्वर्गादि मे प्राप्ति होती है, वह उत्क्रान्ति बिना नही हो सकती, इससे श्रुति म उत्क्रान्ति (ऊर्ध्वगमनार्थक शरीर से निष्क्रमण) का वर्णन है, वहाँ प्रथम वर्णन है कि वाक् व्यापार मन मे लीन होता है, वाक् तो स्वरूप से रहता ही है, परन्तु उसकी वृत्तिरूप व्यापार बोलना बन्द हो जाता है, यह मरणकाल मे प्रत्यक्ष देखने से और श्रुति से समझा जाता है । यहा, सम्पद्यते, इस पद का पूर्वसूत्र मे सम्बन्ध समझना चाहिए । यहा संशय है कि वाक् आदि इन्द्रियो का स्वरूप से मन मे विलय होता है, अथवा वृत्ति द्वारा विलय होता है । पूर्वपक्ष है कि श्रुति (वाङ्मनसि) इस प्रकार कहती है, इससे वाक् आदि के स्वरूप का विलय होता है । सिद्धान्त है, कि कोई कार्य उपादान से अन्य मे स्वरूप से लीन नही होता है । परन्तु कार्य की वृत्ति उपादान से अन्य मे भी लीन होती है, वह अग्नि की वृत्ति की जल मे शान्ति से समझा जाता है । इससे श्रुति मे वाक् शब्द लक्षणा द्वारा वृत्ति का बोधक है, क्योकि मन वाक् का उपादान नही है, इससे मन के वाक् के स्वरूप का विलय नही हो सकता ॥ १-२ ॥

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥

अथापरासु विद्यासु फलप्राप्तये देवयान पन्थानमवतारयिष्यन्प्रथम तावद्यथाशास्त्रमुत्क्रान्तिक्रममन्वाचष्टे, समाना हि विद्वदविदुषोरुत्क्रान्तिरिति वक्ष्यति । अस्ति प्रायणविषया श्रुति 'अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते मन प्राणे प्राणस्तेजसि तेज. परस्या देवतायाम्' (छा० ६।८।६) इति । किमिह वाच एव वृत्तिमत्या मनसि सपत्तिरुच्यते, उत वाग्वृत्तेरिति विशय' । तत्र वागेव तावन्मनसि सम्पद्यते इति प्राप्तम् , तथाहि श्रुतिरनुगृहीता भवति, इतरथा लक्षणा स्यात् । श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिर्न्याय्या न लक्षणा । तस्माद्वाच एवाय मनसि प्रलय इति ।

निर्गुण ब्रह्मात्मा के ज्ञान के फलकथन के अनन्तर (बाद मे) अपरा (सगुण) विद्याओ मे फल की प्राप्ति के लिए देवयान मार्ग का अवतारण (कथनारम्भ) करने वाले सूत्रकार प्रथम ही शास्त्र के अनुसार उत्क्रान्ति के क्रम का कथन करते हैं, जिसमे सगुण के विद्वान उपासक और अविद्वान् दोनो की तुल्य उत्क्रान्ति होती है, इससे विद्वान्

उपासक की भी उत्क्रान्ति का कथन करते हैं, और तुल्य उत्क्रान्ति होती है, यह आगे कहेंगे। यहाँ प्रायण (मरण) विषयक श्रुति है कि (हे सोम्यः प्रयत्-म्रियमाण-मरता हुआ इस पुरुष की वाक् मन में लीन होती है, मन प्राण में, प्राण तेज में, और तेज पर-देवता में सम्पन्न (लीन होता है) । यहाँ संशय होता है कि क्या इस श्रुति मे वृत्तिवाली वाक् का ही मन में सम्पत्ति विलय कहा जाता है अथवा वाक् की वृत्ति का विलय कहा जाता है। यहाँ प्रथम पूर्वपक्ष प्राप्त होता है कि वाक् ही मन में सम्पन्न (लीन) होती है। जिससे इसी प्रकार मानने से श्रुति अनुगृहीत होती है, इस प्रकार श्रुति का शक्यार्थ स्वीकृत होता है। इतरथा वृत्ति का लय मानने पर वाक् शब्द की लक्षणा होगी, और श्रुति लक्षणाविषयक संशय होने पर, श्रुति न्याययुक्त होती है, लक्षणा नहीं, इससे वाक् का ही यह मन में प्रलय कहा जाता है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—वाग्वृत्तिर्मनसि संपद्यत इति। कथं वाग्वृत्तिरिति व्याख्यायते, यावता वाङ्मनसीत्येवाचार्यः पठति। सत्यमेतत्। पठिष्यति तु परस्तात् 'अविभागो वचनात्' (ब्र० सू० ४।२।१६) इति। तस्मादत्र वृत्त्युपशममात्रं विवक्षितमिति गम्यते। तत्त्वप्रलयविवक्षायां तु सर्वत्रैवाविभागसाम्यात्किं परत्रैव विशिंष्यादविभाग इति। तस्मादत्र वृत्त्युपसंहारविवक्षायां वाग्वृत्तिः पूर्वमुपसंह्रियते मनोवृत्ताववस्थितायामित्यर्थः। कस्मात्? दर्शनात्। दृश्यते हि वाग्वृत्तेः पूर्वोपसंहारो मनोवृत्तौ विद्यमानायाम्, नतु वाच एव वृत्तिमत्या मनस्युपसंहारः केनचिदपि द्रष्टुं शक्यते। ननु श्रुतिसामर्थ्याद्वाच एवायं मनस्यप्ययो युक्त इत्युक्तम्। नेत्याह, अतत्प्रकृतित्वात्। यस्य हि यत उत्पत्तिस्तस्य तत्र प्रलयो न्याय्यो मृदीव शरावस्य। नच मनसो वागुत्पद्यते इति किंचन प्रमाणमस्ति। वृत्त्युद्भवाभिभवौ त्वप्रकृतिसमाश्रयावपि दृश्येते। पार्थिवेभ्यो हीन्धनेभ्यस्तैजसस्याग्नेर्वृत्तिरुद्भवत्यप्सु चोपशाम्यति। कथं तर्ह्यस्मिन्पक्षे शब्दो वाङ्मनसि सम्पद्यते इति, अत आह शब्दाच्चेति। शब्दोऽप्यस्मिन्पक्षेऽवकल्पते वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारादित्यर्थः॥ १॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि वाक् की वृत्ति मन में लीन होती है, शंका होती है कि जब आचार्य (वाङ्मनसि) इस प्रकार पढ़ते हैं, तो वृत्ति का अध्याहार करके (वाक् वृत्ति मन में लीन होती है) ऐसा व्याख्यान कैसे किया जाता है। उत्तर है कि यहाँ वाङ्मनसि, ऐसा पढ़ते है वह सत्य है, परन्तु आगे पढ़ेंगे कि (अविभागो वचनात्) इससे यहाँ वृत्ति के उपशम (निवृत्ति) मात्र विवक्षित है, ऐसा समझा जाता है। यहाँ भी तत्त्व के प्रलय की विवक्षा होने पर तो सर्वत्र ही अविभाग की तुल्यता से आगे ही अविभाग यह विशेषण क्यों देंगे, तत्त्वज्ञों के इन्द्रियों के स्वरूप का प्रलय विशेषरूप से क्यों कहेंगे, यदि यहाँ भी स्वरूप का प्रलय कहते हों, इससे यहाँ ज्ञानी-अज्ञानी के तुल्य मरण के वर्णन काल में वृत्ति के (उपसंहार की विवक्षा होने पर

मरण काल मे मनोवृत्ति के अवस्थित (वर्तमान) रहते ही प्रथम वाक्वृत्ति उपसहृत लीन होती है यह अर्थ है। परन्तु प्रथम वाक्वृत्ति लीन होती है, यह कैसे समझा जाता है। उत्तर है कि देखने से समझा जाता है। जिससे मनोवृत्ति के रहते वाक्वृत्ति का उपसहार देखा जाता है। किन्तु वृत्तिवाली वाक् ही मन मे उपसहार किसी से भी देखा नही जा सकता है, जिससे यह अतीन्द्रिय है। यदि कहो कि श्रुति के सामर्थ्य से वाक् का ही यह मन मे विलय युक्त है, यह कहा जा चुका है, तो कहते है कि मन मे वाक् के प्रकृतित्व के अभाव से मन मे वाक् का लय होना युक्त नही है जिससे मृत्तिका मे शराव का विलय के समान, जिसकी जिससे उत्पत्ति होती है, उसका उसी प्रकृति (उपादान) मे प्रलय होना न्याययुक्त है। वाक् मन से उत्पन्न होती है, इस अर्थ मे कोई प्रमाण नही है। वृत्ति के उद्भव और अभिभव (अभिव्यक्ति और तिरोभाव) तो प्रकृति से अनाश्रित भी देखे जाते हैं। जिससे पार्थिव (पृथिवी के विकार) ईन्धनो से तैजस अग्नि की वृत्ति का उद्भव होता है) और जल मे यह वृत्ति उपशान्त (निवृत्त) होती है। परन्तु ऐसा होने पर इस पक्ष मे (वाक् मन मे सम्पन्न होता है। यह शब्द (श्रुति) कैसे युक्त होगा, इससे कहते हैं कि (शब्दाच्च) वृत्ति और वृत्तिवाले मे अभेद के उपचार से शब्द भी इस पक्ष मे युक्त सिद्ध होता है यह अर्थ है, अर्थात् लाक्षणिक प्रयोग है ॥ १ ॥

अत एव च सर्वाण्यनु ॥ २ ॥

'तस्मादुपशान्ततेजा. पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः' (प्रश्न० ३।९) इत्यत्राविशेषेण सर्वेषामेवेन्द्रियाणा मनसि सम्पत्ति श्रूयते। तत्राप्यत एव वाच इव चक्षुरादीनामपि सवृत्तिके मनस्यवस्थिते वृत्तिलोपदर्शनात्तत्त्वप्रलयासम्भवाच्छब्दोपपत्तेश्च वृत्तिद्वारेणैव सर्वाणीन्द्रियाणि मनोऽनुवर्तन्ते। सर्वेषा करणाना मनस्युपसंहाराविशेषे सति वाच पृथग्ग्रहण 'वाङ्मनसि सम्पद्यत' इत्युदाहरणानुरोधेन ॥ २ ॥

जिससे शरीर मे बाहर प्रसिद्ध तेज उष्णता उदान रूप है, इससे उसके बाद शान्त तेज वाला मरणकाल मे होता है, और उसके बाद मन मे सम्पन्न इन्द्रियो के सहित फिर जन्मान्तर को जीव प्राप्त करता है। इस श्रुति मे तुल्य रूप से सब इन्द्रियो की मन मे सम्पत्ति (प्राप्ति) सुनी जाती है। वहाँ भी अतएव (इसी से) अर्थात् वाक् के समान चक्षु आदि को भी वृत्तिसहित अवस्थित मन मे वृत्तिलोप के दर्शन से तत्त्व (स्वरूप) प्रलय के असम्भव से और शब्द की उपपत्ति से सब इन्द्रियाँ वृत्ति द्वारा ही मन का अनुसरण करती है, मन मे लीन होती हैं। इस रीति से सब इन्द्रियो का मन मे उपसहार (वृत्तिलय) के तुल्य होते भी वाक् का पृथक् ग्रहण (वाङ्मनसि सम्पद्यते) इस श्रुतिरूप उदाहरण के अनुसार से किया गया है। वाक् के बाद सब इन्द्रियाँ मन मे सम्पन्न होती हैं, यह उक्त दर्शन और शब्द से सिद्ध होता है। इस प्रकार स्पष्ट अक्षरार्थ प्रतीत होता है ॥ २ ॥

मनोधिकरणम् ॥ २ ॥

मनः प्राणे स्वयं वृत्त्या वा लीयेत स्वयं ततः। कारणान्नोदकद्वारा प्राणो हेतुर्मनः प्रति।
साक्षात्स्वहेतौ लीयेत कार्यं प्राणादिके न तु। गौणः प्राणादिको हेतुस्ततो वृत्तिलयो धियः॥

(मनः प्राणे) इस उत्तर के वचन से वह इन्द्रियों के लय का आधाररूप मन वृत्ति के लय द्वारा ही प्राण में लीन होता है। मन प्राण मे स्वयं स्वरूप में लीन होता है, अथवा वृत्ति द्वारा लीन होता है। पूर्वपक्ष है कि (अन्नमयं हि सोम्यः मनः। आपोमयः प्राणः) इस श्रुति के अनुसार अन्न (पृथिवी) मन का कारण है, जल प्राण का कारण है और कार्य कारण में अभेद दृष्टि से मन अन्नरूप है, प्राण जलरूप है और अन्न का जल उपादान है, तो जिससे कारणरूप अन्न और जल के द्वारा प्राण मन के प्रति हेतु है, इससे मन स्वरूप से प्राण में लीन होगा। सिद्धान्त है कि कोई कार्य साक्षात् अपने उपदान हेतु में लीन होगा, परम्परा से हेतु प्राणादि में नहीं लीन होगा। परम्परा से हेतुरूप प्राण गौण हेतु है, इससे प्राण मे अन्तःकरण की वृत्ति का ही विलय होता है॥ १-२॥

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ३ ॥

समधिगतमेतत् 'वाङ्मनसि सम्पद्यते' (छा० ६।८।६) इत्यत्र वृत्तिसम्पत्तिर्विवक्षेति। अथ यदुत्तरं वाक्यम् 'मनः प्राणे' (छा० ६।८।६) इति किमत्रापि वृत्तिसम्पत्तिरेव विवक्षिता उत वृत्तिमत्संपत्तिरिति विचिकित्सायां वृत्तिमत्संपत्तिरेवात्रेति प्राप्तम्, श्रुत्यनुग्रहात्तत्प्रकृतित्वोपपत्तेश्च। तथाहि—'अन्नमय हि सोम्य मन आपोमयः प्राणः' (छा० ६।५।४) इत्यन्नयोनि मन आमनन्त्यब्योनिं च प्राणम् 'आपश्चान्नमसृजन्त' इति श्रुतिः। अतश्च यन्मनः प्राणे प्रलीयतेऽन्नमेव तदप्सु प्रलीयतेऽन्नं हि मन आपश्च प्राणः प्रकृतिविकाराभेदादिति।

यह अच्छी तरह से समझा गया कि (वाक् मन में सम्पन्न होता है) यहाँ पर वृत्ति की सम्पत्ति (विलय) विवक्षित है। उसके बाद जो आगे का वाक्य है कि (मन प्राण में सम्पन्न होता है) इति। क्या यहाँ भी वृत्ति की सम्पत्ति ही विवक्षित है, अथवा वृत्तिवाला की सम्पत्ति विवक्षित है, ऐसा संशय होने पर, श्रुति के अनुग्रह (अनुकूलता) से और प्राण को मन के प्रकृतित्व की उपपत्ति से यहाँ वृत्तिवाले की ही सम्पत्ति होती है, इस प्रकार पूर्वपक्ष प्राप्त होता है। वह इस प्रकार प्राप्त है कि (हे सोम्य ! मन अन्न का विकार-कार्य है। प्राण जल का विकार है) इस प्रकार अन्नरूप योनि (उपादान) वाला मन को कहते हैं और जलरूप योनि वाला प्राण को कहते हैं। (जल ने अन्न को उत्पन्न किया) ऐसी श्रुति है, इससे जो मन प्राण में प्रलीन होता है, वह अन्न ही जल में प्रलीन होता है, जिससे अन्न ही मन है और जल ही प्राण है। प्रकृति और विकार के अभेद से ऐसा सिद्ध होता है॥ ३॥

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तदप्यागृहीतबाह्येन्द्रियवृत्ति मनो वृत्तिद्वारेणैव प्राणे प्रलीयते इत्युत्तराद्वाक्यादवगन्तव्यम्। तथाहि सुषुप्सोर्मुमूर्षोश्च प्राणवृत्तौ परि-

स्पन्दात्मिकायामवस्थितायां मनोवृत्तीनामुपशमो दृश्यते। न च मनसः स्वरूपाप्ययः प्राणे सम्भवति अतत्प्रकृतित्वात्। ननु दर्शितं मनसः प्राणप्रकृतित्वम्। नैतत्सारम्। नहीदृशेन प्राणाडिकेन तत्प्रकृतित्वेन मनः प्राणे सम्पत्तुमर्हति। एवमपि ह्यन्ने मनः सम्पद्येताप्सु चान्नमप्स्वेव च प्राणः। नह्येतस्मिन्नपि पक्षे प्राणभावपरिणताभ्योऽद्भ्यो मनो जायते इति किंचन प्रमाणमस्ति, तस्मान्न मनसः प्राणे स्वरूपाप्ययः। वृत्त्यप्ययेऽपि तु शब्दोऽवकल्पते वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारादिति दर्शितम्॥ ३॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि जिस मन ने बाह्यइन्द्रिय वृत्तियों को अनुगृहीत किया है। अर्थात् जिसमें बाह्यइन्द्रिय वृत्तियों का विलय हो चुका है। वह मन भी वृत्ति द्वारा ही प्राण में प्रलीन होता है। इस प्रकार उत्तरवर्ती वाक्य से समझना चाहिये। जिससे इसी प्रकार सुषुप्सु और मुमुर्षु अर्थात् सोने की इच्छा वाले और मरणासन्न की परिस्पन्दात्मक चलनात्मक प्राण वृत्तियों के वर्तमान रहते ही मन की वृत्तियों का उपशम लय देखा जाता है। अतत्प्रकृतित्व—ये प्राणरूप प्रकृति वाला नहीं होने से मन के स्वरूप का विलय प्राण में सम्भव नहीं है। यदि कहो कि मन की अन्नरूपता और प्राण की जलरूपता से मन के प्राणप्रकृतित्व (प्राणकार्यत्व) प्रदर्शित कराया जा चुका है, तो कहा जाता है कि यह प्रदर्शन सार (सत्य) नहीं है। जिससे इस प्रकार के प्राणाडिक (परम्परा से सिद्ध) तत्प्रकृतित्व (प्राण कार्यत्व) से मन प्राण में सम्पत्ति (लय) के योग्य नहीं हो सकता है। जिससे ऐसा होने पर भी अन्न में मन सम्पन्न होगा, जल में अन्न सम्पन्न होगा और जल ही में प्राण भी सम्पन्न होगा। इस पक्ष में भी प्राणरूप से परिणत जल से मन उत्पन्न होता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है, इससे प्राण में मन के स्वरूप का विलय नहीं होता है। वृत्ति के विलय होने पर भी तो वृत्ति और वृत्तिवाले में अभेद के उपचार (गौण व्यवहार) से शब्द (श्रुति) युक्त सिद्ध होता है। यह दर्शित कराया जा चुका है॥ ३॥

अध्यक्षाधिकरणम्॥ ३॥

अमोर्भूतेषु जीवे वा लयो भूतेषु तच्छ्रुतेः। 'स प्राणस्तेजसी' त्याह नतु जीव इति क्वचित्॥१॥
एवमेवेममात्मानं प्राणायन्तीति च श्रुतेः। जीवे लीत्वा सहैतेन पुनर्भूतेषु लीयते॥ २॥

सब इन्द्रियों के सहित मन के लय का आधार वह प्राण अध्यक्ष रूप जीवात्मा में सम्पन्न होता है, वह जीवात्मा के प्रति प्राणों के उपगम (पास गमन), अनुगमन और अवस्थान (स्थिति) रूप हेतुओं से ज्ञात होता है (एवमेवममात्मानं सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति। बृ० ४।३।३८। तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति। बृ० ४।४।२। सविज्ञानो भवति।४।४।२) ये श्रुतियाँ उपगमादि के बोधक हैं। यहाँ संशय है कि प्राण का भूतों में लय होता है, अथवा जीव में लय होता है। पूर्वपक्ष है कि भूतों में लय होता है यह श्रुति से सिद्ध होता है, जिससे सप्राण तेज में लीन होता है इस प्रकार श्रुति कहती है, परन्तु जीव में लीन होता है, इस प्रकार कहीं नहीं कहती है। सिद्धान्त है कि इसी

प्रकार जीवात्मा के प्रति सब प्राण गमन करते हैं कि जैसे कहीं जाने की इच्छा वाले राजा के प्रति सूत आ गमन करते हैं। इस श्रुति से जीव में लीन होकर इस जीव के साथ फिर भूतों में लीन होते हैं ॥ १-२ ॥

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥

स्थितमेतद्यस्य यतो नोत्पत्तिस्तस्य तस्मिन्वृत्तिप्रलयो न स्वरूपप्रलय इति। इदमिदानीं प्राणस्तेजसीत्यत्र चिन्त्यते—किं यथाश्रुति प्राणस्य तेजस्येव वृत्त्युपसंहारः किंवा देहेन्द्रियपञ्जराध्यक्षे जीवे इति। तत्र श्रुतेरनतिशङ्क्यत्वात्प्राणस्य तेजस्येव सम्पत्तिः स्यादश्रुतकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति।

यह स्थित हुआ कि जिसकी जिससे उत्पत्ति नहीं होती है उसमें उसकी वृत्ति का लय होता है, स्वरूप का लय उस में नहीं होता है। अब इस समय (प्राणस्तेजसि) इस श्रुति में यह विचार किया जाता है कि क्या श्रुति के अनुसार प्राण का तेज में ही वृत्तिविलय होता है, अथवा देह इन्द्रियरूप पञ्जर (पिञ्जर) के अध्यक्ष (स्वामी) जीव में वृत्तिविलय होता है। यहां पूर्वपक्ष होता है कि श्रुति को अतिशंका (अतिक्रमण) के योग्य नहीं होने से, तथा अश्रुत अर्थ की कल्पना की अयुक्तता से प्राण की तेज में ही सम्पत्ति (विलय) होती है।

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते सोऽध्यक्ष इति। स प्रकृतः प्राणोऽध्यक्षेऽविद्याकर्मपूर्वप्रज्ञोपाधिके विज्ञानात्मन्यवतिष्ठते। तत्प्रधाना प्राणवृत्तिर्भवतीत्यर्थः। कुतः? तदुपगमादिभ्यः। 'एवमेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति' इति हि श्रुत्यन्तरमध्यक्षोपगामिनः सर्वान्प्राणानविशेषेण दर्शयति। विशेषेण च 'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति' (बृ० ४।४।२) इति पञ्चवृत्तेः प्राणस्याध्यक्षानुगामितां दर्शयति, तदनुवृत्तितां चेतरेषाम् 'प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२) इति। 'सविज्ञानो भवति' इति चाध्यक्षस्यान्तर्विज्ञानवत्त्वप्रदर्शनेन तस्मिन्नपीतकरणग्रामस्य प्राणस्यावस्थानं गमयति। ननु 'प्राणस्तेजसि' इति श्रूयते कथं प्राणोऽध्यक्षे इत्यधिकावापः क्रियते। नैप दोपः। अध्यक्षप्रधानत्वादुत्क्रमणादिव्यवहारस्य श्रुत्यन्तरगतस्यापि च विशेषस्यापेक्षणीयत्वात् ॥ ४ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर प्रतिपादन किया जाता है कि (सोऽध्यक्षे) इति। वह प्रकृत-प्राण, अविद्या, कर्म और पूर्वप्रज्ञा (वासना) रूप उपाधि वाले विज्ञानात्मा (जीवात्मा) रूप अध्यक्ष मे अवस्थित होता है। अर्थात् उस अध्यक्षरूप प्रधान वाली प्राण की वृत्ति होती है, यह अर्थ है। यह किस हेतु से समझा जाता है, तो कहा जाता है कि उस अध्यक्ष के प्रति प्राणों के उपगमादि (उपगमनादि) से समझा जाता है। उपगमन, अनुगमन और अवस्थान विषयक श्रुतियों से यह ज्ञान होता है कि अध्यक्ष में प्राण अवस्थित होते हैं। जिससे (जैसे यात्रा की इच्छावाला राजा के सूतादि सेवक पास मे आते हैं, इसी प्रकार अन्तकाल में जब यह ऊर्ध्वश्वास वाला होता है तब सब प्राण इस

जीवात्मा के अभिमुख आते हैं) यह अन्य श्रुति अध्यक्ष के पास में गमन करने वाले सब प्राणों को अविशेषरूप से दर्शाती है। (उस उत्क्रमण परलोकगमन करता हुआ जीवात्मा के पीछे प्राण उत्क्रमण करता है) यह श्रुति विशेषरूप से पाच वृत्ति वाले मुख्य प्राण की अध्यक्ष के अनुगामिता (पश्चात् गति) को दर्शाती है। (विज्ञानात्मा के पीछे गमन करते हुए प्राण के पीछे अन्य सब प्राण सब इन्द्रियाँ, उत्क्रमण (गमन, करते हैं) यह श्रुति उस मुख्य प्राण की अनुवृत्तिता (अनुगामिता) अन्य प्राणों को दर्शाती है कि अन्य प्राण मुख्य प्राण के अनुगामी होते है। (वह जीवात्मा विज्ञान सहित रहता हैं) यह श्रुति अध्यक्ष विज्ञानात्मा के अंतर्विज्ञानवत्व के प्रदर्शन द्वारा जिस में इंद्रिय-समूह लीन हुआ है उस प्राण का उस जीवात्मा में अवस्थान (स्थिति) को समझाती है। यदि कहा जाय कि (प्राण तेज में लीन होता है) यह सुना जाता है। फिर (प्राण अध्यक्ष मे लीन होता है) यह अधिक का सग्रह कैसे किया जाता है। तो कहा जाता है कि उत्क्रमणादि व्यवहार के अध्यक्ष प्रधानत्व (अध्यक्षरूप प्रधान वाला) होने से, और श्रुत्यन्तरगत विशेष (अधिकांश) के भी अपेक्षणीयत्व (स्वीकार योग्य) होने से यह अधिक का सग्रह दोषरूप नहीं है। अर्थात् जीवात्मा के बिना प्राणों की उत्क्रान्ति नहीं हो सकती और अन्य श्रुति में जीवात्मा के प्रति प्राणों के अनुगमनादि का वर्णन है, इससे गुणोपसहार न्याय से (प्राणस्तेजसि) इस श्रुति में भी मध्य में अध्यक्ष का सग्रह अत्यन्त युक्त है ॥ ४ ॥

कथं तर्हि प्राणस्तेजसीति श्रुतिरित्यत आह—

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥

स प्राणसंपृक्तोऽध्यक्षस्तेजःसहचरितेषु भूतेषु देहबीजभूतेषु सूक्ष्मेष्ववतिष्ठत इत्यवगन्तव्यम् 'प्राणस्तेजसि' इति श्रुतेः। ननु चेयं श्रुतिः प्राणस्य तेजसि स्थितिं दर्शयति न प्राणसंपृक्तस्याध्यक्षस्य। नैष दोषः। सोऽध्यक्ष इत्यध्यक्षस्याप्यन्तराल उपसंख्यातत्वात्। योऽपि हि स्रुघ्नान्मथुरां गत्वा मथुराया पाटलिपुत्रं व्रजति सोऽपि स्रुघ्नात्पाटलिपुत्रं यातीति शक्यते वदितुम्। तस्मात्प्राणस्तेजसीति प्राणसंपृक्तस्याध्यक्षस्यैवैतत्तेजःसहचरितेषु भूतेष्ववस्थानम् ॥ ५ ॥

तो प्राण तेज में लीन होता है, यह अव्यवधानपूर्वक तेज में प्राण का लय विषय श्रुति कैसे युक्त होगी, ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं—भूतेषु इति।

(प्राणस्तेजसि) इस श्रुति से ऐसा समझना चाहिए कि प्राण सयुक्त वह अध्यक्ष, तेजसहित, देह के बीजस्वरूप सूक्ष्म भूतों में अवस्थित होता है। शंका होती है कि (प्राणस्तेजसि) यह श्रुति प्राण की तेज में स्थिति को दर्शाती है, प्राण सयुक्त अध्यक्ष की भूतों में स्थिति को तो नहीं दर्शाती है, फिर भूतों में स्थिति कैसे समझा जाय। उत्तर है कि (सोऽध्यक्षे) इस सूत्र में उदाहृत श्रुतियों के बल से अध्यक्ष का भी प्राण

और तेज के अन्तराल (मध्य) में आख्यातत्व (कथितत्व) है, इससे यह दोष नहीं प्राण संयुक्त अध्यक्ष का भूतों में स्थिति समझा जा सकता है। श्रुतिगत तेज शब्द-भूत सूक्ष्ममात्र का उपलक्षक है। जैसे जो कोई स्रुघ्न से मथुरा जाकर और मथुरा से पटना जाता है, वह भी स्रुघ्न से पटना जाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है, वैसे ही प्राण भी मध्य में जीव को प्राप्त होकर फिर तेज में सम्पन्न होने पर भी (प्राणस्तेजसि) यह कहा जा सकता है, इससे (प्राणस्तेजसि) इस श्रुति से प्राणसंयुक्त अध्यक्ष का ही यह तेज सहित भूतों में अवस्थान कहा जाता है ॥ ५ ॥

कथं तेजःसहचरितेषु भूतेष्वित्युच्यते, यावतैकमेव तेजः श्रूयते प्राणस्तेजसीति, अत आह—

शंका होती है कि तेज सहित भूतों में अवस्थान कैसे कहा जाता है, जब के (प्राणस्तेजसि) इस श्रुति में एक तेज ही सुना जाता है। इससे उत्तर कहते हैं कि—

नैकस्मिन्दर्शयतो हि ॥ ६ ॥

नैकस्मिन्नेव तेजसि शरीरान्तरप्रेप्सावेलायां जीवोऽवतिष्ठते कार्यस्य शरीरस्यानेकात्मकत्वदर्शनात्। दर्शयतश्चैतमर्थं प्रश्नप्रतिवचने 'आपः पुरुषवचसः' (छा० ५।३।३।) इति। तद्व्याख्यानम् 'त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्' (ब्र० सू० ३।१।२) इत्यत्र। श्रुतिस्मृती चैतमर्थं दर्शयतः। श्रुतिः 'पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः' इत्याद्या। स्मृतिरपि—

शरीरान्तर की प्राप्ति की इच्छा के समय एक तेज ही में जीव नहीं अवस्थित होता है, वह कार्यरूप शरीर के अनेकात्मकत्व (सर्वभूतमयत्व) के दर्शन से समझा जाता है। (आपः पुरुषवचसो भवन्ति) जल पुरुष शब्द का वाच्यार्थ हो जाता। यहां के प्रश्न और प्रतिवचन इस अर्थ को दर्शाते हैं। (आत्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्) इस सूत्र में वह शरीर के अनेकात्मकत्व व्याख्यात (कथित) हो चुका है। श्रुति स्मृति भी इस अर्थ को दर्शाती हैं। यहां (पृथिवीमये आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः) इत्यादि श्रुति है, कि पृथिवी आदि का विकार देह है और (मोक्षपर्यन्त अविनाशी जो दशार्ध-पांच भूतों के अणु, सूक्ष्म तन्मात्राएँ हैं, उनके साथ यह सब जगत क्रम से उत्पन्न होता है) इत्यादि स्मृति है।

अण्व्यो मात्राऽविनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ॥ (मनु०) इत्याद्या ॥

ननु चोपसंहृतेषु वागादिषु करणेषु शरीरान्तरप्रेप्सावेलायां 'क्वायं तदा पुरुषो भवति' (बृ० ३।२।१३) इत्युपक्रम्य श्रुत्यन्तरं कर्माश्रयतां निरूपयति— 'तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ ह यत्प्रशशंसतुः कर्म हैव तत्प्रशशंसतुः' (बृ० ३।२।१३) इति। तत्रोच्यते—तत्र कर्मप्रयुक्तस्य ग्रहातिग्रहसंज्ञकस्येन्द्रिय-विषयात्मकस्य बन्धनस्य प्रवृत्तिरिति कर्माश्रयतोक्ता, इह पुनर्भूतोपादानाद्देहा-

न्तरोत्पत्तिरिति भूताश्रयत्वमुक्तम्। प्रशंसाशब्दादपि तत्र प्राधान्यमात्रं कर्मणः प्रदर्शितं न त्वाश्रयान्तरं निवारितम्। तस्मादविरोधः ॥ ६ ॥

यहाँ शंका होती है कि शरीरान्तर की प्राप्ति की इच्छाकाल में वाक् आदि इन्द्रियों के उपसहृत (आत्मा में लीन) होने पर (उस समय यह जीवात्मारूप पुरुष किस के आश्रित रहता है) इस प्रकार आर्तभाग के प्रश्न से आरम्भ करके अन्य श्रुति जीव की कर्माश्रयता का निरूपण करती है कि (उन आर्तभाग और याज्ञवल्क्य दोनों ने विचार कर जो कुछ जीव का आश्रय कहा वह कर्म ही कहा, जो कुछ प्रशंसा किया वह कर्म का ही प्रशंसा किया) इति। यहाँ उत्तर कहा जाता है कि उस श्रुति में कर्म प्रयुक्त (कर्मजन्य) ग्रहातिग्रह (इन्द्रिय विषय) संज्ञक, इन्द्रिय विषय स्वरूप बन्ध की प्रवृत्ति (सिद्धि) होती है, इससे प्रयोजकरूप से कर्माश्रयता कही गई है और यहाँ भूतरूप उपादान से देहान्तर की उत्पत्ति होती है, इससे उपादानत्व रूप से भूतों का आश्रयत्व कहा गया है। प्रशंसा शब्द से भी कर्म के प्रधानतामात्र को प्रदर्शित कराया गया है, आश्रयान्तर का निवारण नहीं किया गया है, इससे विरोध नहीं है ॥ ६ ॥

आसृत्युपक्रमाधिकरणम् ॥ ४ ॥

ज्ञान्यज्ञोत्क्रान्तिरसमा समा वा नहि सा समा। मोक्षसंसाररूपस्य फलस्य विषमत्वतः। आसृत्यूपक्रमं जन्म वर्तमानमतः समा। पश्चात्तु फलवैषम्यादसमोत्क्रान्तिरेतयोः ॥

सृति (गति) का उपक्रम पर्यन्त उससे प्रथम वागादि का मन आदि में लयरूप उत्क्रान्ति अज्ञ और उपासक की तुल्य ही होती है, पश्चात् मार्ग के भेद से गति का भेद होता है। अविद्या का दाह के बिना उपासक का अमृतत्व (मोक्ष) होता है, अर्थात् आपेक्षिक मोक्ष होता है, इससे उस में गति होती है, वास्तविक मोक्ष में तो गति नहीं होती है (उप-दाहे) इस धातु के अनुसार यह अर्थ है (वस निवासे) के अनुसार अर्थ होगा कि उपवासादि (वासनात्यागादि) किये बिना यह आपेक्षिक मुक्ति है इत्यादि। संशय है कि उपासक-अनुपासक की उत्क्रान्ति असम होती है, अथवा सम होती है। पूर्वपक्ष है कि मोक्ष (ब्रह्मलोक) और संसाररूप फल की विषमता से वह उत्क्रान्ति सम नहीं है। सिद्धान्त है कि ब्रह्मनाडी में प्रवेश और इतर नाडी में प्रवेशरूप गति का आरम्भ में प्रथम वर्तमान ही जन्म रहता है इससे वहाँ तक तुल्य गति होती है, उसके बाद तो फल की विषमता से इन दोनों की असमानोत्क्रान्ति होती है ॥ १–२ ॥

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥

सेयमुत्क्रान्तिः किं विद्वदविदुषोः समाना किंवा विशेषवतीति विशयानानां विशेषवतीति तावत्प्राप्तम्। भूताश्रयविशिष्टा ह्येषा। पुनर्भवाय च भूतान्याश्रीयन्ते। नच विदुषः पुनर्भवः संभवति। 'अमृतत्वं हि विद्वानश्नुते' इति श्रुतिः। तस्मादविदुष एवैषोत्क्रान्तिः। ननु विद्याप्रकरणे समाम्नानाद्विदुष एवैषा

भवेत्। न। स्वापादिवद्यथाप्राप्तानुकीर्तनात्। तथाहि 'यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम' 'अशिशिषति नाम' 'पिपासति नाम' (छा० ६।८।१, ३५) इति च सर्वप्राणिसाधारणा एव स्वापादयोऽनुकीर्त्यन्ते, विद्याप्रकरणेऽपि प्रतिपिपादयिषितवस्तुप्रतिपादनानुगुण्येन, नतु विदुषो विशेषवन्तो विधीयन्ते, एवमियमप्युत्क्रान्तिर्महाजनगतैवानुकीर्त्यते यस्यां परस्यां देवतायां पुरुषस्य प्रयतस्तेजः संपद्यते स आत्मा तत्त्वमसीत्येतत्प्रतिपादयितुम्। प्रतिषिद्धा चैषा विदुषः 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।६) इति। तस्मादविदुष एवैषेति।

यह पूर्ववर्णित उत्क्रान्ति क्या विद्वान् (उपासक) और अविद्वान् की तुल्य होती है, अथवा विशेष वाली (भेदवाली) होती है। इस प्रकार विशयानों (संशय वालों) को विशेष वाली होती है। इस प्रकार प्रथम प्राप्त (प्रतीत) होता है। जिससे यह उत्क्रान्ति भूतरूप आश्रय युक्त होती है, और पुनर्जन्म के लिये भूतों का उत्क्रान्ति काल में आश्रयण किया जाता है। विद्वान् के पुनर्जन्म का सम्भव नहीं है। (विद्वान अमृतत्व ही प्राप्त करता है) यह श्रुति है, जिससे अविद्वान् की ही यह उत्क्रान्ति होती है, यदि कहा जाय कि विद्या के प्रकरण में उत्क्रान्ति के कथन से विद्वान की ही यह उत्क्रान्ति होगी, तो कहा जाता है कि स्वापादि के समान यथाप्राप्त (स्वभावसिद्ध) उत्क्रान्ति का अनुकीर्तन से यह विद्वान् की उत्क्रान्ति नहीं है। जिससे स्वापादि का इस प्रकार कीर्तन है कि (जिस काल में पुरुष का स्वपिति यह नाम होता है। जिस काल मे अशिशिषति—खाने की इच्छा करता है, इस नाम वाला होता है। जिस काल में पिपासति—पीने की इच्छा करता है, इस नामवाला होता है) ये सर्वप्राणी मे साधारण रूप से रहने ही वाले स्वापादि, विद्या के प्रकरण में भी प्रतिपादन की इच्छा विषय वस्तु के प्रतिपादन में अनुकूलता से अनुकीर्तित (वर्णित) होते है। विशेष वाले विद्वान् के स्वापादि विहित नहीं होते हैं। इसी प्रकार जिस पर देवता में प्रयत (प्रयाण वाले) पुरुष का तेज सम्पन्न (लीन) होता है, वह आत्मा है, और वह तुम हो, इस अर्थ को प्रतिपादन करने के लिए महाजन (जनसमूह) में गत ही यह उत्क्रान्ति भी अनुकीर्तित होती है, कही जाती है। विद्वान की यह उत्क्रान्ति प्रतिषिद्ध है कि उस विद्वान के प्राण उत्क्रमण नहीं करते है, जिससे यह उत्क्रान्ति अविद्वान् की ही होती है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—समाना चैषोत्क्रान्तिर्वाङ्मनसीत्याद्या, विद्वदविदुषोराsसृत्युपक्रमाद्भवितुमर्हति, अविशेषश्रवणात्। अविद्वान्देहबीजभूतानि भूतसूक्ष्माण्याश्रित्य कर्मप्रयुक्तो देहग्रहणमनुभवितुं संसरति, विद्वांस्तु ज्ञानप्रकाशितं मोक्षनाडीद्वारमाश्रयते, तदेतदासृत्युपक्रमादित्युक्तम्। नन्वमृतत्वं हि विदुषा प्राप्तव्यं नच तद्देशान्तरायत्तं तत्र कुतो भूताश्रयत्वं सृत्युपक्रमो वेति। अत्रोच्यते— अनुपोष्य चेदम्, अदग्ध्वाऽत्यन्तमविद्यादीन्क्लेशानपरविद्यासामर्थ्यादापेक्षिकममृतत्वं प्रेप्सते, संभवति तत्र सृत्युपक्रमो भूताश्रयत्वं च। नहि निराश्रयाणां प्राणानां गतिरुपपद्यते। तस्माददोषः ॥ ७ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि (वाङ्मनसि सम्पद्यते) इत्यादि श्रुतियों से वर्णित उत्क्रान्ति विद्वान् और अविद्वान् की गतिविशेष पर्यन्त अविशेष श्रवण से समान (तुल्य) होने योग्य है। देह के बीज स्वरूप भूतों के सूक्ष्म भागों का आश्रयण करके कर्मयुक्त अविद्वान देहग्रहण का अनुभव करने के लिए संसार में गमन करता है। और विद्वान् तो ज्ञान से प्रकाशित मोक्षनाडी के द्वार का आश्रयण करता है। यह रहस्य सूत्रगत (आसृत्युपक्रमात्) इस पद में कहा गया है। शंका होती है कि विद्वान् को तो अमृतत्व ही प्राप्त कर्तव्य है वह अमृतत्व देशान्तर के अधीन नहीं है, तो उस अमृतत्व में भूताश्रयत्व या सृति (मार्ग गमन) का उपक्रम कैसे हो सकता है। यहाँ उत्तर कहा जाता है कि उपासक रूप ज्ञानी अविद्यादि को निर्गुण आत्मज्ञान से न जला कर इस सृति (मार्ग) का उपक्रम करता है। अर्थात् अविद्या आदि क्लेशों को अत्यन्त दग्ध नहीं करके अपर (सगुण) विद्या के सामर्थ्य से आपेक्षिक अमृतत्व को प्राप्त करना चाहता है। उस अवस्था में मार्ग का उपक्रम और भूताश्रयत्व का सम्भव होता है, जिसमें निराश्रय प्राण की गति नहीं हो सकती है, जिससे भूताश्रयत्वादि होने पर भी आपेक्षिक मोक्ष में दोष का अभाव है॥ ७॥

संसारव्यपदेशाधिकरणम्॥ ५॥

स्वरूपेणाथ वृत्त्या वा भूतानां विलयः परे। स्वरूपेण लयो युक्तः स्वोपादाने परात्मनि॥१॥
आत्मज्ञस्य तथात्वेऽपि वृत्त्यैवान्यस्य तल्लयः। न चेत् कस्यापि जीवस्य न स्याज्जन्मान्तरं क्वचित्॥

वह तेज आदि का सूक्ष्म भाग वागादिसहित जीव का आश्रय रूप सूक्ष्म शरीर (अत्रैव सन् ब्रह्माप्येति) इस श्रुति कथित ब्रह्म में अप्यय—लय रूप आत्यन्तिक प्रलय मोक्ष पर्यन्त रहता है। क्योंकि मोक्ष पर्यन्त संसार का कथन श्रुति में है।

संशय है कि (तेजः परस्यां देवतायाम्) इस श्रुति के अनुसार भूतों का परदेव में विलय स्वरूप से होता है अथवा वृत्ति द्वारा होता है। पूर्वपक्ष है कि भूतों का अपने उपादान रूप परमात्मा में स्वरूप से लय होना युक्त है। सिद्धान्त है कि आत्मज्ञानी के सूक्ष्म शरीर रूप भूतों का उस प्रकार स्वरूप से अपने उपादान में विलय होने पर भी अन्य प्राणी के सूक्ष्म देह रूप भूतों का वृत्ति द्वारा ही मरने पर विलय होता है। यदि ऐसा नहीं हो सब के भूतों का स्वरूप विलय हो तो किसी भी जीव का कहीं जन्मान्तर नहीं होगा, ज्ञान के बिना ही सब मुक्त हो जायगे इत्यादि॥ १–२॥

तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात्॥ ८॥

'तेजः परस्यां देवतायाम्' (छा० ६।८।६) इत्यत्र प्रकरणसामर्थ्यात्तथा-प्रकृतं तेजः साध्यक्षं सप्राणं सकरणग्रामं भूतान्तरसहितं प्रयतः पुंसः परस्यां देवतायां संपद्यत इत्येतदुक्तं भवति। कीदृशी पुनरियं संपत्तिः स्यादिति चिन्त्यते। तत्रात्यन्तिक एव तावत्स्वरूपप्रविलय इति प्राप्तम्, तत्प्रकृतित्वो-पपत्तेः। सर्वस्य हि जनिमतो वस्तुजातस्य प्रकृतिः परा देवतेति प्रतिष्ठापितम्। तस्मादात्यन्तिकीयमविभागापत्तिरिति।

(तेज परदेवता में लीन होता है) इस श्रुति में प्रकरण के सामर्थ्य से प्रयाण करने वाले पुरुष के प्रकृत के अनुसार, अध्यक्षसहित, प्राणसहित, कारणसमूहसहित और अन्य भूतों के सहित तेज परदेवता में सम्पन्न (लीन) होता है, यह कहा गया है। किन्तु यह सम्पत्ति कैसी होगी, यह विचार किया जाता है। वहाँ उस परदेवता के उन भूतों की प्रकृतिता (उपादानता) की उपपत्ति में आत्यन्तिक ही भूतों के स्वरूप का विलय होता है, इस प्रकार पूर्वपक्ष प्रथम प्राप्त होता है जिससे सभी जन्म वाले वस्तु समूह की प्रकृति परदेवता है। यह प्रतिष्ठापित (प्रतिपादित) किया जा चुका है। जिससे यह अत्यन्त स्वरूप से होने वाली अविभाग (लय) की प्राप्ति होती है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—तत्तेज आदि भूतसूक्ष्मं श्रोत्रादिकरणाश्रयभूतमाऽपीतराऽसंसारमोक्षात्सम्यग्ज्ञाननिमित्तादवतिष्ठते।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥ (क० ५।७)

इत्यादिसंसारव्यपदेशात्। अन्यथा हि सर्वः प्रायणसमय एवोपाधिप्रत्यस्तमयादत्यन्तं ब्रह्म संपद्येत, तत्र विधिशास्त्रमनर्थकं स्याद्विद्याशास्त्रं च। मिथ्याज्ञाननिमित्तश्च बन्धो न सम्यग्ज्ञानादृते विस्रंसितुमर्हति। तस्मात्तत्प्रकृतित्वेऽपि सुषुप्तप्रलयवद्बीजभावावशेषैवैषा सत्संपत्तिरिति॥ ८॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि श्रोत्रादि रूप करणों (इन्द्रियों) के आश्रय रूप, वे भूतों के सूक्ष्म स्वरूप तेज आदि, सम्यक् ज्ञाननिमित्तक अपीति (प्रलय) पर्यन्त, संसार से विमुक्ति के पूर्वकाल तक अवस्थित (वर्तमान) रहते हैं। अतः (अन्य—कोई अविद्या वाले देही जीव शरीर के ग्रहण के लिये योनि रूप द्वार को प्राप्त करते हैं, और उनसे अन्य अत्यन्त अधम कोई स्थाणु—वृक्षादि स्थावररूपता को प्राप्त होते हैं। वे सब कृत कर्म और उपार्जित ज्ञान के अनुसार ही अदृष्ट और वासना से योनि और स्थाणु में प्राप्त होते हैं) इत्यादि संसार के व्यपदेश से सिद्ध होता है, जिससे अन्यथा-स्वरूप से भूतों का विलय होने पर प्रयाण (मरण) काल में ही उपाधियों के प्रत्यस्तमय (विलय) होने से सब प्राणी अत्यन्त ब्रह्म में सम्पन्न लीन मुक्त होंगे। इस अवस्था में विधिशास्त्र अनर्थक होगा, और विद्याशास्त्र अनर्थक होगा। और मिथ्या-ज्ञान निमित्तक बन्ध (संसार) सम्यक् ज्ञान के बिना विनाश के योग्य नहीं है जिससे उस परदेवता रूप प्रकृतिवाले भूतों के होने पर भी सुषुप्तिकालिक प्रलय के समान बीजभाव के अवशेष वाली ही यह सत्संपत्ति (ब्रह्म में लय) होती है॥ ८॥

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः॥ ९॥

तच्चेतरभूतसहितं तेजो जीवस्यास्माच्छरीरात्प्रवसत आश्रयभूतं स्वरूपतः प्रमाणतश्च सूक्ष्मं भवितुमर्हति। तथाहि—नाडीनिष्क्रमणश्रवणादिभ्योऽस्य

सौक्ष्म्यमुपलभ्यते। तत्र तनुत्वात्सञ्चारोपपत्तिः, स्वच्छत्वाच्चाप्रतीघातोपपत्तिः। अतएव च देहान्निर्गच्छन्पार्श्वस्थैर्नोपलभ्यते ॥ ९ ॥

इस शरीर से प्रवास (गमन) करने वाला जीव का आश्रय स्वरूप अन्य भूतो के सहित वह तेज (लिङ्ग शरीर) स्वरूप से और प्रमाण से सूक्ष्म होने योग्य है। अर्थात् उसको अत्यन्त सूक्ष्म समझना चाहिए जिससे अत्यन्त सूक्ष्म नाडियो द्वारा इसके निष्क्रमण के (गमन के) श्रवणादि से इसके इस प्रकार की सूक्ष्मता उपलब्ध होती है। तनुता (सूक्ष्मता) से ही उन सूक्ष्म नाडियो म सचार (गमन) की सिद्धि होती है। स्वच्छता से अप्रतिघात—अनिरोध की सिद्धि होती है। अतएव, सर्वथा सूक्ष्म स्वच्छ होने ही से मरणकाल मे देह से निकलता हुआ पास म स्थिर लोगो से नही देखा जाता है ॥ ९ ॥

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥

अत एव सूक्ष्मत्वान्नास्य स्थूलस्य शरीरस्योपमर्देन दाहादिनिमित्तेनेतरत्सूक्ष्मं शरीरमुपमृद्यते ॥ १० ॥

अतएव इस सूक्ष्मत्व से ही इस स्थूल शरीर के उपमर्द से दाहादिनिमित्तक नाश से, उस स्थूल से इतरत् (अन्य) सूक्ष्म शरीर उपमृदित (नष्ट) नही होता है ॥ १० ॥

अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥ ११ ॥

अस्यैव च सूक्ष्मस्य शरीरस्यैष ऊष्मा यमेतस्मिञ्शरीरे संस्पर्शेनोष्माणं विजानन्ति। तथाहि मृतावस्थायामवस्थितेऽपि देहे विद्यमानेष्वपि च रूपादिषु देहगुणेषु नोष्मोपलभ्यते जीवदवस्थायामेव तूपलभ्यते इत्यत उपपद्यते—प्रसिद्धशरीरव्यतिरिक्तशरीरव्यपाश्रय एवैष ऊष्मेति। तथाच श्रुतिः—'उष्ण एवैष जीविष्यञ्शीतो मरिष्यन्' इति ॥ ११ ॥

इसी सूक्ष्म शरीर की यह ऊष्मा (गर्मी) है, कि जिस ऊष्मा को संस्पर्श के द्वारा इस शरीर मे लोग समझते हैं, जिससे मृतक अवस्था म इसी प्रकार देह के अवस्थित रहने भी और देह के गुणरूप रूपादि के विद्यमान रहते भी, ऊष्मा नही उपलब्ध होती है, जीवन अवस्था म ही उपलब्ध होती है, इससे उपपन्न (सिद्ध) होता है कि प्रसिद्ध स्थूल शरीर से भिन्न सूक्ष्म शरीर के आश्रित ही यह ऊष्मा है। इसी प्रकार की श्रुति है कि (यह जीवित रहने वाला उष्ण ही रहता है, मरने वाला शीत हो जाता है) ॥११॥

प्रतिषेधाधिकरणम् ॥ ६ ॥

कि जीवादथवा देहात्प्राणोत्क्रान्तिर्निवार्यते। जीवान्निवारणं युक्तं, जीवे देहोऽन्यथा सदा ॥१॥
तत्त्वविदोऽत्र देहे प्राणानां विलयः स्मृतः। उच्छ्वयत्यत्र देहोऽतो देहात्सा विनिवार्यते ॥२॥

पूर्व पक्ष है कि (न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति) इस श्रुति स यदि निर्गुण आत्मज्ञ के प्राणों की शरीर से उत्क्रान्ति के निषेध से लोकान्तर म गति नही मानी जाय, तो वह मानना युक्त नही है, क्योकि उस श्रुति मे जीवात्मा से प्राण की उत्क्रान्ति का निषेध है।

संशय है कि श्रुति में क्या जीव से अथवा देह से प्राण की उत्क्रान्ति का निवारण किया जाता है। पूर्व पक्ष है कि जीव से उत्क्रान्ति का निवारण करना युक्त है। अन्यथा देह से उत्क्रान्ति का निवारण करने पर देह सदा जीवित रहेगी। सिद्धान्त है कि प्राण शरीर से नहीं निकलते है, तो भी शरीर का सदा जीवन इसलिये नही होता है कि जैसे पत्थर पर दिया गया जल उसमें लीन हो जाता है, वैसे ही प्रारब्ध के अन्त में देह के अन्दर ही ब्रह्म में ज्ञानी के प्राणो का विलय कहा गया है। मरने पर देह ही फूलता है, और इस फूलने वाली देह से उस उत्क्रान्ति का निवारण किया जाता है ॥ १-२ ॥

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ १२ ॥

'अमृतत्वं चानुपोष्य' इत्यतो विशेषणादात्यन्तिकेऽमृतत्वे गत्युत्क्रान्त्योरभावोऽभ्युपगतः। तत्रापि केनचित्कारणेनोत्क्रान्तिमाशङ्क्य प्रतिषेधति—'अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो भवति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) इति, अतः परविद्याविषयात्प्रतिषेधान्न परब्रह्मविदो देहात्प्राणानामुत्क्रान्तिरस्तीति चेत्।

नेत्युच्यते। यतः शारीरादात्मन एष उत्क्रान्तिप्रतिषेधः प्राणानां न शरीरात्। कथमवगम्यते 'न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति' इति शाखान्तरे पञ्चमीप्रयोगात्। सम्बन्धसामान्यविषया हि षष्ठी शाखान्तरगतया पञ्चम्या सम्बन्धविशेषे व्यवस्थाप्यते। तस्मादिति च प्राधान्यादभ्युदयनिःश्रेयसाधिकृतो देही सम्बध्यते न देहः। न तस्माद्उच्चिक्रमिषोर्जीवात्प्राणा अपक्रामन्ति सहैव तेन भवन्तीत्यर्थः॥ १२ ॥

(अमृतत्वं चानुपोष्य) अविद्यादि क्लेशों का दाह के विना अमृतत्व गौण होता है, इस विशेषण से आत्यन्तिक अमृतत्व (मुख्य मोक्ष) में सब क्लेशों के दाह वाले निर्गुणात्म ज्ञानी की गति और उत्क्रान्ति का अभाव स्वीकृत हुआ है। वहाँ भी किसी कारण से उत्क्रान्ति की शंका करके निषेध करते हैं कि (संसार कथा के बाद समझना चाहिए कि जो पूर्णानन्द की प्राप्ति से कामरहित है। कामना नहीं करता है, और अकाम बाह्य तृष्णारहित है, निष्काम—अन्तर्गतकामवासनाशून्य है। अतएव जो पूर्णकाम, आत्मकाम—सर्वात्मैकत्वदर्शी होता है, उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं, वह आत्मदर्शी जीवित अवस्था मे ही ब्रह्म होता हुआ फिर ब्रह्म मे लीन होता है) इति। इस श्रुति से इस परविद्याविषयक उत्क्रान्ति के प्रतिषेध से ब्रह्मवेत्ता की देह से प्राणों की उत्क्रान्ति नहीं होती है। यदि ऐसा कहा जाय तो कहा जाता है कि शरीर से प्राण उत्क्रान्ति का प्रतिषेध नहीं है, जिससे शारीर (जीव) आत्मा से यह प्राणों की उत्क्रान्ति का प्रतिषेध है, शरीर से नहीं। यदि कहा जाय कि यह कैसे समझा जाता है। तो कहा जाता है कि (न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति) उससे प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं। इस प्रकार अन्य शाखा में पञ्चमी विभक्ति के प्रयोग से जाना जाता है। जिससे उक्त श्रुतिगत, तस्य,

यह सम्बध सामान्य विषयक षष्ठी विभक्ति शाखा तरगत पञ्चमी विभक्ति से अपादानत्व सम्बन्ध विशेष म व्यवस्थापित (निश्चित) की जाती है। तस्मात्, इसके साथ प्रधानता से अभ्युदय और नि श्रेयस (स्वर्ग और मोक्ष) म अधिकृत (अधिकार युक्त) देही जीव सम्बद्ध होता है, देह नही। अर्थात् तस्मात् पद म देही कहा जाता है, देह नही। इसस उत्क्रमण की इच्छा वाले उस देही जीव से प्राण अपक्रान्त नहीं होवे हैं किन्तु उसके साथ ही गमन करते हैं, साथ ही रहते है यह अर्थ है अत ज्ञानी की भी लोकान्तर म उत्क्रान्ति होती है ॥ १२ ॥

सप्राणस्य च प्रवसतो भवत्युत्क्रान्तिर्देहादित्येव प्राप्ते प्रत्युच्यते—

इस प्रकार प्राणसहित और प्रवास (शरीर से निगमन) करने वाले ज्ञानी की देह से उत्क्रान्ति होती है, इस प्रकार प्राप्त होने पर प्रत्याख्यान किया जाता है। प्रत्युत्तर दिया जाता है कि—

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥

न तदस्ति यदुक्त परब्रह्मविदोऽपि देहादस्त्युत्क्रान्ति प्रतिषेधस्य देह्यपादानत्वादिति। यतो देहापादान एवोत्क्रान्तिप्रतिषेध एकेषा समाम्नातृणा स्पष्ट उपलभ्यते। तथाहि—आर्तभागप्रश्ने 'यत्राय पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणा क्रामन्त्याहो नेति' (बृ० ३।२।११) इत्यत्र 'नेति होवाच याज्ञवल्क्य' (बृ० ३।२।११) इत्यनुत्क्रान्तिपक्ष परिगृह्य न तर्ह्ययमनुत्क्रान्तेषु प्राणेषु म्रियत इत्यस्यामाशङ्कायाम् 'अत्रैव समवलीयन्त' इति प्रविलयं प्राणाना प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये 'स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृत शेते' (बृ० ३।२।११) इति सशब्दपरामृष्टस्य प्रकृतस्योत्क्रान्त्यवधेरुच्छ्वयनादीनि समामनन्ति। देहस्य चैतानि स्युर्न देहिन। तत्सामान्यात् 'न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते' इत्यत्राप्यभेदोपचारेण देहोपादानस्यैवोत्क्रमणस्य प्रतिषेध। यद्यपि प्राधान्यं देहिन इति व्याख्येय येषा पञ्चमीपाठ। येषा तु षष्ठीपाठस्तेषा विद्वत्सम्बन्धिन्युत्क्रान्ति प्रतिषिध्यत इति प्राप्तोत्क्रान्तिप्रतिषेधार्थत्वादस्य वाक्यस्य देहापादानैव सा प्रतिषिद्धा भवति, देहादुत्क्रान्ति. प्राप्ता न देहिन.। अपिच 'चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्त सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।२) इत्येवमविद्वद्विषयेषु सप्रपञ्चमुत्क्रमण ससारगमन च दर्शयित्वा 'इति नु कामयमान' (बृ० ४।४।६) इत्युपसंहृत्याविद्वत्कथाम् 'अथाकामयमान' (बृ० ४।४।६) इति व्यपदिश्य विद्वास यदि तद्विषयेऽप्युत्क्रान्तिमेव प्रापयेदसमञ्जस एव व्यपदेश स्यात्। तस्मादविद्वद्विषये प्राप्तयोर्गत्युत्क्रान्त्योर्विद्वद्विषये प्रतिषेध इत्येवमेव व्याख्येय व्यपदेशार्थवत्त्वाय। नच ब्रह्मविद. सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य प्रक्षीणकामकर्मण उत्क्रान्तिर्गतिर्वोपपद्यते निमित्ताभावात्। 'अत्र

ब्रह्म समश्नुते' इति चैवंजातीयकाः श्रुतयो गत्युत्क्रान्त्योरभावं सूचयन्ति ॥१३॥

उत्क्रान्ति के प्रतिषेध का अपादानत्व देही के होने से ब्रह्मवेत्ता की भी देह से उत्क्रान्ति होती है, यह जो कहा है, वह बात नहीं है, जिससे देह अपादान वाला ही उत्क्रान्ति का प्रतिषेध एक शाखा वाले वक्ताओं का स्पष्ट उपलब्ध होता है क्योंकि (जिस काल में यह ज्ञानी पुरुष मरता है, उस काल में इससे प्राण उत्क्रमण करते हैं, अथवा नहीं करते हैं) इस प्रकार आर्त भाग के प्रश्न होने पर, यहाँ उत्तर है कि (याज्ञवल्क्यजी ने कहा कि ज्ञानी के प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं) इस प्रकार अनुत्क्रान्ति पक्ष का ग्रहण करके, तो क्या प्राणों के अनुत्क्रान्त होने से यह ज्ञानी मरता नहीं है, ऐसी आशंका होने पर (यहाँ ही प्राण सम्यक् लीन हो जाते हैं) इस प्रकार प्राणों के प्रविलय की प्रतिज्ञा करके, उस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए (वह शरीर फूलता है, शब्द करता है, वायु से शब्दयुक्त होकर–मृतक होकर सोता है) इस श्रुति में स (वही) शब्द से परामृष्ट (गृहीत) प्रकृत उत्क्रान्ति की अवधि (अपादान) के वृद्धि आदि (फूलने आदि) को श्रुति कहती है, और देह के ये सूजन (शोथ) आदि हो सकते हैं, देही के नहीं होते हैं। उस श्रुति की समानता से विद्या प्रकरण की तुल्यता से (उससे प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं, यहाँ ही लीन होते हैं) यहाँ भी देह और देही के अभेद के उपचार व्यवहार से 'तस्मात्' इस पद से देही से अभिन्न देह के ग्रहण से देहोपादानक ही उत्क्रमण का प्रतिषेध है। यद्यपि जिनका पञ्चमी विभक्त्यन्त पाठ है, उनको सर्वनाम से स्मृत देही की प्रधानता है, तथापि यह अभेद दृष्टि से शरीरोपादानक उक्त व्याख्या कर्तव्य है। जिनका षष्ठी पाठ है, उनके अनुसार विद्वान सम्बन्धिनी उत्क्रान्ति प्रतिषिद्ध होती है (इस प्रकार प्राप्त उत्क्रान्ति के प्रतिषेधार्थक इस वाक्य के होने से देहापादानक ही (देह से ही) वह ज्ञानी की उत्क्रान्ति प्रतिषिद्ध होती है, जिससे देह से उत्क्रान्ति प्राप्त है, देही से नहीं। दूसरी बात है कि (आँख से वा शिर से वा अन्य शरीर के अवयवों से उत्क्रमण करते हुए उस जीव के पीछे प्राण उत्क्रमण करता है, प्राण के पीछे सब इन्द्रियाँ उत्क्रमण करती हैं) इस प्रकार अविद्वान विषयक विस्तार युक्त उत्क्रमण और संसार गमन को दर्शा कर, और (इस प्रकार कामना करने वाला संसार मे गमन करता है) इस प्रकार अविद्वान् की कथा का उपसंहार (समाप्ति) करके (अथाकामयमानः) कामरहित कामी से विलक्षण है। इस प्रकार विद्वान् का कथन करके, यदि उस विद्वान के विषय में उत्क्रान्ति को ही श्रुति व्यपदेश प्राप्त करावे, करे, तो यह व्यपदेश (कथन) असमञ्जस (असंगत–अयुक्त) ही होगा, जिससे व्यपदेश की अर्थवत्ता के लिए, अविद्वान के विषय में प्राप्त गति और उत्क्रान्ति का विद्वान के विषय में प्रतिषेध है इस प्रकार ही व्याख्यान कर्तव्य है। और उत्क्रान्ति तथा गति के निमित्त कर्मादि के अभाव से सर्वगत ब्रह्मात्म स्वरूप प्रक्षीण काम कर्म वाले ब्रह्मवेत्ता की उत्क्रान्ति वा गति उपपन्न नहीं होती है। (यहाँ ब्रह्म को प्राप्त करता है) इस प्रकार की श्रुतियाँ ज्ञानी की उत्क्रान्ति और गति के अभाव को सूचित करती हैं ॥ १३ ॥

स्मर्यते च ॥ १४ ॥

स्मर्यतेऽपि च महाभारते गत्युत्क्रान्त्योरभाव —

सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि पश्यत. ।
देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिण ॥ इति ।

ननु गतिरपि ब्रह्मविद सर्वगतब्रह्मात्मभूतस्य स्मर्यते 'शुक किल वैयासकिर्मुमुक्षुरादित्यमण्डलमभिप्रतस्थे पित्रा चानुगम्याहूतो भो इति प्रतिशुश्राव' इति। न। सशरीरस्यैवाय योगबलेन विशिष्टदेशप्राप्तिपूर्वक शरीरोत्सर्ग इति द्रष्टव्यम्, सर्वभूतदृश्यत्वाद्युपन्यासात्, नह्यशरीर गच्छन्त सर्वभूतानि द्रष्टु शक्नुयु । तथाच तत्रैवोपसहृतम्—

शुकस्तु मारुताच्छीघ्रा गतिं कृत्वाऽन्तरिक्षग ।
दर्शयित्वा प्रभाव स्व सर्वभूतगतोऽभवत् ॥ इति ।

तस्मादभाव परब्रह्मविदो गत्युत्क्रान्त्यो । गतिश्रुतीना तु विपयमुपरिष्टाद्व्याख्यास्याम' ॥ १४ ॥

महाभारत म ब्रह्मवेत्ता की गति और उत्क्रान्ति के अभाव का स्मरण भी किया जाता है कि (भूतो को सम्यक् आत्मस्वरूप से जानने वाले, अतएव सब भूतो के आत्मस्वरूप और अपद (प्राप्तव्यपदरहित) ब्रह्मवेत्ता के पद को चाहने वाले देव भी अपद ज्ञानी के मार्ग म मोहित होते हैं, मार्ग नही जानते हैं, जिसे विद्वान का मार्ग नही है। शका होती है कि सर्वगत ब्रह्मात्मस्वरूप ब्रह्मवेत्ता की गति का भी स्मरण (कथन) किया जाता है कि (व्यास जी के पुत्र मुमुक्षु शुक ने आदित्यमण्डल की यात्रा की—सूर्य की तरफ शुकदेव चले, फिर पीछे से चल कर पिता से आहूत हुए, पुकारे गये, तो भी ऐसा उत्तर दिया) इस शका का उत्तर है कि यह शुक की गति का वर्णन शरीर त्याग के बाद का नही है किन्तु शरीरसहित का ही योग के बल से विशिष्ट (उत्तम) देश की प्राप्तिपूर्वक शरीर-त्याग वर्णित है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि सब भूतो से दृश्यत्व आदि का कथन है, और शरीररहित जाने वाले को सब प्राणी नही देख सकते हैं, और इस प्रकार वहाँ ही उपसहार किया है कि (शुक तो वायु से भी शीघ्र गति करके अन्तरिक्षगत होकर अपने प्रभाव को दिखा कर सर्वभूतगत ब्रह्मस्वरूप हो गये) जिससे परब्रह्मवेत्ता की गति और उत्क्रान्ति का अभाव है। गति श्रुतियो के विषय का आगे व्याख्यान करेंगे ॥ १४ ॥

वागादिलयाधिकरणम् ॥ ७ ॥

अस्य वागादय स्वस्वहेतौ लीना परेऽथवा । 'गता कला' इति श्रुत्या स्वस्वहेतुपु सङ्गय ॥१॥
नद्यब्धिलयसाम्योक्तेर्विद्वद्दृष्ट्या लय परे । अन्यदृष्टिपर शास्त्र गता इत्याद्युदाहृतम् ॥२॥

विद्वान् के वे वाक् आदि इन्द्रिय, और इन्द्रियो के आश्रय सूक्ष्मभूत ये सब परब्रह्म म लीन होते हैं, जिससे इसी प्रकार श्रुति कहती है। सशय है कि ज्ञानी के वाक्

आदि इन्द्रियाँ अपने अपने कारण अग्नि आदि में लीन होती हैं, अथवा परब्रह्म में लीन होती हैं। पूर्वपक्ष है कि (गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः) सोलह कलाओं में मन और प्राण को एक करने से पञ्चदश (पन्द्रह) कलाएँ होती है, सो विद्वान् की कलाएँ अन्त में अपनी प्रतिष्ठाओं (उपादानों) को प्राप्त होती है। इस श्रुति से अपने अपने हेतु मे लय सिद्ध होता है ॥ १ ॥ सिद्धान्त है कि दूसरी श्रुति में नदी और समुद्र की समता के कथन से विद्वान् की दृष्टि से परब्रह्म मे लय होता है, और (गताः कलाः) इत्यादि उदाहृत शास्त्र लोकदृष्टिपरक है, लोकदृष्टि से स्वकारण में लय होता है। वस्तुतः कलाओं का स्व स्व कारण मे लयपूर्वक परब्रह्म में विलय से दोनों श्रुतियो की सङ्गति होती है ॥ २ ॥

तानि परे तथा ह्याह ॥ १५ ॥

तानि पुनः प्राणशब्दोदितानीन्द्रियाणि भूतानि च परब्रह्मविदस्तस्मिन्नेव परस्मिन्नात्मनि प्रलीयन्ते। कस्मात्? तथा ह्याह श्रुतिः—'एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति' (प्रश्न० ६।५) इति। ननु 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' (मु० ३।२।७) इति विद्वद्विषयैवापरा श्रुतिः परस्मादात्मनोऽन्यत्रापि कलानां प्रलयमाह स्म। न। सा खलु व्यवहारापेक्षा, पार्थिवाद्याः कलाः पृथिव्यादीरेव स्वप्रकृतीरपियन्तीति। इतरा तु विद्वत्प्रतिपत्त्यपेक्षाकृत्स्नं कलाजातं परब्रह्मविदो ब्रह्मैव सम्पद्यत—इति। तस्माददोषः ॥ १५ ॥

वे पूर्वोक्त प्राण शब्द से कथित एकादश इन्द्रिय और पञ्च सूक्ष्मभूत परब्रह्मवेत्ता सम्बन्धी ये सोलह पदार्थ उस परब्रह्मरूप आत्मा में अन्त में लीन होते हैं, क्योंकि इसी प्रकार श्रुति कहती है कि (जैसे बहती हुई नदियाँ समुद्ररूप आश्रय वाली होकर समुद्र को प्राप्त करके अस्त हो जाती हैं, उनके नाम रूप नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार इस सर्वत्र आत्मदर्शी के ये प्राणादि सोलह कला पुरुषाश्रित होकर पुरुष को प्राप्त होकर लीन होती हैं, उनके नाम रूप नष्ट हो जाते है) इत्यादि। शंका होती है कि (मोक्ष काल में प्राणादि कलायें अपनी-अपनी प्रतिष्ठाओं को प्राप्त होती है) यह विद्वान् विषयक ही दूसरी श्रुति परमात्मा से अन्यत्र भी कलाओं का प्रलय कहती है। उत्तर है कि दूसरी श्रुति का कथन वास्तविक दृष्टि से नहीं है, वह श्रुति ही व्यवहार की अपेक्षा से है कि पार्थिव (पृथिवी के कार्य) प्राण आदि कला पृथिवी आदि रूप अपनी प्रकृति (कारण) में ही लीन होते हैं। दूसरी श्रुति विद्वान के अनुभव की अपेक्षा से है कि सम्पूर्ण कलासमूह ब्रह्म में ही लीन होता है, इति। इससे विरोध रूप दोष नहीं है ॥ १५ ॥

अविभागाधिकरणम् ॥ ८ ॥

तल्लयः शक्तिशेषेण निःशेषेणाऽथवात्मनि। शक्तिशेषेण युक्तोऽसावज्ञानिष्वेतदीक्षणात् ॥१॥
नामरूपविभेदोक्तेर्निःशेषेणैव संशयः। अज्ञे जन्मान्तरार्थन्तु शक्तिशेषत्वमिष्यते ॥ २ ॥

जिन ज्ञानी की कलाओं का ब्रह्म में लय कहा गया है, उनका ब्रह्म के साथ अत्यन्त अविभाग (अभेद) हो जाता है सो (भिद्येते तासां नामरूपे) इत्यादि वचन से सिद्ध होता है। संशय है कि उन कलाओं का लय शक्ति (बीज वासना) के शेषपूर्वक आत्मा में होता है अथवा नि:शेष रूप से भी लय होता है। पूर्वपक्ष है कि शक्ति का शेषपूर्वक वह लय होना युक्त है जिससे अज्ञानियों में यह ऐसा ही लय देखा जाता है। सिद्धान्त है कि ज्ञानियों में कलाओं के नाम और रूप के श्रुति में विनाश के कथन से नि:शेष रूप से ही उनका प्रलय होता है जिससे प्रथम से ही वे ज्ञानाग्नि से दग्ध रहते हैं अज्ञ में तो जन्मान्तर के लिए शक्ति का शेष माना जाता है ॥ १-२ ॥

अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥

स पुनर्विदुषः कलाप्रलयः किमितरेषामिव सावशेषो भवत्याहोस्विन्निरवशेष इति। तत्र प्रलयसामान्याच्छक्त्यवशेषताप्रसक्तौ ब्रवीति—अविभागापत्तिरेवेति। कुतः ? वचनात्। तथाहि कलाप्रलयमुक्त्वा वक्ति 'भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति' (प्र० ६।५) इति। अविद्यानिमित्तानां च कलानां न विद्यानिमित्ते प्रलये सावशेषत्वोपपत्तिः। तस्मादविभाग एवेति ॥ १६ ॥

फिर संशय होता है कि वह विद्वान् की कलाओं का प्रलय क्या इतर जीवों के समान कुछ अवशेष सहित होता है अथवा निरवशेष (सम्पूर्ण रूप से) प्रलय होता है। वहाँ प्रलय की समानता से अन्य प्रलय के समान ज्ञानजन्य प्रलय में भी शक्ति के अवशेष की (अनिवृत्ति की) प्राप्ति होने पर कहते हैं कि अविभाग की ही प्राप्ति होती है। वह किससे सिद्ध होता है, तो कहा जाता है कि वचन से सिद्ध है। जिससे कलाओं के प्रलय को कहकर श्रुति इसी प्रकार कहती है कि (उन कलाओं के नाम और रूप नष्ट हो जाते हैं, उनके नाश होने पर जो अविनाशी तत्त्व शेष रहता है उसको ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस प्रकार कहते हैं। इस प्रकार वह विद्वान् इस कलारहित अमृत स्वरूप होता है) और विद्यानिमित्तक प्रलय में अविद्यानिमित्तक कलाओं के अवशेषसहितत्व की उपपत्ति नहीं हो सकती है, जिससे अविभाग ही होता है ॥ १६ ॥

तदोकोऽधिकरणम् ॥ ९ ॥

अविशेषो विशेषो वा स्यादुत्क्रान्तेरुपासितुः। हृत्प्रद्योतनसाम्योक्तेरविशेषोऽन्यनिर्गमात्॥
मूर्धन्ययैव नाड्यासौ व्रजेन्नाडीविचिन्तनात्। विद्यासामर्थ्यतश्चापि विशेषोऽस्त्यन्यदर्शनात्॥

मार्गारम्भ तक तो उपासक अनुपासक की उत्क्रान्ति तुल्य है ही, उसके बाद भी उपासक की उत्क्रान्ति की अन्य की उत्क्रान्ति के साथ अविशेष (तुल्यता) है या विशेष (भेद) है, यह संशय है। पूर्वपक्ष है कि हृदय प्रद्योतन की समता के कथन से अन्य के निर्गमन के समान ही उपासक का निर्गमन होता है। सिद्धान्त है कि मूर्धन्य सुषुम्ना नाडी के चिंतन से और विद्या के सामर्थ्य से भी वह उस नाडी से ही गमन करेगा।

क्योंकि हृदय के प्रज्वलन के तुल्य होने पर भी उस समय अन्य के दर्शन से इस उपासक के दर्शन में विशेष होता, है, अन्य को अन्य नाडियों का द्वार दीख पडता है, उपासक को ब्रह्मरन्ध्र का द्वार दीख पडता है ॥ १–२ ॥

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ॥ १७ ॥

तदोकोऽग्रज्वलनम्, तत्प्रकाशितद्वारः, विद्यासामर्थ्यात्, तच्छेषगत्यनुयोगात्, च, हार्दानुगृहीतः, शताधिकया—ये सात पद है। संक्षिप्तार्थ है कि (लयानन्तरं मृत्युपक्रमकाले, तस्य जीवस्य यदोकः स्थानं हृदयं तदग्रस्य ज्वलनं भवति, तेन ज्वलनेन प्रकाशितं द्वारं यस्य जिगमिषोः स विद्यायाः सामर्थ्यात्, विद्यायाः शेषभूताया मार्गानुस्मृतेश्च योगात् हार्देन ब्रह्मणानुगृहीतः सन् शताधिकया नाड्या निष्क्रामति) इन्द्रिय और प्राण के लय के बाद मार्गगमन के आरम्भ काल मे उस जीव का स्थान रूप जो हृदय है, उसके अग्रभाग का प्रकाश होता है, उस प्रकाश से जिसका द्वार (मार्ग) प्रकाशित हुआ है, वह गमनेच्छुक उपासक जीव विद्या के सामर्थ्य से और विद्या के अंग रूप मार्ग के अनुस्मरण से हार्द ब्रह्म से अनुगृहीत होकर सौ से भिन्न सुषुम्ना नाडी द्वारा गमन करता है।

समाप्ता प्रासङ्गिकी परविद्यागता चिन्ता, सम्प्रति स्वपरविद्याविषयामेव चिन्तामनुवर्तयति। समाना चासृत्युपक्रमाद्विद्वदविदुषोरुत्क्रान्तिरित्युक्तं, तमिदानीं मृत्युपक्रमं दर्शयति। तस्योपसंहृतवागादिकलापस्योचिक्रमिषतो विज्ञानात्मन ओक आयतनं हृदयम् 'स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति' इति श्रुतेः। तदग्रज्वलनं तत्पूर्विका चक्षुरादिस्थानापादाना चोत्क्रान्तिः श्रूयते—'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' (बृ० ४।४।२) इति। सा किमनियमेनैव विद्वदविदुषोर्भवत्यथास्ति कश्चिद्विदुषो विशेषनियम इति विचिकित्सायां श्रुत्यविशेषादनियमप्राप्तावाचष्टे—समानेऽपि हि विद्वदविदुषोर्हृदयाग्रप्रद्योतने तत्प्रकाशितद्वारत्वे च मूर्धस्थानादेव विद्वान्निष्क्रामति स्थानान्तरेभ्यस्त्वितरे। कुतः? विद्यासामर्थ्यात्। यदि विद्वानपीतरवद्यतः कुतश्चिद्देहदेशादुत्क्रामेन्नैवोत्कृष्टं लोकं लभेत। तत्रानर्थिकैव विद्या स्यात्, तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च। विद्याशेषभूता च मूर्धन्यनाडीसम्बद्धा गतिरनुशीलयितव्या विद्याविशेषेषु विहिता तामभ्यस्यंस्तयैव प्रतिष्ठत इति युक्तम्। तस्माद् हृदयालयेन ब्रह्मणा सूपासितेनानुगृहीतस्तद्भावं समापन्नो विद्वान्मूर्धन्ययैव शताधिकया शतादतिरिक्तयैकशततम्या नाड्या निष्क्रामतीतराभिरितरे। तथाहि हार्दविद्यां प्रकृत्य समामनन्ति—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ (छा० ८।६।६)
इति ॥ १७ ॥

प्रसग से प्राप्त परविद्याविषयक चिन्ता (विचार) समाप्त हुई। अब इस समय अपरविद्याविषयक ही विचार का अनुवर्तन (आरम्भ—अनुसरण) करते हैं। सृति (मार्ग) के उपक्रम पर्यन्त विद्वान और अविद्वान की उत्क्रान्ति तुल्य होती है, यह कहा जा चुका है। इस समय उस मार्ग के उपक्रम (आरम्भ) को दर्शाते है कि (वह मुमूर्षु मरणासन्न प्राणी तेजोमात्रा—इन्द्रियो का ग्रहण करता हुआ हृदय में जाता है) इस श्रुति से उपसहृत (प्रलीन) वागादि इन्द्रिय समूह वाला उत्क्रमण की इच्छा वाला विज्ञानात्मा (जीव) का ओक अर्थात् आयतन—आश्रय हृदय सिद्ध होता है, और उस हृदय के अग्रभाग का ज्वलन और उस ज्वलनपूर्वक चक्षुआदि स्थान रूप अपादान (अवधि) वाली उत्क्रान्ति सुनी जाती है कि (उस जीव के स्थान रूप इस हृदय के अग्र-नाडी का मुख रूप निर्गमन का द्वार प्रकाशित होता है, उस प्रकाश से प्रकाशित द्वार से यह जीवात्मा निर्गमन करता है, वह नेत्र से या शिर से अथवा अन्य श्रोत्रादि शरीर के देशो से निर्गमन करता है) सो वह नेत्रादि से उत्क्रमण क्या अनियम से ही विद्वान और अविद्वान का होता है, अथवा विद्वान के उत्क्रमण मे कोई विशेष नियम है, ऐसा सशय होने पर, विद्योतनादि श्रुति की अविशेषता से अनियम के प्राप्त होने पर कहते हैं कि विद्वान और अविद्वान के हृदयप्रद्योतन के तथा उससे प्रकाशित द्वारवत्त्व के तुल्य होते भी मूर्धस्थान से ही विद्वान निष्क्रमण करता है, और स्थानान्तरो से अन्य प्राणी गमन करते हैं। ऐसा क्यो होता है, तो कहा जाता है कि विद्या के सामर्थ्य से ऐसा भेद होता है। यदि विद्वान भी अन्य के समान जिस किसी देह के देश से उत्क्रमण करे, तो उत्कृष्ट लोक का लाभ नही करेगा। और उस अवस्था मे विद्या अनर्थक ही होगी। और उस सगुण विद्या के शेष (अग) रूप जो गति की अनुस्मृति (चिन्तन) है, उसके सम्बन्ध से भी उपासक ब्रह्मनाडी से गमन करता है। और विद्या के शेष स्वरूप, मूर्धन्य नाडी से सम्बन्ध वाली अनुशीलन (चिन्तन) योग्य गति, विद्याविशेषो मे विहित है। उस गति (मार्ग) का अभ्यास (चिन्तन) करता हुआ, उसी गति से प्रस्थान (गमन) करता है, यह युक्त है। अत हृदय रूप स्थान वाले, सुन्दर रीति से उपासित ब्रह्म से अनुगृहीत (अनुकम्पित) और उस ब्रह्मभाव को प्राप्त विद्वान् मूर्धन्य सौ से अधिक एक सौ के बाद भिन्न एक नाडी से ही निष्क्रमण करता है, अन्य प्राणी अन्य नाडियो से गमन करते हैं। जिसमे हार्द (ब्रह्म) विद्या को प्रस्तुत करके कहते (पढते) हैं कि (एक सौ और एक हृदय की प्रधान नाडियाँ हैं, उनमे से एक नाडी शिर मे गई है, उस नाडी द्वारा ऊपर जाने वाला अमृतत्व को प्राप्त करता है। उत्क्रमण मे नाना प्रकार की गति वाली अन्य नाडियाँ होती हैं) इति ॥ १७ ॥

रश्म्यधिकरणम् ॥ १० ॥

अहन्येव मृतो रश्मिं याति निश्यपि वा निशि ।
सूर्यरश्मेरभावेन मृतोऽहन्येव याति तम् ॥ १ ॥
यावद्देहं रश्मिनाड्योर्युक्तो ग्रीष्मे क्षपास्वपि ।
देहदाहाद् श्रुतत्वाच्च रश्मीन्निश्यपि यात्यसौ ॥ २ ॥

मूर्धन्य नाड़ी से निकला हुआ वह उपासक (रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते) इस श्रुति के अनुसार सूर्यरश्मि के अनुसारी होकर ऊपर की तरफ गमन करता है। संशय है कि दिन में ही मृत प्राणी सूर्यरश्मि को प्राप्त करता है, अथवा रात्रि में मृत भी प्राप्त करता है, पूर्वपक्ष है कि रात्रि में सूर्यरश्मि के अभाव से दिन मे मृत ही उस रश्मि को प्राप्त करता है। सिद्धान्त है कि देह स्थिति पर्यन्त सदा रश्मि और नाड़ी का संयोग रहता है। सो ग्रीष्म की रात्रियो में भी देह के दाह (ताप) से और श्रुतत्व से सिद्ध होता है। इससे रात्रि मे भी मृत यह उपासक रश्मियों को प्राप्त करता है ॥ १-२ ॥

रश्म्यनुसारी ॥ १८ ॥

अस्ति 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश' इति हार्दविद्या—'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' (छा० ८।१।१) इत्युपक्रम्य विहिता। तत्प्रक्रियायाम् 'अथ या एता हृदयस्य नाड्यः' (छा० ८।६।१) इत्युपक्रम्य सप्रपञ्चं नाडीरश्मिसंबन्धमुक्त्वोक्तम् 'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' (छा० ८।६।५) इति। पुनश्चोक्तम् 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६) इति। तस्माच्छताधिकया नाड्या निष्क्रामन्रश्म्यनुसारी निष्क्रामतीति गम्यते। तत्किमविशेषेणैवाहनि रात्रौ वा म्रियमाणस्य रश्म्यनुसारित्वमाहोस्विदहन्येवेति संशये सत्यविशेषश्रवणादविशेषेणैव तावद्रश्म्यनुसारीति प्रतिज्ञायते ॥ १८ ॥

(जो इस ब्रह्मपुर शरीर में दहर—अल्प पुण्डरीक तुल्य वेश्म है) इस प्रकार उपक्रम करके (दहर इसमें अन्तराकाश है) इससे हार्दविद्या विहित है। उसी प्रकरण मे (*और जो ये हृदय की नाडियां है*) इस प्रकार से उपक्रम करके विस्तारपूर्वक नाडी और रश्मि के सम्बन्ध को कह कर कहा है कि (और जब इस शरीर से यह उत्क्रमण करता है, तब इन ही रश्मियों द्वारा ऊपर गमन करता है) फिर कहा है कि (उस एक नाडी द्वारा ऊपर जाता हुआ अमृतत्व को प्राप्त करता है) जिससे यह समझा जाता है कि सौ से अधिक सुषुम्ना नाडी द्वारा निष्क्रमण करता हुआ रश्मि के अनुसारी निष्क्रमण करता है। वहाँ क्या सामान्य रूप से ही दिन मे वा रात्रि मे मरने वाले को रश्मि अनुसारित्व होता है, अथवा दिन मे ही मरनेवाले को होता है, ऐसा संशय होने पर अविशेष (सामान्य) के श्रवण से अविशेष रूप मे ही रश्मि के अनुसारी होता है, ऐसी प्रतिज्ञा करते है ॥ १८ ॥

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च ॥ १९ ॥

अस्त्यहनि नाडीरश्मिसम्बन्ध इत्यहनि मृतस्य स्याद्रश्म्यनुसारित्वं रात्रौ तु प्रेतस्य न स्यात्, नाडीरश्मिसम्बन्धविच्छेदादिति चेन्न। नाडीरश्मिसम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वात्। यावद्देहभावी हि शिराकिरणसम्पर्कः। दर्शयति चैनमर्थं श्रुतिः—'अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः' (छा० ८।६।२) इति। निदाघसमये च निशास्वपि किरणानुवृत्तिरुपलभ्यते, प्रतापादिकार्यदर्शनात्। स्तोकानुवृत्तेस्तु दुर्लक्ष्यत्वमृत्वन्तररजनीषु शैशिरेष्विव दुर्दिनेषु। 'अहरेवैतद्रात्रौ दधाति' इति चैतदेव दर्शयति। यदि च रात्रौ प्रेतो विनैव रश्म्यनुसारेणोर्ध्वमाक्रमेत रश्म्यनुसारानर्थक्यं भवेत्। नह्येतद्विशिष्याधीयते यो दिवा प्रैति स रश्मीनपेक्ष्योर्ध्वमाक्रमते यस्तु रात्रौ सोऽनपेक्ष्यैवेति। अथ तु विद्वानपि रात्रिप्रायणापराधमात्रेण नोर्ध्वमाक्रमेत पाक्षिकफला विद्येत्यप्रवृत्तिरेव तस्याः स्यात्, मृत्युकालानियमात्। अथापि रात्रावुपरतोऽहरागममुदीक्षेत। अहरागमेऽप्यस्य कदाचिदरश्मिसम्बन्धार्हं शरीरं स्यात्पावकादिसम्पर्कात्। 'स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति' (छा० ८।६।५) इति च श्रुतिरनुदीक्षां दर्शयति। तस्मादविशेषेणैवेदं रात्रिदिवं रश्म्यनुसारित्वम् ॥ १९ ॥

दिन में नाडी और रश्मि का सम्बन्ध रहता है, इससे दिन में मरने वाले को रश्मि अनुसारित्व होगा रात्रि में मरने वाले को नहीं होगा, क्योंकि रात्रि में नाडी और रश्मि के सम्बन्ध का विच्छेद (अभाव) हो जाता है यदि ऐसा कहा जाय तो यह कहना ठीक (सत्य) नहीं है। जिससे नाडी और रश्मि के सम्बन्ध को (यावद्देह) देह की स्थिति पर्यन्त भावित्व (वर्तमानत्व) रहता है। देह की स्थिति पर्यन्त शिरा और किरण (नाडी और रश्मि) का सम्बन्ध रहता ही है। और इस अर्थ को श्रुति दर्शाती है कि (इस आदित्यमण्डल से प्रवाह रूप से रश्मियाँ फैलती हैं, सो इन नाडियों में प्राप्त—प्रविष्ट होती हैं, और नाडियों से फैलती है, सो उस आदित्यमण्डल में प्राप्त होती हैं) और निदाघ (उष्ण) काल में रात्रि में भी किरणों की अनुवृत्ति (सत्ता) उपलब्ध होती है जिससे किरणों के प्रताप (उष्णता) आदि रूप कार्य ग्रीष्म की रात्रियों में भी देखा (समझा) जाता है। अन्य ऋतुओं की रात्रियों में तो शिशिर के दुर्दिनों (मेघ से आवृत दिनों) के समान स्तोक (अल्प) किरणों की अनुवृत्ति से किरणों की दुर्लक्ष्यता (अप्रत्यक्षता) होती है। और (सूर्य ही रात्रि में इस ताप रूप दिन को ही धारण करता है) यह श्रुति इस अर्थ को ही दर्शाती है। और यदि रात्रि में मरने वाला रश्मि के अनुसरण के बिना ही ऊर्ध्वगमन करे, तो रश्मि का अनुसरण अनर्थक होगा, दिन में भी वैसा ही गमन हो सकता है। और विशेष भेद का निर्देश करके श्रुति

में भी यह नहीं पढा जाता है (कहा जाता है) कि जो दिन में मरता है, वह रश्मि की अपेक्षापूर्वक रश्मि अनुसारी ऊर्ध्वगमन करता है, और जो रात्रि में मरता है वह रश्मियों की अपेक्षा के विना ही ऊर्ध्वगमन करता है। यदि विद्वान् (उपासक) जो रात्रि में मरण रूप अपराध मात्र से ऊर्ध्व गति नहीं करे, तो पाक्षिक (वैकल्पिक) फलवाली विद्या होगी, इससे उस विद्या में अप्रवृत्ति होगी, जिससे मृत्युकाल का कोई नियम नहीं है कि उपासक दिन मे ही मरता है इत्यादि। और यदि रात्रि मे मरा हुआ विद्वान् रश्मि के अनुसरण के लिए दिन के आगमन की प्रतीक्षा करता हुआ वहाँ वर्तमान रहेगा, तो दिन का आगमन होने पर भी कभी इसका शरीर अग्नि आदि के सम्बन्ध से रश्मि के साथ सम्बन्ध के योग्य नहीं रहेगा। और (वह उपासक जितने काल में मन की प्रेरणा संकल्प करता है, उतने काल में आदित्य को प्राप्त करता है) यह श्रुति अनुदीक्षा (अप्रतीक्षा) को दर्शाती है। अतः अविशेष रूप से ही यह रश्मि अनुसारित्व रात्रि और दिन में होता है ॥ १९ ॥

दक्षिणायनाधिकरणम् ॥ ११ ॥

अयने दक्षिणे मृत्वा धीफलं नैत्यथैति वा। नैत्युत्तरायणाध्वोक्तेर्भीष्मस्यापि प्रतीक्षणात् ॥
आतिवाहिकदेवोक्तेर्वरख्यात्यै प्रतीक्षणात्। फलैकान्त्याच्च विद्यायाः फलं प्राप्नोत्युपासकः ॥

इस पूर्वोक्त नाडी और रश्मि के सदा सम्बन्ध से और काल की अप्रतीक्षा आदि से दक्षिणायन में मरने वाला उपासक भी ब्रह्मलोक मे प्राप्त होता है। संशय है कि दक्षिणायन में मर कर उपासना के फल को नही प्राप्त करता है, अथवा प्राप्त करता है। पूर्वपक्ष है कि उत्तरायण मार्ग के कथन से और भीष्मपितामह के उत्तरायण की प्रतीक्षा से भी दक्षिणायन में मरने वाला उपासक उपासना के फल रूप ब्रह्मलोक को नहीं प्राप्त करता है। सिद्धान्त है कि उत्तरायण वर्ष आदि शब्दों से कालादि नहीं कहे गये है, किन्तु उन शब्दो से आतिवाहिक (ब्रह्मलोक में प्राप्त कराने वाले) देव विशेष कहे गए हैं। भीष्मपितामह ने प्रसन्न पिता से प्राप्त ऐच्छिक मृत्युरूप वर की ख्याति के लिए काल की प्रतीक्षा की, तथा विद्याफल की ऐकान्तिकता (अव्यभिचारिता—अवश्यभाविता) से दक्षिणायन में मृत उपासक उपासना का फल पाता है ॥

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ २० ॥

अतएव चोदीक्षानुपपत्तेरपाक्षिकफलत्वाच्च विद्याया अनियतकालत्वाच्च मृत्योर्दक्षिणायनेऽपि म्रियमाणो विद्वान्प्राप्नोत्येव विद्याफलम्। उत्तरायणमरणप्राशस्त्यप्रसिद्धेर्भीष्मस्य च प्रतीक्षादर्शनात् 'आपूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्' (छा० ४।१५।५) इति च श्रुतेरपेक्षितव्यमुत्तरायणमितीमामाशङ्कामनेन सूत्रेणापनुदति। प्राशस्त्यप्रसिद्धिरविद्वद्विषया। भीष्मस्य तूत्तरायणप्रतिपालनमाचारप्रतिपालनार्थं पितृप्रसादलब्धस्वच्छन्दमृत्युताख्यापनार्थं च। श्रुतेस्त्वर्थं वक्ष्यति 'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् (ब्र० सू० ३।३।४) इति ॥२०॥

अतएव उक्त प्रतीक्षा की अनुपपत्ति में, विद्या के अपाक्षिक (नित्य) फलवत्त्व से और मृत्यु के अनियत काल होने से दक्षिणायन में भी मरने वाला विद्वान् विद्या के फल को प्राप्त करता ही है। उत्तरायण में मरण के प्राशस्त्य (श्रेष्ठता) की प्रसिद्धि से, और भीष्म जी के उत्तरायण की प्रतीक्षा के दर्शन से, और (शुक्ल पक्ष में जिन छ मासों में सूर्य उत्तर गमन करते हैं उन मासों में उपासक प्राप्त होता है) इस श्रुति से उत्तरायण ब्रह्मलोक की प्राप्ति में अपेक्षितव्य (कारण-मार्ग) है इस आशंका का इस सूत्र से अपनोदन (निवारण) करते हैं कि प्राशस्त्य प्रसिद्धि अविद्वान् विषयक है, कि दैवयोग से उत्तरायण में अन का मरण प्राप्त है। भीष्म की उत्तरायण की प्रतीक्षा आचार का परिपालन कराने के लिए है और पिता की प्रसन्नता से प्राप्त स्वतन्त्रमृत्युता को समझाने के लिए है। श्रुति का अर्थ तो (आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्) इस सूत्र से कहेंगे॥

ननु च—

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ (गी० ८।२३)

इति कालप्राधान्येनोपक्रम्याहरादिकालविशेषः स्मृतावपुनरावृत्तये नियमितः कथं रात्रौ दक्षिणायने वा प्रयातोऽनावृत्तिं यायादिति। अत्रोच्यते—

उक्तार्थ में शंका होती है कि (हे भरतकुल में श्रेष्ठ ! जिस काल में प्रयात-मृत योगी अनावृत्ति-मुक्ति और आवृत्ति पुनर्जन्ममरण पाते हैं वह काल मैं तुम्हें कहूँगा) इस प्रकार काल की प्रधानता से आरम्भ करके दिनादि रूप काल विशेष अपुनरावृत्ति के लिए स्मृति में नियमित किया गया है। फिर रात्रि में वा दक्षिणायन में मरने वाला अनावृत्ति कैसे पावेगा। यहाँ उत्तर कहा जाता है कि—

योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते॥ २१॥

योगिनः प्रति चायमहरादिकालविनियोगोऽनावृत्तये स्मर्यते। स्मार्ते चैते योगसांख्ये न श्रौते। अतो विषयभेदात्प्रमाणविशेषाच्च नास्य स्मार्तस्य कालविनियोगस्य श्रौतेषु विज्ञानेष्ववतारः। ननु—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्॥ (गी० ८।२४।२५)

इति च श्रौतावेतौ देवयानपितृयाणौ प्रत्यभिज्ञायेते स्मृतावपीति। उच्यते—'तं कालं वक्ष्यामि' (गी० ८।२३) इति स्मृतौ कालप्रतिज्ञानाद्विरोधमाशङ्क्य परिहार उक्तः। यदा पुनः स्मृतावप्यग्न्याद्या देवता एवातिवाहिक्यो गृह्यन्ते तदा न कश्चिद्विरोध इति॥ २१॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ शारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः॥ २॥

कर्मभक्तियोग प्राणायामादि अभ्यासयोग वालों के प्रति यह दिन आदि काल का विनियोग (नियम) अनावृत्ति (अपुनर्जन्म) के लिए स्मृति में कहा जाता है। भक्तिपूर्वक ईश्वरार्पण–बुद्धि से किया गया कर्मरूप योग, धारणापूर्वक अकर्तृत्वादि का अनुभव विवेकादि रूप सांख्य, ये दोनों योग और सांख्य स्मार्त हैं, श्रौत नहीं हैं। अर्थात् स्मृतिविहित वे दो प्रकारकी उपासनाएँ हैं, गति है श्रुतिविहित नहीं हैं। इससे विषय के भेद से और प्रमाण-विशेष से इस स्मृतिसिद्ध कालनियम का श्रुति से विहित विज्ञानों में प्राप्ति-सम्बन्ध नहीं होता है। शंका फिर भी होती है कि (अग्नि, ज्योतिः, दिन, शुक्लपक्ष, छः मास उत्तरायण। धूम, रात्रि, तथा कृष्णपक्ष, छः मास दक्षिणायन) इन स्मृति-वचनों में भी श्रुति-वर्णित ही देवयान, और पितृयाण प्रत्यभिज्ञात होते हैं, इससे श्रौत से भिन्न नही है। उत्तर कहा जाता है कि (उस काल को कहूंगा) इस प्रकार स्मृति में काल की प्रतिज्ञा से विरोध की शंका का परिहार कहा गया है। जब स्मृति में भी अग्नि आदि आतिवाहिक (मार्गप्रदर्शक) देवता ही गृहीत होते हैं, तब कोई विरोध नहीं है ॥ २१ ॥

साक्षी सदैव विमलो गुणसङ्गहीनो
द्रष्टैव केवलविभुः स सदा चकास्ति।
मायैव भाति विविधाकृतिभिस्तदीया
ह्यात्मैव केवलनिजः स चराचरस्य ॥ १ ॥
प्राकाश्यं वै जगत् सर्वं रामः प्राकाशकः सदा।
मायया हीशतां याति सत्वाज्ज्ञानगुणाश्रयः ॥ २ ॥

४र्थ अध्याय में द्वितीयपाद समाप्त

ब्रह्मलोकेषु परा. परावतो वसन्ति (बृ० ६।२।१५) 'तस्मिन्वसन्ति' शाश्वतीः समा' (बृ० ५।१।१०) 'सा या ब्रह्मणो जितिर्या व्युष्टिस्तां जितिं जयति तां व्युष्टिं व्यश्नुते' (कौषी० १।४) 'तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति' (छा० ८।४।३) इति च तत्र तत्र तदेवैकं फलं ब्रह्मलोकप्राप्तिलक्षणं प्रदर्श्यते। यत्त्वेतैरेवेत्यवधारणमर्चिराद्याश्रयणे न स्यादिति। नैष दोषः। रश्मिप्राप्तिपरत्वादस्य। नह्येक एव शब्दो रश्मींश्च प्रापयितुमर्हत्यर्चिरादींश्च व्यावर्तयितुम्। तस्माद्रश्मिसम्बन्ध एवायमवधार्यत इति द्रष्टव्यम्। त्वरावचनं त्वर्चिराद्यपेक्षायामपि गन्तव्यान्तरापेक्षया शैघ्र्यार्थत्वान्नोपरुध्यते। यथा निमिषमात्रेणात्रागम्यत इति। अपि च 'अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन' (छा० ५।१०।८) इति मार्गद्वयभ्रष्टानां कष्टं तृतीयं स्थानमाचक्षाणा पितृयाणव्यतिरिक्तमेकमेव देवयानमर्चिरादिपर्वाणं पन्थानं प्रथयति। भूयांसि चार्चिरादिश्रुतौ मार्गपर्वाण्यल्पीयांसि त्वन्यत्र। भूयसा चानुगुणेनाल्पीयसा च नयनं न्याय्यमित्यतोऽप्यर्चिरादिना तत्प्रथितेरित्युक्तम् ॥ १ ॥

सर्वत्र एक देश की प्रत्यभिज्ञा से परस्परविशेषण-विशेष्यभाव की उपपत्ति से भी मार्ग एक है। प्रकरण के भेद रहते भी विद्या के एकत्व रहने पर परस्पर विशेषणों के उपसंहार के समान गति के विशेषणों का भी उपसंहार होता है। विद्या के भेद होते भी गति के एकदेश की प्रत्यभिज्ञा से और गन्तव्य ब्रह्मलोक के अभेद (एक) होने से गति का अभेद ही है। और गन्तव्य का अभेद इस प्रकार है कि (उन ब्रह्मलोकों में परावत, परम दीर्घ आयुवाले हिरण्यगर्भ के परा दीर्घ सम्वत्सर पर्यन्त वे ब्रह्मोपासक वसते हैं। उस प्रजापति के लोक में शाश्वत नित्य वर्षों तक वसते हैं। वह जो ब्रह्म-हिरण्यगर्भ की जिति विजयविभूति और व्युष्टि-व्याप्ति है उस विजय और व्याप्ति को प्राप्त करता है। वहाँ ब्रह्मचर्य से जो इस ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है) इन वचनों से वही ब्रह्मलोक की प्राप्तिरूप फल तत्तत् स्थानों में प्रदर्शित कराया जाता है। इसमें गन्तव्य एक है। और जो यह कहा था, कि (इन रश्मियों के ही द्वारा ऊर्ध्व आक्रमण करता है।) यह अवधारण अर्चि आदि के आश्रयण करने पर नहीं होगा, वहाँ कहा जाता है कि इस अवधारण के रश्मि के प्राप्तिपरक होने से यह दोष नहीं है। अर्थात् रात्रि के रश्मि की स्पष्ट प्रतीति नहीं होने से रश्मि के असम्बन्ध प्राप्त होने पर उस समय भी उपासक का रश्मि के साथ सम्बन्ध दर्शाने के लिए एव शब्द रूप अवधारण है। एक ही एव शब्द रश्मियों को प्राप्त कराने के लिए और अर्चि आदि की व्यावृत्ति (निवृत्ति) करने के लिए समर्थ नहीं हो सकता है। जिससे यह रश्मि का सम्बन्ध ही अवधारित (निश्चित) होता है, ऐसा समझना चाहिए। अर्चि आदि की अपेक्षा होने पर भी त्वरावचन (शीघ्रतावाक्य) तो गन्तव्यान्तर की अपेक्षा से ब्रह्मलोक की प्राप्ति में शीघ्रतार्थक होने से उपरुद्ध नहीं होता है। जैसे कहा जाता है कि निमिष मात्र में यहाँ आया जाता है। दूसरी बात है कि (जब न तो विद्या का

सेवन करता है न इष्टादि कर्मों का सेवन करता है। तब इन अर्चि आदि और धूमादि मार्गों में से किसी मार्ग से गमन नहीं करता है) इस प्रकार उत्तर-दक्षिण, दोनों मार्गों से भ्रष्टों के तृतीय कष्टमय स्थान को कहती हुई श्रुति, पितृयाण से भिन्न अर्चि आदि पर्व-ग्रन्थि-अंगवाले एक ही देवयान मार्ग प्रख्यात करती कहती है। यदि कहा जाय कि उत्तर मार्ग के एक होते भी अर्चि आदि यह विशेषण देने में क्या हेतु है, तो कहा जाता है कि अर्चि आदि श्रुति मे मार्ग के पर्व वहुत हैं। और अन्य श्रुतियों में अल्प पर्व हैं और वहुतों के अनुसार अल्पों की प्राप्ति कराना उचित होता है, इस हेतु से भी (अर्चिरादिना तत्प्रथितेः) यह कहा गया है ॥ १ ॥

वाय्वधिकरणम् ॥ २ ॥

सन्निवेशयितुं वायुरत्राशक्योऽथ शक्यते। न शक्यो वायुलोकस्य श्रुतक्रमविवर्जनात् ॥ १ ॥
वायुश्छिद्राद्विनिष्क्रम्य स आदित्यं व्रजेदिति। श्रुतेरर्वाग्रवेर्वायुर्देवलोकस्ततोऽप्यधः ॥ २ ॥

(स वायुमागच्छति) वह उपासक वायु को प्राप्त करता है। इस प्रकार से क्रम-रहित श्रुत वायु का अविशेष और विशेषरूप अन्य वचन से अब्द (सम्वत्सर) से आगे स्थान समझना चाहिए ॥

संशय है कि इस अर्चि आदि पर्ववाले मार्ग में पर्व रूप से वायु का सन्निवेश किया जा सकता है, अथवा नहीं। पूर्वपक्ष है कि वायुलोक के श्रुत क्रम मे रहित होने से उसका सन्निवेश नहीं हो सकता है। सिद्धान्त है कि वह उपासक वायु के छिद्र से निकल कर आदित्य लोक में जाता है, इस श्रुति से सूर्य से नीचे वायु का स्थान है, और उससे भी नीचे देवलोक है, इस प्रकार अर्चि आदि मार्ग में वायु का सन्निवेश है ॥ १-२ ॥

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥

केन पुनः संनिवेशविशेषेण गतिविशेषाणा मितरेतरविशेषणविशेष्यभाव इति तदेतत्सुहृद्भूत्वाऽऽचार्यो ग्रथयति। 'स एतं देवयानं पन्थानमापद्याग्नि-लोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्' (कौ० १।३) इति कौषीतकिनां देवयानः पन्थाः पठ्यते। तत्रा-चिरग्निलोकशब्दौ तावदेकार्थौ ज्वलनवचनत्वादिति नात्र संनिवेशक्रमः कश्चि-दन्वेष्यः। वायुस्त्वर्चिरादौ वर्त्मनि अश्रुतः कतमस्मिन् स्थाने संनिवेश-यितव्य इति। उच्यते—'तेऽर्चिषमेवाभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाण-पक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षड्डुदङ्ङेति मासांस्तान् मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादा-दित्यम्' (छा० ५।१०।१,२) इत्यत्र संवत्सरात्पराञ्चमादित्यादर्वाञ्चं वायुम-भिसम्भवन्ति। कस्मात्? अविशेषविशेषाभ्याम्। तथाहि—'स वायुलोकम्' (कौ० १।३) इत्यत्राविशेषोपदिष्टस्य वायोः श्रुत्यन्तरे विशेषोपदेशो दृश्यते 'यदा वै पुरुषोऽस्माँल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा

रथचक्रस्य ख तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति' (बृ० ५।१०।१) इति । एतस्मादादित्याद्वायो' पूर्वत्वदर्शनाद्विशेषादब्दादित्ययोरन्तराले वायु-र्निवेशयितव्य' ।

अर्चि आदि के एक मार्ग रूप होने पर किस सन्निवेश विशेष (रचनास्थान भेद) से गतिविशेषणो (मार्गपर्वा) का परस्पर विशेषण-विशेष्यभाव है । किस प्रकार पूर्व-परूपता है, उस श्रुति के अनुसार इस भेद का सुहृद होकर आचार्य ग्रन्थन (उल्लेख) करते है । (वह हृदय मे प्राप्त उपासक देवयान मार्ग को प्राप्त करके अग्निलोक मे आता है । वह वायु लोक मे आता है, वह वरुणलोक मे आता है, वह इन्द्रलोक में आता है, वह प्रजापति लोक मे आता है, वह ब्रह्मलोक म आता है) इस प्रकार कौषीतकिया का देवयान मार्ग पढा जाता है । वहाँ ज्वलनवाचकत्व से वे अर्चि और अग्निलोक शब्द एकार्थक है, इनमे कहीं सन्निवेश का क्रम अन्वेषण के योग्य नही है । परन्तु अर्चि आदि मार्ग मे वायु अश्रुत है, सो किस स्थान मे सन्निवेश कराने योग्य है, अर्थात् कौषीतकी पाठ के अनुसार अग्निरूप अर्चि से आगे, अथवा वक्ष्यमाण श्रुति के अनुसार सम्वत्सर मे आगे सन्निवेश के योग्य है । ऐसा सशय होने पर कहा जाता है कि (वे उपासक अर्चि को प्राप्त होते हैं, अर्चि से दिन को प्राप्त होते हैं, दिन से आपूर्य-माण शुक्ल पक्ष को प्राप्त करते हैं । शुक्ल पक्ष से जिन छ मासो में सूर्य उत्तर जाते है उन मासो को वे प्राप्त होते हैं, मासो से सम्वत्सर को और सम्वत्सर मे आदित्य को प्राप्त होते हैं) इस श्रुति मे वर्णित सम्वत्सर के बाद और आदित्य से प्रथम वायु को प्राप्त होते हैं, क्योंकि अविशेष और विशेष श्रुतियो से ऐसा ही सिद्ध होता है । अत अविशेष और विशेष श्रुति इस प्रकार है (वह वायु को प्राप्त होता है) यहाँ अविशेष रूप मे उपदिष्ट वायु का अन्य श्रुति मे विशेष रूप से उपदेश देखा जाता है कि (जब उपासक पुरुष इस लोक देह से निगमन करता है, तब वह वायु को प्राप्त होता है, वह वायु उस पुरुष के लिए वहा स्थान के त्याग द्वारा रथचक्र के छिद्र समान मार्ग देता है उस मार्ग से वह ऊपर जाता है और आदित्य लोक मे प्राप्त होता है) इति । इस श्रुति-वचन से इस आदित्य से वायु के पूर्वत्व-प्रथमत्व के दर्शन रूप विशेष से सम्वत्सर और आदित्य के मध्य मे वायु का निवेश करने समझने योग्य है ।

कस्मात्पुनरग्ने परत्वदर्शनाद्विशेषादर्चिषोऽनन्तर वायुर्न निवेश्यते । नैषोऽस्ति विशेष इति वदाम' । ननूदाहृता श्रुति —'स एत देवयान पन्थान-मापद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोक स वरुणलोकम्' (कौषी० १।३) इति । उच्यते—केवलोऽत्र पाठः पौर्वापर्येणावस्थितो नात्र क्रमवचन कश्चि-च्छब्दोऽस्ति । पदार्थोपदर्शनमात्र ह्यत्र क्रियते 'एतञ्चैत च स गच्छती'ति इतरत्र पुनर्वायुप्रत्तेन रथचक्रमात्रेण च्छिद्रेणोर्ध्वमाक्रम्यादित्यमागच्छ-तीत्यवगम्यते क्रम । तस्मात्सूक्तमविशेषविशेषाभ्यामिति । वाजसनेयिनस्तु

'मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यम्' (बृ० ६।२।१५) इति समामनन्ति, तत्रादित्यानन्तर्याय देवलोकाद्वायुमभिसम्भवेयुः। वायुमब्दादिति तु छान्दोगश्रुत्यपेक्षयोक्तम्। छान्दोग्यवाजसनेयकयोस्त्वेकत्र देवलोको न विद्यते परत्र संवत्सरः, तत्र श्रुतिद्वयप्रत्ययादुभावप्युभयत्र ग्रथयितव्यौ। तत्रापि माससम्बन्धात्संवत्सरः पूर्वः पश्चिमो देवलोक इति विवेक्तव्यम् ॥ २ ॥

यदि कहा जाय कि कौषीतकी पाठ के अनुसार अग्नि से परत्वदर्शन रूप विशेष से अर्चि के अनन्तर वायु का निवेश किस हेतु से नही किया जाता है। तो कहते हैं कि यह विशेष नहीं है। यदि कहा जाय कि श्रुति उदाहृत हो चुकी है कि (वह इस देवयानमार्ग को प्राप्त करके अग्निलोक में आता है, वह वायुलोक में आता है, वह वरुण लोक में आता है) इति। तो कहा जाता है कि इस श्रुति मे पूर्वापर रूप से केवल पाठ अवस्थित है, इसमें क्रमवाचक कोई शब्द नही है। जिससे पदार्थों का उपदेशमात्र यहाँ किया जाता है कि (इसलोक में वह जाता है) और अन्य श्रुति में वायु से प्रदत्त (दिया गया) रथचक्रमात्र छिद्र द्वारा ऊपर जाकर आदित्य लोक में प्राप्त होता है, इस प्रकार क्रम अवगत होता है। जिससे सुन्दर कहा गया है कि (अविशेष और विशेष से क्रम अवगत होता है) और वाजसनेयी तो (मासों से देवलोक को और देवलोक से आदित्य को प्राप्त करता है) इस प्रकार पढ़ते हैं। वहाँ आदित्य से अनन्तरता के लिए देवलोक से वायु को उपासक प्राप्त होंगे। सूत्र में, वायुमब्दात्, सम्वत्सर से वायु को प्राप्त होते हैं, इस प्रकार तो छान्दोग्य श्रुति की अपेक्षा से कहा गया है। छान्दोग्य और वाजसनेयक में से एक में देवलोक नहीं है, और अन्य में सम्वत्सर नहीं है, वहाँ श्रुतिद्वय के प्रत्यय (एकवाक्यता) से दोनों स्थानों में ग्रन्थन (सम्बन्ध) के योग्य हैं। उनमें भी सम्वत्सर को मास के साथ कालत्व अवयवित्व रूप सम्बन्ध से मास से पर सम्वत्सर होगा और देवलोक से पूर्व होगा, देवलोक सम्वत्सर से पश्चिम होगा, उससे पर वायु और वायु से पर आदित्य सन्निविष्ट होगा ऐसा विवेक कर्तव्य है ॥ २ ॥

तडिदधिकरणम् ॥ ३ ॥

वरुणादेः सन्निवेशो नास्ति तत्राथ विद्यते। नास्ति, वायोरिवैतस्य व्यवस्थाश्रुत्यभावतः॥१॥
वैद्युतसम्बन्धिवृष्टिस्थनीरस्याधिपतित्वतः। वरुणो विद्युतस्तूर्ध्वं तत इन्द्रप्रजापती ॥२॥

जल के स्वामित्व द्वारा वरुण को विद्युत के साथ सम्बन्ध है इससे विद्युत के ऊपर वरुण का स्थान है। संशय है कि उस अर्चि आदि मार्ग में पूर्वोक्त वरुणादि का सन्निवेश है, अथवा नहीं है। पूर्वपक्ष है कि वायु के समान इस वरुणादि की व्यवस्था श्रुति के अभाव से सन्निवेश नहीं है सिद्धान्त है कि विद्युत-सम्बन्धी वृष्टि में स्थित जल के स्वामी होने से विद्युत के ऊपर वरुण का स्थान है, और पाठ के अनुसार उसके आगे इन्द्र और प्रजापति के स्थान हैं ॥ १–२ ॥

तडितोऽधिवरुणः सम्बन्धात् ॥ ३ ॥

'आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतम्' (छा० ४।१५।५) इत्यस्या विद्युत उपरिष्टात्स वरुणलोकमित्ययं वरुण सम्बध्यते। अस्ति हि सम्बन्धो विद्युद्वरुणयो। यदा हि विशाला विद्युतस्तीव्रस्तनितनिर्घोषा जीमूतोदरेषु प्रनृत्यन्त्यथाप प्रपतन्ति, 'विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा' (छा० ७।११।१) इति च ब्राह्मणम्। अपा चाधिपतिर्वरुण इति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धि'। वरुणाच्चाधीन्द्रप्रजापती स्थानान्तराभावात्पाठसामर्थ्याच्च आगन्तुकत्वादपि वरुणादीनामन्त एव निवेश। वैशेषिकस्थानाभावाद्विद्युदान्त्यार्चिरादौ वर्त्मनि ॥ ३ ॥

(आदित्य से चन्द्र मे और चन्द्र से विद्युत् म प्राप्त होते है) इस प्रकार श्रुति मे श्रुत इस विद्युत से ऊपर वह उपासक वरुण लोक म जाता है। इस प्रकार यह वरुण से सम्बद्ध होता है। जिससे विद्युत और वरुण का सम्बन्ध है। जब ही तीव्र स्तनित (गर्जना) रूपनिर्घोष (शब्द) वाली विशाल विद्युत मेघ के उदरा मे प्रनृत्य करती है, तब पानी गिरते हैं। (बिजली चमकती है, मेघ गरजता है। वर्षा होगी) ऐसा लोकोक्तिविषयक ब्राह्मण है। जलो का अधिपति वरुण है, ऐसी श्रुति-स्मृति मे प्रसिद्धि है। स्थानान्तर के अभाव से और पाठ के सामर्थ्य से वरुण के ऊपर इन्द्र और प्रजापति हैं, और आगन्तुकत्व से भी (आगन्तुकानामन्ते निवेश) इस लौकिक न्याय से वरुणादि का अन्त मे ही निवेश होता है। अर्थात् अर्चि आदि के मध्य मे निर्दिष्ट किसी स्थान के अभाव से वरुणादि को आगन्तुकत्व है, और आगन्तुक न्याय से विद्युत के बाद वरुण से सम्बन्ध होने पर पाठ से इन्द्र और प्रजापति का क्रम होता है। अर्चि आदि मार्ग मे विद्युत् अन्त मे है, इससे विशेष स्थान के अभाव से वरुणादि का अन्त में सन्निवेश है ॥ ३ ॥

आतिवाहिकाधिकरणम् ॥ ४ ॥

मार्गचिह्न भोगभूर्वा नेतारो वार्चिरादय। आद्यौ स्यातां मार्गचिह्नसारूप्याल्लोकशब्दत ॥१॥
अन्ते गमयतीत्युक्तेर्नेतारस्तेषु चेदृशा। निर्देशोऽस्त्यत्र लोकाख्या तन्निवासिजनान् प्रति ॥२॥

आतिवाहिक देव विशेष के बोधक लिङ्गा से अर्चि आदि शब्दा मे आतिवाहिक (मार्गप्रदर्शक) देव गृहीत होते हैं। सशय है कि अर्चि आदि मार्ग के चिह्न हैं, अथवा भोग के स्थान है। यद्वा नेता देव हैं। पूर्व पक्ष है कि मार्ग चिह्न की स्वरूपता से और लोक शब्द मे प्रथम के दोनो पक्ष हो सकते हैं। सिद्धान्त है कि अन्त म अमानव पुरुष पहुचाता है, इस कथन से अर्चि आदि नेता ही हैं, उन मे ही इस प्रकार का लोकशब्द निर्देश है, और यहाँ लोक नाम उन लोको मे बसने वाला के प्रति कहा गया है ॥१–२॥

आतिवाहिकस्तल्लिङ्गात् ॥ ४ ॥

तेष्वेवार्चिरादिषु संशय—किमेतानि मार्गचिह्नान्युत भोगभूमयोऽथवाऽतिनेतारो गन्तॄणामिति। तत्र मार्गलक्षणभूता अर्चिरादय इति तावत्

प्राप्तम् , तत्स्वरूपत्वादुपदेशस्य । यथाहि लोके कश्चिद् ग्रामं नगरं वा प्रतिष्ठासमानोऽनुशिष्यते गच्छेतस्त्वममुं गिरिं ततो न्यग्रोधं ततो नदीं ततो ग्रामं ततो नगरं वा प्राप्स्यसीति । एवमिहाप्यर्चिषोऽहरह आपूर्यमाणपक्षमित्याद्याह । अथवा भोगभूमय इति प्राप्तम् । तथाहि—लोकशब्देनाग्न्यादीनुपबध्नाति 'अग्निलोकमागच्छति' (कौषी० १।३) इत्यादि । लोकशब्दश्च प्राणिनां भोगायतनेषु भाष्यते 'मनुष्यलोकः पितृलोको देवलोकः' (बृ० १।५।१६) इति च । तथाच ब्राह्मणम्—'अहोरात्रेषु ते लोकेषु सज्जन्ते' इत्यादि । तस्मान्नातिवाहिका अर्चिरादयः । अचेतनत्वादप्येतेषामातिवाहिकत्वानुपपत्तिः । चेतना हि लोके राजनियुक्ताः पुरुषा दुर्गेषु मार्गेष्वतिवाह्यानतिवाहयन्तीति ।

उन्हीं अर्चि आदि-विषयक संशय होता है कि क्या ये अर्चि आदि मार्ग के चिह्न हैं, अथवा भोग के स्थान हैं, अथवा ब्रह्मलोक में जाने वालों के अतिनेता-अतिवहन (पहुंचाने में) समर्थ आतिवाहिक हैं । वहाँ प्रथम प्राप्त होता है कि मार्ग चिह्न रूप अर्चि आदि हैं । क्योंकि उपदेश को वह चिह्नस्वरूपत्व है, जैसे लोक मे कोई किसी ग्राम वा नगर में प्रस्थान (यात्रा) की इच्छावाला गुरुजनों से अनुशासित होता है, उपदेश पाता है कि तुम यहाँ से उस पर्वत पर जावो, वहाँ से न्यग्रोध (वटवृक्ष) के पास जाना, वहाँ से नदी के पास जाना, उसके बाद ग्राम वा नगर को प्राप्त करोगे । इसी प्रकार यहाँ भी अर्चि से दिन, दिन से शुक्ल पक्ष को प्राप्त करता है, इत्यादि श्रुति कहती है । अथवा अर्चि आदि भोग के स्थान है, ऐसा प्राप्त होता है । जिससे लोक रूप भोग स्थान के समान ही लोकशब्द के साथ अग्नि आदि का उपनिबन्ध (संबन्ध-उल्लेख) श्रुति करती है कि (अग्निलोक में प्राप्त होता है) लोक शब्द प्राणियों के भोग-स्थानों में भाषित (पठित-कथित) होता है कि (मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक ये तीन लोक हैं) इसी प्रकार का ब्राह्मण ग्रन्थ है कि (लोक शब्द से कहे गए भोग के आश्रय रूप दिन-रात्रि आदि में वे कर्मी और ज्ञानी उपासक सक्ति (भोग) का अनुभव करते हैं) इत्यादि । जिससे अर्चि आदि आतिवाहिक नहीं है । अचेतनत्व से भी इनके आतिवाहिकत्व की अनुपपत्ति है । जिससे लोक में राजा से नियुक्त चेतन पुरुष दुर्गम मार्गों में जाने वालों को इष्ट स्थान में पहुंचाते हैं । अर्थात् दुर्गम मार्गों के पार जाने योग्यों को मार्गों से परे ले जाते हैं ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—आतिवाहिका एवैते भवितुमर्हन्ति । कुतः ? तल्लिङ्गात् । तथाहि 'चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।५) इति सिद्धवद्गमयितृत्वं दर्शयति । यावद्वचनं वाचनिकमिति न्यायात् । तद्वचनं तद्विषयमेवोपक्षीणमिति चेत् । न । प्राप्तमानवत्वनिवृत्तिपरत्वाद्विशेषणस्य । यद्यर्चिरादिषु पुरुषा गमयितारः प्राप्तास्ते च मानवास्ततो युक्तं तन्निवृत्त्यर्थं पुरुषविशेषणममानव इति ॥ ४ ॥

ननु तल्लिङ्गमात्रमगमक न्यायाभावात् । नैष दोष ,—

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि ये अर्चि आदि आतिवाहिक ही होने योग्य हैं किस हेतु स ऐसा होने योग्य हैं तो कहा जाता है कि उस आतिवाहिक के लिङ्ग (बोधक हेतु) से ऐसा होने योग्य हैं। वह लिङ्ग इस प्रकार का है कि (चन्द्रमा से विद्युत म जाते हैं विद्युत को प्राप्त करते हैं वहाँ ब्रह्मलोक से अमानव पुरुष आता है ब्रह्मलोक स उन्ह लने के लिए आता है। अत इन उपासको को ब्रह्मलोक मे पहुँचाता है। यह श्रुति लोकसिद्ध चेतन नेता के समान गमयितापन अमानव पुरुष म दर्शाती है उसके साहचय स अर्चि आदि भी चतन नेता सिद्ध होते हैं। शका होती है कि वचन से सिद्ध वस्तु वचनमात्रविषयक होती है अर्थात् जहाँ वचन कहता हो वहाँ ही सिद्ध होती है अयत्र नहा इस न्याय से वह वचन विद्युत लोक से चेतन नेता के बोध करा कर ही उपक्षीण शान्त हो जाता है अर्चि आदि म चेतन पुरुषता को नहीं सिद्ध कर सकता है। उत्तर है कि नेताओ म प्राप्त मानवत्व की निवृत्तिपरत्व वचन के होने से वचन तावन्मात्रविषयक नही है। अर्थात् वचन मे नेतृत्व और अमानवत्व दोना के विधान म वाक्य भेद होगा इससे अर्चि आदि पद से मानव नेता प्रथम से प्राप्त हैं, विद्युत मे आगे मानव की प्राप्ति होने पर यह वचन प्रकरण से प्राप्त नेतापन का अनुवाद करके केवल अमानवता का प्रतिपादन करता है। इससे यदि अर्चि आदि मे पहुँचाने वाले पुरुष प्राप्त है और व मानव हैं तो उस मानवत्व की निवृत्ति के लिए अमानव यह विशेषण युक्त होता है। और इसी से सवत्र चेतन पुरुष नता सिद्ध होते हैं ॥ ४ ॥

शका होती है कि न्याय (युक्ति-हेतु) के अभाव मे लिङ्गमात्र अगमक (अबोधक) होता है। उत्तर है कि यह दोष नहीं है—

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥ ५ ॥

ये तावदचिरादिमार्गास्ते देहवियोगात्सपिण्डितकरणग्रामा इत्यस्वतन्त्रा अर्चिरादीनामप्यचेतनत्वादस्वातन्त्र्यमित्यतोऽर्चिराद्यभिमानिनश्चेतना देवताविशेषा अतियात्रायां नियुक्ता इति गम्यते। लोकेऽपि हि मत्तमूर्च्छितादय सपिण्डितकरणग्रामा परप्रयुक्तवर्त्मानो भवन्ति। अनवस्थितत्वादप्यर्चिरादीना न मार्गलक्षणत्वोपपत्ति। नहि रात्रौ प्रेतस्याह स्वरूपाभिसम्भव उपपद्यते। नच प्रतिपालनमस्तीत्युक्तमधस्तात्। ध्रुवत्वात्तु देवतात्मना नाय दोषो भवति। अर्चिरादिशब्दता चैषामर्चिराद्यभिमानादुपपद्यते। 'अर्चिषोऽह' (छा० ४।१५।५,५।१०।१) इत्यादिनिर्देशस्त्वातिवाहिकत्वेऽपि न विरुध्यते। अर्चिषा हेतुनाऽहरभिसम्भवन्ति अह्ना हेतुना आपूर्यमाणपक्षमिति। तथाच लोके प्रसिद्धेष्वप्यातिवाहिकेष्वेवजातीयक उपदेशो दृश्यते, गच्छ त्वमितो बलवर्माणं ततो जयसिंह तत कृष्णगुप्तमिति। अपि चोपक्रमे 'तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति' (बृ० ६।२।१५) इति सम्बन्धमात्रमुक्त न सम्बन्धविशेष कश्चित्। उप-

संहारे तु 'स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।६) इति सम्बन्धविशेषोऽतिवाह्यातिवाहकत्वलक्षण उक्तस्तेन स एवोपक्रमेऽपीति निर्धार्यते। संपिण्डितकरणग्रामत्वा देव च गन्तृणां न तत्रोपभोगसम्भवः। लोकशब्दस्त्वनुपभुञ्जानेष्वपि गन्तृषु गमयितुं शक्यते, अन्येषां तल्लोकवासिनां भोगभूमित्वात्। अतोऽग्निस्वामिकं लोकं प्राप्तोऽग्निनाऽतिवाह्यते वायुस्वामिकं लोकं प्राप्तो वायुनेति योजयितव्यम् ॥ ५ ॥

कथं पुनरातिवाहिकत्वपक्षे वरुणादिषु तत्सम्भवः। विद्युतो ह्यधि वरुणादय उपक्षिप्ता विद्युतस्त्वनन्तरमा ब्रह्मप्राप्तेरमानवस्यैव पुरुषस्य गमयितृत्वं श्रुतमिति, अत उत्तरं पठति—

यदि अर्चि आदि अचेतन है, और गन्ता भी अज्ञ है तो दोनों के अज्ञ होने से ऊर्ध्वगति नही हो सकेगी। इससे स्वयं प्रयत्नरहित किसी अन्य चेतन से कहीं प्राप्त किया जाता है। इस लौकिक न्याययुक्त लिङ्ग से नेता की सिद्धि मे दोष का अभाव है। यह सूत्र का संक्षिप्तार्थ है ॥

जो अर्चि आदि मार्ग से गमन करने वाले हैं वे तो स्थूल देह के वियोग से सम्पिण्डित (संलीन) करण-समूहवाले है, इससे गमन मे अस्वतन्त्र है, होते है। अचेतनता से अर्चि आदि को भी अस्वतन्त्रता है। इससे अर्चि आदि के अभिमानी चेतन देवताविशेष अतियात्रा (उत्तम ब्रह्मगति) में ईश्वर से नियुक्त है, ऐसा समझा जाता है। जिससे लोक में लीन करणसमूहवाले मत्त, मूर्च्छित आदि अन्य प्रयुक्त मार्गवाले (अन्य निमित्तक गतिवाले) होते है। अर्चि आदि के अनवस्थित होने से भी मार्ग के लक्षणत्व की उत्पत्ति उनमें गिरि आदि के समान नहीं हो सकती है। रात्रि में मरने वाले को दिन के स्वरूप का अभिसंभव (प्राप्ति) सिद्ध नहीं हो सकता है। प्रथम कहा गया है कि रात्रि में मरने वाले को दिन का प्रतिपालन (प्रतीक्षा करना) नहीं हो सकता है। देवतात्मा (देवस्वरूप) के तो ध्रुव होने से यह दोष नहीं होता है। अर्चि-आदिविषयक अभिमान से इन देवतात्माओं को अर्चि आदि शब्दवत्ता अर्चि आदि शब्दवाच्यता उपपन्न होती है। आतिवाहिकत्व होने पर भी (अर्चि से दिन को प्राप्त होते हैं) इत्यादि निर्देश विरुद्ध नहीं होता है। अर्चिरूप हेतु द्वारा दिन को प्राप्त करते है। दिन रूप हेतु द्वारा शुक्ल पक्ष को प्राप्त करते हैं, इस प्रकार अविरुद्ध निर्देश होता है। इस प्रकार लोक मे प्रसिद्ध आतिवाहिकों मे इस रीतिवाला उपदेश देखा जाता है कि तुम यहाँ से बलवर्मा के पास जावो, वहाँ से जयसिंह के पास जाना, वहाँ से कृष्ण गुप्त को प्राप्त करना इत्यादि। और दूसरी बात है कि (वे अर्चि को प्राप्त करते हैं) इस उपक्रम में सम्बन्ध सामान्यमात्र कहा गया है, कोई विशेष सम्बन्ध नहीं कहा गया है। उपसंहार में तो (वह अमानव पुरुष इनको ब्रह्म की प्राप्ति कराता है) इस प्रकार अतिवाह्य (अतिगामी) अतिवाहकत्व (प्रापकत्व) रूप सम्बन्ध विशेष कहा गया है जिससे वही विशेष सम्बन्ध उपक्रम में भी है ऐसा निर्णय निश्चय किया जाता है। संलीन

करणसमूह के होने ही से ब्रह्मगन्ता के मार्गियों को उन अर्चि आदि लोकों में भोग का सम्भव नहीं है। गन्ता मार्गियों के उन लोकों में भोगरहित होते भी अन्य उन लोक-वासियों के भोगभूमित्व (भोगस्थानत्व) से लोकशब्द संगत-प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् अर्चि आदि लोक शब्द से कहे जा सकते हैं। इससे अग्निरूप स्वामी वाले लोक में प्राप्त उपासक अग्निदेव से आगे पहुँचाया जाता है, वायुरूप स्वामी वाले लोक में प्राप्त हुआ वायुदेव से आगे पहुँचाया जाता है। इस प्रकार योजना (सम्बन्ध) करने योग्य है ॥ ५ ॥

शंका होती है कि आतिवाहिकत्व पक्ष में विद्युत से आगे रहनेवाले वरुणादि में उस आतिवाहिकत्व का सम्भव कैसे होगा, जिससे विद्युतके ऊपर वरुणादि उपक्षिप्त (स्थापित) हैं। विद्युत के अनन्तर ब्रह्मलोक में ब्रह्म की प्राप्ति पर्यन्त अमानव पुरुष की ही गम-यितृता (गमनहेतुता) सुनी गई है। इससे उत्तर पढ़ते हैं कि—

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ६ ॥

ततो विद्युदभिसंभवनादूर्ध्वं विद्युदनन्तरवर्तिनैवामानवेन पुरुषेण वरुणलो-कादिष्वतिवाह्यमाना ब्रह्मलोकं गच्छन्तीत्यवगन्तव्यम्। 'तान्वैद्युतात्पुरुषोऽ-मानवः (स) एत्य ब्रह्मलोकं गमयति' इति तस्यैव गमयितृत्वश्रुतेः। वरुणा-दयस्तु तस्यैवाप्रतिबन्धकरणेन साहाय्यानुष्ठानेन वा केनचिदनुग्राहका इत्य-वगन्तव्यम्। तस्मात्साधूक्तमातिवाहिका देवतात्मानोऽर्चिरादय इति ॥ ६ ॥

उस विद्युत की प्राप्ति के अनन्तर उससे ऊपर विद्युत के अनन्तरवर्ती (विद्युल्लो-कमागतो वैद्युतस्तेनैव) विद्युत लोक में आया हुआ वैद्युत (विद्युत सम्बन्धी) अमानव पुरुष द्वारा ही वरुण लोकादि में पहुँचाए जाते हुए प्राप्त होते हुए ब्रह्मलोक में उपासक प्राप्त होते हैं, ऐसा समझना चाहिए (वह अमानव पुरुष आकर उन उपासकों को विद्युत सम्बन्धी लोक से ब्रह्मलोक में प्राप्त कराता है) इस प्रकार उस अमानव पुरुष को ही विद्युत से आगे गमयितृत्व-अतिवाहकत्व श्रुति से उक्त रीति से समझना चाहिए। और वरुणादि तो उसी अमानव पुरुष के अप्रतिबन्ध सम्पादन के द्वारा या किसी सहायता के अनुष्ठान के द्वारा अनुग्राहक (मददगार) होते हैं, ऐसा जानने योग्य है। जिससे अर्चि आदि आतिवाहिक देवतात्मा हैं, यह सुन्दर सत्य कहा गया है ॥ ६ ॥

कार्याधिकरणम् ॥ ५ ॥

परं ब्रह्माथवा कार्यमुदङ्मार्गेण गम्यते। मुख्यत्वादमृतत्वोक्तेर्गम्यते परमेव तत् ॥ १ ॥
कार्यं स्याद् गतियोग्यत्वात् परस्मिंस्तदसम्भवात्। सामीप्याद्ब्रह्मशब्दोक्तिरमृतत्वं क्रमाद्भवेत् ॥

वह अमानव पुरुष इन उपासकों को कार्य ब्रह्म की प्राप्ति कराता है, क्योंकि इस कार्य ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ही गति की उपपत्ति हो सकती है, सर्वात्मा विभु अखण्ड निर्विशेष की प्राप्ति के लिए इस उपासक की गति उपपन्न नहीं हो सकती, इस प्रकार बादरि आचार्य कहते हैं। उत्तर देवयान मार्ग से परब्रह्म प्राप्त किया जाता है, अथवा

कार्य ब्रह्म प्राप्त होता है। यह संशय है। पूर्वपक्ष है कि, ब्रह्म शब्द के मुख्य अर्थ पर ब्रह्म के होने से और गतिपूर्वक ब्रह्म की प्राप्ति द्वारा अमृतत्व (मोक्ष) के कथन से वह परब्रह्म ही प्राप्त किया जाता है। सिद्धान्त है कि गतिद्वारा प्राप्ति के योग्य होने से कार्य ब्रह्म होगा, विभु परब्रह्म मे उस गति के असम्भव से परब्रह्म नहीं हो सकता है। कार्यब्रह्म को भी अन्य पदार्थों की अपेक्षा समीपता से आकाश के समान परब्रह्म की सदृशता असङ्गता आदि से ब्रह्मशब्द से उसका कथन होता है, और उसकी प्राप्ति से ज्ञान द्वारा क्रम से अमृतत्व होगा ॥ १-२ ॥

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ७ ॥

'स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।५) इत्यत्र विचिकित्स्यते—किं कार्यमपरं ब्रह्म गमयत्याहोस्वित्परमेवाविकृतं मुख्यं ब्रह्मेति। कुतः संशयः? ब्रह्मशब्दप्रयोगाद्गतिश्रुतेश्च। तत्र कार्यमेव सगुणमपरं ब्रह्मैनान्गमयत्यमानवः पुरुष इति बादरिराचार्यो मन्यते। कुतः? अस्य गत्युपपत्तेः अस्य हि कार्यब्रह्मणो गन्तव्यत्वमुपपद्यते प्रदेशवत्त्वात्, नतु परस्मिन्ब्रह्मणि गन्तृत्वं गन्तव्यत्वं गतिर्वाऽवकल्पते, सर्वगतत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्च गन्तृणाम् ॥ ७ ॥

(वह अमानव पुरुष इन उपासकों को ब्रह्मलोक में ब्रह्मलोक को प्राप्त कराता है) यहाँ संशय होता है कि क्या वह अमानव पुरुष कार्य रूप अपर ब्रह्म को प्राप्त कराता है, अथवा अविकृत मुख्य परब्रह्म को ही प्राप्त करता है। संशय किस हेतु से होता है, तो कहा जाता है कि ब्रह्म शब्द के प्रयोग से और गति के श्रवण से संशय होता है। ऐसा संशय होने पर अमानव पुरुष इन उपासकों को सगुण अपर कार्यब्रह्म की ही प्राप्ति कराता है। इस प्रकार बादरि आचार्य मानते है। क्यों ऐसा मानते हैं, तो कहते हैं, इस कार्यब्रह्म-सम्बन्धी गति की उपपत्ति से ऐसा मानते है। जिससे प्रदेशवत्ता से इस कार्यब्रह्म को गन्तव्यत्व (गतिप्राप्यत्व) उपपन्न होता है। परब्रह्म में तो गन्तृत्व (गमनकर्तृत्व) गन्तव्यत्व वा गति की सिद्धि नहीं हो सकती है। परब्रह्म के सर्वगत होने से तथा गमन कर्ताओं के प्रत्यगात्मत्व (अन्तरात्मत्व) से किसी प्रकार भी परब्रह्म को गन्तव्यत्व नहीं सिद्ध हो सकता है ॥ ७ ॥

विशेषितत्वाच्च ॥ ८ ॥

'ब्रह्मलोकान्गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति' (बृ० ६।२।१५) इति च श्रुत्यन्तरे विशेषितत्वात्कार्यब्रह्मविषयैव गतिरिति गम्यते। नहि बहुवचनेन विशेषणं परस्मिन्ब्रह्मण्यवकल्पते। कार्ये त्ववस्थाभेदोपपत्तेः संभवति बहुवचनम्। लोकश्रुतिरपि विकारगोचरायामेव संनिवेशविशिष्टायां भोगभूमावाञ्जसी, गौणी त्वन्यत्र 'ब्रह्मैव लोक एष सम्राट्' इत्यादिषु। अधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशोऽपि परस्मिन्ब्रह्मणि नाञ्जसः स्यात्। तस्मात्कार्यविषयमेवेदं नयनम् ॥ ८ ॥

ननु कार्यविषयेऽपि ब्रह्मशब्दो नोपपद्यते समन्वये हि समस्तस्य जगतो जन्मादिकारणं ब्रह्मेति प्रतिष्ठापितमिति, अत्रोच्यते—

(अमानव पुरुष उपासकों को ब्रह्मलोकों की प्राप्ति कराता है, और वे उपासक उन लोकों में हिरण्यगर्भ के उत्तम सम्वत्सरों तक वास करते हैं) इस प्रकार अन्य श्रुति में विशेषितत्व (बहुवचनरूप विशेषणयुक्तत्व) से कार्यब्रह्मविषयक ही गति होती है ऐसा समझा जाता है जिससे परब्रह्म में बहुवचन द्वारा विशेषण (भेद) नहीं सिद्ध हो सकता है। कार्य ब्रह्म में तो अवस्था भेद की सिद्धि से बहुवचन का सम्भव होता है। गति में प्राप्य ब्रह्मविषयक लोक श्रुति भी विकाराश्रय सन्निवेश (आकार) विशेषयुक्त भोग स्थान में ही मुख्य हो सकती है। अन्यत्र (हे सम्राट् ब्रह्म ही यह लोक है) इत्यादि वाक्यों में परब्रह्मविषयक लोक श्रुति भाग्यत्व के उपचार से गौणी है। अधिकरण अधिकर्तव्य (आधाराधेयत्व) निर्देश भी परब्रह्म में मुख्य नहीं होगा। जिससे कार्यविषयक ही यह उपासक का प्रापण है ॥ ८ ॥

शंका होती है कि कार्यब्रह्मरूप विषय (अर्थ) में भी ब्रह्मशब्द नहीं उपपन्न होता है, जिससे समन्वयाध्याय में समस्त जगत के जन्मादि का कारण ब्रह्म है, यह प्रतिज्ञा-प्रतिष्ठापित (प्रतिपादित निश्चित) किया गया है। यहाँ उत्तर कहा जाता है कि—

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ ९ ॥

तुशब्द आशङ्काव्यावृत्त्यर्थः परब्रह्मसामीप्यादपरस्य ब्रह्मणस्तस्मिन्नपि ब्रह्मशब्दप्रयोगो न विरुध्यते। परमेव हि ब्रह्म विशुद्धोपाधिसंबन्धात् क्वचित्कैश्चिद्विकारधर्मैर्मनोमयत्वादिभिरुपासनायोपदिश्यमानमपरमिति स्थितिः ॥ ९ ॥

ननु कार्यप्राप्तावनावृत्तिश्रवणं न घटते। नहि परस्माद् ब्रह्मणोऽन्यत्र क्वचिन्नित्यता संभवन्ति। दर्शयति च देवयानेन पथा प्रस्थितानामनावृत्तिम् 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४।१५।६) इति, 'तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ति' 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६—क० ६।१६,) इति चेत्। अत्र ब्रूमः—

तुशब्द शंका की व्यावृत्ति के लिए है कि अपरब्रह्म को परब्रह्म के साथ समीपतारूप सम्बन्ध से उस अपर ब्रह्म में ब्रह्म शब्द का प्रयोग विरुद्ध नहीं होता है, जिससे परब्रह्म ही सात्त्विक विशुद्ध उपाधियों के सम्बन्ध में कहीं किन्हीं विकारों के धर्म मनोमयत्वादि द्वारा उपासना के लिए उपदिश्यमान (उपदेश का विषय) होता हुआ अपर-ब्रह्म कहा जाता है, ऐसी स्थिति है ॥ ९ ॥

यहाँ शंका होती है कि देवयान से कार्यब्रह्म की प्राप्ति होने पर अपुनरावृत्ति (निर्मुक्ति) का श्रवण संघटित नहीं होता है। जिससे परब्रह्म से अन्यत्र कहीं नित्यता का सम्भव नहीं है। देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक में प्रस्थितों (प्राप्तों) की अनावृत्ति को

श्रुति दर्शाती है कि (इस देवमार्ग से ब्रह्मलोक में प्राप्त प्राणी इस मानव आवर्त (मनुष्य लोक-सम्बन्धी जन्ममरण के काल-चक्र) में नहीं आते हैं। उनको फिर यहाँ आवृत्ति संसृति नहीं होती है। उस सुषुम्ना नाडी द्वारा ऊपर जाता हुवा अमृतत्व को प्राप्त करता है। यदि इस प्रकार कोई शंका करते हैं, तो यहाँ कहते हैं कि—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ १० ॥

कार्यब्रह्मलोकप्रलयप्रत्युपस्थाने सति तत्रैवोत्पन्नसम्यग्दर्शनाः सन्तस्तदध्यक्षेण हिरण्यगर्भेण सहातः परं परिशुद्धं विष्णोः परं पदं प्रतिपद्यन्त इति। इत्थं क्रममुक्तिरनावृत्त्यादिश्रुत्यभिधानेभ्योऽभ्युपगन्तव्या। नह्यञ्जसैव गतिपूर्विका परप्राप्तिः संभवतीत्युपपादितम् ॥ १० ॥

कार्यब्रह्म के लोक के प्रलय की प्रत्युपस्थिति (प्राप्ति) होने पर उसलोक में ही उपासनादि के बल से उत्पन्न सम्यग् दर्शन वाले होते हुए उसलोक के अध्यक्ष हिरण्यगर्भ के साथ इस कार्यब्रह्म से पर परिशुद्ध विष्णु के पर पद (स्वरूप) को अनुभूत प्राप्त करते हैं। इस प्रकार की क्रममुक्ति, अनावृत्ति आदि रूप श्रुति-वचनों से अभ्युपगन्तव्य (स्वीकारार्ह) है। क्योंकि मुख्य रूप से हो साक्षात् ही गतिपूर्वक परब्रह्म की प्राप्ति का सम्भव नहीं है, यह उपपादन (सिद्ध) किया गया है ॥ १० ॥

स्मृतेश्च ॥ ११ ॥

स्मृतिरप्येतमर्थमनुजानाति—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥ इति ॥

तस्मात्कार्यब्रह्मविषया गतिः श्रूयते इति सिद्धान्तः ॥ ११ ॥

कं पुनः पूर्वपक्षमाशङ्क्यायं सिद्धान्तः प्रतिष्ठापितः 'कार्यं बादरिः' (ब्र० सू० ४।३।७) इत्यादिनेति, स इदानीं सूत्रैरेवोपदर्श्यते—

स्मृति भी इस उक्त अर्थ में अनुमति देती है। इस अर्थ को स्वीकार करती है कि (प्रतिसंचर-महाप्रलय के संप्राप्त होने पर पर-हिरण्यगर्भ के अन्त संप्राप्त होने पर वे सब कृतात्मा शुद्धबुद्धिवाले ब्रह्मलोक-निवासी ब्रह्मा के साथ पर पद में प्रवेश करते हैं) जिससे कार्यब्रह्मविषयक गति सुनी जाती है, यह सिद्धान्त है ॥ ११ ॥

यहाँ जिज्ञासा होती है कि, किस पूर्वपक्ष की आशंका करके (कार्यं बादरिः) इत्यादि सूत्रों से सिद्धान्त प्रतिष्ठापित (निरूपित) किया गया है। इससे अब इस समय सूत्रों द्वारा ही वह पूर्वपक्ष उपदर्शित कराया जाता है (दिखलाया जाता है) कि—

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १२ ॥

जैमिनिस्त्वाचार्यः 'स एतान्ब्रह्म गमयति' (छा० ४।१५।६) इत्यत्र परमेव ब्रह्म प्रापयतीति मन्यते। कुतः? मुख्यत्वात्। परं हि ब्रह्म ब्रह्मशब्दस्य मुख्यमालम्बनं गौणमपरं, मुख्यगौणयोश्च मुख्ये संप्रत्ययो भवति ॥ १२ ॥

जैमिनि आचार्य तो (वह अमानव पुरुष इन उपासकों को ब्रह्म की प्राप्ति कराता है) इस श्रुति में परब्रह्म को ही प्राप्त कराता है, ऐसा मानते हैं। किस हेतु से ऐसा मानते हैं जिससे परब्रह्म ब्रह्मशब्द का मुख्य आलम्बन (वाच्यार्थ विषय) है अपर ब्रह्म गौण आलम्बन (अर्थ) है। मुख्य-गौण दोनों की प्राप्ति-प्रसंग रहते मुख्यविषयक सम्प्रत्यय (प्रतीति) होता है ॥ १२ ॥

दर्शनाच्च ॥ १३ ॥

'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६, क० ६।१६) इति च गतिपूर्वकममृतत्वं दर्शयति। अमृतत्वं च परस्मिन्ब्रह्मण्युपपद्यते न कार्ये, विनाशित्वात्कार्यस्य 'अथ यत्रान्यत्पश्यति तदल्पं तन्मर्त्यम्' (छा० ७।२४।१) इति वचनात्। परविषयैव चैषा गतिः कठवल्लीषु पठ्यते नहि तत्र विद्यान्तरप्रक्रमोऽस्ति 'अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्' (क० २।१४) इति परस्यैव ब्रह्मणः प्रक्रान्तत्वात् ॥ १३ ॥

(उस मूर्धगामिनी सुषुम्ना नाडी द्वारा ऊर्ध्व गमन करता हुआ अमृतत्व को प्राप्त करता है) यह श्रुति गतिपूर्वक अमृतत्व दर्शाती है। परब्रह्म में प्राप्त होने पर अमृतत्व उपपन्न होता है, कार्य के विनाशित्व से कार्य में प्राप्ति से अमृतत्व नहीं होता है। (जिस अविद्या अवस्था में अन्य से अन्य को देखता है, वह दृश्य वस्तु स्वप्न दृश्य के समान अल्प है अतएव वह मर्त्य-विनश्वर है) इस वचन से कार्य का विनाशित्व सिद्ध होता है। कठवल्लियों में भी यह परब्रह्मविषयक ही गति पढ़ी जाती है, क्योंकि (धर्म-धर्म फलादि से जो अन्य है, तथा अधर्मादि से अन्य है) इस प्रकार परब्रह्म ही के प्रक्रान्तत्व (निरूपण के लिए आरब्धत्व) होने से उन कठवल्लियों में विद्यान्तर का प्रक्रम (प्रकरण-आरम्भ) नहीं है ॥ १३ ॥

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसंधिः ॥ १४ ॥

अपि च 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' (छा० ८।१४।१) इति, नायं कार्यविषयः प्रतिपत्त्यभिसंधिः 'नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म' (छा० ८।१४।१) इति कार्यविलक्षणस्य परस्यैव ब्रह्मणः प्रकृतत्वात्, 'यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानाम्' (छा० ८।१४।१) इति च सर्वात्मत्वेनोपक्रमात्। 'न तस्य प्रतिमाऽस्ति, यस्य नाम महद्यशः' (श्वेता० ४।१९) इति च परस्यैव ब्रह्मणो यशोनामत्वप्रसिद्धेः। सा चेयं वेश्मप्रतिपत्तिर्गतिपूर्विका हार्दविद्यायामुदिता 'तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयम्' (छा० ८।५।३) इत्यत्र। पदेरपि च गत्यर्थत्वान्मार्गापेक्षाऽवसीयते। तस्मात्परब्रह्मविषया गतिश्रुतय इति पक्षान्तरम्।

और भी वक्तव्य है कि (प्रजापति के सभारूप घर को मैं प्राप्त करता हूँ) यह भी ब्रह्मविषयक प्रतिपत्ति (प्राप्ति) की अभिसंधि (संकल्प ध्यान) उपासक को मरण-

..लिक चिन्ता (विचार) नहीं है। क्योंकि (आकाश-आत्मा ही बीजस्वरूप नाम और रूप का निर्वहिता धारण कर्ता व्याकर्ता है और नाम रूप जिसके अन्दर में है, नाम रूप के अन्दर मे जो असंग रूप से है वह ब्रह्म है) इस प्रकार से परब्रह्म ही प्रकृत है। अर्थात् परब्रह्म का प्रकरण है। जो कार्य ब्रह्म से विलक्षण है, इससे वह उपासक का संकल्प श्रुति कार्यब्रह्म विषयक नहीं है। (और मैं ब्राह्मणों का यश–आत्मा होऊं) इस प्रकार सर्वात्मत्व रूप से उपक्रम होने से भी यह परब्रह्म के प्राप्तिविषयक ही उपासक का संकल्प वर्णित है। (उस परब्रह्म ईश्वर की प्रतिमा-उपमा नहीं है कि जिसका महत्-अपरिच्छिन्न विभु यश नाम है) इस श्रुति से परब्रह्म के ही यशोनामवत्त्व की प्रसिद्धि से यशनाम से सर्वात्म रूप से परब्रह्म का उपक्रम सिद्ध होता है। यदि कहा जाय कि प्रकरणादि से वह संकल्प परब्रह्मविषयक हो, तो भी वह वेश्म (घर) की प्राप्ति ..गतिपूर्वक कैसे होगी, परब्रह्म के सभागृह तो सब के हृदय है, तो कहा जाता है, कि इस वेश्म की गतिपूर्वक प्राप्ति हार्दविद्या मे कही गई है (उस ब्रह्मलोक में विद्या ब्रह्मचर्यादिहीनों से अपराजित-अप्राप्य ब्रह्म का पुर है, जो प्रभु से ही विशेपरूप से निर्मित है और सुवर्णमय सुवर्ण रचित है) यहाँ वह गतिपूर्वक प्राप्ति कही गई है। (वेश्म प्रपद्ये) इस श्रुतिगत पदधातु के भी गत्यर्थक होने से मार्ग की अपेक्षा निश्चित होती है। जिससे परब्रह्मविषयक गतिश्रुतियाँ है, यह पक्षान्तर है।

तावेतौ द्वौ पक्षावाचार्येण सूत्रितौ गत्युपपत्त्यादिभिरेको मुख्यत्वादिभिरपरः। तत्र गत्युपपत्त्यादयः प्रभवन्ति मुख्यत्वादीनाभासयितुं नतु मुख्यत्वादयो गत्युपपत्त्यादीनित्याद्य एव सिद्धान्तो व्याख्यातः, द्वितीयस्तु पूर्वपक्षः। न ह्यसत्यपि संभवे मुख्यस्यैवार्थस्य ग्रहणमिति कश्चिदाज्ञापयिता विद्यते। परविद्याप्रकरणेऽपि च तत्स्तुत्यर्थं विद्यान्तराश्रयगत्यनुकीर्तनमुपपद्यते 'विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' (छा० ८।६।६) इतिवत्। 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' (छा० ८।१४।१) इति तु पूर्ववाक्यविच्छेदेन कार्येऽपि प्रतिपत्त्यभिसंधिर्न विरुध्यते। सगुणेऽपि च ब्रह्मणि सर्वात्मत्वसंकीर्तनं सर्वकर्मा सर्वकाम इत्यादिवदुपकल्पते। तस्मादपरविषया एव गतिश्रुतयः।

उक्त ये दो पक्ष आचार्य से सूत्रित (सूत्रों द्वारा कथित) हुए है, उनमें गति की उपपत्ति आदि रूप हेतुओं से एक पक्ष कहा गया है। मुख्यत्वादि हेतुओं से दूसरा पक्ष कहा गया है, जिनमें गति की उपपत्ति आदि रूप जो हेतु हैं वे मुख्यत्वादि रूप हेतुओं को आभास (मिथ्या-असत्) स्वरूप सिद्ध करने के लिए समर्थ है। मुख्यत्वादि हेतु, गति की उपपत्ति आदि को आभास करने के लिए समर्थ नहीं है। इससे आद्यपक्ष ही सिद्धान्तरूप व्याख्यात (कथित) हुआ, है, सिद्धान्तरूप से आद्यपक्ष का व्याख्यान किया गया है। दूसरा पक्ष पूर्वपक्ष व्याख्यात हुआ है। जिससे असम्भव के होते भी (सम्भव के नहीं रहते भी) मुख्य ही अर्थ का ग्रहण होना चाहिए, इस प्रकार आज्ञा देने वाला कोई नहीं है। अर्थात् गन्तव्यता, बहुवचन भोगादि का परब्रह्म में असम्भव

है, इसमे मुख्य अर्थ का त्याग ही उचित है (अन्य नाडियाँ उत्क्रमण में नाना संसारगति के लिए होती हैं) इसके समान परविद्या के प्रकरण में भी उस परविद्या की स्तुति के लिए विद्यान्तर (अपरविद्या) रूप आश्रय वाली गति का अनुकीर्तन उपपन्न होता है। और (प्रजापति की सभा रूप गृह में जाता हूँ) यह तो पूर्ववाक्य से विच्छेद (भेदन) द्वारा कार्यब्रह्म में प्राप्तिविषयक ध्यान विरुद्ध नहीं होता है। सगुण ब्रह्म में भी यश आदि रूप से सर्वात्मत्व का संकीर्तन (सब कर्म वाला है सब काम वाला है) इत्यादि के समान सिद्ध हो सकता है जिससे गति श्रुतियाँ अपरब्रह्मविषयक ही है।

केचित्पुनः पूर्वाणि पूर्वपक्षसूत्राणि भवन्त्युत्तराणि सिद्धान्तसूत्राणीत्येतां व्यवस्थामनुरुध्यमाना परविषया एव गतिश्रुती प्रतिष्ठापयन्ति। तदनुपपन्नम्—गन्तव्यत्वानुपपत्तेर्ब्रह्मण 'यत्सर्वगतं सर्वान्तरं सर्वात्मकं च परं ब्रह्म' 'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्य' 'य साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म' (बृ० ३।४।१) 'य आत्मा सर्वान्तर' (बृ० ३।४।१) 'आत्मैवेद सर्वम्' (छा० ७।२५।२) 'ब्रह्मैवेद विश्व वरिष्ठम्' (मु० २।२।११) इत्यादिश्रुतिनिर्धारितविशेष, तस्य गन्तव्यता न कदाचिदप्युपपद्यते। नहि गतमेव गम्येत, अन्यो ह्यन्यद्गच्छतीति प्रसिद्ध लोके। ननु लोके गतस्यापि गन्तव्यता देशान्तरविशिष्टस्य दृष्टा, यथा पृथिवीस्थ एव पृथिवीं देशान्तरद्वारेण गच्छतीति, तथानन्यत्वेऽपि बालस्य कालान्तरविशिष्ट वार्धकं स्वात्मभूतमेव गन्तव्य दृष्ट, तद्वद्ब्रह्मणोऽपि सर्वशक्त्युपेतत्वात्कथचिद्गन्तव्यता स्यादिति। न। प्रतिषिद्धसर्वविशेषत्वाद् ब्रह्मण। 'निष्कल निष्क्रिय शान्त निरवद्य निरञ्जनम्' (श्वेता० ६।१९) 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्' (बृ० ३।८।८) 'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यज' (बृ० २।१।२) 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५) 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६) इत्यादिश्रुतिस्मृतिन्यायेभ्यो न देशकालादिविशेषयोग परमात्मनि कल्पयितुं शक्यते।

पूर्व के सूत्र पूर्वपक्षसूत्ररूप है उत्तर के अगले सूत्र सिद्धान्तसूत्ररूप है। ऐसी व्यवस्था को अनुरोध (स्वीकार) करने वाले कोई गति श्रुतियाँ परब्रह्म विषयक ही हैं ऐसा प्रतिष्ठापन (प्रतिपादन) करते हैं। वह अनुपपन्न (अयुक्त) है। जिससे परब्रह्म की गन्तव्यत्व (गति से प्राप्ति योग्यत्व) की अनुपपत्ति है (जो परब्रह्म सर्वगत, सर्वान्तर और सर्वात्मक है। आकाश के समान सर्वगत होता हुआ नित्य है। जो साक्षात्—व्यवधान रहित अपरोक्ष ब्रह्म है। आत्मा है सर्वान्तर है। जो आत्मा ही इस सब जगत् स्वरूप है। ब्रह्म ही इस समस्त जगत् स्वरूप है, और अत्यन्त वर है), इत्यादि श्रुतियों से निर्धारित सर्वगतत्वादि विशेष वाला परब्रह्म है जिसकी गन्तव्यता (गतिप्राप्यता) कभी नहीं उपपन्न हो सकती है। जिससे गत (प्राप्त) ही नहीं प्राप्त किया जाता है, लोक में प्रसिद्ध है कि अन्य ही किसी अन्य को प्राप्त करता है। शंका होती है कि लोक में देशान्तर (स्थानान्तर) युक्त प्राप्त की भी गन्तव्यता (प्राप्यता)

देखी जाती है, जैसे पृथिवी पर प्राप्त स्थित ही पुरुष देशान्तर द्वारा पृथिवी को प्राप्त करता है। इसी प्रकार बालक के अनन्य (अभिन्न) होते भी कालान्तर से युक्त वृद्धता को बालक के स्वात्मस्वरूप को ही गन्तव्य देखा गया है, बालक वृद्धता को प्राप्त करता है, यहाँ प्राप्त में प्राप्यता देखा जाता है। वैसे ही ब्रह्म को भी सर्वशक्तियुक्त होने से किसी प्रकार से गन्तव्यता होगी। उत्तर है कि पृथिवी और बालक के विशेषयुक्त होने से उनमें भी वस्तुतः अप्राप्त ही स्थानविशेष और अवस्थाविशेष प्राप्त किए जाते हैं, बालक बाल्य को नहीं प्राप्त करता है। ब्रह्म निषिद्ध सर्व विशेष वाला है। अर्थात् सब विशेष से रहित है। इससे ब्रह्म में पृथिवी आदि के समान गन्तव्यता नहीं हो सकती है। (निष्कल-निरवयव, क्रियारहित, शान्त-सर्वाधार) निर्दोष, निर्लेप ब्रह्म है। स्थूलता अणुता ह्रस्वता दीर्घता से रहित ब्रह्म है। वह ब्रह्मात्मा पुरुष बाह्याभ्यन्तर के सहित वर्तमान होता हुआ अज है। वह महान् आत्मा अजर अमर अमृत ब्रह्म है। वह यह आत्मा इदं रूप से भासित दृष्ट श्रुतादि सबका निषेधात्मक है। (अनादिमत् परं ब्रह्म) इत्यादि स्मृति, तथा तदनन्यत्वादि न्याय से परमात्मा में देश-कालादि विशेष (भेद) का सम्बन्ध की कल्पना नहीं की जा सकती है।

येन भूप्रदेशवयोवस्थान्यायेनास्य गन्तव्यता स्यात्। भूवयसोस्तु प्रदेशावस्थादिविशेषयोगादुपपद्यते देशकालविशिष्टा गन्तव्यता। जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतुत्वश्रुतेरनेकशक्तित्वं ब्रह्मण इति चेत्। न। विशेषनिराकरणश्रुतीनामनन्यार्थत्वात्। उत्पत्त्यादिश्रुतीनामपि समानमनन्यार्थत्वमिति चेत्। न। तासामेकत्वप्रतिपादनपरत्वात्। मृदादिदृष्टान्तैर्हि सतो ब्रह्मण एकस्य सत्यत्वं विकारस्य चानृतत्वं प्रतिपादयच्छास्त्रं नोत्पत्त्यादिपरं भवितुमर्हति। कस्मात्पुनरुत्पत्त्यादिश्रुतीनां विशेषत्वं न पुनरितरशेषत्वमितरासामिति। उच्यते—विशेषनिराकरणश्रुतीनां निराकांक्षार्थत्वात्। नह्यात्मन एकत्वनित्यत्वशुद्धत्वाद्यवगतौ सत्यां भूयः काचिदाकाङ्क्षोपजायते पुरुषार्थसमाप्तिबुद्ध्युपपत्तेः 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईशा० ७) 'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृ० ४।२।४) 'विद्वान्न बिभेति कुतश्चन। एतं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम्' (तैत्ति० २।९।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः। तथैव च विदुषां तुष्ट्यनुभवादिदर्शनात्। विकारानृताभिसंध्यपवादाच्च 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' इति। अतो न विशेषनिराकरणश्रुतीनामन्यशेषत्वमवगन्तुं शक्यते। नैवमुत्पत्त्यादिश्रुतीनां निराकाङ्क्षार्थत्वप्रतिपादनसामर्थ्यमस्ति। प्रत्यक्षं तु तासामन्यार्थत्वं समनुगम्यते। तथाहि 'तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितं सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यति' (छा० ६।८।३) इत्युपन्यस्योदर्के सत एवैकस्य जगन्मूलस्य विज्ञेयत्वं दर्शयति। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्व,

नित्य प्राप्त होने से फिर ब्रह्म प्राप्ति के लिये गमन नहीं उपपन्न हो सकता है। ब्रह्म के निरवयवत्व की प्रसिद्धि से ब्रह्म मे एकदेश और एकदेशित्व की कल्पना विरुद्ध है। विकारपक्ष में भी विकार से भी विकारी के नित्य प्राप्त होने से यह गमन की अनुपपत्ति रूप दोष तुल्य है। घट मृदात्मता (मृत्तिकारूपता) को त्याग कर स्थिर (वर्तमान) नहीं रह सकता है या मृदात्मता को त्यागने पर उसके अभाव की प्राप्ति से नहीं त्यागता है। विकार तथा अवयव पक्ष में विकार और अवयव रूप जीव वाले ब्रह्म के *स्थिर (अचल)* होने से जीव के संसार से गमन भी असिद्ध है, गमनागमन जीव के नहीं हो सकेंगे। जिससे अवयवी विकारी के चलन के बिना अवयव विकार का चलन नहीं हो सकता है। यदि जीव ब्रह्म से अलग ही है, तो भी वह अणु (परमाणु स्वरूप) या व्यापक अथवा मध्यम परिमाण वाला हो सकता है। वहाँ व्यापक होने पर गमनादि की अनुपपत्ति रूप दोष है। मध्यम परिमाण वाला होने पर सावयवता से अनित्यत्व का प्रसङ्ग होता है अनित्यता की प्राप्ति होती है। अणुत्व पक्ष में सम्पूर्ण शरीर में सुख-दुःखादि की वेदना (अनुभव) की अनुपपत्ति होती है। अणुत्व तथा मध्यम परिमाणत्व प्रथम विस्तार से प्रतिषिद्ध हो चुके हैं। विस्तारपूर्वक इनका निषेध किया जा चुका है। परमात्मा से जीव की अन्यता (भेद) होने पर (तत्त्वमसि) इत्यादि शास्त्र का भी बाध प्राप्त होगा। विकार तथा अवयवपक्ष में भी यह शास्त्र का बाधरूप दोष भेद पक्ष के समान है। यदि कहा जाय कि विकार और अवयव को विकार और अवयव वाले से अनन्यता (अभेद) होने से शास्त्र का बाधरूप दोष नहीं है, तो कहा जाता है कि विकार और अवयव को विकारी अवयवी के साथ मुख्य एकत्व (अभेद) की अनुपपत्ति से मुख्य एकत्व के बोधक शास्त्र का अबाध नहीं है। इन सभी पक्षों मे जीव की संसारी रूपता की अनिवृत्ति से अनिर्मोक्ष (मोक्षाभाव) की प्राप्ति होती है। अथवा संसारी-रूपता की निवृत्ति होने पर जीव के स्वरूप के नाश का प्रसङ्ग होगा। स्वरूप नाश की प्राप्ति होगी। क्योंकि ब्रह्मात्मत्व के अस्वीकार से और संसारिता के स्वीकार से संसारिता के नाश होने पर जीव के स्वरूप का ही नाश होगा जैसे औष्ण्य प्रकाश के नाश से अग्नि का नाश होता है।

यत्तु कैश्चिज्जल्प्यते—नित्यानि नैमित्तिकानि कर्माण्यनुष्ठीयन्ते प्रत्यवायानुत्पत्तये, *काम्यानि प्रतिषिद्धानि च परिह्रियन्ते स्वर्गनरकानवाप्तये, साम्प्रतदेहो-*पभोग्यानि च कर्माण्युपभोगेनैव क्षप्यन्त इत्यतो वर्तमानदेहपातादूर्ध्वं देहान्तर प्रतिसन्धानकारणाभावात्स्वरूपावस्थानलक्षणं कैवल्यं विनापि ब्रह्मात्मतयैवं वृत्तस्य सेत्स्यति—इति। तदसत्, प्रमाणाभावात्। नह्येतच्छास्त्रेण केनचित्प्रतिपादितं मोक्षार्थीत्थं समाचरेदिति। स्वमनीषया त्वेतत्तर्कितं यस्मात्कर्मनिमित्तः संसारस्तस्मान्निमित्ताभावान्न भविष्यतीति। नचैतत्तर्कयितुमपि शक्यते निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वात्। बहूनि हि कर्माणि जात्यन्तरसञ्चितानीष्टानिष्टविपा-

कान्येकैकस्य जन्तोः सम्भाव्यन्ते। तेषां विरुद्धफलानां युगपदुपभोगासम्भवात्कानिचिल्लब्धावसराणीदं जन्म निर्मिमते कानिचित्तु देशकालनिमित्तप्रतीक्षाण्यासत इत्यतस्तेषामवशिष्टानां साम्प्रतेनोपभोगेन क्षपणासम्भवान्न यथावर्णितचरितस्यापि वर्तमानदेहपाते देहान्तरनिमित्ताभावः शक्यते निश्चेतुम्। कर्मशेषसद्भावसिद्धिश्च 'तद्य इह रमणीयचरणास्ततः शेषेण' इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। स्यादेतत्। नित्यनैमित्तिकानि तेषां क्षेपकाणि भविष्यन्तीति। तन्न। विरोधाभावात्। सति हि विरोधे क्षेप्यक्षेपकभावो भवति, नच जन्मान्तरसञ्चितानां सुकृतानां नित्यनैमित्तिकैरस्ति विरोधः, शुद्धिरूपत्वाविशेषात्। दुरितानां त्वशुद्धिरूपत्वात् सति विरोधे भवतु क्षपणं नतु तावता देहान्तरनिमित्ताभावसिद्धिः। सुकृतनिमित्तत्वोपपत्तेः। दुरितस्याप्यशेषक्षपणानवगमात्। नच नित्यनैमित्तिकानुष्ठानात्प्रत्यवायानुत्पत्तिमात्रं न पुनः फलान्तरोत्पत्तिरिति प्रमाणमस्ति फलान्तरस्याप्यनुनिष्पादिनः सम्भवात्।

जो कितने लोगों से कहा जाता है कि नित्य और नैमित्तिक कर्म अकरणजन्य प्रत्यवाय की अनुत्पत्ति के लिये किये जाते है, और काम्य तथा प्रतिषिद्ध (निषिद्ध) कर्म, स्वर्ग और नरक की अप्राप्ति के लिये, परिहृत होते त्यागे जाते हैं। वर्तमान काल मे प्राप्त देह से उपभोग के योग्य कर्म उपभोग से ही क्षीण नष्ट किये जाते है। इससे वर्तमान देह के पात के बाद देहान्तर की प्राप्ति सम्बन्ध के कारण के अभाव से स्वरूप में अवस्थिति स्वरूप कैवल्य (मोक्ष) ब्रह्मात्मता के विना भी ऐसे वृत्त (चरित्र) वाले को सिद्धप्राप्त होगा। वह कथन प्रमाण के अभाव से असत है। जिससे किसी शास्त्र से यह नहीं प्रतिपादित है कि मोक्षार्थी इस प्रकार नित्यादि कर्मों का आचरण करे। किन्तु अपनी मनीषा (बुद्धि) से यह कल्पित (सिद्ध) हुआ है कि जिससे कर्मनिमित्तक जन्मादि रूप संसार है, जिससे कर्मरूप निमित्त के अभाव से संसार नहीं होगा इत्यादि। परन्तु निमित्ताभाव के दुर्विज्ञान (दुर्ज्ञेय) होने से यह तर्क से भी नहीं समझा जा सकताहै, ऐसा तर्क भी नहीं किया जा सकता है, जिससे जन्मान्तर में संचित इष्ट और अनिष्ट फलवाले बहुत कर्म एक-एक प्राणी के सम्भावित (निश्चित) हैं। उन विरुद्ध फलवाले कर्मों का एक काल में साथ भोग के असम्भव से, उनमें से कोई प्राप्त अवसर वाले कर्म इस वर्तमान जन्म का निर्माण (सृष्टि रचना) करते हैं। कितने कर्म तो देश, काल और निमित्त की प्रतीक्षा करते हुए स्थिर निर्व्यापार वर्तमान रहते है। इससे उन अवशिष्ट संचितों का वर्तमान उपभोग से नाश के असम्भव से, यथोक्त चरित्र वाले भी वर्तमान-देह के पात होने पर देहान्तर के निमित्त के अभाव का निश्चिय नहीं किया जा सकता है। (जिससे जो यहाँ रमणीय आचरण वाले है, वे रमणीय योनि पाते हैं। उसके बाद शेष कर्म से जन्मान्तर पाते हैं) इत्यादि श्रुति-स्मृतियों से कर्मशेष के सद्भाव (अस्तित्व) की सिद्धि होती है। शंका होती है कि कर्मशेष का अस्तित्व रहो, परन्तु नित्य नैमित्तिक

कर्म उन कर्मों का निवारक विनाशक होंगे तो कहा जाता है कि विरोध के अभाव से नित्यादि कर्म संचित पुण्य कर्मों के नाशक नहीं हो सकते हैं, जिससे विरोध रहने पर क्षेप्य क्षेपक-नाश्य नाशकभाव होता है और जन्मान्तर में संचित पुण्यों को शुद्धिरूपत्व के अविशेष-तुल्य होने से नित्य नैमित्तिकों के साथ विरोध नहीं है, पापों के अशुद्धिरूप व से नित्यादि के साथ विरोध होने पर उन पापों का नित्यादि कर्मों से नाश हो, परन्तु इससे देहान्तर के निमित्त के अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है क्योंकि पुण्य का देह के निमित्तत्व की उपपत्ति (सिद्धि) होती है। दुरचरित (पाप) के भी निःशेषरूप से नित्यादि द्वारा नाश में प्रमाण के अभाव में उसके नाश के अवगम (ज्ञान) नहीं होने से संचित पाप का भी वर्तमानता से जन्म के निमित्त का अभाव नहीं है। नित्यादि जो वर्तमान कर्म किये जाते हैं उनसे प्रत्यवाय की अनुत्पत्तिमात्र ही फल होता है। फिर फलान्तर की उत्पत्ति उनसे नहीं होती। इस अर्थ में कोई प्रमाण नहीं है। इनसे (कर्मणा पितृलोकः) कर्म से पितृलोक प्राप्त होता है, इत्यादि शास्त्र के अनुसार पश्चात् उत्पन्न होने वाले अन्य फल के भी सम्भव होने से, नित्यादि से भी फलान्तर की उत्पत्ति होती है।

स्मरति ह्यापस्तम्बः—'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्धावनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते' इति। नचासति सम्यग्दर्शने सर्वात्मना काम्यप्रतिषिद्धवर्जनं जन्मप्रायणान्तराले केनचित्प्रतिज्ञातुं शक्यम्, सुनिपुणानामपि सूक्ष्मापराधदर्शनात्। संशयितव्यं तु भवति तथापि निमित्ताभावस्य दुर्ज्ञानत्वमेव। नचानभ्युपगम्यमाने ज्ञानगम्ये ब्रह्मात्मत्वे कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावस्यात्मनः कैवल्यमाकाङ्क्षितुं शक्यम्, अग्न्यौष्ण्यवत्स्वभावस्यापरिहार्यत्वात्। स्यादेतत् कर्तृत्वभोक्तृत्वकार्यमनर्थो न तच्छक्तिस्तेन शक्त्यवस्थानेऽपि कार्यपरिहारादुपपन्नो मोक्ष इति। तच्च न, शक्तिसद्भावे कार्यप्रसवस्य दुर्निवारत्वात्। अथापि स्यान्न केवला शक्तिः कार्यमारभतेऽनपेक्ष्यान्यानि निमित्तानि, अत एकाकिनी सा स्थितापि नापराध्यतीति। तच्च न। निमित्तानामपि शक्तिलक्षणेन सम्बन्धेन नित्यसम्बद्धत्वात्। तस्मात्कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वभावे सत्यात्मन्यसत्यां विद्यागत्यायां ब्रह्मात्मतायां न कथंचन मोक्षं प्रत्याशास्ति। श्रुतिश्च—'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (श्वेता० ३।८) इति ज्ञानादन्यं मोक्षमार्गं वारयति।

आपस्तम्ब कहते हैं कि (आम में जैसे फल के लिए आम्रवृक्ष के निमित्त आरोपित होने पर पीछे छाया और गन्ध भी उत्पन्न सिद्ध होते ही हैं इसी प्रकार आचरित धर्म के पीछे छाया अर्थ उत्पन्न होते हैं) और सम्यक् दर्शन के नहीं रहते जन्म और मरण के मध्यकाल में सर्वथा काम्य और निषिद्ध के त्याग की प्रतिज्ञा किसी से की नहीं जा सकती है, क्योंकि अत्यन्त निपुणों से भी सूक्ष्म अपराध देखे जाते हैं। यद्यपि अपराधाभाव काम्यनिषिद्ध की सत्ता के अभाव संशयितव्य (संशय योग्य) तो होता है। तथापि जन्म के निमित्ता-

भाव को दुर्ज्ञानत्व (दुर्ज्ञेयत्व) ही है। अग्नि की उष्णता के समान स्वभाव के अपरिहार्य (त्यागानर्ह) होने से ज्ञान से गम्य (प्राप्य) ब्रह्मात्मत्व के नहीं स्वीकार करने पर कर्तृत्व भोक्तृत्व स्वभाव वाले आत्मा के कैवल्य की आकांक्षा नहीं की जा सकती है। शंका होती कि जीवात्मा का स्वभाव रहे, परन्तु कर्तृत्व भोक्तृत्व उसका स्वभाव नहीं है किन्तु कर्तृत्व भोक्तृत्व तो स्वभाव का कार्य है और वह कार्य ही अनर्थ संसार रूप है। कर्तृभोक्तृत्व की शक्ति है, वह स्वभावरूप है, वह अनर्थरूप नहीं है। जिससे शक्तिरूप स्वभाव के स्थिर रहते भी कार्यमात्र के परिहार से मोक्ष उपपन्न होता है। यहाँ कहा जाता है कि वह शक्ति का अस्तित्व युक्त नहीं है। शक्ति के सद्भाव रहते कार्य की उत्पत्ति की दुर्निवारता से उसमें अयुक्तता है, मोक्ष नहीं हो सकता है। यदि ऐसी भी आशंका हो कि अन्य निमित्त की अपेक्षा किये बिना निमित्त की सहायता से रहित केवल शक्ति कार्य का आरम्भ नहीं करती है। इससे अकेली स्थित भी वह शक्ति अनर्थ संसार रूप अपराध नही करती है। तो कहा जाता है कि वह कथन भी युक्त नहीं है, शक्ति कार्यगम्य होती है, कार्य के बिना शक्ति की सत्ता में प्रमाण का अभाव है, इससे शक्ति के रहने पर शक्ति रूप सम्बन्ध द्वारा निमित्तो के भी नित्य सम्बद्ध (सम्बन्ध वाले) होने से कार्य अवश्य होगा, मोक्ष नही हो सकता है। इससे आत्मा के कर्तृत्व भोक्तृत्व स्वभाव वाले होने पर और विद्या से गम्य (प्राप्य) ब्रह्मस्वरूपता के नहीं रहने पर मोक्ष के प्रति आशा किसी प्रकार नहीं है। श्रुति है कि (मोक्ष के लिये ज्ञान से अन्य मार्ग नहीं है। यह श्रुति ज्ञान से अन्य मोक्षमार्ग का वारण करती है।

परस्मादनन्यत्वेऽपि जीवस्य सर्वव्यवहारलोपप्रसङ्गः, प्रत्यक्षादिप्रमाणाप्रवृत्तेरिति चेत्। न। प्राक्प्रबोधात्स्वप्नव्यवहारवत्तदुपपत्तेः। शास्त्रं च 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' (बृ० २।४।१४;४।५।१५) इत्यादिनाऽप्रबुद्धविषये प्रत्यक्षादिव्यवहारमुक्त्वा पुनः प्रबुद्धविषये 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्' (बृ० २।४।१४;४।५।१५) इत्यादिना तदभावं दर्शयति। तदेवं परब्रह्मविदो गन्तव्यादिविज्ञानस्य बाधितत्वान्न कथंचन गतिरुपपादयितुं शक्या।

यदि कहा जाय की मोक्ष की उपपत्ति के लिये जीव को परमात्मा से अनन्यत्व (अभिन्नत्व) के मानने पर भी सब व्यवहार का लोप प्राप्त होगा) क्योंकि जीव के निर्गुण ब्रह्मस्वरूप होने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अप्रवृत्ति से कोई व्यवहार नहीं होगा। तो कहा जाता है कि ब्रह्मात्मता के बोध से पूर्वकाल में स्वप्नव्यवहार के समान प्रमाण की प्रवृत्ति की उपपत्ति से व्यवहार लोप का प्रसंग नहीं होता है। (जिस अविद्या काल में द्वैत के समान होता है। उस अवस्था में अन्य अन्य को सत्य देखता है) इत्यादि शास्त्र अज्ञ विषय में प्रत्यक्षादि व्यवहार को कहकर, फिर प्रबुद्ध विषय में (जिस ज्ञान-

काल में इस ज्ञानी का सब आत्मा ही हो गया उस अवस्था में किससे किसको देखेगा) इत्यादि वचनों से उस व्यवहार के अभाव को दर्शाता है। अत उक्त रीति से ब्रह्मवेत्ता के गन्तव्यादि विज्ञान के बाधितत्व से ब्रह्मवेत्ता की गति का उपपादन किसी प्रकार भी नही किया जा सकता है।

किंविषया पुनर्गतिश्रुतय इति। उच्यते—सगुणविद्याविषया भविष्यन्ति। तथाहि क्वचित्पञ्चाग्निविद्यां प्रकृत्य गतिरुच्यते क्वचित्पर्यङ्कविद्यां क्वचिद्वैश्वानरविद्याम्। यत्रापि ब्रह्म प्रकृत्य गतिरुच्यते यथा 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' (छा० ४।१०।५) इति 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म' (छा० ८।१।१) इति, तत्रापि च वामनीयत्वादिभि सत्यकामादिभिश्च गुणै सगुणस्यैवोपास्यत्वात्सम्भवति गति। न क्वचित्परब्रह्मविषया गति श्राव्यते। तथा गतिप्रतिषेध श्रावित 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति' (बृ० ४।४।६) इति। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' (तै० २।१।१) इत्यादिषु तु सत्यप्याप्नोतेर्गत्यर्थत्वे वर्णितेन न्यायेन देशान्तरप्राप्त्यसम्भवात्स्वरूपप्रतिपत्तिरेवेयमविद्याध्यारोपितनामरूपप्रविलयापेक्षयाऽभिधीयते। 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।७) इत्यादिवदिति द्रष्टव्यम्। अपि च परविषया गतिर्व्याख्यायमाना प्ररोचनाय वा स्यादनुचिन्तनाय वा। तत्र प्ररोचनं तावद् ब्रह्मविदो न गत्युक्त्या क्रियते, स्वसंवेद्येनैवाव्यवहितेन विद्यासमर्पितेन स्वास्थ्येन तत्सिद्धेः।

जिज्ञासा होती है कि फिर गतिबोधक श्रुतियाँ किस विषयक हैं, तो कहा जाता है कि सगुणविद्याविषयक वे श्रुतियाँ होंगी, जिससे इस प्रकार वे श्रुतियाँ है कि कहीं पञ्चाग्निविद्या को प्रस्तुत करके गति कही जाती है, और कहीं पर्यंकविद्या को, कहीं वैश्वानरविद्या को प्रस्तुत करके गति कही जाती है। जहाँ भी ब्रह्म को प्रस्तुत करके (ब्रह्म का प्रक्रम आरम्भ करके) गति कही जाती है, जैसे (प्राण ब्रह्म है, सुख ब्रह्म है, आकाशतुल्य ब्रह्म है) इति। (जो इस ब्रह्मपुर-देह मे अल्प पुण्डरीक रूप वेश्म है) इत्यादि। वहाँ भी वामनीत्वादि और सत्यकामत्वादि गुणो द्वारा सगुण ब्रह्म के उपास्यत्व होने से गति का सम्भव है, और जैसे (उस ब्रह्मवेत्ता के प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं) यह गति का प्रतिषेध सुनाया गया है, वैसे परब्रह्म विषयक गति कहीं नही सुनाई जाती है। (ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म को प्राप्त करता है) इत्यादि वाक्यों मे तो आप्नोति (आप्) धातु के गत्यर्थक होते भी वर्णित (न्याय) रीति से ज्ञानी को देशान्तर की प्राप्ति के असम्भव से स्वरूप की प्रतिपत्ति ही (ज्ञान ही) वह, अविद्या से अध्यारोपित नामरूप के प्रविलय की अपेक्षा से (ब्रह्म ही होता हुआ ब्रह्म को प्राप्त करता है) इत्यादि के समान कही जाती है। अर्थात् अविद्या नाशक अपरोक्षानुभव प्राप्ति शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार समझना चाहिए। दूसरी बात है कि परब्रह्मविषयक व्याख्यायमान (कही गई) गति या तो प्ररोचन के लिए होगी, अथवा

अनुचिन्तन के लिए होगी। यहाँ ब्रह्मवेत्ता का प्ररोचन (रुचि उत्पादन) तो गति के कथन से नहीं किया जाता है। क्योंकि स्वसंवेद्य (स्वयम् अनुभूत) अव्यवहित (प्रत्यक्ष) विद्या से समर्पित (प्रापित) स्वस्थता (शान्ति) से ही उस प्ररोचन की सिद्धि हो जाती है।

नच नित्यसिद्धनिःश्रेयसनिवेदनस्यासाध्यफलस्य विज्ञानस्य गत्यनुचिन्तने काचिदपेक्षोपपद्यते। तस्मादपरब्रह्मविषया गतिः। तत्र परापरब्रह्मविवेकानवधारणेनापरस्मिन्ब्रह्मणि प्रवर्तमाना गतिश्रुतयः परस्मिन्नध्यारोप्यन्ते। किं द्वे, ब्रह्मणी परमपरं चेति। बाढं द्वे, 'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः' (प्र० ५।२) इत्यादिदर्शनात्। किं पुनः परं ब्रह्म किमपरमिति। उच्यते। यत्राविद्याकृतनामरूपादिविशेषप्रतिषेधादस्थूलादिशब्दैर्ब्रह्मोपदिश्यते तत्परम्। तदेव यत्र नामरूपादिविशेषेण केनचिद्विशिष्टमुपासनायोपदिश्यते 'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः (छा० ३।१४।२) इत्यादिशब्दैस्तदपरम्। नन्वेवं सत्यद्वितीयश्रुतिरुपरुध्येत। न। अविद्याकृतनामरूपोपाधिकतया परिहृतत्वात्। तस्य चापरब्रह्मोपासनस्य तत्सन्निधौ श्रूयमाणम् 'स यदि पितृलोककामो भवति' (छा० ८।२।१) इत्यादिजगदैश्वर्यलक्षणं संसारगोचरमेव फलं भवति, अनिवर्तितत्वादविद्यायाः। तस्य च देशविशेषावबद्धत्वात्तत्प्राप्त्यर्थं गमनमविरुद्धम्। सर्वगत्वेऽपि चात्मन आकाशस्येव घटादिगमने बुद्ध्याद्युपाधिगमने गमनप्रसिद्धिरित्यवादिष्म 'तद्गुणसारत्वात्' (ब्र० सू० २।३।२९) इत्यत्र। तस्मात् 'कार्यं बादरिः' (ब्र० सू० ४।२।७) इत्येष एव स्थितः पक्षः। 'परं जैमिनिः' (ब्र० सू० ४।३।१२) इति तु पक्षान्तरप्रतिभानमात्रप्रदर्शनं प्रज्ञाविकासनायेति द्रष्टव्यम्॥ १४॥

नित्यसिद्ध निःश्रेयस का निवेदन (प्रकथन-अभिव्यक्ति) रूप असाध्य फलवाला विज्ञान की गति के अनुचिन्तन विषयक कोई अपेक्षा नहीं उपपन्न होती है, अर्थात् गति अनुचिन्तन से आत्मज्ञान मे कोई विशेषाधान नही किया जा सकता है। इससे अपर ब्रह्मविषयक गति होती है। यहाँ पर और अपर ब्रह्म का विवेकपूर्वक अनवधारण से अपर ब्रह्मविषयक वर्तमान गतिश्रुतियाँ परब्रह्म विषयक अध्यारोपित होती हैं (समझी जाती हैं)। जिज्ञासा होती है कि क्या पर और अपर ये दो ब्रह्म है ? उत्तर है कि हाँ दो हैं (हे सत्यकाम ! यह जो ओंकार है, वह परब्रह्म और अपर ब्रह्म है) इत्यादि देखने से निर्देश से दो ब्रह्म सिद्ध होते है। प्रश्न होता है कि तो परब्रह्म कैसा है, और अपरब्रह्म कैसा है ? उत्तर कहा जाता है कि जिसमें अविद्याकृत नाम रूपादि के प्रतिपेध (अभाव) से अस्थूल आदि शब्दो द्वारा जो ब्रह्म उपदिष्ट होता है, वह परब्रह्म है। वही परब्रह्म जिस अवस्था में जहाँ किसी नामरूपादि विशेष (भेद) के द्वारा उपासना के लिए (मनोमय, प्राणरूप शरीरवाला, ज्ञानस्वरूप) इत्यादि शब्दों से विशिष्ट स्वरूप

उपदिष्ट होता है, वह अपर ब्रह्म है। शंका होती है कि ऐसा होने पर अद्वितीय श्रुति उपरुद्ध (बाधित) होगी। तो कहा जाता है कि पारमार्थिक अद्वैत विषयक अद्वितीय श्रुति के होने से और अविद्याकृत नामरूप उपाधिकृत भेद के होने से, पारमार्थिक भेद के परिहृत होने से श्रुति नहीं बाधित होगी। उस अपरब्रह्म की उपासना या उसके समीप में सुना गया (वह यदि पितृलोक की कामना वाला होता है, तो उसके संकल्प से भोग देने के लिए पितृलोग उपस्थित होते हैं) इत्यादि संसार के ऐश्वर्य रूप संसार विषयक ही फल अविद्या के अनिवर्तितत्व में होता है। उस फल के देशविशेष के साथ अबबद्धत्व (सम्बद्धत्व) के कारण उसकी प्राप्ति के लिए गमन अविरुद्ध है। यदि कहा जाय कि व्यापक जीवात्मा की फल के लिए गति कैसे होगी तो कहा जाता है कि आत्मा के सर्वगतत्व होने पर भी घटादि के गमन में घटाकाश के गमन के समान बुद्धि आदि रूप उपाधि के गमन होने पर आत्मा के गमन की प्रसिद्धि होती है, वह (तद्गुणसारत्वात्) इस सूत्र में कह चुके हैं। इससे (गति से कार्य ब्रह्मगम्य है यह बादरायण आचार्य का मत है) यही स्थित पक्ष है। (परब्रह्म गति से प्राप्य है, यह जैमिनि मुनि का मत है) यह तो पक्षान्तर के प्रतिभास (प्रतीति) मात्र का प्रदर्शन है, वह बुद्धि का विकासन (विकास) के लिए है, ऐसा समझना चाहिए ॥ १४ ॥

अप्रतीकालम्बनाधिकरणम् ॥ ६ ॥

प्रतीकोपासकान् ब्रह्मलोकं नयति वा नवा। अविशेषश्रुतेरेतान् ब्रह्मोपासकवन्नयेत् ॥ १ ॥
यथाक्रतोरभावेन प्रतीकादफलश्रवात्। न तन्नयति पञ्चाग्निविदो नयति नच्युते ॥ २ ॥

प्रकृति के अवयव रूप प्रतीक से भिन्न के उपासकों को अमानव पुरुष ब्रह्म की प्राप्ति कराता है, इस प्रकार बादरायण आचार्य कहते हैं, क्योंकि प्रतीक भिन्नोपासक का ही ब्रह्म विषयक क्रतु (संकल्प) रहता है, इससे संकल्प के अनुसार उभयथा गति में दोष के अभाव से उभयथा गति मन्तव्य है, सब की ब्रह्मलोक में गति मानना उचित नहीं है। संशय है कि प्रतीक (प्रकृति के अवयव) के उपासकों को अमानव पुरुष ब्रह्मलोक में प्राप्त कराता है, अथवा नहीं। पूर्वपक्ष है कि अविशेष (सामान्य) श्रुति से प्रतीक उपासकों को भी ब्रह्मोपासक के समान ब्रह्मलोक में प्राप्त करायेगा। सिद्धान्त है कि प्रतीक नामादि के उपासकों में ब्रह्मविषय संकल्प के अभाव से और प्रतीक के योग्य अन्य फलों के श्रवण से प्रतीकोपासक को ब्रह्मलोक में नहीं प्राप्त कराता है। पञ्चाग्निवेत्ता के प्रतीकोपासक होते भी तद्विषय श्रुति से सिद्ध होता है कि उसको अमानव पुरुष ब्रह्मलोक में प्राप्त कराता है ॥ १-२ ॥

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथाऽदोषात्तत्क्रतुश्च ॥ १५ ॥

स्थितमेतत्कार्यविषया गतिर्न परविषयेति। इदमिदानीं सन्दिह्यते किं सर्वान्विकारालम्बनानविशेषेणैवामानवः पुरुषः प्रापयति ब्रह्मलोकमुत काश्चिदे-

वेति । किं तावत्प्राप्तं? सर्वेषामेवैषां विदुषामन्यत्र परस्माद् ब्रह्मणो गतिः स्यात् । तथाहि—'अनियमः सर्वासाम्—(ब्र० ३।३।३१) इत्यत्राविशेषेणैवैषा विद्यान्तरेष्ववतारितेति ।

यह स्थिर हुआ कि कार्य ब्रह्म विषयक गति होती है, परब्रह्मविषयक गति नहीं होती है । इस समय यह संदेह अब किया जाता है कि क्या विकार-कार्य को अवलम्बन करने वाले विकारोपासक सभी को अमानव पुरुष अविशेषरूप से तुल्य ही ब्रह्मलोक में प्राप्त कराता है, अथवा किसी विशेष उपासकों को ही प्राप्त कराता है । यहाँ प्रथम क्या प्राप्त होता है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि इन सभी उपासको की परब्रह्म से अन्यत्र-कार्यब्रह्म में गति होगी । जिससे इसी प्रकार (अनियमः सर्वासाम्) इस सूत्र में अविशेष, रूप से ही यह गति अन्य विद्याओं में अवतरित (प्रतिपादित) हुई है ।

एवं प्राप्ते प्रत्याह—अप्रतीकालम्बनानिति । प्रतीकालम्बनान्वर्जयित्वा सर्वानन्यान्विकारालम्बनान्नयति ब्रह्मलोकमिति बादरायण आचार्यो मन्यते । नह्येवमुभयथाभावाभ्युपगमे कश्चिद्दोषोऽस्ति । अनियमन्यायस्य प्रतीकव्यतिरिक्तेष्वप्युपासनेषूपपत्तेः । तत्क्रतुश्चास्योभयथाभावस्य समर्थको हेतुर्द्रष्टव्यः । यो हि ब्रह्मक्रतुः स ब्राह्ममैश्वर्यमासीदेदिति श्लिष्यते 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' इति श्रुतेः । न तु प्रतीकेषु ब्रह्मक्रतुत्वमस्ति प्रतीकप्रधानत्वादुपासनस्य । नन्वब्रह्मक्रतुरपि ब्रह्म गच्छतीति श्रूयते, यथा पञ्चाग्निविद्यायाम् 'स एनान्ब्रह्म गमयति' (छा० ५।१०।२) इति । भवतु यत्रैवमाहत्यवाद उपलभ्यते, तदभावे त्वौत्सर्गिकेण तत्क्रतुन्यायेन ब्रह्मक्रतूनामेव तत्प्राप्तिर्नेतरेषामिति गम्यते ॥ १५ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर कहते हैं कि (अप्रतीकालम्बनानिति) प्रतीक रूप अवलम्बन वालों को छोड़कर उनसे अन्य सब विकारावलम्बी (कार्य उपासकों) को अमानव पुरुष ब्रह्मलोक में प्राप्त कराता है, इस प्रकार बादरायण आचार्य मानते हैं । इस प्रकार उभयथाभाव के स्वीकार करने पर (प्रतीक उपासक से अन्य की ब्रह्मलोक गति प्रतीकोपासक की अन्य गति मानने पर) कोई दोष नहीं है । (अनियमः सर्वासाम्) इस स्थान में कथित अनियम न्याय की प्रतीक भिन्न उपासनाओं में उपपत्ति में दोषाभाव है । सूत्रगत तत्क्रतु शब्द इस उभयथाभाव का समर्थक (साधक) हेतु समझना चाहिए । जिससे जो ब्रह्मविषयक क्रतु-संकल्प वाला है, वह ब्रह्मसम्बन्धी ऐश्वर्य को प्राप्त करे यह युक्त है (उस परमात्मा की जिस-जिस रूप से उपासना करता है, वैसा ही उपासक होता है) इस श्रुति से संकल्पानुसार उपासना के फल सिद्ध होते हैं । प्रतीक उपासनाओं के प्रतीक प्रधानत्व से प्रतीकों में ब्रह्मक्रतुत्व (ब्रह्मसंकल्पत्व) नहीं है । शंका होती है कि ब्रह्म के संकल्प वाला नहीं होते भी उपासना से ब्रह्मलोक में जाता है कार्य ब्रह्म को प्राप्त करता है, यह सुना जाता है, जैसे कि पञ्चाग्निविद्या में सुना जाता है कि (वह अमानव पुरुष इनको ब्रह्म की प्राप्ति कराता है) तो कहा जाता है कि जहाँ इस प्रकार

का आह्यवाद-प्रत्यक्षवाद, अपवादरूप उपलब्ध होता है, वहाँ प्रतीक उपासक को भी ब्रह्म प्राप्ति हो, परन्तु उस विशेष वाद के अभाव रहते तो औत्सर्गिक (सामान्य) तत्क्रतु न्याय से ब्रह्मक्रतु वाले को ही ब्रह्मप्राप्ति होती है, अन्यों को नहीं ऐसा समझा जाता है ॥ १५ ॥

विशेषं च दर्शयति ॥ १६ ॥

नामादिषु प्रतीकोपासनेषु पूर्वस्मात्पूर्वस्मात्फलविशेषमुत्तरस्मिन्नुत्तरस्मिन्नुपासने दर्शयति—'यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७।१।५) 'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' (छा० ७।२।१) 'यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति' (छा० ७।२।२) 'मनो वाव वाचो भूयः' (छा० ७।३।१) इत्यादिना। स चायं फलविशेषः प्रतीकतन्त्रत्वादुपासनानामुपपद्यते। ब्रह्मतन्त्रत्वे तु ब्रह्मणोऽविशिष्टत्वात्कथं फलविशेषः स्यात्। तस्मान्न प्रतीकालम्बनानामितरैस्तुल्यफलत्वमिति ॥ १६ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीशङ्करभगवत्पादकृतौ श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

नामादि प्रतीक उपासनाओं में पूर्व पूर्व उपासनाओं से उत्तर-उत्तर उपासनाओं में फलविशेष को श्रुति दर्शाती है कि (नाम को ब्रह्मरूप से चिन्तन करने वाले इस उपासक की जितनी नाम की गति है, वहाँ तक इच्छा के अनुसार गति होती है) और (वाक् नाम से अधिक बड़ी वस्तु है) उसकी ब्रह्मदृष्टि से उपासना करने वाले को जहाँ तक वाक् की गति है वहाँ तक स्वतन्त्रता होती है। मन वाक् से अधिक बड़ा है। इत्यादि श्रुति से फलविशेष दर्शाया जाता है। उपासनाओं के प्रतीक के अधीनत्व से सो यह फलविशेष (फलों का भेद) उपपन्न होता है और उपासनाओं के ब्रह्माधीनत्व होने पर तो ब्रह्म के अविशिष्टत्व-अभिन्नत्व से फलविशेष (फलभेद) कैसे होगा। इससे प्रतीकालम्बनवाली उपासनाओं को इतर उपासनाओं के साथ तुल्य फलवत्त्व नहीं है, अर्थात् ब्रह्मप्राप्ति रूप फलवत्त्व प्रतीकोपासनाओं का नहीं है ॥ १६ ॥

धर्मार्थकाममोक्षाणां मुख्यानामेककारणम्। विशुद्धं परमानन्दं सद्गुरुं राममाश्रये ॥

तृतीय अध्याय में तृतीय पाद समाप्त।

चतुर्थेऽध्याये चतुर्थः पादः

[अत्र पादे ब्रह्मप्राप्ति-ब्रह्मलोकस्थितिनिरूपणम्]

संपद्याविर्भावाधिकरणम् ॥ १ ॥

नाकवन्नूतनं मुक्तिरूपं यद्वा पुरातनम् । अभिनिष्पत्तिवचनात् फलत्वादपि नूतनम् ॥ १ ॥
स्वेन रूपेणेति वाक्ये स्वशब्दात्तत्पुरातनम् । आविर्भावोऽभिनिष्पत्तिः फलं चाज्ञानहानितः ॥

पूर्वोक्त साधनों के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति से ब्रह्म को सम्पद्य (प्राप्त करके) आत्मस्वरूप से अनुभव करके स्थिर विद्वान् की जो जीवन्मुक्तिपूर्वक विदेहमुक्ति होती है, वह किसी नूतन तत्त्वस्वरूप अवस्था आदि की प्राप्तिरूप नहीं है किन्तु विद्या से अविद्यात्मक आवरण की निवृत्ति से नित्यसिद्ध निजमुक्त स्वरूप का आविर्भाव (प्राकट्य) मात्र होता है, वह श्रुतिगत् , स्वेन इस शब्द से समझा जाता है। संशय है कि स्वर्ग के समान मुक्ति नूतन (कार्य) रूप होती है, वा स्वरूपात्मक पुरातन है। पूर्वपक्ष है कि अभिनिष्पत्ति वचन से और फलत्व से भी नूतन है। सिद्धान्त है कि अभिनिष्पत्ति का उत्पत्ति अर्थ हो तो ऐसा हो सकता है परन्तु श्रुतिगत स्वेनरूपेण इस वाक्यगत स्वेन इस शब्द से स्वरूपात्मक पुरातन मुक्ति का स्वरूप सिद्ध होता है। आविर्भाव अभिनिष्पत्ति का अर्थ है, और अविद्या की निवृत्ति से फल होता है ॥ १-२ ॥

संपद्याविर्भावः स्वेनशब्दात् ॥ १ ॥

'एवमेवैव संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत' इति श्रूयते। तत्र संशयः—किं देवलोकाद्युपभोगस्थानेष्विवागन्तुकेन केनचिद्विशेषेणाभिनिष्पद्यत आहोस्विदात्ममात्रेणेति। किं तावत्प्राप्तम्? स्थानान्तरेष्विवागन्तुकेन केनचिद्रूपेणाभिनिष्पत्तिः स्यात्, मोक्षस्यापि फलत्वप्रसिद्धेः, अभिनिष्पद्यते इति चोत्पत्तिपर्यायत्वात्। स्वरूपमात्रेण चेदभिनिष्पत्तिः पूर्वास्वप्यवस्थासु स्वरूपानपायाद्विभाव्येत। तस्माद्विशेषेण केनचिदभिनिष्पद्यत इति।

जैसे वायु कभी अपनी निश्चल आकाशरूपता को प्राप्त होता है इसी प्रकार यह सुषुप्ति में संप्रसन्न होने वाला संप्रसाद जीव विवेक द्वारा इस शरीर से समुत्थान करके देहाभिमान को त्याग कर और परज्योति को प्राप्त अनुभूत करके उस अपने स्वरूप से अभिनिष्पन्न अभिव्यक्त होता है) यह सुना जाता है। यहाँ संशय होता है कि क्या जैसे देवलोकादि उपभोग के स्थानों में विशेष रूप से निष्पन्न होता है, वैसे आगन्तुक किसी विशेष से अभिनिष्पन्न (युक्त) होता है, अथवा आत्ममात्र से अभिनिष्पन्न होता है इति। प्रथम प्राप्त क्या है, ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष है कि स्थानान्तरों में के

समान किसी आगन्तुक (कार्य) रूप से अभिनिष्पत्ति होगी। क्योंकि मोक्ष का भी फलत्व की प्रसिद्धि से, और अभिनिष्पद्यते, अभिनिष्पन्न होता है, इसकी उत्पत्ति की पर्यायता (एकार्थता) से आगन्तुक रूप से अभिनिष्पत्ति सिद्ध होती है। स्वरूपमात्र से यदि मोक्षावस्था में अभिनिष्पत्ति हो, तो पूर्वावस्थाओं में भी स्वरूप के अनपाय (अनाश) में वह विभावित (अनुभूत) होना चाहिए, इससे मोक्षावस्था में किसी विशेष से अभिनिष्पन्न (सिद्ध) होता है।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—केवलेनैवात्मनाविर्भवति न धर्मान्तरेणेति। कुतः ? स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते इति स्वशब्दात्। अन्यथा हि स्वशब्देनेति विशेषणमनवक्लृप्तं स्यात्। नन्वात्मीयाभिप्रायः स्वशब्दो भविष्यति। न, तस्यावचनीयत्वात्। येनैव हि केनचिद्रूपेणाभिनिष्पद्यते तस्यैवात्मीयत्वोपपत्तेः स्वेनेति विशेषणमनर्थकं स्यात्। आत्मवचनतायां त्वर्थवत्केवलेनैवात्मरूपेणाभिनिष्पद्यते नागन्तुकेनापररूपेणापीति ॥ १ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि केवल आत्मस्वरूप से आविर्भूत (प्रकट) होता है, धर्मान्तरयुक्त रूप से नहीं। क्योंकि स्वरूप से अभिनिष्पन्न होता है, इस स्वशब्द से ऐसा ही सिद्ध होता है, जिससे अन्यथा होने पर स्वशब्देन (स्वेनरूपेण) इस वाक्य में स्व यह विशेषण, अर्थात् स्वेनरूपेण यह विशेषण अनवक्लृप्त (असिद्ध-अनर्थक) होगा। यदि कहो कि आत्मीय (आत्मसम्बन्धी) के अभिप्राय वाला स्वशब्द होगा, तो कहा जाता है इस आत्मीय की अवचनीयता (अवक्तव्यता) से आत्मीय वाचक नहीं हो सकता है। जिससे जिसकी किसी रूप से अभिनिष्पन्न होगा, उसी रूप की आत्मीयत्व की उपपत्ति से स्वेन यह विशेषण अनर्थक होगा। स्वशब्द की आत्मवचनता (आत्मवाचकता) होने पर तो स्व विशेषण सार्थक होता है कि केवल आत्मस्वरूप से ही निष्पन्न होता है, आगन्तुक अन्य रूप से नहीं निष्पन्न होता है ॥ १ ॥

कः पुनर्विशेषः पूर्वास्ववस्थासु मोक्षावस्थायां च स्वरूपानपायसाम्येऽपि सतीत्यत आह—

शंका होती है कि पूर्वावस्थाओं में और इस मोक्षावस्था में स्वरूप के अनपाय तुल्य रहने पर विशेष (भेद) क्या होता है, इसमें मोक्षावस्था के विशेष कहते हैं कि—

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

योऽत्राभिनिष्पद्यते इत्युक्तः स सर्वबन्धविनिर्मुक्तः शुद्धेनैवात्मनाऽवतिष्ठते। पूर्वत्र तु अन्धो भवत्यपि रोदितीव विनाशमेवापीतो भवतीति चावस्थात्रयकलुषितेनात्मनेत्ययं विशेषः। कथं पुनरवगम्यते मुक्तोऽयमिदानीं भवतीति ? प्रतिज्ञानादित्याह। तथा हि 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि' (छा० ८।९।३,८।१०।४,८।११।३) इत्यवस्थात्रयदोषविहीनमात्मानं व्याख्येयत्वेन प्रतिज्ञाय 'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः (छा० ८।१२।१) इति चोपन्यस्य 'स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः' (छा० ८।१२।३) इति चोपसंह-

रति। तथाख्यायिकोपक्रमेऽपि 'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यादि मुक्तात्मविषयमेव प्रतिज्ञानम्। फलत्वसिद्धिरपि मोक्षस्य बन्धनिवृत्तिमात्रापेक्षा नापूर्वोपजननापेक्षा, यदप्यभिनिष्पद्यते इत्युत्पत्तिपर्यायत्वं तदपि पूर्वावस्थापेक्षं यथा रोगनिवृत्तावरोगोऽभिनिष्पद्यते इति तद्वत्। तस्माददोषः ॥ २ ॥

जो यहां अभिनिष्पन्न होता है, इस प्रकार कहा गया है, वह सब बन्धनों से विनिर्मुक्त होकर शुद्ध आत्मस्वरूप से ही अवस्थित होता है। मोक्ष से पूर्वकाल में तो देहादि के अभिमान से जाग्रत काल में अन्ध आदि होता है। स्वप्न में दुखादि से रोते हुए के समान भी होता है। सुपुप्ति में विशेषज्ञानों के अभाव से मानो विनाश ही को प्राप्त होता है। इस प्रकार अवस्थात्रय से कलुषित रूप से अवस्थित होता है यह विशेष है। यदि कहा जाय कि कैसे समझा जाता है कि यह जीवात्मा इस शरीर से व्युत्थान करके स्वरूप से स्थिति रूप इस अवस्था मे मुक्त होता है, तो कहते हैं कि प्रतिज्ञान (प्रतिज्ञा) से समझा जाता है। वह प्रतिज्ञान इस प्रकार है कि (तेरे लिए इसी आत्मा का फिर व्याख्यान करूंगा) इस प्रकार तीनों अवस्था के दोषों से रहित आत्मा की व्याख्येयत्व (उपदेशयोग्यत्व) रूप प्रतिज्ञा करके अर्थात् शुद्ध नित्यमुक्त आत्मा के उपदेश की प्रतिज्ञा करके, और (शरीर सबन्ध रहित आत्मा को प्रिय और अप्रिय सुख-दुःखादि नहीं स्पर्श करते हैं) ऐसा उपन्यास (कथन) करके, और (अपने स्वरूप से निष्पन्न-आविर्भूत होता है वह उत्तम पुरुष है) इस प्रकार प्रजापति उपसंहार करते हैं। इसी प्रकार आख्यायिका (कथा) के आरम्भ में भी (जो आत्मा अपहत पाप्मा है) इत्यादि मुक्त आत्मविषयक ही प्रतिज्ञान है। मोक्षविषयक फलत्व की प्रसिद्धि भी बन्ध की निवृत्ति मात्र की अपेक्षा से है, किसी अपूर्व धर्मादि के उपजनन (उत्पत्ति) की अपेक्षा से नहीं है। जो भी, अभिनिष्पद्यते, इस पद को उत्पत्ति पर्यायत्व है, वह भी पूर्वावस्था की अपेक्षा से है, जैसे कि रोग की निवृत्ति होने पर अरोग अभिनिष्पन्न होता है, इसी प्रकार अविद्यादि की निवृत्ति होने पर अपने स्वरूप से निष्पन्न होता है अतः दोष नहीं है ॥ २ ॥

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥

कथं पुनर्मुक्त इत्युच्यते—यावता 'परं ज्योतिरुपसंपद्य' (छा० ८।१२।३) इति कार्यगोचरमेवैनं श्रावयति। ज्योतिःशब्दस्य भौतिके ज्योतिषि रूढत्वात्। नचानतिवृत्तो विकारविषयात् कश्चिन्मुक्तो भवितुमर्हति, विकारस्यार्तत्वप्रसिद्धेरिति। नैष दोषः। यत आत्मैवात्र ज्योतिःशब्देनावेद्यते प्रकरणात्, 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युः (छा० ८।७।१) इति हि प्रकृते प्रस्मिन्नात्मनि नाकस्माद्भौतिकं ज्योतिः शक्यं ग्रहीतुम्, प्रकृतहान्यप्रकृतप्रक्रियाप्रसङ्गात्। ज्योतिःशब्दस्त्वात्मन्यपि दृश्यते 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' (बृ० ४।४।१६) इति। प्रपञ्चितं चैतत् 'ज्योतिर्दर्शनात्' (ब्र० सू० १।३।४०) इत्यत्र ॥ ३ ॥

शका होती है कि स्वरूप मे निष्पन्न होने वाला भी यह जीव मुक्त है इस प्रकार कैसे कहा जाता है, जब (पर ज्योति को प्राप्त कर के) इत्यादि श्रुति इस जीव को कार्य रूप ज्योति गोचर (कार्य रूप ज्योति मे प्राप्त) ही सुनाती है, क्योंकि ज्योति शब्द की भौतिक (भूतकार्य) ज्योति (प्रकाश) अर्थ मे रूढत्व है और विकार रूप विषय मे अनतिवृत्त (विषय विकार के अतिक्रमण—त्याग मे रहित) कोई मुक्त होने योग्य नहीं है। क्योंकि विकार की आर्तता (दु खरूपता) की प्रसिद्धि है। उत्तर है कि यह दोष नही है, जिससे इस श्रुति म प्रकरण से ज्योति शब्द द्वारा आत्मा ही आवेदित (बोधित-कथित) होता है। जिसमे (जो आत्मा पापरहित जरारहित मृत्युरहित है) इस प्रकार प्रकृत परमात्मा के रहते, परमात्मा के प्रकरण म, अकस्मात् (निष्कारण) भौतिक ज्योति का ग्रहण नही किया जा सकता है। क्योकि ऐसा करने से प्रकृत की हानि और अप्रकृत की प्रक्रिया (अधिकार-प्रकरण) का प्रसग होगा। और ज्योति शब्द तो आत्मा रूप अर्थ मे भी प्रयुक्त देखा जाता है कि (देव लोग उस ज्योतियो की ज्योति की उपासना करते है) इत्यादि। और (ज्योतिर्दर्शनात्) इस सूत्र मे इस अर्थ का विस्तार से विचार किया गया है। इसी प्रकार प्रकरण से संप्रसाद शब्द आत्म-वाचक होता है। इत्यादि ॥ ३ ॥

अविभागेन दृष्टत्वाधिकरणम् ॥ २ ॥

मुक्तरूपाद् ब्रह्म भिन्नमभिन्न वाऽथ भिद्यते। 'सम्पद्य ज्योति' रित्येव कर्मकर्तृभिदोक्तित ॥१॥
अभिनिष्पन्नरूपस्य 'स उत्तम पुमानिति'। ब्रह्मत्वोक्तेरभिन्न तद्भेदोक्तिरुपचारत ॥२॥

तत्त्वमसि, इत्यादि उपदेशो को देखने से सिद्ध होता है कि उक्त मुक्तावस्था मे जीव ब्रह्म के साथ अविभाग (अभिन्न) स्वरूप से रहता है। वहाँ, सशय है कि उस मुक्त जीव के स्वरूप मे ब्रह्म भिन्न है, अथवा अभिन्न है। पूर्वपक्ष है कि ज्योति को प्राप्त होकर स्वरूप से निष्पन्न होता है, इस प्रकार जीव प्राप्ति का कर्ता कहा गया है, और ब्रह्म कर्म कहा गया है। इससे कर्म और कर्ता के भेद के कथन से, मुक्त से ब्रह्म भिन्न है ॥ सिद्धान्त है कि स्वरूप को अभिनिष्पन्न मुक्त की, वह उत्तम पुरुष है, इत्यादि वचन से ब्रह्मरूपता की उक्ति से, वह ब्रह्म स्वरूप से अभिन्न है, और भेद का कथन विवेकादि कल्पित है, इसमे उपचार से है, गौण है ॥ १-२ ॥

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते य स किं परस्मादात्मन पृथगेव भवत्युताविभागेनैवावतिष्ठत इति वीक्षायाम् 'स तत्र पर्येति' (छा० ८।१२।३) इत्यधिकरणाधिकर्तव्यनिर्देशात् 'ज्योतिरुपसंपद्य' (छा० ८।१२।३) इति च कर्तृकर्मनिर्देशाद्भेदेनैवावस्थानमिति यस्य मतिस्तं व्युत्पादयत्यविभक्त एव परेणात्मना मुक्तोऽवतिष्ठते। कुत ? दृष्टत्वात्। तथाहि 'तत्त्वमसि' (छा०

६।८।७) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृ० १।४।१०) 'यत्र नान्यत्पश्यति' (छा० ७।२४।१) 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततो नोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत्' (बृ० ४।३।२३) इत्येवमादीनि वाक्यान्यविभागेनैव परमात्मानं दर्शयन्ति। यथादर्शनमेव च फलं युक्तं तत्क्रतुन्यायात्। 'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम' (क० ४।१५) इति चैवमादीनि मुक्तस्वरूपनिरूपणपराणि वाक्यान्यविभागमेव दर्शयन्ति नदीसमुद्रादिनिदर्शनानि च। भेदनिर्देशस्त्वभेदेऽप्युपचर्यते। 'स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा० ७।२४।१) इति, 'आत्मरतिरात्मक्रीडः' (छा० ७।२५। २) इति चैवमादिदर्शनात् ॥ ४ ॥

पर ज्योति को प्राप्त करके जो जीव अपने स्वरूप से निष्पन्न होता है, वह क्या परमात्मा से पृथक् ही रहता है। अथवा अविभाग से परमात्मा के साथ अभिन्न रूप से परमात्मरूप से ही अवस्थित (वर्तमान) रहता है, ऐसा विचार के उपस्थित (प्राप्त) होने पर (वह संप्रसाद उस ज्योति स्वरूप में सर्वथा गमन करता है) इस प्रकार अधिकरण और अधिकर्तव्य के (आधाराधेय भाव के) निर्देश से, और (ज्योति को प्राप्त करके) इस प्रकार कर्ता और कर्म के निर्देश से, मोक्षावस्था में परमात्मा से भेदपूर्वक ही मुक्त का अवस्थान (स्थिति) रहता है, ऐसी जिसकी मति (निश्चय) है। उसको बोध कराते—समझाते है कि परमात्मा से अविभक्त (अभिन्न) होता हुआ ही मुक्तात्मा अवस्थित रहता है। यह कैसे सिद्ध होता है, तो कहा जाता है कि ऐसी श्रुतियों के दृष्टत्व (प्रत्यक्षता) से यह सिद्ध होता है, जिससे इस प्रकार की श्रुतियाँ हैं कि (उस सत्य ब्रह्म स्वरूप तुम हो। मैं ब्रह्म हूँ। जिस में अन्य को नहीं देखता है वह ब्रह्म है। उस ज्ञानी से दूसरी वस्तु नहीं है, उससे अन्य विभक्त वस्तु नहीं है कि जिसको देखे) इत्यादि वाक्य मुक्त से अविभागरूप से ही परमात्मा को दर्शाते हैं। तत्क्रतुन्याय से दर्शन के अनुसार ही फल होना युक्त है। (जैसे शुद्ध जल मे आक्षिप्त शुद्ध जल आधारभूत जलस्वरूप ही हो जाता है, हे गौतम ! विज्ञानी मुनि का आत्मा भी इसी प्रकार परब्रह्मस्वरूप हो जाता है) इत्यादि मुक्तस्वरूप के निरूपणपरक वाक्य अविभाग को ही दर्शाते हैं। और नदी समुद्रादि के दृष्टान्त भी अविभाग को ही दर्शाते हैं। भेद का निर्देश तो अभेद रहते भी उपचार से (गौण रूप से) किया जाता है, वह (हे भगवन् ! वह भूमा-ब्रह्म किस में प्रतिष्ठित (स्थिर) है। ऐसा नारद जी के प्रश्न होने पर सनत्कुमार जी का उत्तर है कि भूमा अपनी महिमा-स्वरूप में प्रतिष्ठित है। ज्ञानी आत्मा में रति-प्रीति वाला आत्मा में क्रीडा वाला होता है) इत्यादि अभेद होते भेद का व्यवहार देखने मे अभेद मे भेद का उपचार सिद्ध होता है॥ ४ ॥

ब्रह्माधिकरणम् ॥ ३ ॥

'क्रमेण युगपद्वाऽस्य सविशेषाविशेषकौ। विरुद्धत्वात् कालभेदाद्व्यवस्था श्रुतयोस्तयोः ॥१॥
मुक्तामुक्तदशोर्भेदाद्व्यवस्था सम्भवे सति। अविरुद्धं यौगपद्यमश्रुतं क्रमकल्पनम् ॥२॥

वह मुक्तात्मा ब्रह्म सम्बन्धी सविशेष निर्विशेष स्वरूप से मुक्तावस्था में रहता है, यह उपन्यासादि से सिद्ध होता है, इस प्रकार जैमिनि आचार्य कहते हैं। उपन्यासादि पद से उपक्रम, उपसंहार और अन्य श्रुति के निर्देश का ग्रहण होता है। उपन्यास का उद्देश नामकथन, अन्यत्र ज्ञात का अनुवाद अर्थ है। जैसे (य आत्मा अपहतपाप्मा) इत्यादि है। अज्ञात ज्ञापन विधि है जैसे (स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाण) इत्यादि है। 'सर्वज्ञ सर्वेश्वर' इत्यादि व्यपदेश है। इन हेतुओं से जैमिनि उक्तार्थ कहते हैं। संशय है कि इस ब्रह्म के सविशेष और निर्विशेष स्वरूप को मुक्त पुरुष क्रम से प्राप्त करता है, अथवा एक काल में प्राप्त करता है। पूर्वपक्ष है कि दोनों स्वरूप के परस्पर विरुद्ध होने से, श्रुत उन दोनों स्वरूपों की काल भेद से व्यवस्था होती है। क्रम से मुक्त पुरुष उभयस्वरूपता को प्राप्त करता है। सिद्धान्त है कि मुक्त और अमुक्त पुरुषों की दृष्टियों के भेद से एक काल में ही दोनों स्वरूपों की व्यवस्था के सम्भव होने से समकाल में उभय स्वरूप अविरुद्ध है क्रम की कल्पना अश्रुत है। अर्थात् सविशेषता मायिक है, उसकी निर्विशेषता से विरोध नहीं है ॥ १-२ ॥

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥

स्थितमेतत् 'स्वेन रूपेण' (छा० ८।३।४)इत्यत्रात्ममात्ररूपेणाभिनिष्पद्यते नागन्तुकेनापररूपेणेति । अधुना तु तद्विशेषबुभुत्सायामभिधीयते । स्वमस्य रूपं ब्राह्ममपहतपाप्मत्वादिसत्यसंकल्पत्वावसानं तथा सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं च तेन स्वरूपेणाभिनिष्पद्यत इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । कुतः ? उपन्यासादिभ्यस्तथात्वावगमात् । तथाहि—'य आत्माऽपहतपाप्मा' (छा० ८।७।१) इत्यादिना 'सत्यकामः सत्यसंकल्पः' (छा० ८।७।१) इत्येवमन्तेनोपन्यासेनैवमात्मकतामात्मनो बोधयति । तथा 'स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाणः' (छा० ८।१२।३) इत्यैश्वर्यरूपमावेदयति । 'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ७।२५।२) इति च । 'सर्वज्ञः सर्वेश्वरः' इत्यादिव्यपदेशाश्चैवमुपपन्ना भविष्यन्तीति ॥ ५ ॥

यह स्थित हुआ कि (अपने स्वरूप से निष्पन्न होता है) इस स्थान में आत्ममात्र स्वरूप में अभिनिष्पन्न (अभिव्यक्त स्थिर) होता है। किसी आगन्तुक स्वरूप से नहीं अभिनिष्पन्न (उत्पन्न) होता है। अब इस समय तो उस अभिनिष्पन्न स्वस्वरूप के विशेष को जानने की इच्छा होने पर कहा जाता है कि इस मुक्त का अपना स्वरूप ब्राह्म (ब्रह्मस्वरूप—ब्रह्मसम्बन्धि) अपहत पाप्मत्वादि सत्यसंकल्पत्वादि है। इसी प्रकार सर्वज्ञत्व और सर्वेश्वरत्व इस का विशेष स्वरूप है। उस ब्राह्म स्वरूप से अभिनिष्पन्न होता है, इस प्रकार जैमिनि आचार्य मानते हैं। किस हेतु से ऐसा मानते हैं तो कहा जाता है कि उपन्यासादि रूप हेतुओं से उसी प्रकारत्व के अवगम होने से वैसा मानते

हैं। सो उपन्यासादि इस प्रकार है कि (जो आत्मा अपहतपाप्मा है) इत्यादि से लेकर, और (सत्य काम वाला, सत्य संकल्प वाला है) यहाँ पर्यन्त के उपन्यास (उद्देश) से आत्मा के इस प्रकार के स्वरूपवत्त्व को श्रुति बोध कराती है। इसी प्रकार (वह संप्रसाद उस ज्योतिस्वरूप में सर्वथा गमन करता है, हँसता हुआ, क्रीड़ा करता हुआ, रमण करता रहता है) यह वाक्य ऐश्वर्य रूप का आवेदन करता है। (उसका सब लोकों में कामचार-यथेष्ट गमन होता है) यह वाक्य भी ऐश्वर्य का आवेदन (ज्ञापन— विधि) करता है। (वह सर्वज्ञ सर्वेश्वर है) इत्यादि व्यपदेश (सिद्धस्वरूप का कथन) इसी प्रकार (ब्राह्म स्वरूप से) उपपन्न होंगे ॥ ५ ॥

चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥ ६ ॥

यद्यप्यपहतपाप्मत्वादयो भेदेनैव धर्मा निर्दिश्यन्ते तथापि शब्दविकल्पजा एवैते, पाप्मादिनिवृत्तिमात्रं हि तत्र गम्यते, चैतन्यमेव त्वस्यात्मनः स्वरूपमिति तन्मात्रेण स्वरूपेणाभिनिष्पत्तिर्युक्ता। तथाच श्रुतिः—'एवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव' (बृ० ४।५।१३) इत्येवञ्जातीयकाऽनुगृहीता भविष्यति। सत्यकामत्वादयस्तु यद्यपि वस्तुस्वरूपेणैव धर्मा उच्यन्ते सत्याः कामा अस्येति, तथाप्युपाधिसम्बन्धाधीनत्वात्तेषां न चैतन्यवत्स्वरूपत्वसंभवः। अनेकाकारत्वप्रतिषेधात्। प्रतिषिद्धं हि ब्रह्मणोऽनेकाकारत्वम् 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गम्' (ब्र० सू० ३।२।११) इत्यत्र। अतएव च जक्षणादिसंकीर्तनमपि दुःखाभावमात्राभिप्रायं स्तुत्यर्थमात्मरतिरित्यादिवत्। नहि मुख्यान्येव रतिक्रीडामिथुनान्यात्मनि शक्यन्ते वर्णयितुं द्वितीयविषयत्वात्तेषाम्। तस्मान्निरस्ताशेषप्रपञ्चेन प्रसन्नेनाव्यपदेश्येन बोधात्मनाऽभिनिष्पद्यते इत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते ॥ ६ ॥

यद्यपि अपहत-पाप्मत्वादि धर्मभेद (भिन्न) रूप से ही निर्दिष्ट—कथित होते हैं, तथापि शब्दज्ञान से जन्य विकल्प (मिथ्या ज्ञान) जन्य ही ये धर्म हैं, जिससे अपहत-पाप्मत्वादि के कहने से पापादि की निवृत्ति (अभाव) मात्र ही वहाँ प्रतीत होता है, चिति (चैतन्य) ही मात्र तो इस आत्मा का स्वरूप है, इससे तन्मात्र (चैतन्यमात्र) स्वरूप से अभिनिष्पत्ति-युक्त है। इसी प्रकार (अरे मैत्रेयि ! इस सैंधव घन के समान ही यह आत्मा अन्तर-बाहर भेदरहित सम्पूर्ण प्रज्ञान घन ही है) इस प्रकार की श्रुति अनुगृहीत होगी। यद्यपि सत्य काम हैं जिस के वह सत्यकामवाला है, इस अर्थ के अनुसार सत्यकामत्वादि धर्म वस्तु-स्वरूप से ही कहे जाते हैं अपहत-पाप्मत्वादि के समान विकल्प-जन्य नहीं है, तो भी उपाधि के सम्बन्धाधीनता से उन धर्मों को भी चैतन्य के समान स्वरूपत्व का सम्भव नहीं है, और चिदात्मा में अनेकाकारता के प्रतिषेध से भी सत्य-कामत्वादि को स्वरूपत्व का असम्भव है, जिससे (न स्थानतोपि परस्योभयलिङ्गम्)

इस सूत्र में ब्रह्म का अनेकाकारत्व प्रतिषिद्ध हो चुका है। इसी अनेकाकारत्व के असम्भववादि से समस्तमनिषेध से ही भ्रमण क्रीडनादि का सकीर्तन भी दु खाभावमात्रविषयक अभिप्रायवाला आत्मरति इत्यादि के समान स्तुत्यर्थक है। रति क्रीडा तथा मिथुन (युग्म) इनका आत्मा में मुख्य सत्यस्वरूप से वर्णन नहीं किया जा सकता है क्योंकि उन रति आदिकों को द्वितीय विषय व है अर्थात् द्वैत अवस्था में रति क्रीडादि होते हैं अद्वैत मुक्तात्मा में इनका असम्भव है। जिससे सम्पूर्ण प्रपञ्च से रहित प्रसन्न (निर्मल) विशेष कथन के अयोग्य ज्ञानस्वरूप में मुक्त जीव अभिनिष्पन्न होता है इस प्रकार औडुलोमि आचार्य मानते हैं ॥ ६ ॥

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥

एवमपि पारमार्थिकचैतन्यमात्रस्वरूपाभ्युपगमेऽपि व्यवहारापेक्षया पूर्वस्याप्युपन्यासादिभ्योऽवगतस्य ब्राह्मस्यैश्वर्यरूपस्याप्रत्याख्यानादविरोधं बादरायण आचार्यो मन्यते ॥ ७ ॥

प्रथम एक पक्ष में ब्रह्म के धर्मों को सत्य कहा गया है दूसरे पक्ष में सर्वथा असत्य कहा गया है अब चिन्मात्र को पारमार्थिक और सत्यकामत्व आदि को औपाधिक श्रुति के अनुसार मानकर सिद्धान्त कहा जाता है कि (इस प्रकार भी) औडुलोमि मत के अनुसार पारमार्थिक (सत्य) चैतन्यमात्रस्वरूप के स्वीकार करने पर भी व्यवहार की अपेक्षा से उपन्यासादि हेतुओं से अवगत (ज्ञात) पूर्ववर्णित ब्राह्म ऐश्वर्य रूप के अप्रत्याख्यान से उसके भाव (सत्ता) से व्यावहारिक स्थिति से बादरायण आचार्य अविरोध मानते हैं। इससे मुक्त भी इस अविरुद्धरूपता को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

सङ्कल्पाधिकरणम् ॥ ४ ॥

भोग्यसृष्टावस्ति बाह्यो हेतुः सङ्कल्प एव वा। आरामोदकवद्वैषम्याद्धेतुर्बाह्योऽस्ति लोकवत् ॥१॥
सङ्कल्पादेव पितर इति श्रुत्यावधारणात्। सङ्कल्प एव हेतुः स्याद्वैषम्यायानुचिन्तनात् ॥२॥

इस विमुक्त विद्वान् के सङ्कल्पमात्र से ही पितृ आदि देव उपस्थित होते हैं यह श्रुति से सिद्ध होता है। सशय होता है कि ब्रह्मलोक में प्राप्त एक प्रकार का विमुक्त बाह्य प्रपञ्चरहित विद्वान् के सांकल्पिक भोग्य वस्तु की सृष्टि में बाह्य हेतु भी रहता है अथवा सङ्कल्पमात्र ही हेतु रहता है। पूर्व पक्ष है आराम मोदक से विषमता से अर्थात् भोग का हेतु होने में लोक के समान बाह्य हेतु भी है। सिद्धान्त है कि सङ्कल्पमात्र से ही पितर समुपस्थित होते हैं इस प्रकार श्रुति में अवधारण किया गया है इससे सङ्कल्प ही सृष्टि में हेतु होगा, और अनुचिन्तन से ही आरामोदक तथा लोक से वैषम्य होगा ॥ १-२ ॥

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥

हार्दविद्यायां श्रूयते—'स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः

समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८।२।१) इत्यादि । तत्र संशयः—किं संकल्प एव केवलः पित्रादिसमुत्थाने हेतुरुत निमित्तान्तरसहितः—इति । तत्र सत्यपि संकल्पादेवेति श्रवणे लोकवन्निमित्तान्तरापेक्षा युक्ता । यथा लोकेऽस्मदादीनां संकल्पाद्गमनादिभ्यश्च हेतुभ्यः पित्रादिसंपत्तिर्भवत्येवं मुक्तस्यापि स्यात्, एवं दृष्टविपरीतं न कल्पितं भविष्यति । संकल्पादेवेति तु राज्ञ इव संकल्पितार्थसिद्धिकरीं साधनान्तरसामग्रीं सुलभामपेक्ष्योच्यते । नच संकल्पमात्रसमुत्थानाः पित्रादयो मनोरथविजृम्भितवच्चञ्चलत्वात्पुष्कलं भोगं समर्पयितुं पर्याप्ताः स्युरिति ।

हार्दविद्या मे सुना जाता है कि (ब्रह्मलोक में प्राप्त उपासक यदि पितृलोक की प्राप्ति की इच्छा वाला होता है, तो इसके संकल्प मे ही पितृलोक समुपस्थित होते हैं ;) इत्यादि । यहा संशय होता है कि क्या केवल संकल्प ही पितृ आदि के समुत्थान (समुपस्थिति) में कारण है । अथवा निमित्तान्तर-सहित संकल्प कारण है । वहाँ पूर्व पक्ष है कि श्रुति में (संकल्पादेव) संकल्प से ही ऐसा श्रवण होते भी लोक के समान पितृसमुत्थान में निमित्तान्तर की अपेक्षा होना युक्त है । जैसे लोक में हम लोगों के संकल्प से और गमनादि रूप हेतुओं से पितृ आदि की संप्राप्ति होती है, वैसे ही मुक्तों को भी होगी । और ऐसा होने से दृष्ट से विपरीत समुत्थान नहीं कल्पित होगा । लौकिक अनुभव के अनुसार ही होगा । और संकल्प से ही यह अवधारण तो जैसे राजा के संकल्पित अर्थ की सिद्धि करने वाली साधनान्तर की सामग्री (पूर्णता) सुलभ होती है, उसके समान साधनान्तर-सामग्री की सुलभता की अपेक्षा से है, कि मानो इस मुक्त के संकल्पित अर्थ को सिद्धि करनेवाली साधनान्तर की सामग्री संकल्प से ही सिद्ध हो जाती है । इस दृष्टि से 'संकल्पादेव' ऐसा कहा जाता है । संकल्पमात्र से समुत्थानवाले पितृ आदि मनोरथ के विस्तारतुल्य मन से कल्पित के समान चञ्चलत्व से पूर्ण भोग को समर्पण (प्राप्त) कराने के लिये समर्थ नही होंगे ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः—संकल्पादेव तु केवलात्पित्रादिसमुत्थानमिति । कुतः ? तच्छ्रुतेः । 'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ८।२।१) इत्यादिका हि श्रुतिर्निमित्तान्तरापेक्षायां पीड्यते । निमित्तान्तरमपि तु यदि संकल्पानुविधायेव स्याद्भवतु; नतु प्रयत्नान्तरसंपाद्यं निमित्तान्तरमितीष्यते । प्राक्तत्संपत्तेर्वन्ध्यसंकल्पत्वप्रसङ्गात् । नचश्रुत्यवगम्येऽर्थे लोकवदिति सामान्यतोदृष्टं क्रमते । संकल्पबलादेव चैषां यावत्प्रयोजनं स्थैर्योपपत्तिः, प्राकृतसंकल्पविलक्षणत्वान्मुक्तसंकल्पस्य ॥ ८ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर कहते हैं कि केवल संकल्प से ही पितृ आदि का समुत्थान होता है । किस हेतु से ऐसा माना जाता है, तो कहा जाता है कि केवल संकल्प मात्र के श्रवण से ऐसा माना जाता है (इस विद्वान् मुक्त के संकल्प से ही पितर समुत्थित होते हैं) इत्यादि श्रुति निमित्तान्तर की अपेक्षा में पीडित (बाधित) हो होगी । और पीडित

होती है। निमित्तान्तर भी तो यदि संकल्प के अनुसारी संकल्पमात्र जन्य ही हों, तो हो सकते हैं किन्तु अन्य यत्न से सम्पाद्य (साध्य) अन्य निमित्त होते हैं, ऐसा माना नहीं जा सकता है। क्योंकि प्रयत्नान्तर से साध्य निमित्तान्तर की सिद्धि से प्रथम विद्वान् को वन्ध्यसंकल्पत्व की प्राप्ति होगी अर्थात् संकल्प करने पर भी निमित्तान्तर के बिना भोग में विलम्ब से उस संकल्प में वन्ध्यत्व (निष्फलत्व) प्राप्त होगा इससे सत्यसंकल्पत्व का बाध होगा। और श्रुतिमात्र से अवगम्य (ज्ञेय) अर्थ में लोकवत्—इस दृष्टान्त से साध्य सामान्य रूप से देखा गया अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती है। जो यह कहा था कि संकल्पमात्र से समुत्थित पितृ आदि के मनोरथ से कल्पित के समान चंचल होने से वे पूर्ण भोग का संपादन नहीं कर सकेंगे वहाँ कहा जाता है कि, उस मुक्त के संकल्प के बल से ही *यावत् प्रयोजन (भोगादि प्रयोजनों की सिद्धि पर्यन्त)* उन पितृ आदिकों की स्थिरता की सिद्धि होती है, क्योंकि प्राकृत (साधारण) पुरुषों के संकल्प से विलक्षणत्व मुक्त के संकल्प का रहता है ॥ ८ ॥

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥

अत एव चावन्ध्यसंकल्पत्वादनन्याधिपतिर्विद्वान्भवति, नास्यान्योऽधिपतिर्भवतीत्यर्थः। नहि प्राकृतोऽपि संकल्पयन्नन्यस्वामिकत्वमात्मनः सत्यां गतौ संकल्पयति। श्रुतिश्चैतद्दर्शयति—'अथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ८।१।६) इति ॥ ९ ॥

अतएव इसी अवन्ध्य-संकल्पत्व (सत्यसंकल्पत्व) से ही विद्वान् अन्य अधिपति (स्वामी) वाला नहीं होता है जिससे अन्य स्वामीवाला होने पर और स्वामी के अधीन भोग के होने पर सत्यसंकल्पत्व का व्याघात होगा, और सत्य संकल्पवाला होने में स्वामी का भी *संकल्प से ही सिद्ध करना होगा, और मुक्त पुरुष अन्य स्वामी का* संकल्प नहीं करता है। इससे इसका अन्य अधिपति नहीं होता है, यह सूत्र का अर्थ है। क्योंकि संकल्प करता हुआ प्राकृत जन भी गति (उपाय शक्ति) रहते अपने अन्यस्वामित्व (पराधीनत्व) का संकल्प नहीं करता है। और श्रुति भी यह दर्शाती है कि (जो यहाँ उपदेश के अनुसार आत्मा को जान कर गमन करते हैं, और शास्त्रकथित सत्यकामों को जान कर गमन करते हैं, उनकी सब लोकों में यथेष्ट गति होती है) इत्यादि ॥ ९ ॥

अभावाधिकरणम् ॥ ५ ॥

व्यवस्थितावैच्छिकौ वा भावाभावौ तनोर्यतः। विकल्पो तेन पुंभेदात्सुभौ स्यातां व्यवस्थितौ ॥१॥
एकस्मिन्नपि पुंस्येतावैच्छिकौ कालभेदतः। अविरोधात् स्वप्नजाग्रद्भोगवद्युज्यते द्विधा ॥२॥

---

१ पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टम्। ये तीन प्रकार के अनुमान होते हैं, कारण से कार्य का अनुमान, कार्य से कारण का अनुमान, और लोकदृष्ट सामान्यता से अनुमान रूप तीनों होते हैं, विस्तार अन्यत्र द्रष्टव्य है।

ब्राह्मलौकिक मुक्तावस्था में संकल्प का साधन मन तो रहता ही है, परन्तु बादरि आचार्य देह इन्द्रिय का अभाव मानते है, जिससे श्रुति इस प्रकार कहती है। (मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते। स एकधा भवति त्रिधा भवति) इस दो प्रकार की श्रुति से संशय होता है कि ब्रह्मलोक मे मुक्त के शरीर के भाव और अभाव को पुरुषों के भेद से कोई व्यवस्था है कि कोई शरीरवाला और कोई शरीररहित मन ही से रमता है, अथवा इच्छा के अनुसार एक पुरुष के भी शरीर के भाव और अभाव होते हैं। पूर्वपक्ष है कि भाव और अभाव जिससे परस्पर विरुद्ध हैं, उससे पुरुष के भेद से दोनों व्यवस्थित होगे। सिद्धान्त है कि काल के भेद से एक पुरुष में भी अविरोध होने से ये दोनों भाव और अभाव एक में इच्छा के अधीन होंगे, और स्वप्न तथा जाग्रत् के भोग के समान दो प्रकार भी श्रुति कथित युक्त होता है। अर्थात् देह इन्द्रिय की इच्छा होने पर संकल्प से ही एकानेक शरीर की सृष्टि करके जाग्रत् के समान रमता है, शरीरादि की इच्छा नहीं होने पर केवल मन से ही स्वप्न के समान रमता है इत्यादि ॥ १–२ ॥

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥

'संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति' (छा० ७।२।१) इत्यादिश्रुते र्मनस्तावत्संकल्पसाधनं सिद्धम्। शरीरेन्द्रियाणि पुनः प्राप्तैश्वर्यस्य विदुषः सन्ति न वा सन्तीति समीक्ष्यते। तत्र बादरिस्तावदाचार्यः शरीरस्येन्द्रियाणां चाभावं महीयमानस्य विदुषो मन्यते। कस्मात्? एवं ह्याहाम्नायः 'मनसैता-न्कामान्पश्यन्रमते' (छा० ८।१२।५) 'य एते ब्रह्मलोके' (छा० ८।१३।१) इति। यदि मनसा शरीरेन्द्रियैश्च विहरेन्मनसेति विशेषणं न स्यात्। तस्मादभावः शरीरेन्द्रियाणां मोक्षे ॥ १० ॥

(इस मुक्त के संकल्प से ही पितृगण समुत्थित होते हैं) इत्यादि श्रुतियों से संकल्प का साधन मन तो मुक्तों का सिद्ध होता ही है। परन्तु ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाले विद्वान के शरीर और इन्द्रियां, ये सब रहते हैं, अथवा नहीं रहते हैं। यह विचार अब किया जाता है। यहां महीयमान (पूज्यता को प्राप्त) ऐश्वर्ययुक्त विद्वान् के शरीर और इन्द्रियों के अभाव को ही बादरि आचार्य मानते हैं। क्यों ऐसा मानते हैं, तो कहा जाता है कि जिससे आम्नाय (वेद) इसी प्रकार कहता है कि (मन से ही इन संकल्प-मात्र से लभ्य कामों को देखता हुआ रमता है कि जो काम ब्रह्मलोक में प्राप्त होते हैं) यदि मन से और शरीर इन्द्रियों से विहार करे—रमण करे तो मनसा यह विशेषण सार्थक नहीं होगा। इससे शरीर और इन्द्रियों का मोक्ष में अभाव रहता है ॥ १० ॥

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥

जैमिनिस्त्वाचार्यो मनोवच्छरीरस्यापि सेन्द्रियस्य भावं मुक्तं प्रति मन्यते,

यत 'स एकधा भवति त्रिधा भवति' (छा० ७।२६।२) इत्यादिनाऽनेकधाभाव-विकल्पमामनन्ति। नह्यनेकविधता विना शरीरभेदेनाञ्जसी स्यात्। यद्यपि निर्गुणाया भूमविद्यायामयमनेकधाभावे विकल्प पठ्यते, तथापि विद्यमानमेवेद मगुणावस्थायामैश्वर्य भूमविद्यास्तुतये संकीर्त्यंत इत्यत सगुणविद्याफलभावे-नोपतिष्ठत इत्युच्यते ॥ ११ ॥

जैमिनि आचार्य तो मन के समान इन्द्रियसहित शरीर का भी भाव (अस्तित्व) को मुक्त के प्रति मानते है, जिसमे (वह मुक्त पुरुष एक प्रकार होता है, तीन प्रकार होता है) इत्यादि वचनो मे अनेक भाव के विकल्प को कहते हैं। शरीर-भेद के बिना अनेकविधता आञ्जसी (वास्तविकी-युक्ता)नही होगी। यद्यपि निर्गुण ब्रह्मविद्या म अनेकधा भाव का विकल्प पढा जाता है। तथापि सगुण अवस्था म ही विद्यमान यह ऐश्वर्य ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये ब्रह्मविद्या म सकीर्तित होता है। इससे सगुणविद्या के फलरूप स उपस्थित (प्राप्त) होता है, इस प्रकार कहा जाता है ॥ ११ ॥

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ १२ ॥

बादरायण पुनराचार्योऽत एवोभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादुभयविधत्व साधु मन्यते—यदा मशरीरता संकल्पयति तदा मशरीरो भवति यदा त्वशरीरता तदाऽशरीर इति। सत्यसंकल्पत्वात् संकल्पवैचित्र्याच्च। द्वादशाहवत्। यथा द्वादशाह' सत्रमहीनश्च भवति उभयलिङ्गश्रुतिदर्शनादेवमिदमपीति ॥ १२ ॥

बादरायण आचार्य तो इसी उभय (दोनों) लिङ्गवाली श्रुतियो के देखने स उभय-विधता (दोनो स्वरूपता) को साधु (चारु) सुन्दर मानते है। जिस काल मे शरीर-सहित रहने का सकल्प विद्वान् करता है, उस समय शरीर-सहित रहता है, और जब अशरीरता (शरीर-रहित रहने) का सकल्प करता है, तब शरीर-रहित रहता है। सत्य सकल्पवाले होने मे और सकल्प की विचित्रता म ऐसी स्थिति होती है। जैसे द्वादशाह याग के नियत बहुत कर्ता से साध्य होने पर वह सत्र कहा जाता है। अनियत एक दो कर्ता से साध्य होने पर अहीन कहाता है। तथा (य एव विद्वास' सत्रमुपयन्ति) इसम विहित द्वादशाह को सत्रत्व होता है। (द्वादशाहेन प्रजाकाम याजयेत्) इसमे विहित एकनियतकर्तृक को अहीनत्व होता है। इसी प्रकार उभयलिङ्गवाली श्रुति के देखने मे यह सशरीरत्व और अशरीरत्व भी उपपन्न होता है ॥ १२ ॥

तन्वभावे संध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥

यदा तु सेन्द्रियस्य शरीरस्याभावस्तदा यथा सध्ये स्थाने शरीरेन्द्रियविषये-ष्वविद्यमानेष्वप्युपलब्धिमात्रा एव पित्रादिकामा भवन्त्येव मोक्षेऽपि स्युरेव ह्येतदुपपद्यते ॥ १३ ॥

जिस काल में विद्वान् के इन्द्रिय-सहित शरीर का अभाव रहता है, उस काल में जाग्रत्-सुषुप्ति के सन्धि मे होनेवाले सन्ध्य (स्वप्न) स्थान में जैसे शरीर, इन्द्रिय और विषयों के अविद्यमान रहते भी उपलब्धि (ज्ञान) मात्र ही पितृआदि रूप काम्य पदार्थ होते हैं, इसी प्रकार मोक्ष मे भी होंगे, जिससे इसी प्रकार यह उपपन्न होता है ॥ १३ ॥

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥

भावे पुनस्तनोर्यथा जागरिते विद्यमाना एव पित्रादिकामा भवन्त्येवं मुक्तस्याप्युपपद्यते ॥ १४ ॥

शरीर के भाव (सत्ता) रहने पर जैसे जाग्रत् में विद्यमान (वर्तमान) ही पितृ आदि काम्य पदार्थ रहते हैं, इसी प्रकार मुक्त के भी काम्य पितृ आदि उपपन्न होते है ॥

प्रदीपाधिकरणम् ॥ ६ ॥

निरात्मनोऽनेकदेहाः सात्मका वा निरात्मकाः ।
अभेदादात्ममनसोरेकस्मिन्नेव वर्तनात् ॥ १ ॥
एकस्मान्मनसोऽन्यानि मनांसि स्युः प्रदीपवत् ।
आत्मभिस्तदवच्छिन्नैः सात्मकाः स्युस्त्रिधेत्यतः ॥ २ ॥

अनादि लिङ्ग शरीरवाला विद्वान् के एक रहते अनेक शरीर के निर्माण-काल में सब शरीर में नहीं रह सकेगा, इस शंका की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि एक दीप से अनेक दीप के समान विद्वान का सब शरीर में आवेश (प्रवेश) होता है। यद्यपि प्रदीप भिन्न हो जाता है, तथापि विद्वान का एक ही लिङ्ग-शरीर विद्या-बल से सब में व्याप्त होता है। संशय होता है कि मुक्त से भोगार्थक कल्पित अनेक देह निरात्मक रहते हैं, अथवा सात्मक रहते हैं, भाव है, कि आत्मा-रहित जड़ हो तो भोग नहीं हो सकता है, सात्मक हों तो मुक्त का भोक्ता स्वरूप विशिष्टात्मा एक है, वह अनेक शरीर में एक काल में रह नहीं सकता है। इससे पूर्वपक्ष है कि आत्मा और मन के भेदरहित होने से अनेक नहीं होने से कल्पित देह निरात्मक हैं, जिससे आत्मा-सहित (सूक्ष्म शरीर) एक ही निर्मित शरीर मे रहता है, अन्य में नहीं, इससे भोग भी नहीं होता। सिद्धान्त है कि एक मन से अन्य मन प्रदीप के समान विद्यादि के बल से होते हैं, और उनसे युक्त आत्माओं से आत्मा-सहित शरीर होंगे, इससे त्रिधा इत्यादि श्रुति भी सङ्गत होगी ॥ १–२ ॥

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५ ॥

'भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्' (ब्र० सू० ४।४।११) इत्यत्र सशरीरत्वं मुक्तस्योक्तम्। तत्र त्रिधाभावादिष्वनेकशरीरसर्गे किं निरात्मकानि शरीराणि दारुयन्त्रवत् सृज्यन्ते किंवा सात्मकान्यस्मदादिशरीरवदिति भवति वीक्षा।

तत्र चात्ममनसोर्भेदानुपपत्तेरेकेन शरीरेण योगादितराणि शरीराणि निरात्मकानीति।

(भाव जैमिनिर्विकल्पामननात्) इस सूत्र मे मुक्त का सशरीरत्व कहा गया है। यहाँ त्रिधा भावादि रूप अनेक शरीर की सृष्टि मे क्या निरात्मक काष्ठयन्त्र के समान शरीर रचे जाते हैं, अथवा आत्मासहित हम लोगो के शरीरो के समान रचे जाते हैं, ऐसी जिज्ञासा होती है। यहाँ पूर्व पक्ष है कि आत्मा और मन के भेद की अनुपपत्ति से एक शरीर के साथ भोक्ता आत्मा और मन का सयोग रहता है। अन्य शरीर निरात्मक रहते हैं।

एवं प्राप्ते प्रतिपाद्यते—प्रदीपवदावेश इति। यथा प्रदीप एकोऽनेकप्रदीपभावमापद्यते विकारशक्तियोगात्, एवमेकोऽपि सन्विद्वानैश्वर्ययोगादनेकभावमापद्य सर्वाणि शरीराण्याविशति। कुत ? तथाहि दर्शयति शास्त्रमेकस्यानेकभावम्—'स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा' (छा० ७।२६।२) इत्यादि। नैतद्दारुयन्त्रोपमाभ्युपगमेऽवकल्पते नापि जीवान्तरावेशे। नच निरात्मकानां शरीराणां प्रवृत्तिः सम्भवति। यत्त्वात्ममनसोर्भेदानुपपत्तेरनेकशरीरयोगासम्भव इति। नैष दोष। एकमनोनुवर्तीनि समनस्कान्येवापराणि शरीराणि सत्यसङ्कल्पत्वात्स्रक्ष्यति, सृष्टेषु च तेपूपाधिभेदादात्मनोऽपि भेदेनाधिष्ठातृत्वं योक्ष्यते। एषैव च योगशास्त्रेषु योगिनामनेकशरीरयोगप्रक्रिया ॥ १५ ॥

ऐसा प्राप्त होने पर प्रतिपादन करते हैं कि (प्रदीपवदावेश इति) जैसे एक प्रदीप विकार शक्ति के योग से अनेकप्रदीपभाव को प्राप्त होता है। इसी प्रकार एक होता हुआ भी विद्वान् ऐश्वर्य के योग से अनेक भाव को प्राप्त होकर सब शरीरो मे आवेश (प्रवेश) करता है। यह किस हेतु से समझा जाता है, तो कहा जाता है कि इसी प्रकार शास्त्र दर्शाता है कि (वह विद्वान् एकधा होता है, त्रिधा होता है पञ्चधा, सप्तधा, नवधा होता है) इत्यादि। यह विद्वान् के अनेकधात्व काष्ठयन्त्र-तुल्यता के स्वीकार करने पर नहीं सिद्ध हो सकता है, न अन्य जीवो के प्रवेश होने ही पर सिद्ध हो सकता है। वे सब शरीर सात्मक होते हैं, क्योंकि निरात्मक शरीरो की प्रवृत्ति का सम्भव नहीं है। जो यह कहा गया था कि आत्मा और मन के भेदो की अनुपपत्ति से अनेक शरीरो के साथ सम्बन्ध का असम्भव है, वहाँ कहा जाता है कि यह दोष नहीं है, क्योंकि सत्यसङ्कल्पत्व से अनादि एक मन के होते भी उस एक मन के अनुवर्ती मनसहित ही अन्य शरीरो की सृष्टि यह करेगा। और उन शरीरो की सृष्टि होने पर उपाधि के भेद से आत्मा का भी भेद होने से अधिष्ठातृत्व-युक्त होगा। योगशास्त्रो मे योगियो के अनेक शरीर के योग की यही प्रक्रिया है। (निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्। प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकमेकमनेकेषाम्) यो० ४।४-५ योगी के निमित्त देहो मे अभिमानमात्र से निर्मित चित्त होते हैं। उन अनेक चित्तो के प्रवृत्तिभेद मे नियामक अनादि चित्त रहता है ॥ १५ ॥

कथं पुनर्मुक्तस्यानेकशरीरावेशादिलक्षणमैश्वर्यमभ्युपगम्यते यावता 'तत्केन कं विजानीयात्' (बृ० ४।५।१५) 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात्' (बृ० ४।३।३०) 'सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति' (बृ० ४।३।३२) इति चैवंजातीयका श्रुतिर्विशेषविज्ञानं वारयतीत्यत उत्तरं पठति—

यहां शंका होती है कि मुक्त के अनेक शरीर में आवेश आदि रूप ऐश्वर्य कैसे माने जाते हैं। जब (वह विमुक्त ज्ञानी किससे किस को देखेगा, किससे किस को जानेगा। उससे अन्य उससे विभक्त वह दूसरी वस्तु नहीं है कि जिसको वह जानेगा। वह सलिल के समान स्वच्छ द्रष्टा अद्वैत होता है) इस प्रकार की श्रुति विशेषज्ञान का वारण करती है। इति। इस शंका के (प्रश्न के) होने से उत्तर पढते हैं कि—

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥

स्वसप्ययः सुषुप्तम् 'स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते' (छा० ६।८।१) इति श्रुतेः। 'संपत्तिः कैवल्यम्, 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' (बृ० ४।४।६) इति श्रुतेः। तयोरन्यतरामवस्थामपेक्ष्यैतद्विशेषसंज्ञाभाववचनम्। क्वचित्सुषुप्तावस्थामपेक्ष्योच्यते क्वचित्कैवल्यावस्थाम्। कथमवगम्यते, यतस्तत्रैव तदधिकारवशादाविष्कृतम् 'एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीति' (बृ० २।४।१४) 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' (बृ० २।४।१४) 'यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति' (बृ० ४।३।१६। माण्डू० (५) इत्यादिश्रुतिभ्यः। सगुणविद्याविपाकावस्थानं त्वेतत्स्वर्गादिवदवस्थान्तरं यत्रैतदैश्वर्यमुपवर्ण्यते, तस्माददोषः ॥ १६ ॥

(अपने स्वरूप में लीन होता है जिससे इसको स्वपिति इस प्रकार कहते हैं) इस श्रुति से स्वस्वरूप में अप्यय (लय) रूप स्वाप्यय सुषुप्ति है। (ब्रह्म होता हुआ ब्रह्म में अप्येति—लीन होता है) इस श्रुति से सम्पत्ति (ब्रह्मभावापत्ति) कैवल्य (मोक्ष) है, इन दोनों में से अन्यतर (किसी एक) अवस्था की अपेक्षा करके यह विशेष संज्ञा (ज्ञान) के अभाव का वचन (कथन) है। कही सुषुप्ति अवस्था की अपेक्षा कर के विशेष ज्ञानों का अभाव कहा जाता है, कहीं कैवल्यावस्था की अपेक्षा करके कहा जाता है। यदि कहा जाय कि यह कैसे समझा जाता है, तो कहा जाता है कि जिससे तत्रैव-उन श्रुतियों में ही उस सुषुप्ति और कैवल्य के अधिकार (प्रकरण) वश से उन वचनों के अन्यतर की अपेक्षा पूर्वकत्व आविष्कृत (प्रकट) होता है, जिससे समझा जाता है (इन शरीरादि रूप भूतों से समुत्थित व्यक्त होकर, उनके नाश के पीछे नष्ट अव्यक्त होता है। उस अवस्था में प्राप्त होने पर विशेष ज्ञान नहीं रहता है) जिस अवस्था में इसका सब आत्मा ही हो गया। जिस काल में सोया हुआ किसी काम्य वस्तु की इच्छा नहीं करता है, कोई स्वप्न नहीं देखता है, इत्यादि श्रुतियों से विशेष ज्ञानाभाव का सुषुप्ति मुक्ति-अन्यतरविषयत्व आविष्कृत होता है। यह तो सगुण विद्या के विपाक

(फल) का अवस्थान (अवस्थिति अवस्था) रूप स्वर्गादि के समान अवस्थान्तर है कि जिस में यह ऐश्वर्य वर्णित होता है। इसको मुक्ति इस प्रकार कहा जाता है कि जैसे अरुणोदय होने पर सन्ध्याकाल को दिवस कहा जाता है जिसमें दोष का अभाव है ॥ १६ ॥

जगद्व्यापाराधिकरणम् ॥ ७ ॥

जगत्स्रष्टृत्वमस्त्येषां योगिनामथ नास्ति वा। अस्ति स्वाराज्यमाप्नोतीत्युक्तैश्वर्यानवग्रहात् ॥
सृष्टावप्रकृतत्वेन स्रष्टृता नास्ति योगिनाम्। स्वाराज्यमीशो भोगाय ददे मुक्तिं च विद्यया ॥

ब्रह्मलोक में प्राप्त उपासकों को अपने भोगों के अनुकूल अपने शरीर इन्द्रियादि की सृष्टि के लिए ऐश्वर्य की प्राप्ति होने पर भी जगत् की उत्पत्ति आदि रूप व्यापार से वर्जित (रहित) ही ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। क्योंकि प्रकरण से और सृष्टि प्रकरण में उपासकों के असन्निहितत्व से ऐसा ही सिद्ध होता है। संशय है कि योगियों को जगत् स्रष्टृत्व (जगत्कर्तृत्व) होता है, अथवा नहीं होता है। पूर्वपक्ष है कि (स्वाराज्यमाप्नोति) इस श्रुति से कथित ऐश्वर्य के अनवग्रह (अप्रतिबद्ध निरङ्कुश) होने से जगत्स्रष्टृत्व होता है। सिद्धान्त है कि आकाशादि रूप जगत् की सृष्टि में योगियों के अप्रकृत न होने से जगत् की सृष्टि के प्रकरण में इनका उल्लेख नहीं होने से योगियों को जगत् की स्रष्टृता नहीं होती है केवल भोग के लिये ईश्वर स्वाराज्य देते हैं और विद्या से मुक्ति देते हैं। दिये हैं ॥ १-२ ॥

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥ १७ ॥

ये सगुणब्रह्मोपासनात्सहैव मनसेश्वरसायुज्यं व्रजन्ति किं तेषां निरवग्रहमैश्वर्यं भवत्याहोस्वित्सावग्रहमिति संशयः। किं तावत्प्राप्तम्? निरङ्कुशमेवैषामैश्वर्यं भवितुमर्हति 'आप्नोति स्वाराज्यम्' (तै० १।६।२) 'सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति' (तै० १।५।३) 'तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' (छा० ७।२५।२,८।१।६) इत्यादिश्रुतिभ्य इति।

जो उपासक सगुण ब्रह्म की उपासना से मन आदि रूप सूक्ष्मशरीर के साथ साथ रहते ही इनके निलय बिना ही ईश्वर के सायुज्य (ईश्वर के ईश्वरत्व) को प्राप्त करते हैं उनको क्या निरवग्रह (निरङ्कुश) ऐश्वर्य प्राप्त होता है। अथवा साङ्कुश ऐश्वर्य प्राप्त होता है यह संशय होता है। वहाँ प्रथम प्राप्त क्या होता है। ऐसी जिज्ञासा होने पर पूर्वपक्ष होता है कि इनका ऐश्वर्य निरङ्कुश होने योग्य है। सो (यह ईश्वरत्व को प्राप्त करता है। सब देव इसके लिय बलि उपहार का समर्पण करते हैं। उनका सब लोगों में यथेष्ट चार होता है) इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है।

एवं प्राप्ते पठति—जगद्व्यापारवर्जमिति। जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वाऽन्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति जगद्व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैवेश्व-

रस्य । कुतः ? तस्य तत्र प्रकृतत्वादसंनिहितत्वाच्चेतरेषाम् । पर एव हीश्वरो जगद्व्यापारेऽधिकृतः, तमेव प्रकृत्योत्पत्त्याद्युपदेशात् नित्यशब्दनिबन्धनत्वाच्च । तदन्वेषणविजिज्ञासनपूर्वकं त्वितरेषामणिमाद्यैश्वर्यं श्रूयते, तेनासंनिहितास्ते जगद्व्यापारे । समनस्कत्वादेव चैतेषामनैकमत्ये कस्यचित्स्थित्यभिप्रायः कस्यचित्संहाराभिप्राय इत्येवं विरोधोऽपि कदाचित्स्यात् । अथ कस्यचित्संकल्पमन्वन्यस्य संकल्प इत्यविरोधः समर्थ्येत, ततः परमेश्वराकूततन्त्रत्वमेवेतरेषामिति व्यवतिष्ठते ॥ १७ ॥

इस प्रकार प्राप्त होने पर पढ़ते हैं कि (जगद्व्यापारवर्जमिति) जगत् के उत्पत्ति आदिविषयक व्यापारों को त्याग (छोड़) कर अन्य अणिमा आदि रूप ऐश्वर्य मुक्तों को होने योग्य है. जगत्-विषयक व्यापार तो नित्यसिद्ध ईश्वर का ही होने योग्य है । क्यों ऐसा होने योग्य है, तो कहा जाता है कि उस नित्यसिद्ध ईश्वर को जगत् की उत्पत्ति आदि प्रकरण में प्रकृतत्व (प्रकरण से प्राप्तत्व-सम्बन्ध) है, और अन्य योगी आदि को जगत्-सृष्टि-प्रकरण में असन्निहितत्व है । जिससे पर ही ईश्वर जगत्-विषयक व्यापार में अधिकृत है ॥ उस परमेश्वर को ही प्रस्तुत करके श्रुति में जगत् के उत्पत्ति आदि के उपदेश से, तथा नित्यत्व से ,और शब्द-निबन्धनत्व (श्रुतिमात्र-बोध्यत्व) से एक ईश्वर को जगत्-सृष्टि आदि में अधिकृतत्व-युक्त है । उस ईश्वर के अन्वेषण (ध्यान-विचारादि) तथा जिज्ञासा (श्रवणादि) पूर्वक अन्य के ऐश्वर्य सुना जाता है । जिससे वे अन्य ऐश्वर्य वाले जगत् के व्यापार में असन्निहित हैं । इनके मन सहित होने के कारण अनेकमतिता होने पर, किसी का जगत् की स्थितिविषयक अभिप्राय होगा, किसी का संहारविषयक अभिप्राय होगा, तो इस प्रकार का विरोध भी कदाचित् होगा । यह मुक्तो के समप्रधानता में दोष होगा । और यदि उन में गुणप्रधान भाव हो, और किसी एक प्रधान के संकल्प के अनुसार अन्य सबका संकल्प होता है, ऐसा मान कर अविरोध का समर्थन (प्रतिपादन) किया जाय, तो इससे परमेश्वर के तात्पर्य (अभिप्राय) के अधीनत्व ही अन्यों को है, यह व्यवस्थित (निश्चित) होता है ॥१७॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥ १८ ॥

अथ यदुक्तम् 'आप्नोति स्वाराज्यम्' (तै० १।६।२) इत्यादिप्रत्यक्षोपदेशान्निरवग्रहमैश्वर्यं विदुषां न्याय्यमिति तत्परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते नायं दोषः । आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः । आधिकारिको यः सवितृमण्डलादिषु विशेषायतनेष्ववस्थितः पर ईश्वरस्तदायत्तैवेयं स्वाराज्यप्राप्तिरुच्यते । यत्कारणमनन्तरम् 'आप्नोति मनसस्पतिम्' (तै० १।६।२) इत्याह । यो हि सर्वमनसां पतिः पूर्वसिद्ध ईश्वरस्तं प्राप्नोति इति । एतदुक्तं भवति । तदनुसारेणैव चानन्तरम् 'वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिश्च भवति' (तै० १।६।२) इत्याह ।

एवमन्यत्रापि यथासम्भव नित्यसिद्धेश्वरायत्तमेवेतरेषामैश्वर्यं योजयितव्यम् ॥ १८ ॥

और जो यह कहा गया है (स्वाराज्य को प्राप्त करता है) इत्यादि प्रत्यक्ष उपदेश से विद्वानों का निरकुश ऐश्वर्य न्याय्य है इति, वह परिहार करने योग्य है। इसमे यहाँ कहा जाता है कि अधिकार में नियुक्त करने वाला जो परमात्मा का स्वरूप है वह आधिकारिक है और वही सूर्यमण्डलादि म स्थित है उसी को प्राप्य रूप से उक्ति (कथन) से यह दोष नही है अर्थात् (तत्सवितुर्वरेण्यम्) इत्यादि श्रुति म वर्णित परमात्मा का स्वरूप ही प्राप्तव्य है। निरकुश स्वाराज्य होने पर ईश्वर प्राप्तव्य नही कहा सकता है। इसमे आधिकारिक जो सूर्यमण्डलादि विशेष स्थानो म अवस्थित पर ईश्वर है उसके अधीन ही यह स्वाराज्य की प्राप्ति कही जाती है। जिस कारण से उसके अनन्तर (मन के पति को प्राप्त करता है) यह श्रुति कहती है। जो सबके मन का पति पूर्वसिद्ध ईश्वर है उसको प्राप्त करता है, यह कहा जाता है। उसके अनुसार से ही उसके अनन्तर ईश्वराधीन ही (वाक् का पति नेत्र का पति श्रोत्र का पति, और विज्ञान बुद्धि का पति होता है) यह श्रुति कहती है। इस प्रकार अन्यत्र (कामचारादि म) भी सम्भव के अनुसार नित्यसिद्ध ईश्वर के अधीन ही अन्य का ऐश्वर्य योजना (सम्बन्ध) के योग्य है ॥ १८ ॥

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥ १९ ॥

विकारावर्त्यपि च नित्यमुक्त पारमेश्वर रूप न केवल विकारमात्रगोचर सवितृमण्डलाद्यधिष्ठानम्। तथा ह्यस्य द्विरूपा स्थितिमाहाम्नाय 'तावानस्य महिमा ततो ज्यायाꣳश्च पूरुष। पादोऽस्य सर्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृत दिवि' (छा० ३।१२।६) इत्येवमादि। न च तन्निर्विकार रूपमितरालम्बना प्राप्नुवन्तीति शक्य वक्तुमतत्क्रतुत्वात्तेषाम्। अतश्च यथैव द्विरूपे परमेश्वरे निर्गुणं रूपमनवाप्य सगुण एवावतिष्ठन्त एव सगुणेऽपि निरवग्रहमैश्वर्यमनवाप्य सावग्रह एवावतिष्ठन्त इति द्रष्टव्यम् ॥ १९ ॥

यह साकुश ऐश्वर्य की प्राप्ति का वर्णन सगुण कार्य ब्रह्मउपासकों का है निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति वालो का नही यदि कहा जाय कि निर्गुण ब्रह्म ही नहीं है तो कहते हैं कि पारमेश्वर (परमेश्वर का) नित्यमुक्त विकारो म अवर्तन के स्वभाव वाला स्वरूप भी है। केवल विकार मात्र म वर्तनेवाला सूर्यमण्डलादि रूप अधिष्ठान (आश्रय) वाला नहीं है। जिसमे इस परमेश्वर की दो रूप वाली स्थिति को (जितना चतुष्पाद छ प्रकार की गायत्री रूप ब्रह्म के विकार रूप पाद कहा गया है उतनी इस ब्रह्म की महिमा है उससे ब्रह्मात्मा पुरुष बहुत बडा है। इसके पाद मात्र सब भूत हैं तीन पाद अनन्त-स्वरूप अमृत है, और प्रकाशात्म स्वस्वरूप म स्थिर है) इत्यादि वेद कहता है। इतर

(निर्गुणाख्य) आलम्बन (ध्येय) वाले उस निर्विकार रूप को प्राप्त होते हैं। ऐसा नहीं कह सकते है, क्योंकि उनको अतत्क्रतुत्व है, निर्गुण ब्रह्मविषयक संकल्प का अभाव है। इससे ही जैसे दो रूप वाले परमेश्वर के रहते भी सगुणोपासक निर्गुण स्वरूप को नहीं प्राप्त करके सगुण में ही अवस्थित होते हैं। इसी प्रकार सगुण मे भी निरंकुश ऐश्वर्य को नही प्राप्त करके साङ्कुश ऐश्वर्य में ही अवस्थित होते है। ऐसा समझना चाहिये ॥१९॥

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥

दर्शयतश्च विकारावर्तित्वं परस्य ज्योतिषः श्रुतिस्मृती—'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः' (कण्ठ० ५।१५। श्वेता० ६।१४। मुण्ड० २।२।१०) इति। 'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः' (गी० १५।६) इति च। तदेवं विकारावर्तित्वं परस्य ज्योतिषः प्रसिद्धमित्यभिप्रायः ॥ २० ॥

पूर्वसूत्र वर्णित श्रुति मे (तावानस्य महिमा) इससे विकारवर्ती ब्रह्म का रूप कहा गया है (ततो ज्यायाँश्च) इससे निर्विकार रूप कहा गया है (पादोऽस्य) से विकारवर्ती कहा है (त्रिपादस्यामृतम्) से निर्विकार कहा है। इसी प्रकार अन्य भी श्रुति और स्मृति पर ज्योति की विकार में अवृत्तितामात्र को दर्शाते है कि (उस परब्रह्म मे सूर्य नहीं प्रकाश करता है, न चन्द्र, तारा गण प्रकाश करते हैं, न ये विद्युत् उस मे भासती हैं, तो यह अग्नि तो कैसे भासेगी) (न उस परपद को सूर्य प्रकाशता है, न चन्द्र प्रकाशता है, न अग्नि प्रकाशती है) इति। इससे इस प्रकार विकार मे अवृत्तित्व (निर्गुणत्व) परज्योति को प्रसिद्ध है। यह अभिप्राय है ॥ २० ॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥

इतश्च न निरंकुशं विकारालम्बनानामैश्वर्यं यस्माद्भोगमात्रमेवैषामनादिसिद्धेनेश्वरेण समानमिति श्रूयते—'तमाहापो वै खलु मीयन्ते लोकोऽसौ' इति 'स' यथैतां देवतां सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवं हैवंविदं सर्वाणि भूतान्यवन्ति तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यं सलोकतां जयति' (बृ० १।५।२३) इत्यादिभेदव्यपदेशलिङ्गेभ्यः ॥ २१ ॥

इस हेतु से भी विकार रूप अवलम्बन वालों का ऐश्वर्य निरङ्कुश नहीं है, कि जिससे इनका भोगमात्र ही अनादिसिद्ध ईश्वर के साथ समान (तुल्य) होता है, ऐसा सुना जाता है कि (ब्रह्मलोक मे प्राप्त उस उपासक को हिरण्यगर्भ कहते हैं कि मुझसे ये अमृत रूप जल भोगे जाते हैं। तेरा भी यह लोक-भोग्य है। जैसे इस ब्रह्मदेवता की सब प्राणी भजन-सेवन करते हैं, इसी प्रकार ऐसे जानने वाले का सब भजन करते हैं। उस प्राणात्मा की प्रतिपत्ति निश्चय रूप व्रत के धारण से इस सर्वात्मा प्राण देवता का

सायुज्य—एकात्मत्व को प्राप्त होता है, और समानलोकता को भी प्राप्त करता है। इत्यादि भेद के व्यपदेशरूप लिङ्गों से समान आगमात्र सिद्ध होने से निरंकुश ऐश्वर्य नहीं सिद्ध होता है ॥ २१ ॥

नन्वेवं सति सातिशयत्वादन्तवत्त्वमैश्वर्यस्य स्यात्ततश्चैषामावृत्तिः प्रसज्येतेत्यत उत्तरं भगवान्बादरायण आचार्यः पठति—

शंका होती है कि ऐसा होने पर ऐश्वर्य के अतिशय युक्त होने से, उसको अन्तवत्त्व (विनाशित्व) होगा, तब ऐश्वर्य के नष्ट होने पर इन उपासकों की फिर संसार में आवृत्ति (जन्म मरणादि) प्राप्त होगी। इससे भगवान् बादरायण आचार्य उत्तर पढ़ते हैं कि—

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ २२ ॥

नाडीरश्मिसमन्वितेनार्चिरादिपर्वणा देवयानेन पथा ये ब्रह्मलोकं शास्त्रोक्तविशेषणं गच्छन्ति यस्मिन्नरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि यस्मिन्नैरंमदीयं सरो यस्मिन्नश्वत्थः सोमसवनो यस्मिन्नपराजिता पूर्ब्रह्मणो यस्मिंश्च प्रभुविमितं हिरण्मयं वेश्म यश्चानेकधा मन्त्रार्थवादादिप्रदेशेषु प्रपञ्च्यते तं ते प्राप्य न चन्द्रलोकादिव भुक्तभोगा आवर्तन्ते। कुतः ? 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' (छा० ८।६।६, कठ० ६।१६) 'तेषां न पुनरावृत्तिः' (बृ० ६।२।१५) 'एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते' (छा० ४।१५।१) 'ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते' (छा० ८।१३।१) 'न च पुनरावर्तते' (छा० ८।१५।१) इत्यादिशब्देभ्यः। अन्तवत्त्वेऽपि त्वैश्वर्यस्य यथाऽनावृत्तिस्तथा वर्णितम् 'कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परम्' (ब्र० सू० ४।३।१०) इत्यत्र। सम्यग्दर्शनविध्वस्ततमसां तु नित्यसिद्धनिर्वाणपरायणानां सिद्धैवानावृत्तिः।

नाडी और रश्मियों से युक्त, अर्चि आदि पर्व (भाग) वाले देवयान मार्ग से, शास्त्र में वर्णित विशेषणवाले ब्रह्मलोक में जो उपासक जाते हैं, वह उस लोक को प्राप्त करके भुक्त भोग वाले जैसे चन्द्रलोक से लौटते हैं, वैसे वे लोग उस ब्रह्मलोक से नहीं लौटते हैं, कि जिस ब्रह्म लोक में, इस पृथिवीलोक की अपेक्षा तृतीय लोक रूप दिव (स्वर्ग) में जो वर्तमान है उसमें अर और ण्य नामक दो समुद्र तुल्य तालाब हैं। ऐरम्, अन्नमय मदीय मदकारक हर्षोत्पादक सर है। जहाँ सोमसवन-अमृत की वृष्टि करने वाला अश्वत्थ है। जिस में अपराजित—ब्रह्मचर्यरहितों से अप्राप्य ब्रह्म की पुरी है। जिसमें प्रभु से निर्मित सुवर्णमय वेश्म है। जो अनेक प्रकार से मन्त्र अर्थवाद आदि के प्रदेशों (स्थानों) में विस्तार से वर्णित होता है। उसको प्राप्त करके नहीं लौटते हैं। यह कैसे समझा जाता है, तो कहते हैं कि (उस ब्रह्मनाडी से ऊपर जाने वाला अमृतत्व को प्राप्त करता है। उनकी फिर संसार में आवृत्ति नहीं होती है। इस देवयान मार्ग से

जाने वाले इस मानव संसार में फिर नहीं आते हैं। यद्यपि (इमं मानवावर्तम्) इस मानव-संसार में, श्रुतिगत इस विशेषण से सिद्ध होता है, भासता है कि इस कल्प ब्रह्मलोक मे जाने वालों की कल्पान्तर में आवृत्ति होती है, तथा (आब्रह्मभुवनाल्लोकाः-पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन!) इस गीता में आङ् के अभिविधि अर्थ में होने से ब्रह्मलोक पर्यन्त लोकों की पुनरावृत्तिता सिद्ध होती है। तथापि ईश्वरोपासना श्रवणादि के संस्कार से रहित जो मनुष्य केवल पञ्चाग्निविद्या अश्वमेधादिकर्म दृढब्रह्मचर्यादि-साधनों से ब्रह्मलोक में जाते हैं, उनको वहाँ तत्त्व ज्ञान के नियम के अभाव से उनकी पुनरावृत्ति होती है, और दहरादि स्वरूप ईश्वर की उपासना से तथा श्रवणादि के संस्कारवाले जो ब्रह्मलोक में जाते हैं, उनको दिव्य लोक के प्रभाव से उद्बुद्ध संस्कार ईश्वरानुग्रहादि से ज्ञान द्वारा वहाँ ही मुक्ति होती है पुनरावृत्ति नहीं होती है; इसी प्रकार ब्रह्मलोक में प्राप्त भी सकाम पुरुषों को ज्ञान नहीं होता है, उत्कट काम सर्वत्र ज्ञान मोक्ष का प्रतिवन्धक होता है, और निष्काम को ज्ञान से ही अपुनरावृत्ति होती है। इस से गृहस्थ होते भी जो निष्काम होकर सब इन्द्रियो को आत्मा मे स्थिर करके हिंसा आदि का त्यागपूर्वक सदा वर्ताव करता है, वह ब्रह्मलोक में प्राप्त होता है। फिर वह नहीं लौटता है। काम के रहने पर ब्रह्मा की स्थिति पर्यन्त नहीं लौटता है; फिर कल्पान्तर में लौटता है। इत्यादि शब्दों से अपुनरावृत्ति की सिद्धि होती है। ऐश्वर्यों के अन्त वाले होते भी जिस प्रकार से ब्रह्मलोक-वासियों की अनावृत्ति है, वह प्रकार (कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परम्) इस सूत्र में वर्णित हो चुका है। सगुण विद्या वालों ही की अनावृत्ति का वर्णन सूत्रकार ने इसलिये किया है कि सम्यग् दर्शन से जिनका अविद्या रूप तम विध्वस्त (नष्ट) हो गया है, उन नित्यसिद्ध निर्वाण (कैवल्य) परायणों (परम आश्रय वालों) की अनावृत्ति श्रुति-स्मृति-अनुभूति से स्वयं सिद्ध ही है, उसे सिद्ध करने की जरूरत नहीं है।

तदाश्रयणेनैव हि सगुणशरणानामप्यनावृत्तिसिद्धिरिति। अनावृत्तिःशब्दादनावृत्तिः शब्दादिति सूत्राभ्यासः शास्त्रपरिसमाप्तिं द्योतयति ॥ २२ ॥

इति श्रीमच्छारीरकमीमांसाभाष्ये श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवत्पूज्यपादकृतौ चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥
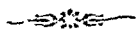
जिससे उस सम्यग् दर्शन के आश्रयण द्वारा ही सगुण शरण वालों की भी अनावृत्ति की सिद्धि होती है। इससे सम्यग् दर्शनवालों की अनावृत्ति में कुछ वक्तव्य नहीं है। पद के अभ्यास से पाद की समाप्ति द्योतित (प्रकाशित) होती है। यहाँ (अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्) यह सूत्र का अभ्यास शास्त्र की समाप्ति को द्योतित करता है ॥ २२ ॥

शान्तं सर्वगतं ह्यनन्तमजरं कल्याणकल्पद्रुमं
कामक्रोधमदादिदोषनिवहैः स्पृष्टं न यान्तं क्वचित् ।
हेयादेयविभेदखेदरहितं रामं गुरुं चेश्वरं
दीनोद्धारकरं सदा सुखकरं कैवल्यभानुं भज ॥
वन्दे बोधकरं बुधैः शरणं सिद्धं सदा निर्गुणं
भक्ताभीष्टविधौ विधानविबुधं धर्मस्य सेतुं परम् ।
सर्वाधारतया तु वेदविबुधैर्गीतं परं पावनं
धर्मध्यानसमाधिशान्तिसुलभं मार्गं सदा दुर्गमम् ॥
साधुत्वं समदर्शित्वं सदा परोपकारिता ।
मृदुत्वं मानराहित्यं दयालुत्वं जितारिता ॥
ब्राह्मण्यं पुण्यशीलत्वं पापराहित्यमेव च ।
शमदमादिनिष्ठत्वं वेदज्ञत्वं विदुर्बुधाः ॥
दीनाभयकरत्वं च शूरत्वं पालनं सताम् ।
प्रजानां पालनं सत्यं क्षात्रं च क्षमितायुतम् ॥
न्यायोपार्जितवित्तत्वं दयादानादिवीरता ।
वैश्यत्वं साधुसेवित्वं शूद्राणां कथितं परम् ॥
अहिंसा सर्वदा सर्वैः कर्तव्या कर्मतत्परैः ।
ईशभक्तिर्गुरोर्भक्तिर्यथाशक्ति विधानतः ॥
एवं वृत्तपरा येऽत्र तेऽत्र जन्मनि वा परे ।
लभन्ते ज्ञानमत्यच्छं ध्यानं वा मुक्तिमेव च ॥
यत्कृपालेशमात्रेण तीर्यते भवसागरः ।
ह्रियते नच कामाद्यैस्तं गुरुं शिवमाश्रये ॥
श्रीमोहनगुरुं श्रीमद्भमिनाराममव्ययम् ।
श्रीहरिहरनामानं कृपालुं गुरुमाश्रये ॥
भास्वती शाश्वती स्याद्धि मुमुक्षुहितकारिणी ।
साधूनां लोकमान्यानां मनोमोदाय जायताम् ॥
तिथौ रामनवम्यां वै प्रारब्धा भास्वती त्वियम् ।
आश्विनशुक्लपञ्चम्यां च समाप्ताऽथभवच्छुभा ॥

सर्वे सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

ॐ शम्, शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः